त्रिक दर्शन
का
समीक्षात्मक तत्त्वमीमांसीय अध्ययन



विजय पाल शास्त्री

आत्म निवेदन

त्रिक दर्शन से विद्वज्जगत् अपरिचित नहीं है। यह काश्मीर शैव दर्शन की अद्वयवादी शाखा का नाम है। इस दर्शन के मत में परम शिव ही एक तत्व है। जो कुछ भी यहाँ इन्द्रियवेद्य और अतीन्द्रिय पदार्थ हैं वे सब शिव-रूप ही हैं। इसकी तत्वमीमांसा बड़ी सम्मृद्ध है। इस दर्शन के अनुसार तत्वों की संख्या छत्तीस है। इन छत्तीस तत्वों के रूप में शिव ही सर्वत्र प्रकाशित हो रहा है। शिवाद्वयवाद ही इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। इस दर्शन का सार इतना ही है कि :

चिदात्मैव हि देवोऽन्त: स्थितमिच्छावशाद् बहि: ।
योगीव निरूपादानमर्थजातं प्रकाशयेत् ॥

अर्थात् सच्चिदानन्द देव ही अन्त: स्थित तत्व- समूह को स्वातन्त्र्य-रूप इच्छाशक्तिवश बाहर की ओर प्रकाशित करता है, जैसे योगी उपादान कारण के बिना ही पदार्थ-समूह को अपनी इच्छा से आभासित करता है।

त्रिक दर्शन अत्यन्त प्राचीन दर्शन है। यह उतना ही प्राचीन है जितना स्वयम् परमशिव। जैसे शिव आद्यन्तविहीन है वैसे ही इस दर्शन का भी आदि और अन्त खोज पाना सम्भव नहीं है। यद्यपि यह आगम-मूलक दर्शन है फिर भी इसका मूल उत्स उपनिषदों में विद्यमान है। प्रकाश-विमर्शात्मक संविद्रूप वह शिव सृष्टि से पूर्व "अहम्" रूप में विद्यमान था। सृष्टि में वही "इदम्" इस नामरूपात्मक जगद्रूप में अभिव्यक्त हो गया है। "आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" यह श्रुतिवाक्य इस मान्यता का आधार है।

इससे सिद्ध होता है कि उस "सच्चिदानन्द महेश्वर के भीतर यह समग्र तत्वसमूह आकर के रूप में रहता है और परमेश्वर की इच्छाशक्ति से बाहर की ओर प्रकाशित होता है। सृष्टि-रचना में परमेश्वर को बाह्य उपकरणों की आवश्यकता नहीं होती। इसलिए वह स्वतन्त्र कहलाता है। परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा से ही जगत् का विकास और उसका संकोच होता रहता है।

शिवतत्व से लेकर पृथ्वीतत्व पर्यन्त छत्तीस तत्वों के स्वरूप की युक्तियुक्त समीक्षा इस प्रबन्ध में करने का प्रयास मैंने किया है। त्रिक दर्शन की यह तत्व-संख्या अन्य दर्शनों की तुलना में विपुल है। न्यायदर्शन सोलह

तत्व मानता है, सांख्य पच्चीस तत्वों को स्वीकृति देता है। त्रिक दर्शन में छत्तीस तत्व क्यों माने गए हैं ? इनकी आवश्यकता क्यों पड़ी ? इन प्रश्नों पर भी विस्तार से विचार किया गया है। शिव के स्वरूप को लेकर पुनरुक्ति या पिष्टपेषण का आभास इस प्रबन्ध का अध्ययन करते समय हो सकता है, किन्तु ऐसा करने के लिए विवश होना पड़ा है, क्योंकि शिव के सूक्ष्म एवं जटिल स्वरूप का प्रतिपादन इसके बिना असम्भव था।

त्रिक दर्शन पर हिन्दी-ग्रन्थों की अत्यल्प रचना हुई है। यह विद्या मूलरूप से या तो संस्कृत ग्रन्थों में निबद्ध है या फिर कुछ अंग्रेजी भाषा में इसकी व्याख्या हुई है। त्रिक दर्शन के छत्तीस तत्वों का विवेचन करने वाला हिन्दी में कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था। सम्भवत: इसी अभाव को देखते हुए प्रभु की अनिरूद्ध इच्छा ने मुझे इस कार्य के लिए नियुक्त किया। इस कार्य में मुझे कितनी सफलता मिली है, इसे या तो विद्वज्जन जाने या वह परमेश्वर जाने जिसने इस कार्य में मुझे नियुक्त किया।

इस कठिन उद्योग को पूर्णता तक पहुँचाने में अनेक विद्वानों और साथियों से जो भरपूर सहाय्य मुझे मिला है उनके प्रति आदरभाव और कृतज्ञता व्यक्त किए बिना चित्त कृतकृत्यता का अनुभव नहीं कर रहा है। इस विषय को अनुसंधान का विषय बनाने और इसके प्रति रूचि जागरित करने में परम महेश्वर डा० विष्णुदत्त राकेश जी ने जो प्रेरणा दी है और बीच बीच में क्षीण होते उत्साह को जो नवजीवन उनके उद्‌बोधन वाक्यों ने दिया है वह अविस्मरणीय है। प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के कलेवर को मूर्तरूप देने के लिए साधन सामग्री के संयोजन का दायित्व मेरे परम आत्मीय अनुज डा० ईश्वर भारद्वाज जी ने वहन किया है। ये सभी महानुभाव मेरी आस्था एवं स्नेह के भाजन हैं। मैं हृदय से इनके प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

आदि से लेकर अन्त तक इस गुरुतर कार्य को सफल बनाने में जो मेरे साथ छाया की तरह लगी रही और जो मेरे उत्साह के लिए संजीवनी तुल्य शक्तिस्रोत बनी रही उस अपनी जीवन-सहचरी श्रीमती विमलारानी के प्रति कृतज्ञता व्यक्त किए बिना यह उद्योग अपूर्ण ही रहेगा। मैं उनके प्रति भी आभार समर्पित करता हूँ।

विजयपाल शास्त्री

छत्तीस तत्वों का क्रम

1. शिव
2. शक्ति
3. सदाशिव
4. ईश्वर
5. शुद्ध विद्या
6. माया
7. कला
8. विद्या
9. राग
10. नियति
11. काल
12. पुरुष
13. प्रकृति
14. बुद्धि
15. अहंकार
16. मन
17. श्रोत
18. त्वक्
19. चक्षु
20. रसना
21. घ्राण
22. वाक्
23. पाणि
24. पाद
25. पायु
26. उपस्थ
27. शब्द
28. स्पर्श
29. रूप
30. रस
31. गन्ध
32. आकाश
33. वायु
34. तेज
35. जल
36. पृथ्वी

संकेत सूची

1. अ० ब्र० सि०	अद्वैत ब्रह्म सिद्धि
2. अ० प्र० सि०	अजड प्रमातृ सिद्धि
3. ई० प्र०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा
4. ई० प्र० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
5. ई० प्र० वि० वि०	ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी
6. ई० सि०	ईश्वर सिद्धि
7. उ० सा०	उपदेश साहस्री
8. ऐ० उ०	ऐतरेयोपनिषद
9. का० शै० द०	काश्मीर शैव दर्शन
10. छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद
11. तं०	तन्त्रालोक
12. तं० वि०	तन्त्रालोक विवेक
13. तं० सा०	तन्त्रसार
14. पं० द०	पन्चदशी
15. पं० च०	परमार्थ चर्चा
16. प० सा०	परमार्थ सार
17. प० त्री०	परात्रींशिका
18. प० त्री० वि०	परात्रींशिका विवरण
19. प्र० हृ०	प्रत्यभिज्ञा हृदय
20. ब्र० सू० शां० भा०	ब्रह्. सूत्र शांकर भाष्य
21. भ० गी०	भगवद् गीता
22. मा० च० वि०	मातृका चक्र विवेक
23. मा० वि० तं०	मालिनी विजयोत्तर तन्त्र
24. यो० सू०	योग सूत्र
25. वि० भै०	विज्ञान भैरव
26. शि० दृ०	शिव दृष्टि
27. श्वे० उ०	श्वेताश्वतरोपनिषद
28. स० द० सं०	सर्व दर्शन संग्रह
29. सां० का०	सांख्य कारिका
30. सां० त० कौ.	सांख्य तत्व कौमुदी

अनुक्रमणिका

1

त्रिक दर्शन के आचार्य और उनका कृतित्व

प्रमुख रूप से त्रिक दर्शन के तीन ही आचार्य हुए हैं—सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त। इनसे पूर्ववर्ती आचार्यों ने त्रिक-शास्त्र के मूल का आविष्कार किया था तथा इनके परवर्ती विद्वानों ने इन तीनों के द्वारा रचित ग्रन्थों का भाष्य और व्याख्या लिखकर त्रिक शास्त्र को प्रचारित और प्रसारित किया। किन्तु उसे व्यवस्थित और सतर्क प्रतिपादित करने का श्रेय सोमानन्द, उत्पलदेव और अभिनवगुप्त को ही प्राप्त है। किन्तु यह हमारा दौर्भाग्य है कि इन महान् लोकोत्तर पुरुषों के जीवन के संबंध में कोई विशेष ऐतिहासिक तथ्य ज्ञात नहीं है। यह सम्भव हो भी कैसे ? भला लोकोत्तर पुरुषों का लौकिक परिचय हो भी क्या सकता है ? लोकैषणा से नितान्त मुक्त उन जीवन्मुक्त महान् पुरुषों ने अपने विषय में कुछ लिखना आवश्यक न समझा। वे नहीं चाहते थे कि लोक में उनका यश हो या आने वाले लोग उन्हें महान् कहकर याद करें। उन्होंने उतना ही लिखा जितना लोकोपकारक था और जिससे त्रिविध दुःखों से आत्यन्तिक मुक्ति हो सकती है। फिर भी अन्तःसाक्ष्य के आधार पर इनके विषय में जो कुछ ज्ञात है उसी का सम्बल लेकर कुछ परिचय दिया जा रहा है।

1. **सोमानन्द :**

सोमानन्द का सम्बन्ध देववंश से है। इस वंश का प्रारम्भ शिव के परम भक्त महर्षि दुर्वासा से हुआ था। यह त्रिक शास्त्र भूतल पर से लुप्त न हो जाये, इसके उद्धार का दायित्व भगवान् ने कैलास गिरि पर दुर्वासा को सौंपा।[1] दुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नाम के मानस पुत्र को उत्पन्न किया और उसे समस्त विद्याओं से पूर्ण कर त्रिक शास्त्र का प्रचार करने को कहा।[2] त्र्यम्बकादित्य ने कैलास पर रहते हुए ही अद्वैत परक त्रिक शास्त्र का प्रवचन अपने शिष्यों को किया। त्र्यम्बकादित्य की ही परम्परा में लगभग चार सौ वर्ष बाद संगमादित्य हुए। संगमादित्य से वर्षादित्य, वर्षादित्य

से अरूणादित्य, उनसे आनन्द और आनन्द के पुत्र सोमानन्द हुए ।[3]

सोमानन्द से पहले त्रिक दर्शन का कोई लिखित आधार नहीं था। इससे पहले त्रिक दर्शन के आधार शैवागम ही थे जिसके साक्षात् प्रवक्ता शिव माने जाते हैं । आगम ग्रन्थों में त्रिक दर्शन दूध में घृत के समान निगूढ था । उसका आविष्कार नहीं हुआ था। त्र्यम्बकादित्य आदि ने उसका आविष्कार तो कर लिया था किन्तु उसे सार्वजनीन और सर्वोपयोगी बनाने के लिए लिखित रूप में प्रस्तुत नहीं किया था । सोमानन्द ने "शिव दृष्टि" नामक ग्रन्थ लिखकर सर्वप्रथम यह महनीय कार्य किया ।[4]

कैलास पर से त्रिक शास्त्र को काश्मीर में लाने का कार्य संगमादित्य का था । संगमादित्य से लेकर अब तक त्रिक दर्शन की विकासस्थली काश-मीर ही रही है ।

अब प्रश्न यह उठता है कि यह कैसे निर्धारित किया जाय कि सोमा-नन्द को कितना समय इस भूतल पर अवतीर्ण हुए व्यतीत हो गया । यह ज्ञात करने के लिए हमारे पास कोई सशक्त माध्यम नहीं है । अनुमान और अन्तः साक्ष्य ही एकमात्र सम्बल है । आचार्य बलदेव उपाध्याय सोमानन्द का समय ईसा की आठवी शताब्दी स्वीकार करते हैं ।[5] पंडित बलज्निाथ इन्हें नवम शती के आसपास मानते हैं[6] और रामकृष्ण गोपाल भण्डारकर के अनुसार ये दशम शताब्दी में अवतीर्ण हुए ।[7]

उपर्युक्त मतों में आचार्य बलदेव उपाध्याय का मत तथ्य के अधिक समीप लगता है । उन्होंने अन्तः-साक्ष्य के आधार पर यह सिद्ध किया है कि त्रिक दर्शन का आविर्भाव ईसा की तृतीय शती में हुआ और उसके पाँच सौ वर्ष बाद सोमानन्द इस धरा पर आए । उनका कथन है कि रामकण्ठ नामक विद्वान् ने भगवद्गीता के विवरण में स्वयम् को मुक्ताकण का अनुज[8] और उत्पलदेव का शिष्य कहा है ।[9] मुक्ताकण और काश्मीर नरेश अवन्तिवर्मा समकालीन हैं । वसुगुप्त और कल्लट भी अवन्तिवर्मा के समकालीन हैं ।[10] वसुगुप्त सोमानन्द के समकालीन थे । अवन्ति वर्मा का समय निस्सन्देह 855 से 888 ई० तक माना जाता है । फलतः रामकण्ठ का भी यही समय है । रामकण्ठ के गुरु उत्पलदेव का समय कम से कम 25 वर्ष पूर्व होना चाहिए । अर्थात् 825 ई० में रामकण्ठ उत्पन्न हुए । उत्पलदेव के गुरु सोमा-नन्द का समय इससे भी 25 वर्ष पूर्व होना चाहिए । इस प्रकार सोमानन्द का आविर्भाव 800 ई० शताब्दी में होना चाहिए । इससे अधिक इनके विषय में कुछ पता नहीं चलता ।

सोमानन्द की शिवदृष्टि :

सोमानन्द लोकोत्तर प्रतिभा के स्वामी थे। उन्हें अद्वितीय वैदुष्य और अस्खलित शिव-भक्ति पैतृक परम्परा से मिली थी। उनकी महान् कृति है—शिव दृष्टि। यह श्लोकों में निबद्ध है। इनमें शैवदर्शन के मूल सिद्धान्तों का विशद वर्णन किया गया है। इसमें सोमानन्द ने शिवाद्वैत वाद की प्रतिष्ठापना की है। इसी को आचार्य अभिनव गुप्त ने पराद्वैत या परमाद्वैत की संज्ञा दी है। सोमानन्द शक्ति और शक्तिमान् का अभेद मानते हैं। उनका कथन है कि शिव अपनी आनन्दरूपा शक्ति से सदैव युक्त रहते हैं। जिस प्रकार चन्द्र और चन्द्रिका में अन्तर नहीं होता वैसे ही शक्ति और शिव में अन्तर नहीं होता।[11] शिव दृष्टि में वैयाकरणों के शब्द-विवर्तवाद की आलोचना की गयी है, किन्तु शंकर के ब्रह्म-विवर्तवाद की आलोचन नहीं की गयी। सम्भवत शंकर का विवर्तवान उस समय प्रचारित नहीं था।

शिव दृष्टि पर आचार्य उत्पलदेव द्वारा लिखी गयी वृति अपूर्ण मिलती है। सोमानन्द ने शायद अन्य ग्रंथ लिखे होंगे, किन्तु वे इस समय उपलब्ध नहीं हैं।

2. उत्पलदेव :

त्रिक दर्शन के समुत्थान में शीर्षस्थ उद्योग करने वालों में सोमानन्द के पश्चात् उत्पलदेव का नाम आता है। इनका समय 825 से 850 ई० के मध्य निर्धारित किया जाता है जो सम्यक् प्रतीक होता है। ये सोमानन्द के साक्षात् शिष्य थे। इनके पिता का नाम उदयाकर तथा पुत्र का नाम विभ्रमाकर था। इन दोनों नामों की समानता देखकर ही मधुसूदन कौल ने यह अनुमान लगाया है कि उत्पलदेव का मूल नाम उत्पलाकर होना चाहिए।[12] उत्पलदेव ने अपना समस्त जीवन अपने गुरु के द्वारा स्थापित सिद्धान्तों के पोषण और प्रचार में ही लगा दिया।

कृतियां :

उत्पलदेव की प्रखर प्रतिभा से अनेक ग्रन्थ रत्न प्रादुर्भूत हुए थे। किन्तु इस समय तीन ग्रन्थ ही उपलब्ध हैं—ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका, सिद्धित्रयी और शिवस्तोत्रावली। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिक त्रिक दर्शन का सर्वस्व है। 'शिव दृष्टि' यदि त्रिक दर्शन की नींव है तो ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा उस नींव पर खड़ा किया भव्य भवन है। यह ग्रन्थ शिवदृष्टि की व्याख्या ही है। उत्पलदेव ने स्पष्ट कहा है कि शिवदृष्टि में पूज्यपाद गुरु ने जैसा कहा था उसी को मैंने नये रूप में प्रकटित किया है।[13] ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका में चार अध्याय हैं जिनमें 190 श्लोक हैं। उत्पलदेव ने ईश्वर प्रत्य-

भिज्ञा पर दो टीकाएँ स्वयं लिखी थी—वृत्ति और विवृति । वृत्ति अपूर्ण प्राप्त है और विवृति अप्राप्य है । अभिनव गुप्त ने वृत्ति पर पृथक विमर्शिनी नाम की टीकाएँ लिखी हैं जिन्हें क्रमश: लघ्वी विमर्शिनी और बृहती विमर्शिनी कहा जाता है ।

सिद्धित्रयी में प्रमाता, ईश्वर और दोनों के सम्बन्ध की सिद्धि की गयी है। शिवस्तोत्रावली में भक्तिरस से पूरित पद्य हैं जिनमें शिव की भक्ति के साथ अद्वैतवादी सिद्धान्त (Idealistic monism) हैं ।

उत्पलदेव कृत शिव दृष्टि वृत्ति ग्रन्थ भी अपूर्ण प्राप्त है । सोमानन्द की शिवदृष्टि पर लिखी गयी यह बृत्ति भी एक प्रौढ़ ग्रन्थ है जो टीका की अपेक्षा रखता हैं । शिवदृष्टि में सात आह्निक हैं । इनमें तीन आह्निकों पर तो उत्पलदेव की सम्पूर्ण वृत्ति उपलब्ध है । चतुर्थ आह्निक के 74वें श्लोक तक की वृत्ति ही प्राप्त है । इनके आगे नहीं । सम्भवत: किसी अकस्मात् विघ्नवश यह ग्रंथ अपूर्ण ही रह गया । 74वें श्लोक में शब्दाद्वैत का खण्डन किया है ।[14]

3. अभिनव गुप्त :

परम माहेश्वराचार्य अभिनव गुप्त काश्मीर के शैवाचार्यों में सर्वाधिक वैदुष्य और प्रतिभा से मण्डित लोकोत्तर पुरुष थे । प्रत्यभिज्ञा दर्शन को चार चाँद लगाने वाले इस दिव्य पुरुष ने अपनी अद्भुत शेमुषी और चिन्तन से अपने गुरुओं को भी पीछे छोड़ दिया था । मूल रूप से ये दार्शनिक थे, किन्तु साहित्य-शास्त्र पर भी इनका असाधारण अधिकार था ।

अभिनव गुप्त के पिता का नाम चुखुलक नरसिंह गुप्त तथा माता का नाम विमला था ।

अस्य हि ग्रन्थकृत: श्री नरसिंह गुप्तविमलाख्यौ पितरौ-तन्त्रालोक विवेक ।/।

इनके जन्म के कारण पिता और पितामह यह सोंचकर अत्यन्त हर्षित हुए कि यह बच्चा हमारे कुल में परम माहेश्वर होगा और हमको भवसागर से पार करायेगा—

नन्दन्ति पितरस्तस्य नन्दन्ति च पितामहा: ।
अद्य माहेश्वरो जात: सोऽस्मान् संसारभिष्यति ॥
- तंत्रालोक विवेक ।/।

इनके गुरु उत्पलदेव[15], लक्ष्मण गुप्त[16] तथा शम्भुनाथ थे । ऐसा प्रतीत होता है कि अभिनव गुप्त ने अनेक गुरुओं से विद्या प्राप्त की थी किन्तु सर्वाधिक सम्मान्य गुरु शम्भुनाथ ही थे । त्रिक दर्शन के गूढ रहस्य उन्होंने

शम्भुनाथ से ही प्राप्त किए थे। तन्त्रालोक में उन्होंने गुरु शम्भुनाथ को बड़े आदर से सम्बोधित किया है।[17] इसी प्रकार ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृति विमर्शिनी में उनको सकल शास्त्रों का महानिधान बताया है।[18]

अभिनव गुप्त का समय 1012 ई० निर्धारित किया जाता है। उन्होंने ईश्वरप्रत्याभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी में अपनी रचना का काल लौकिक सम्वत् 90 बतलाया है।[19] इसके अनुसार दसवीं शताब्दी ही इनका आविर्भाव काल बैठता है। उनके वंश का प्रारम्भिक प्रधान पुरुष अत्रिगुप्त था, यह इनके वचन से ज्ञात होता है।[20]

आचार्य अभिनवगुप्त आजीवन ब्रह्मचारी रहे। श्री मधुसुदन कोल का मत है कि आजीवन अविवाहित रहने के कारण ही ये गार्हस्थ्य की चिन्ताओं से मुक्त रहे तथा जीवन की महान् सफलता का भी यही एक प्रधान कारण रहा।[21]

अभिनवगुप्त की जन्मस्थली और तपोभूमि निश्चित रूप से काश्मीर ही रहा होगा। शैव दर्शन का पूर्ण विकास यहीं पर हुआ। प्रभु महेश्वर की भक्ति के लिए इससे उपयुक्त स्थान दूसरा हो भी नहीं सकता हिमाच्छादित शैल शिखर वृक्ष राज विराजित सघन उपत्यकाएँ कल कल निनाद से कान्तार को गुंजारित करते निर्झर, योगाभ्यास के लिए एकान्त शान्त वनान्त, यही सब कुछ तो भक्ति के उद्दीपक कारण होते हैं। काश्मीर की भूमि इन सबसे सम्पन्न है। इसी भूमि ने अभिनव गुप्त के भक्ति भावित अन्तस् को प्रचुरता से आवर्जित किया होगा। इनका गृह श्रीनगर में वितस्ता के तट पर था।[22]

कृतियाँ : अभिनव गुप्त दिव्य शेमुषी से विभूषित सर्व शास्त्रज्ञ पुरुष थे। वाङ्मय की समस्त विधाओं में उनकी प्रतिभा का अप्रतिहत प्रसार था। उन्होंने जो लिखा वह उन्हीं के अनुरूप था। उनकी कृतियाँ काल के कुठार से अच्छेद्य हैं।

उन्होंने बहुत कुछ लिखा किन्तु उनकी समस्त रचनाओं में तन्त्रालोक का महत्व सर्वाधिक है। इसमें त्रिक दर्शन के साधना-पक्ष का विस्तार से विवेचन किया गया है। शैव दर्शन की ज्ञान की मीमांसा पर भी प्रकाश डाला गया है। यह विशाल ग्रन्थ अनुष्टुप छन्द में निबद्ध है। इसमें कुल चौदह आह्निक हैं और तीन हजार उनसठ (3059) श्लोक हैं। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, ये दोनों प्रौढ़ ग्रन्थ उनकी परिपक्व बुद्धि के परिणाम हैं। ये दोनों उत्पलदेव कृत ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका की वृत्ति और विवृति की टीकाएँ हैं।

इनके अन्य ग्रन्थ हैं—परा त्रिंशिका विवरण, मालिनीविजयवार्तिक, तन्त्रसार, तन्त्रवटधानिका (तन्त्रालोक का संक्षेप), परमार्थसार, बोध पन्चदर्शिका, परमार्थ चर्चा, क्रम स्तोत्र, भैरव स्तोत्र, अनुभव निवेदन स्तोत्र, अनुत्तराष्टिका स्तोत्र, देहस्थ देवता चक्र स्तोत्र आदि। ये ग्रन्थ तो दार्शनिक हैं। इसके अतिरिक्त अभिनव गुप्त ने साहित्य पर भी महत्वपूर्ण ग्रन्थ लिखे। जिनमें अभिनव-भारती और ध्वन्यालोक लोचन प्रसिद्ध हैं। अभिनव गुप्त ने अन्य भी ग्रंथ लिखे थे जो इस समय दुष्प्राप्य हैं।

कुछ विद्वानों का मत है कि तन्त्रवटधानिका ग्रन्थ मुख्य अभिनव गुप्त का लिखा हुआ नहीं है बल्कि इनके चाचा का कोई लड़का भी अभिनव गुप्त नाम का था जिसे आचार्य ने अभिनव गुप्त विशेष नाम से अभिहित किया है, उसी ने तन्त्रवटधानिका का निर्माण किया है। यथा :

इति श्रीमदभिवन गुप्ताचार्य विरचितायां
तंत्रवट धानिकायां तृतीयमाह्निकम् ॥
तन्त्रवटधानिका

आचार्य अभिनव गुप्त ने "गीतार्थ संग्रह" नाम का एक गीता-भाष्य भी लिखा है जिसकी शिक्षा उन्होंने भट्टेन्दुराज से प्राप्त की थी। ऐसा गीतार्थ संग्रह के वाक्य से ज्ञात होता है :

भट्टेन्दु राजादाम्नाय विविच्य च चिरं धिया।
कृतोऽभिनव गुप्तेन सोऽयं गीतार्थ संग्रहः ॥

अभिनव गुप्त के गुरु

आचार्य अभिनव गुप्त ने अनेक महनीय सर्वशास्त्र-निष्णात गुरुओं से विभिन्न विद्याएँ प्राप्त की थीं। वस्तुतः आचार्य निखिल विद्याओं के अगाध सागर थे। अर्ध त्र्यम्बक शैव दर्शन, आमर्दक शैव शास्त्र, कालीनय, कोलिक विधि, तुर्याख्या सन्तति, त्रिक प्रक्रिया, त्र्यम्बकीय शैव शास्त्र, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र, मतंग शास्त्र, श्रीनाथ शैव, भगवद् गीता, व्याकरण, अलंकार शास्त्र, काव्यशास्त्र आदि विविध विद्याएँ उन्होंने अर्जित कीं और उन पर विपुल ग्रन्थों का निर्माण भी किया।

1. **शम्भुनाथ** :

अभिनव गुप्त ने अर्धत्र्यम्बक शैव-विद्या आचार्य शम्भुनाथ से प्राप्त की थीं। शम्भुनाथ जालन्धरपीठ के पीठाधिप थे। जो कांगड़ा में स्थित है। कौल-विद्या और त्रिक प्रक्रिया के सिद्धान्त पद्य और साधना पद्य के ये परम रहस्यवेत्ता थे। अभिनव गुप्त ने अपनी समस्त शंकाओं का हृदयग्राही समाधान इन्हीं से प्राप्त किया था।[23]

2. **श्री वामनाथ :**

आमर्दक शैव विद्या आचार्य ने श्री वामनाथ नामक गुरु से प्राप्त की थी। आचार्य श्रीमुख से उच्चरित वचन के अनुसार श्री वामनाथ के पिता श्री एरकनाथ थे।[24]

3. **उद्भट :**

श्री उद्भट नामक आचार्य कालीनय के रहस्यवेत्ता थे। अभिनव गुप्त ने इनसे कालीनय की विद्या गृहीत की थो।[25]

4. **अनिरुद्ध :**

ये भो अभिनव गुप्त के गुरु थे। अभिनव गुप्त ने इनको मतंगशास्त्र का व्याख्याता कहा है। मतंगशास्त्र का अध्ययन इन्हीं के आचार्य ने किया था।[26]

5. **लक्ष्मण गुप्त :**

त्र्म्बकीय शैव, प्रत्यभिज्ञाशास्त्र तथा त्रिक प्रक्रिया की शिक्षा आचार्य ने परम विद्वान् लक्ष्मण गुप्त से पायी थी।[27]

6. **भट्टेन्दुराज :**

श्री नाथीण शैव-विद्या का अध्ययन इन्होंने भट्टेन्दुराज से किया था।[28]

7. **नरसिंह :**

श्री नरसिंह गुप्त आचार्य अभिनव गुप्त के पिता थे। अपने पिता से आचार्य ने व्याकरण न्यास और साहित्य की शिक्षा प्राप्त की थी।[29]

8. **चन्द्रशर्मा :**

श्री चन्द्रशर्मा से भी सम्भवत: विभिन्न शैव रहस्य अभिनव गुप्त ने प्राप्त किए थे। उन्होंने बड़े आदर से उन्हें स्मरण किया है—

श्री चन्द्रशर्म भवभक्ति विलास योगा
नन्दाभिनन्द शिव शक्ति विचित्र नाथ:।

तंत्रालोक 30/62

इसके अतिरिक्त कुछ अन्य गुरुओं का भी नाम निर्देश अभिनव गुप्त ने तंत्रालोक में किया है। जैसे भूतिराज, महेश्वर, वामनदत्ताचार्य, धर्मशिव भास्कर उत्पलदेव आदि।[30]

अभिनव गुप्त का वर्ण

अभिनव गुप्त के नाम के साथ जुड़े हुए "गुप्त" शब्द के श्रवन से यह भ्रान्ति होती है कि अभिनव गुप्त वैश्य वर्ण के थे, किन्तु वस्तुत: ऐसा नहीं है। अभिनव गुप्त विशुद्ध ब्राह्मण थे। इनके वंश में उत्पन्न पुरुषों के साथ जो गुप्त शब्द लगा हुआ है वह वस्तुत: गोप्ता का परिवर्तित रूप है।

प्राचीन भारत में शत ग्रामों के प्रशासक को "गोप्ता" पद से अभिहित किया जाता था। यह "गोप्ता" पद प्रशासन की योग्यता के आधार पर राजा की ओर से प्रदान किया जाता था, चाहे वह ब्राह्मण हो, क्षत्रिय हो या वैश्य हो। अभिनव गुप्त का कोई पूर्वज अत्रिगुप्त था जिसे गोप्ता पद दिया गया था। उसके वंश उत्पन्न हुए सभी पुरुषों के साथ "गोप्ता" यह उपनाम सदा के लिए जुड़ गया। यह "गोप्ता" उपनाम ही आगे चलकर विकृति को प्राप्त होकर "गुप्त" हो गया। अत्रिगुप्त के वंश में ही अभिनव गुप्त हुए। वे पूर्णतया उत्कृष्ट ब्राह्मण थे।

इस प्रकार के "गुप्त" उपनाम से अभिहित होने वाले अन्य विद्वान् भी ब्राह्मण हुए हैं। जैसे चाणक्य को विष्णुगुप्त भी कहा जाता है। समुद्र गुप्त का पिता चन्द्रगुप्त ब्राह्मण था। ब्रह्मयुक्त नाम का एक विद्वान् ब्राह्मण गणितशास्त्र का गुरु हो चुका था। अत: अभिनव गुप्त के पूर्वज भी विशुद्ध ब्राह्मण थे। परात्रींशिका विवरण में अत्रिगुप्त को प्राग्रय जन्मा कहा गया है—

अन्तर्वेद्यामत्रि गुप्ताभिधानो लब्धवोत्पत्ति प्राविशत् प्राग्रयजन्मा ।
श्री कश्मीरांश्चन्द्र चूडावतारै र्नि:संख्याकै: पावितोपान्तभागान् ।।
परात्रींशिका विवरणम् ।

अन्य सम्बन्धी :

अभिनव गुप्त के पितामह का नाम वराह गुप्त, पिता का नाम नरसिंह गुप्त और माता का नाम विमला था। इनका छोटा भाई मनोरथ गुप्त था। इनके चाचा के पाँच पुत्र थे—क्षेम गुप्त, उत्पल गुप्त, अभिनव गुप्त, चक्र गुप्त और पद्म गुप्त। इनका यह चचेरा भाई अभिनव गुप्त ही तन्त्रवट धानिका का कर्ता माना जाता है।

देह सौन्दर्य और वेष भूषा :

परम माहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त अपनी साधना के बल पर परमशिव के साथ अद्वयभाव को प्राप्त कर चुके थे। उनकी आँखें आनन्दातिरेक से सदैव उल्लसित रहती थी। मस्तक पर भस्म रचित तिलक शोभा पाता था। रूद्राक्ष मालिका कर्ण प्रदेश में विराजित हुआ करती थी। लम्बे केश और लम्बी दाढ़ी मुखमण्डल को घेरे रहते थे। ब्रह्मचर्य की अग्नि में तपकर सम्पूर्ण अंग रक्तवर्ण हो गये थे। कर्पूर अगुरु कस्तुरी कंकोल, चन्दन और केशर में मिश्रण से निर्मित लेप (यक्ष पंक) से विभूषित होकर उनका गौरवर्ण कण्ठदेश दिव्य कान्ति को धारण करता था। लम्बा यज्ञोपवीत उनकी देहयष्टि को ऐसे घेरता था जैसे किसी निर्मल वारिधारा से

आवेष्टित होकर कोई शैल शिखर शोभायमान होता हो। चन्द्रमा के समान धवल रेशमी वस्त्र को धारण कर वीरासन पर स्थित होकर, जानु पर एक हाथ रखकर अपने वामहस्त से जब वे वीणा बजाते थे तो उन्हें देखकर साक्षात् सरस्वती ब्रह्मा और शिव का भान होता था।

आनन्दान्दोलिताधः स्फुटकृत तिलको भस्मना भालमध्ये,
रूद्राधील्यासि कर्ण कलित कच भरो मालया लम्बकूर्चः।
रक्तांगो यक्षपंकोल्लसदसितगलो लम्बमुक्तोपवीतः,
क्षोमं वासो वसानः शशिकर धवलं वीर योगासनस्थं.॥
जान्वासक्तैक हस्तः स्फुट परम शिव ज्ञानमुद्राक्ष सूत्रौ
वाम श्री पाणि पद्म स्फुरित नरव मुखै र्वादयन्नादवीणाम्॥
गुरुनाथ परामर्शः 5/6

अभिनव गुप्त के विषय में इस विपुल परिचय को उपन्यस्त करने का हमारा उद्देश्य यही है कि त्रिकदर्शन के सर्वाग्रणी संस्थापक और परिपोषक इस महान् अर्चनीय देवपुरुष के विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति न रहे।

4. वसुगुप्त :

शिवशूत्र के प्रणेता वसुगुप्त माने जाते हैं। शिवसूत्र स्पन्द-शास्त्र के नाम से भी जाना जाता है। वस्तुतः शिवसूत्रों का आविष्कार या उद्धार वसुगुप्त ने किया था। उसको वर्तमान रूप उनके प्रधान शिष्य कल्लट ने दिया।[31] शिव सूत्रों के आदि प्रणेता भगवान् शिव हैं। शिव-निर्मित होने के कारण उन्हें आगम कहा जाता है। शिव ने वसुगुप्त को स्वप्न में आदेश दिया था कि "कैलास गिरि पर शिवसूत्र उट्टंकित हैं। तुम उनका उद्धार करो।" इन्हीं के आदेशानुसार वसुगुप्त कैलाप पर गए और शिव सूत्रों का उद्धार किया।[32] ये सूत्र संख्या में 77 हैं।

वसुगुप्त राज तरंगिणी के आधार पर अवन्ति वर्मा के काल में भूमि पर अवतीर्ण हुए। ये सोमानन्द से छोटे थे और इनके समकालीन थे। इसलिए वसुगुप्त का आविर्भाव काल 810 के आस पास मानना उचित है। ये कल्लट के गुरू थे। अतः कल्लट और वसुगुप्त का समय एक ही होना चाहिए।[33]

रचना : शिवसूत्र या स्पन्दशास्त्र वसुगुप्त की एक ही रचना इस समय प्राप्त है। परम शिव की स्वान्त्र्य शक्ति स्पन्द कहलाती है। स्पन्द का अर्थ है किंचित गति। शिव की शक्ति गत्यात्मक है। अतः स्पन्द नाम से अभिहित होती है। यह स्पन्द ब्रह्माण्ड में कण-कण में व्याप्त है। शिवसूत्रों में इसी तत्व का विवेचन किया गया है। शिवसूत्र एक रहस्यपूर्ण ग्रन्थ है जिनको समझना सबके सामर्थ्य की बात नहीं।

5. **भट्ट कल्लट** :

ये वसुगुप्त के प्रधान शिष्य थे। वसुगुप्त के द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों को स्पष्टता कल्लट ने प्रदान की। इनका प्रसिद्ध ग्रन्थ है—स्पन्द-कारिका। इस ग्रन्थ के तीन निःस्पन्द हैं—जिनमें स्पन्द शास्त्र के साधना-पक्ष का विवेचन किया गया है। शिवत्व प्राप्ति के तीन उपाय हैं – शाम्भव शरक्त तथा आणव। इन्हीं पर आश्रित सिद्धान्तों का निरूपण स्पन्द कारिका में किया गया है। यह ग्रन्थ 51 कारिकाओं में निबद्ध है।

शिव सूत्र वृत्ति : भट्ट कल्लट ने शिव सूत्रों पर एक संक्षिप्त वृत्ति लिखी थी शिव सूत्र वृत्ति सौभाग्य से आज यह प्राप्त है।

स्पन्द सर्वस्व : स्पन्दकारिका पर एक टीका स्पन्द-सर्वस्व नाम से लिखी थी जो इस समय दुष्प्राप्त है।

6. **भट्ट भास्कर** :

भट्ट भास्कर वसुगुप्त के शिष्य थे। इन्होंने वसुगुप्त निर्मित शिव-सूत्रों के रहस्य को विशद करने के लिए शिवसूत्र-वार्तिक की रचना की।

7. **क्षेम राज** :

इनका समय 975 इ० से 1025 ई० के मध्य माना गया है। ये आचार्य अभिनव गुप्त के प्रमुख शिष्य थे। इन्होंने "शिव-सूत्र-विमर्शिनी" नामक वैदुष्य पूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इनके अन्य ग्रन्थ हैं—उद्योत, प्रत्य-भिज्ञा हृदय, स्पन्द सन्दोह, शिव स्तोत्रावली की टीका, परा प्रवेशिका तथा बोध विलास।

8. **जयरथ** :

आचार्य जयरथ के विषय में प्रामाणिक इतिहास कहीं भी प्राप्त नहीं होता। जो कुछ भी पता चलता है उसका आधार उनके ही वचन है जो उन्होंने विवेक नाम की टीका में लिखे हैं। जयरथ की कीर्ति का स्तम्भ उनकी विवेक टीका ही है जो उन्होंने तन्त्रालोक के रहस्यों को स्पष्ट करने के लिए लिखी थी। किन्तु यह टीका भी इतनी गहन हैं कि उसे समझने के लिए एक अन्य टीका की आवश्यकता है। जयरथ आचार्य अभिनव गुप्त के समान ही रहस्यवेत्ता प्रबुद्ध विद्वान् थे। इसमें प्रमाण यही है कि उन्होंने तन्त्रालोक पर टीका लिखी। तन्त्रालोक की व्याख्या कोई साधारण विद्वान् नहीं कर सकता।

डा० के०सी० पाण्डेय के अनुसार जयरथ काश्मीर के शासक राजराज जयसिंह के समकालीन थे।[34] जयसिंह का शासनकाल 1200 ई० माना गया है। इन्हीं जयसिंह ने जयरथ को तन्त्रालोक की टीका लिखने के लिए

प्रेरित किया था।[35] श्री सुभट दत्त ने इनको दीक्षा प्रदान की[36] तथा श्री कल्याण ने शैव मत की शिक्षा दी।[37] शंखधर ने अन्य समस्त विद्याओं में पारंगत किया।[38] जयरथ के पिता का नाम श्रृंगार रथ था जो काश्मीर नरेश राजराज के मन्त्री थे।[39]

ईसवीय वर्ष 930 में काश्मीर में यशस्कर का शासन था। उनका मंत्री था पूर्ण मनोरथ।[40] पूर्णमनोरथ का पुत्र उत्पलरथ, उत्पलरथ का पुत्र प्रकाशरथ, प्रकाशरथ का पुत्र सूर्यरथ, सूर्यरथ का पुत्र उत्पलरथ (द्वितीय) तथा उत्पलरथ का पुत्र समरथ हुआ। समरथ का गुणरथ, गुणरथ का गंगारथ, गंगारथ का श्रृंगाररथ और श्रृंगाररथ का पुत्र जयरथ हुआ। इस प्रकार प्रत्येक पीढ़ी में यदि 25 वर्ष का भी अन्तर किया जाए तो जयरथ का समय ईसा की बारहवीं शताब्दी या तेरहवीं शताब्दी का प्रारम्भ सिद्ध होता है।[41] जयरथ का अनुज जयद्रथ भी था।[42] जयरथ के जीवन के सम्बन्ध में इतना ही ज्ञात होता है।

रचनाएँ : अभिनव गुप्त के समान जयरथ भी दर्शन शास्त्र और साहित्य शास्त्र के पूर्ण मर्मज्ञ विद्वान् थे। इस समय उनकी तीन रचनाएँ प्राप्त होती हैं—1. तन्त्रालोक-विवेक—यह तन्त्रालोक की टीका है जो तन्त्रालोक जैसे दुरूह ग्रन्थ के गहन आशय को स्पष्ट करती है। 2. अलंकार विमर्शिनी—यह रूय्यक-चरित अलंकार-सर्वस्व की टीका है। 3. अलंकारोदाहरण—यह जयरथ की मौलिक रचना है।

9. रामकण्ठ :

रामकण्ठ स्पन्दकारिका की टीका में स्वयम् को उत्पलदेव का शिष्य कहते हैं :

"कीर्तिः श्रीमदुत्पलदेवपाद पदमोपजीविनः श्रीमद्राजानक रामकण्ठस्य"

इसलिए इनका समय 950 ई० होना चाहिए।

रचना : इनकी कल्लट की स्पन्दकारिका पर एक टीका प्राप्त होती है जिसका नाम है—स्पन्दविवरण सारमात्रम्। इसे स्पन्द-विवृति भी कहा जाता है। वैसे रामकण्ठ के शब्दों में इनका नाम स्पन्दविवरणसारमात्रम् ही है। उन्होंने अन्त में स्वयम् कहा है--"इति स्पन्दविवरणसारमात्रं समाप्तम्" इनकी दो रचनाओं का उल्लेख और प्राप्त होता है—मातंगतन्त्र की टीका तथा शैव दृष्टि से भगवद्गीता पर लिखी गई एक टीका। ये दोनों ग्रन्थ सम्प्रति प्राप्त नहीं हैं।

10. श्रीकण्ठ सूरी :

श्रीकण्ठ सूरी स्वयं को रामकण्ठ का शिष्य कहते हैं।[43] इनका समय

1050 से 1075 होना चाहिए। इनकी एक ही रचना है—रत्नत्रय।

11. **भट्ट नारायण** :

भट्ट नारायण कल्लट के समकालीन थे। इनका ग्रन्थ है स्तव चिन्तामणि। अभिनव गुप्त ने इनको अपने परमार्थ सार में उद्धृत किया है। इनके पिता का नाम अपराजित और पितामह का नाम परमेश्वर था।

12. **नारायण कण्ठ** :

नारायणकण्ठ के पिता का नाम विद्याकण्ठ और पितामह का नाम शंकर था। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी हैं। इनके ग्रन्थ का नाम है—मृगेन्द्रवृत्ति। यह मृगेन्द्र तन्त्र की टीका है।

13. **योगराज** :

योगराज क्षेमराज के शिष्य थे। इनका समय ग्यारहवीं शताब्दी होना चाहिए। योगराज की प्रसिद्ध रचना है—परमार्थसार टीका। इस टीका की रचना से पहले ही वे संसार से विरक्त होकर तपस्वी जीवन बिताने लगे थे और काश्मीर में वितस्तापुरी में रहने लगे थे। उक्त रचना अद्वैतवाद की प्रतिष्ठापित है।[44]

14. **भास्कर कण्ठ** :

भास्कर कण्ठ ने अभिनव गुप्त की ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी पर विद्वतापूर्ण टीका लिखी है जो भास्करी कहलाती। इस टीका ने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी को समझना अत्यन्त सरल कर दिया। भास्कर कण्ठ का गोत्र धौम्यायन था।[45] उनके पितामह का नाम वैदूर्यकण्ठ तथा पिता का नाम अवतारकण्ठ था। उनका एक पुत्र था जगन्नाथ नाम का। उनके गुरु कौल नरोत्तम थे।[46] उनका समय 18वीं शताब्दी था।

भास्कर कण्ठ ने भास्करी के अतिरिक्त तीन गन्थ और लिखे—लल्लावाक् का संस्कृत अनुवाद, योग वासिष्ठ की टीका तथा हर्षेश्वरस्तव।

15. **गोरक्ष (महेश्वरानन्द)** :

गोरक्षनाथ की महार्थमन्जरी त्रिक दर्शन का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। ये महाराष्ट्र निवासी माधव के पुत्र थे।[47] वे महाप्रकाश के शिष्य और अभिनव-गुप्त के अनुयायी थे।[48] गोरक्ष की लेखन शैली भी अभिनव गुप्त से प्रभावित हैं। इनका समय बारहवीं शताब्दी है। इन्होंने महार्थमंजरी पर परिमल नाम की टीका भी लिखी है जो ग्रन्थ को सरल बनाती है। गोरक्ष का दर्शन महार्थ या महानम था जो त्रिक दर्शन से बहुत भिन्न नहीं है। उन्होंने स्वयं यह स्वीकार किया है :

अनेन श्री महार्थ त्रिकदर्शनयोरन्योन्यं नात्यन्तं

भेदप्रथेति व्याख्यातम्-महार्थ मंजरी 99

16. **वरद राज (कृष्णदास) :**

वरद राज अथवा कृष्णदास शैवमतानुयायी मधुराज के सबसे छोटे पुत्र थे। मधुराज योगी अभिनव गुप्त के शिष्यों में से थे। इनका समय बारहवीं शती का प्रारम्भ था। वरदराज काश्मीर में रहते थे।

उनकी एकमात्र रचना है—शिवसूत्रवार्तिक। यह ग्रन्थ भट्टभास्क द्वारा रचित शिवसूत्रवार्तिक से भिन्न है। इसमें नया कुछ नहीं है। क्षेमराज की विमर्शिनी टीका का अनुसरण करके ही वसुगुप्त के शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखे हैं।[50]

तन्त्र शास्त्र की प्रामाणिकता

त्रिक दर्शन के प्रतिपादक तीन शास्त्र हैं—प्रत्यभिज्ञा शास्त्र, स्पन्द-शास्त्र और कुलागम। इससे यह नहीं समझना चाहिए कि इससे पूर्व त्रिक-दर्शन के सिद्धान्त नहीं थे। त्रिकदर्शन के मौलिक सिद्धान्त निगमागममूलक हैं। ऋग्वेद और उपनिषदों में तंत्रविद्या के बीज सुरक्षित हैं। हां, उसका विस्तीर्ण विवेचन एवं प्रतिपादन कलियुग में ईसा से लगभग एक हजार पूर्व त्र्यम्बकादित्य के द्वारा काश्मीर में किया गया। त्रिकदर्शन का एक मौलिक तत्व है शक्ति। शक्ति तत्व का स्वरूप और कार्य ऋग्वेद के वागाम्भृणी सूक्त में प्रतिपादित है। वहाँ शक्ति मुख से कहलाया गया है कि—"मैं रूद्रों, वसुओं, आदित्यों और विश्वेदेवों के साथ विचरण करती हूँ। मैं ही मित्रा-वरूण इन्द्र, अग्नि, अश्विनी कुमारों, सोम त्वष्टा पूषण भग आदि को धारण करती हूँ।[51] यजमान को मैं ही धन सुलभ कराती हूँ। मैं राष्ट्र की शक्ति हूँ वसुओं की संगमनी तथा याज्ञिकों की ज्ञानदात्री मैं ही हूँ।"

उक्त सूक्त में जिस शक्ति तत्व का प्रतिपादन किया गया है, शक्ति-तन्त्र और कुलागमों में उसी का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है त्रिक दर्शन और वैदिक सिद्धान्तों में कोई विशेष मतभेद नहीं है।

इस प्रकार शैव और शाक्त तन्त्रों पर आधारित त्रिकदर्शन की आचार-पद्धति उपनिषदों में भी वर्णित है। छन्दोग्य में वर्णित पंचाग्नि विद्या का आधार तान्त्रिक आचार ही प्रतीत होता है। वहाँ कहा गया है कि यह प्रसिद्ध द्युलोक ही अग्नि है।[52] यह पर्जन्य अग्नि है,[53] यह पृथ्वी ही अग्नि है,[54] यह पुरुष ही अग्नि है[55] तथा यह स्त्री ही अग्नि है।[56] इस पंचाग्नि विद्या का आधार खोजने पर शाक्त तन्त्रों पर दृष्टि जाती है। इससे सिद्ध होता है कि तन्त्र विद्या उपनिषदों में भी अधिक प्राचीन होनी चाहिए। इसी प्रकार छान्दोग्य में जिस मधुविद्या का वर्णन किया गया है,

उसका रहस्य यदि खोजा जाए तो वह पूर्णतया शाक्त तन्त्रों पर आश्रित प्रतीत होता है। वहाँ कहा गया है कि यह आदित्य ही देवताओं का मधु है। द्युलोक ही इसका तिरछा बाँस है, अन्तरिक्ष छत्ता है तथा किरणें मधु-मक्खियों के पुत्र हैं।[57] फिर आगे सूर्य रूप मधु की नाड़ियां, मधुकर पुष्प और अमृत का वर्णन किया गया है। सूर्य की ऊर्ध्वमुख रश्मियाँ उस मधु की नाडियां हैं। गुह्य आदेश मधुकर है, ब्रह्म ही पुष्प हैं तथा सोमादि रूप अमृत ही जल है।[58] यहाँ पर जिन गुह्य आदेशों को मधुकर कहा गया है वे गुह्य आदेश तन्त्रशास्त्र के गोपनीय आचार सिद्धान्त ही हैं।

छान्दोग्य वर्णित प्राण दर्शन—विद्या पर तन्त्र शास्त्र का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है। इस प्राण विद्या की महिमा बताई गई है कि यदि इसे शुष्क वृक्ष के प्रति कह दिया जाय तो उसमें पत्ते फूट आएँ।[59] इस प्राणोपासना की विधि पूर्णतया तान्त्रिक है। विधि इस प्रकार वर्णित है :

"जो महत्व को प्राप्त होना चाहे वह अमावस्या को दीक्षित होकर पूर्णिमा की रात्रि को सर्वौषध के दधि और मधु सम्बन्धी मन्थ का मन्थन कर "ज्येष्ठाय श्रेष्ठाय स्वाहा" यह कहते हुए अग्नि में घृत का हवन करके मन्थ पर उसका अवशेष डालना चाहिए।[60] इसी प्रकार पुन "वसिष्ठाय स्वाहा" "प्रतिष्ठायै स्वाहा" सम्पदे स्वाहा" "आयतनाय स्वाहा" इन चार मन्त्रों का उच्चारण करके अग्नि में घृत की आहुति प्रदान करें। फिर अग्नि से कुछ दूर हट कर इस निम्नलिखित मन्त्र का जप करे[61] :

"अमो नामास्यमा हि ते सर्वमिदं स हि ज्येष्ठः श्रेष्ठो राजाधिपतिः
स मा ज्यैष्ठ्यं श्रैष्ठ्यं राज्यमाधिपत्यं गमयत्व हमेवेदं सर्वमसानि"

पुनः इन चार मंत्रों से मन्थ का थोड़ा-थोड़ा आचमन करे और अन्तिम मंत्र से शेष समस्त मन्त्र पी जाए[62] :

"तत्सवितुर्वृणीमहे"
"वयं देवस्य भोजनम्"
"श्रेष्ठं सर्वधातमम्"
"तुरं भगस्य धीमहि"

उपर्युक्त समस्त क्रियाओं के पश्चात् उपासक उसी अग्नि के पास पृथ्वी पर ही सो जाए। यदि स्वप्न में स्त्री दिखाई दे तो समझना चाहिए कि वह कर्म सफल हो गया।"[63]

इस प्राणोपासना की गहराई में जाया जाए तो इस पर तांन्त्रिक पद्धति का प्रभाव प्रतीत होता है। प्रभाव ही नहीं बल्कि यह उपासना तो पूर्णतया तान्त्रिक ही है। स्वप्न में जिस स्त्री का दर्शन बताया गया है वह

और कोई अन्य नहीं बल्कि साक्षात् शक्ति ही है जो कर्म की सफलता की सूचना देने के लिए भक्त को दर्शन प्रदान करती है। अन्यथा पर-नारी का दर्शन तो मलिनवृत्ति का ही द्योतक है।

इससे प्रतीत होता है कि तन्त्रशास्त्र उपनिषदों से भी प्राचीन हैं और वेदतुल्य ही आदरणीय हैं। कुलूक भट्ट ने तन्त्र को श्रुति ही माना है।[64] भास्कर राय ने तन्त्र को स्मृति मानकर उसका प्रामाण्य अंगीकार किया है।[65] दोनों में इतना अन्तर है कि स्मृतियाँ कर्मकाण्ड के अन्तर्गत आती हैं और तन्त्रशास्त्र ज्ञानकाण्ड के अंग हैं।[66] आचार्य श्रीकण्ठ ने तन्त्रों का वेद-तुल्य प्रामाण्य स्वीकार किया है। उनके मतानुसार वेद भी शिवागम ही हैं क्योंकि वेदों के निर्माता भी शिव ही हैं।[67] वेद और तन्त्रों में यह अन्तर है कि वेद त्रैवर्णिक अर्थात् ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य इन तीनों के लिए ही आचरणीय हैं, किन्तु तन्त्रों पर सबका अधिकार है। वेद गोपनीय नहीं बल्कि सबके लिए प्रकाश्य है किन्तु तन्त्र-विद्या नितान्त गोपनीय है। सबके लिए इसका प्रकाशन नहीं किया जाता। कौल तन्त्र तो जितेन्द्रीय अधिकारियों के लिए ही है।

त्रिक दर्शन की उत्पत्ति

त्रिक दर्शन का आविर्भाव कब हुआ, यह जानने के लिए हमारे पास सशक्त साक्ष्य नहीं है। इसकी उत्पति क्यों हुई इसका उत्तर तो सोमानन्द ने दे दिया है, किन्तु कब हुई इसके लिए अनुमान ही एक शरण है। सोमा-नन्द कहते हैं कि अपने आगमों की द्वैतवादी व्याख्या देकर भगवान् शिव को सन्तोष नहीं हुआ। उन आगमों की अद्वैतवादी व्याख्या भी होनी चाहिए तभी शिव का स्वातन्त्र्य अक्षुण्ण रह सकता है। इसका दायित्व शिव ने दुर्वासा को सौंपा। दुर्वासा ने तीन मानस पुत्र उत्पन्न किए—त्र्यम्बक, आमर्दक और श्री नाथ। त्र्यम्बक को अद्वैत का, आमर्दक को द्वैत का तथा श्रीनाथ को द्वैताद्वैत का उपदेश किया।[68] अद्वैत मत के प्रचार के लिए त्र्यम्बक ने एक मठिका (सम्प्रदाय) की स्थापना की। यह मठिका कब और कहाँ स्थापित की गयी इस विषय में सोमानन्द ने कुछ नहीं लिखा। सम्भवत: यह सर्व प्रथम शिव के निवास कैलास पर स्थापित की गयी होगी जो बाद में काश्मीर में ले आयी गयी।

डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय का मत है कि सोमानन्द की चौथी पीढ़ी के पूर्वज अष्टम शतक में इस मठिका को काश्मीर में ले आये थे।[69] त्र्यम्बक मठिका की कालान्तर में दो विचारधाराएँ हो गई—स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। ये दोनों ही अद्वैतवादी विचारधाराएँ हैं। इन दोनों को

ही त्रिक दर्शन कहा जाता है। इस प्रकार त्रिक दर्शन के आद्य प्रवर्तक त्र्यम्बकादित्य हैं। वसुगुप्त और सोमानन्द ने इसको तर्क के आधार पर विधिवत् प्रतिष्ठित किया जो क्रमशः स्पन्दशास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र के अवतारक थे। आगे चलकर सोमानन्द के शिष्य उत्पलदेव और अभिनव गुप्त ने इसको अनेक ग्रन्थ सम्पति से मण्डित करके प्रचारित किया।

ऐसा प्रतीत होता है कि त्र्यम्बकादित्य ने अद्वैतवादी शैव दर्शन का मौखिक उपदेश करके प्रचार किया था। कोई ग्रंथ निर्माण नहीं किया था। शिष्य परम्परा से ही यह सोमानन्द तक पहुँचा। त्र्यम्बकादित्य ने कोई ग्रन्थ बनाया भी हो तो वह सम्प्रति उपलब्ध नहीं। वसुगुप्त और सोमानन्द ने सर्वप्रथम इस मत को लिपिबद्ध किया। वसुगुप्त का शिवसूत्र या स्पन्द-कारिका और सोमानन्द की शिवदृष्टि ही मूल रूप से इस मत के लिपिबद्ध प्रमाण ग्रंथ हैं। वसुगुप्त और सोमानन्द समकालीन थे। केवल इनकी आयु में 25 वर्ष का अन्तर था। सोमानन्द का समय 850 ई० है और वसुगुप्त का समय 825 ईसवीय शतक है।[70]

इस प्रकार यह त्रिक दर्शन अत्यन्त प्राचीन है। इसके साथ उत्पति शब्द उपचारवश ही जोड़ा जाता है। इसका प्रत्येक युग में आविर्भाव और तिरोभाव ही होता है। उपर्युक्त त्र्यम्बक मठिका के द्वारा त्रिक दर्शन का आविर्भाव कलियुग में हुआ है। यह विद्या प्रारम्भ में ऋषियों के पास थी। साधारण पुरुष इसके अधिकारी नहीं होते। इसलिए ऋषि इसका प्रवचन जितेन्द्रिय अधिकारियों को ही करते थे। आगमों के अनुसार महर्षि अगस्त्य दत्तात्रेय दुर्वासा परशुराम आदि इसके प्रचारक और प्रवर्तक रह चुके हैं।[71] पण्डित बलजिन्नाथ का तो यहाँ तक कहना है कि "इस समय भी भगवान् दुर्वासा शाम्भवी उपासना के रहस्यों का उपदेश योग्य पात्रों को करते रहते हैं, यह बात हमें दृढ़तर प्रमाण से सिद्ध हो चुकी है।"[72] यदि यह सत्य है तो निश्चित ही इसकी प्राचीनता और प्रामाणिकता में संशय का अवकाश नहीं होना चाहिए।

शैव और शाक्त

आपात रूप से शैव और शाक्त पदों के श्रवण से दो विचारधाराओं अथवा दो दर्शनों का बोध होता है। प्रायः यह समझा जाता है कि शैव सम्प्रदाय शिव को और शाक्त सम्प्रदाय शक्ति तत्व को मानने के कारण उक्त नाम से अभिहित होते हैं तथा शिव और शक्ति दो पृथक् तत्व हैं। वस्तुतः ऐसा है नहीं। न तो शैव और शाक्त पृथक्-पृथक् दर्शन हैं और न ही शिव और शक्ति पृथक् तत्व हैं। वास्तव में ये एक ही तथ्य के दो

चिन्तन प्रकार हैं और एक ही तत्व के दो रूप दो नाम और दो कार्य हैं। इस विषय पर थोड़ा चिन्तन यहाँ अत्यन्त प्रासंगिक होगा।

शिव और शक्ति एक तत्व होने पर भी दो माने जाते हैं। वस्तुत: शिव और शक्ति अभिन्न हैं। वह अभेद दो प्रकार से हो सकता है। एक तो यह कि दो तत्व मिलकर एक हो जाएँ। यह मिलना दैशिक और कालिक दोनों प्रकार से हो सकता है। इस रूप में शिव और शक्ति साथ रहते हैं। कभी पृथक् नहीं होते, इसलिए दोनों का अभेद हो सकता है। दूसरा प्रकार यह है कि वस्तु एक ही है, दो स्तरों पर कार्य करने के कारण पृथक् पृथक् नामों से कही जाती है। जैसे अन्त.करण के चार नाम मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार चार स्तरों पर कार्य करने के कारण हो गए हैं। अथवा जैसे एक ही पुरुष पिता और पति आदि नामों से कहा जाता है क्योंकि वह विभिन्न स्तरों पर कार्य करता है। शिव और शक्ति की भी यही दशा है। जब हम परम तत्व को "शिव" नाम से पुकारते हैं तब उसमें शिव तत्व की प्रधानता है, शक्ति तत्व की गौणता है। जब उसे शक्ति कहते हैं तब शक्ति तत्व प्रधान है शिव तत्व गौण है। साम्यावस्था में न शिव की प्रधानता है और न शक्ति की। यही शिव और शक्ति का अभेद या सामरस्य कहलाता है। इसी सामरस्य को शैव दार्शनिक परम शिव कहते हैं और शाक्त दार्शनिक परा शक्ति कहते हैं। वस्तुत: शिव और शक्ति में कोई भेद नहीं परमशिव और पराशक्ति एक ही हैं।[73] शाक्त मतानुयायियों की मान्यता है कि शिव पराशक्ति से प्रादूर्भूत होकर जगत् का आविर्भाव करते हैं और शैव दार्शनिकों के अनुसार शक्ति परम शिव से प्रकट होकर जगत् का प्रकाशन करती है। इस प्रकार शैवदर्शन और शाक्त दर्शन में वास्तविक भेद नहीं है। त्रिक दर्शन में इन दोनों दर्शनों का समावेश है। त्रिक दर्शन के अध्ययन के लिए इन दोनों दर्शनों का अनुशीलन किया जाता है। वस्तुत: त्रिक दर्शन कोई स्वतंत्र चिन्तन नहीं है बल्कि शैव शाक्त सम्प्रदाय के सार को लेकर इसका आविर्भाव किया गया है।

शिव और शक्ति के अभेद का यह दिङ्मात्र विवेचन है। इसका विस्तारपूर्वक प्रतिपादन शिवाद्वैतवाद के षष्ठ अध्याय में किया जाएगा।

काश्मीर से सम्बन्ध

शैव और शाक्त दर्शन अथवा त्रिक दर्शन का काश्मीर से गम्भीर सम्बन्ध है। शैव और शाक्त सम्प्रदाय में द्वैतवाद और अद्वैतवाद दोनों सिद्धान्त विकसित हुए। काश्मीर से केवल अद्वैत शाखा का ही सम्बन्ध हैं। शैव सम्प्रदाय के अन्तर्गत इस अद्वैतवादी दर्शन की काश्मीर में स्थापना

त्र्यम्बकादित्य ने की थी। कहते हैं भगवान् शिव ने अपने आगमों की द्वैतवादी व्याख्या देखकर अद्वैमत के प्रचार के लिए महर्षि दुर्वासा को पृथ्वी पर भेजा। दुर्वासा ने त्र्यम्बकादित्य नाम के मानस पुत्र को उत्पन्न किया और उसे शिवागमों की अद्वैतवादी व्याख्या का कार्य सौंपा। त्र्यम्बकादित्य ने काश्मीर में शैव मठिका की स्थापना की। एक मत यह भी है कि यह शैव मठिका प्रारम्भ में कहीं अन्यत्र स्थापित की गयी थी। अनेक वर्षों बाद सोमानन्द इसे काश्मीर में लाए। किन्तु इसकी पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं है।

शैव मठिका काश्मीर में अत्यन्त विकसित हुई, इसलिए शैव दर्शन को काश्मीर शैव दर्शन कहा जाता है। त्रयम्बकादित्य ने इसकी काश्मीर में स्थापना की थी। इसलिए इसे त्रयम्बकदर्शन भी कहा जाता है। यह अद्वैतवादी दर्शन है। कालान्तर में इस अद्वैतवादी दर्शन की दो शाखाएं हो गयी—स्पन्द शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। स्पन्दशास्त्र का प्रवर्तन वसुगूप्त ने किया और प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का प्रवर्तक सोमानन्द को माना जाता है। वसुगुप्त की शिव सूत्र विमर्शिनी और स्पन्दकारिका स्पन्द शास्त्र के मूल स्तम्भ हैं। सोमानन्द की शिवदृष्टि प्रत्यभिज्ञा शास्त्र का आधार है। ये ही दोनों शास्त्र त्रिक दर्शन के आधार हैं। वसुगुप्त का समय नवम शताब्दी का प्रारम्भ माना जाता है। सोमानन्द का समय नवम शतक का मध्यभाग है। वसुगुप्त के शिष्य थे भट्ट कल्लट। भट्ट कल्लट राजा अवन्ति वर्मा के काल में थे। यह बात राजतरंगिणी से सिद्ध होती है।[74]

वसुगुप्त की स्पन्दकारिका पर भट्ट कल्लट ने स्पन्द सर्वस्व वृत्ति लिखी तथा रामकण्ठ ने 850 ई० में स्पन्दविवृति लिखी। रामकण्ठ कल्लट के शिष्य थे। रामकण्ठ का अन्य भी ग्रन्थ है—स्पन्द प्रदीपिका।

त्रयम्बकादित्य से सोमानन्द तक पहुंचने में शैव दर्शन ने बहुत लम्बी शिष्य परम्परा पार की है। त्रयम्बकादित्य से जो शिष्य परम्परा प्रारम्भ हुई उसमें सोलहवें शिष्य थे—संगमादित्य। संगमादित्य के शिष्य वर्षादित्य, वर्षादित्य के शिष्य अरूणादित्य, अरूणादित्य के आनन्द और आनन्द के सोमानन्द शिष्य हुए। सोमानन्द का समय 850 ई० माना जाता है। अतः सोमानन्द से 19 पीढ़ी पूर्व त्रयम्बकादित्य तक पहुंचने के लिए कम से कम चार सौ वर्ष पीछे लौटना पड़ेगा। इसलिए काश्मीर में शैव मठिका की स्थापना चतुर्थ शतक (ई०) में होनी चाहिए।

काश्मीर की इस शैव मठिता में सोमानन्द के पश्चात् उनकी शिष्य परम्परा में उत्पलदेव लक्ष्मण गुप्त, उदयाकर गुप्त और अभिनव गुप्त जैसे उद्भट् विद्वान् हुए जिससे इस अद्वैतवादी दर्शन का अद्भुत विकास

हुआ ।

उत्पलदेव ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञाकारिका, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-टीका आदि ग्रन्थ लिखे । लक्ष्मण गुप्त उत्पलदेव के शिष्य थे ।

अभिनव गुप्त ने अनेक ग्रन्थ लिखे । इनका प्रसिद्ध मौलिक ग्रन्थ है तान्त्रलोक जो इनकी प्रतिभा की चरमसीमा है । त्रिक दर्शन पर इनके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—मालिनी विजय वार्तिक, परात्रिंशिका विवृति, तन्त्र-सार, परमार्थ सार, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी आदि ।

अभिनव गुप्त के शिष्य क्षेम राज जिन्होंने शैवदर्शन पर स्पन्द-सन्दोह, स्पन्द-निर्णय, प्रत्यभिज्ञा-हृदय, आदि ग्रन्थ लिखे । इनकी शिष्य-परम्परा में आगे चल कर योगराज, सुभट दत्त, भास्कर-कण्ठ आदि विद्वान हुए । इनमें "जयरथ" नाम के विद्वान की तुलना किसी से नहीं की जा सकती । इन्होंने तन्त्रालोक पर विवेक नाम की टीका लिखी जो इनकी प्रतिभा का शीर्षमणि है ।

प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द-शास्त्र दोनों ही अद्वैतवादी शैव दर्शन है । जिज्ञासा होती हैं कि स्पन्द-शास्त्र को पृथक अस्तित्व कैसे प्राप्त हुआ ? इसके समाधान के लिए एक रोचक प्रसंग उपस्थापित किया जाता है कि भगवान शिव ने वसुगुप्त को स्वप्न में यह आदेश दिया था कि महादेव गिरि के एक विशाल शिला-पटल पर शिव-सूत्र उट्टंकित है । उन्हें वहां से लाकर उनको सुरक्षित करो और उनका लोक में प्रचार करो । उस आदेश के अनुसार वसुगुप्त महादेव गिरि गए और उन सूत्रों को वहां से लाए । शिवसूत्रों पर वसुगुप्त ने स्पन्दकारिका लिखी । इस ग्रन्थ में 51 कारिकाएं हैं ।

स्पन्द-शास्त्र और प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र में सिद्धान्त-मतभेद नहीं हैं । साधना-पक्ष को लेकर ही दोनों में कुछ भेद है । प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र अप्रत्य-भिज्ञोपाय का प्रकाशन करता है और स्पन्द-शास्त्र शाक्तोपाय का निरुपण करता है ।

उक्त विवेचन का इतना ही उद्देश्य है कि काश्मीर की निसर्ग रमणीया भूमि शैव दर्शन के विचारों और आचार्यों के सान्निध्य से और भी पावनता को प्राप्त कर चुकी है । शैव दर्शन जो समस्त भारत भूमि पर विस्तीर्ण था वह सब किसी समय काश्मीर में सिमट कर रह गया, यह काश्मीर की पावनता का ही प्रतीक है । शैव दर्शन के साथ काश्मीर शब्द इस प्रकार जुड़ गया है जैसे काश्मीर में भिन्न प्रकार का हो और अन्य

प्रदेशों में भिन्न प्रकार का हो जबकि शैव दर्शन तो सर्वत्र एक सा ही है। हाँ, इतनी विशेषता काश्मीर शैव दर्शन में अवश्य है कि वह अन्य प्रान्तों के शैव दर्शन की अपेक्षा अत्यन्त सौम्य और सरल है। मद्य, मांस, पशुबलि आदि घोर क्रियाओं से रहित है। दूसरी विशेषता यह है कि शैव दर्शन की द्वैत अद्वैत और द्वैताद्वैत शाखाओं में अद्वैत शाखा ही यहां परिपुष्ट हुई है।

शैव एवं शाक्त दर्शनों में त्रिक दर्शन का स्थान

शैव और शाक्त दर्शनों को प्रायः पृथक् पृथक् जाना जाने लगा है। वस्तुत दोनों दर्शन एक दूसरे से अभिन्न भी हैं और भिन्न भी हैं। शैव दर्शन आगमों पर आधारित है और शाक्त दर्शनों का आधार तन्त्र है। वैसे संहिता, आगम और तन्त्रों में कोई विभाजक रेखा खींचना सम्भव नहीं है। प्रो॰ विन्टरतिट्ज कहते हैं कि संहिताएं वैष्णवों के, आगम शैवों के और तन्त्र शाक्तों के उपजीव्य ग्रन्थ हैं। किन्तु यह मान्यता आंशिक रूप से सत्य होते हुए भी सर्वांग रूप से सत्य नहीं है। वस्तुतः यह तीनों ही तन्त्र हैं। प्रारम्भ में जो आगम कहलाते थे वे ही बाद में तन्त्र शब्द से कहे जाने लगे। संहिता शब्द से केवल वैष्णवों के ही उपजीव्य ग्रन्थों का बोध नहीं होता। आयुर्वेद, ज्योतिष, पुराण आदि से सम्बन्ध रखने वाले संहिता सुश्रुत संहिता आदि ग्रन्थ भी संहिता शब्द से अभिहित होते हैं।

बात शैव और शाक्त दर्शनों के भेदाभेद की चल रही थी। शैव दर्शन शाक्त दर्शन के बिना अपूर्ण है। शाक्त दर्शन भी शैव दर्शन के बिना अपूर्ण है। इसका कारण यही है कि शक्ति के बिना शिव का स्वरूप पूर्ण हो ही नहीं सकता। शक्ति ही शिव को शिवत्व प्रदान करती है। शक्ति से रहित शिव कभी नहीं होते। अन्यथा वे शव मात्र रह जाएंगे। इसी प्रकार शक्ति भी शिव के अभाव में निराश्रित हो जाएगी। दाहकता अग्नि के बिना कभी नहीं रहती।

शैवागमों में शक्ति का और तन्त्रों में शिव का स्वरूप-वर्णन इस प्रकार ग्रथित है कि उसे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। कालान्तर में शैव और शाक्त दर्शनों में जो भेद हुआ वह द्वैताद्वैत के भेद तथा साधना-पद्धति के भेद के कारण हो गया। त्रिक दर्शन अद्वैतवादी है, यद्यपि वह शंकर के अद्वैतवाद से भिन्न है। शैव दर्शन द्वैतवादी और अद्वैतवादी दोनों ही प्रकार के हैं। इसका अन्तर आगे की पंक्तियों में स्पष्ट किया जाएगा। शाक्त तंत्र वामाचार अथवा कुलाचार को वरीयता देता है तो शैव दर्शन दक्षिणाचार को सर्वश्रेष्ठ मानता है।

त्रिक दर्शन इन दोनों दर्शनों के सार भाग को आकृष्ट करके शिवाद्वयवाद अथवा शक्ति विशिष्टाद्वैत की स्थापना करता है तथा साधना की दृष्टि से त्रिक-आचार को स्वीकार करता है। इस दर्शन के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं—सोमानन्द की शिव दृष्टि, उत्पलदेव की ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, अभिनव गुप्त का तन्त्रालोक तथा लघ्वी और वृहती नाम का ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा कारिका की दो टीकाएं, तथा वसुगुप्त की स्पन्द-कारिका और कुलार्णव तन्त्र आदि।

मेरे विचार से यहाँ शैव दर्शन की मुख्य शाखाओं और उनके दार्शनिक सिद्धान्तों का संक्षिप्त दिग्दर्शन करा देना अप्रासंगिक नहीं होगा। शैव सम्प्रदायों में प्रादूर्भुत दर्शन है—पशुपत दर्शन, शैव सिद्धान्त, वीर शैव, प्रत्यभिज्ञा दर्शन, रसेश्वर दर्शन, व्याकरण दर्शन, क्रमदर्शन तथा कौल दर्शन।

पाशुपत दर्शन

पाशुपत मत के अनुसार पांच ही पदार्थ हैं[75]—कार्य, कारण, योग, विधि और दुखान्त। इन्हीं पांचों पदार्थों में पाशुपत दर्शन का रहस्य निगूढ है। स्वातन्त्र्य-शक्तिहीन पदार्थ कार्य कहलाता है। इसमें जीव और जड़ दोनों ही आ जाते हैं। कार्य त्रिविध हैं—विद्या, कला और पशु। बोध और अबोध के भेद से विद्या दो प्रकार की है। चित्त बोध है तथा पशुत्व की प्राप्ति कराने वाले धर्म और अधर्म से युक्त विद्या अबोध है। अचेतन पदार्थ कला कहलाते हैं। इसमें पृथिव्यादि पंच महाभूत, शब्दादि पांच गुण, तथा त्रयोदश इन्द्रियों का अन्तर्भाव होता है। जीव पशु कार्य हैं। विषय रूप पाश से आबद्ध होने के कारण जीव पशु कहलाता है।[76] यह दो प्रकार का है—सान्जन तथा निरन्जन। शरीर और इन्द्रियों से युक्त जीव सान्जन और उनसे रहित जीव निरन्जन कहलाता है।

कारण : महेश्वर कारण कहलाते हैं क्योंकि ये जगत् की उत्पत्ति स्थिति और प्रलय के कर्ता हैं। इन्हीं का नाम यति भी है। महेश्वर स्वतंत्र ऐश्वर्य युक्त आद्य एक और कर्ता हैं तथा अनुग्रह शक्ति के आश्रय हैं।

योग : जीव एक महेश्वर के सम्बन्ध को योग कहते हैं। यह सम्बन्ध मन के द्वारा होता हैं। यह योग द्विविध है—क्रियात्मक और अक्रियात्मक। जप ध्यानादि क्रियात्मक योग है तथा शक्ति ज्ञान शरणागति अक्रियात्मक योग है।

विधि : साधना अथवा साधक के उस व्यापार को जो महेश्वर की प्राप्ति कराए विधि कहते हैं। विधि दो प्रकार की हैं—मुख्य तथा गौण। मुख्य

विधि दो प्रकार की हैं — व्रत और द्वार। हसित, गीत, नृत्य हुडुक्कार नमस्कार तथा जप, यह छः प्रकार की व्रत विधि है। क्वाथन, स्पन्दन, मन्दन, श्रृंगारण, अवितत्करण तथा अवितद् भाषण ये छः द्वार विधि के अन्तर्गत आते हैं। अनुस्नान, मिर्माणधारण आदि कार्य मौण विधि हैं।

दुखान्त : दु खों का नाश दु खान्त कहलाता है। यह दो प्रकार का है अनात्मक और सात्मक। जब दुःख दग्धवीज होकर स्वस्यतः नष्ट हो जाता है अर्थात दुःखों की आत्यन्तिक निवृति हो जाती है तब यह अनात्मक दुःखान्त में विभिन्न विभूतियों की प्राप्ति होती है। इसमें दु खों के पुनरावर्तन की सम्भावना बनी रहती है। ऐश्वर्य के लाभ से कुछ काल तक दु ख अभिभूत हो जाता है। यह ऐश्वर्य दो प्रकार का है—दृक् शक्ति और क्रिया-शक्ति। दर्शन श्रवण मनन विज्ञान कथा सर्वज्ञत्व के भेद से दृक शक्ति पांच प्रकार की है। क्रिया शक्ति तीन प्रकार की है—मनोजवित्व, काम रूपित्व तथा विकरण-धमित्व/सूक्ष्म व्यवाति और विप्रकृष्ट पदार्थों को हस्तामवत् देखना दर्शन नाम की दृक् शक्ति है। समस्त शब्दों का ज्ञान श्रवण है। चिन्तित्त विषयों की सिद्धि मनन है। समस्त शास्त्रों का ज्ञान विज्ञान कहलाता है। सब कुछ जान लेना सर्वज्ञता है। मन की गति से कार्य करना मनोजवित्व है। इच्छानुसार रूप धारण करना काम-रूपित्व है, तथा ईन्द्रिय-व्यापार के बिना असीमित ऐश्वर्य को प्राप्त करना विकरण धर्मित्व कहलाता है।

इन पांचों पदार्थों में पशु और यति मुख्य हैं। इन्हों को मानने के कारण यह शैव दर्शन पाशुपत नाम से अभिहित होता है।

"शैव सिद्यान्त" दर्शन

"शैव सिदान्त,' शैव दर्शन की एक महत्वपूर्ण शाखा है। यह द्वैतवादी दर्शन है। इसमें चार पाद, तीन रत्न और तीन पदार्थों को स्वीकृत किया गया हैं। विद्या, क्रिया, योग तथा चर्या ये चार पाद हैं। शिव शक्ति और बिन्दु ये तीन रत्न हैं। पति, पशु और और पाश ये तीन पदार्थ हैं।

चार पाद : विद्यापाद में यति पशु और पाश की व्याख्या की गयी है। मन्त्र एवं मन्त्रेश्वरों का विवेचन भी विद्यापाद में ही किया गया है। क्रियापाक में दीक्षा-विधियों का तथा उनके अंगों का निरूपण है। परम पुरुषार्थ प्राप्ति के लिए स्वीकृत की गयी आचार पद्धति को दीक्ष कहने हैं। इसका एक विशेप क्रम होता है। दीक्षा क्रम पूर्वक ही फलवती होती है। योग पाद में ध्यान पद्धति की व्याख्या की गयी है। विहित और निषिद्ध कर्मों की व्याख्या चर्यापाद में की गयी है।

तीन रत्न :

शिव, शक्ति और बिन्दु ये तीन तत्व रत्न कहलाते हैं। क्योंकि शैव सिद्धान्त में इनको विशेष महत्व दिया गया है। ये तीनों तत्व शुद्ध जगत् के कर्ता हैं। शिव का नाम यति है जिसका विवेचन अग्रिम पंक्तियों में किया जा रहा है। शक्ति शिव में रहती है। इनका तादात्म्य सम्बन्ध है। यह दो प्रकार की है—समवामिनी और परिग्रहरूपा। समवामिनी शक्ति चिद् रूपा, निर्विकारा और परिभामिनी हैं। अचेतन और परिणामशालिनी शक्ति परिग्रह रूपा है। इसे ही बिन्दु कहते हैं। बिन्दु के दो रूप हैं—शुद्ध और अशुद्ध। शुद्ध बिन्दु महामाया कहलाती है और अशुद्ध बिन्दु माया। शुद्ध बिन्दु से शुद्ध सृष्टि और अशुद्ध बिन्दु से अशुद्ध सृष्टि होती है।

तीन पदार्थ :

पशु : तीन पदार्थ हैं—पति पशु और पाश। शिव या परम शिव को पति कहा जाता है। शिव नित्य मुक्त तथा निरतिशय अर्थज्ञान-क्रिया-शक्ति-युक्त हैं। शिव का देह पन्च मन्त्रात्मक है—ईशान मन मस्तक है, तत्पुरुष मन्त्र उनका मुख है, घोर उनका हृदय है। वामदेव मन्त्र गुह्यार्ग है तथा सद्योजात मन्त्र उनका चरण है मुक्त जीव शिवत्व को प्राप्त तो कर लेते हैं किन्तु वे परम शिव के परतन्त्र रहते हैं।

जगत् की सृष्टि स्थिति संहार तिरोभाव तथा आग्रह इन पांच कृत्यों के साक्षात् कर्ता शिव है। शिव की दो अवस्थाएं हैं—लय और भोग। व्यापार-रहित शक्ति पात्र में अवस्थित शिव लयावस्था युक्त कहलाते हैं। जब शक्ति प्रकट होकर बिन्दु को कार्योत्पादन के लिए प्रेरित करती है तथा शिव का ज्ञान और क्रिया से समृद्ध करती है, वह शिव की भोगावस्था है।

पशु :

जीव को पशु संज्ञा है। पशु अणुपरिमाण परिच्छिन्न तथा अल्प-शक्ति युक्त है। यह तीन प्रकार का है—विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल।

तीन प्रकार के मल होते है—आणव मल, कार्मण मल तथा मायीय मल। क्षीण कर्म विज्ञानाफल कहलाते हैं। इनका पुन: शरीर का उदय नहीं होता। ये दो प्रकार के हैं—समाप्त-कलुष तथा असमाप्त-कलुष। समाप्त-कलुष पशु को विद्येश्वर पद की प्राप्ति होती है। असमाप्त-कलुष पशु मन्त्रात्मक होते हैं।

प्रल्याकल पशु वे कहलाते हैं जिनमें आणवमल तथा कार्मण शेष रहता है। केवल मायीय मल नहीं रहता। प्रलयाकल पशु भी दो प्रकार के

हैं—पक्व-मल तथा अपक्व-मल। ये प्रलय-काल में माया में विलीन रहते हैं। जब पुनः सृष्टि का प्रारम्भ होता है तो पक्व-मल जीव तो मुक्त हो जाते हैं, किन्तु अपक्व-मल पुरुष पुर्यष्टक अर्थात् सूक्ष्म देह से युक्त होकर नाना योनियों में भ्रमण करते हैं।

सकल पशु भी दो प्रकार के होते हैं—पक्वमल और अपक्वमल। पक्वमल पशुओं को मन्त्रेश्वर पद की प्राप्ति होती है। दूसरे पशुओं को नाना योनियों में विषय भोग करना पड़ता है।

पाश

पाश का अर्थ बन्धन है। यह पाश ही जीवों को पशुत्व प्रदान करता है। पाश चतुर्विध है।—मल, कर्म, माया और रोधशक्ति। मल जीव की ज्ञान-क्रिया-शक्ति का तिरोधान करके परिच्छिन्न बना देता है। धर्माधर्म-रूप पाश कर्म कहलाता है। जीवों का लयस्थान तथा उत्पति स्थान माया है। यह अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण है। परमेश्वर की वह शक्ति जो जीवों के स्वरूप का तिरोधान करती है रोध शक्ति कहलाती है। इसमें पाशत्व औपचारिक है।

मोक्ष मार्ग :

जीव की स्वाभाविक शक्तियों का आविर्भाव ही मोक्ष है। यह मल के आवरण के दूर करने से होता है। मलावरण का नाश ज्ञान से या कर्म से नहीं होता बल्कि क्रिया से होता है। यह क्रिया शिव की अनुग्रह शक्ति से होती है। इसी को दीक्षा भी कहते हैं। शिव ही दीक्षा के द्वारा जीव को भव-बन्धन से मुक्त करते हैं। तान्त्रिकों के अनुसार कैवल्य-ज्ञान से मोक्ष नहीं मिलता बल्कि क्रियाशक्ति से मिलता है। तीक्ष्ण असिधार भी अपने को नहीं काट सकती।[77] वस्तुतः मोक्ष का कोई धाम नहीं है। यह तो अज्ञान ग्रन्थि के भेद से अपनी शक्तियों का आविर्भूत होना ही मोक्ष नाम से कहा जाता है।[78] इस प्रकार शैव सिद्धान्त की दार्शनिक दृष्टि द्वैतवाद की है।

वीर शैव सिद्धान्त दर्शन

वीर शैव सम्प्रदाय का दूसरा नाम लिंगायत सम्प्रदाय है। वरूण पुराण के अनुसार वीर शैव सम्प्रदाय की स्थापना वसव नाम के ब्राह्मण ने की थी। वसव कलचुरि-नरेश विज्जण के मन्त्री थे। इनका समय ईसा की बारहवीं शताब्दी है। किन्तु वसव को लिंगायत सम्प्रदाय का जन्मदाता मानना ठीक प्रतीत नहीं होता। एक मन्त्री को इतना समय कहां कि वह किसी दार्शनिक सम्प्रदाय की स्थापना कर सके। हां, यह हो सकता हैं कि

उन्होंने इस सम्प्रदाय के प्रचार-प्रसार के लिए अपने राजनैतिक प्रभाव का प्रयोग किया हो।

वस्तुत: वीर शैव की स्थापना किसी एक व्यक्ति के द्वारा नहीं की गयी बल्कि भिन्न भिन्न कालों में भिन्न भिन्न आचार्यों द्वारा इसका उपदेश दिया गया। ये आचार्य पांच हैं—रेणुकाचार्य, वासकाचार्य, एकोरामाचार्य, पण्डिताराध्य तथा विश्वाराध्य। कहते हैं इनका प्रादुर्भाव शिव-लिंगों से हुआ था। सोमेश्वर शिवलिंग से रेणुकाचार्य, सिद्धेश्वर से वासकाचार्य, रामनाथ से ऐकोरामाचार्य, मल्लिकार्जुन से पण्डिताराध्य तथा विश्वनाथ से विश्वाराध्य प्रकट हुए। वीर शैव के प्रसार के लिए इन आचार्यों ने पृथक पृथक् नगरों, पृथक् पृथक् सिंहासनों की स्थापना की। 'वीर'' सिहांसन की स्थापना रम्भापुरी (मैसूर) में, "सद्धर्म'' सिंहासन की स्थापना उज्जयिनी में, "वैराग्य'' सिंहासन की केदारनाथ के निकट अखीमठ में, सूर्य सिंहासन की 'श्री शैल'' में तथा "ज्ञान'' सिहांसन की स्थापना काशी में की गयी।

वीर शैव के सिद्धान्त

वीर शैव दर्शन के सिद्धान्त श्रीपति विरचित ब्रह्मसूत्र के श्रीकर भाष्य में तथा शिवयोगी के सिद्धान्त-शिखामणि ग्रन्थ में वर्णित हैं। वीर-शैवों का दार्शनिक सिद्धान्त शक्ति-विशिष्टाद्वैत कहलाता है। यह कर्म-प्रधान है। इसका कर्मानुष्ठान इतना कठोर है कि उसका पालन वीर पुरुष ही कर सकता है। शक्ति-विशिष्ट जीव और शक्ति-विशिष्ट शिव का परस्पर एक हो जाना ही शक्ति-विशिष्टाद्वैत है।[79]

शक्ति :

शक्ति शिव का विशेषण है जो शिव से पृथक् नहीं रहती। यह शक्ति दो प्रकार की है—सूक्ष्म चिद्चिद् विशिष्ट शक्ति और स्थूल-चिद्चिद्-विशिष्ट शक्ति।प्रथम शक्ति पर-शिव कहलाती है और दूसरी शक्ति जीव कहलाती हैं। न तो शक्ति शिव से भिन्न है और न ही शिव शक्ति से भिन्न है। अग्नि और दाहकता के समान इनका अभेद है। यह शक्ति नित्य है।[80]

जगत् :

यह जगत् शक्ति से प्रसूत हुआ है। शक्ति नित्य है। अत: जगत् भी नित्य है।[81] यह मिथ्या नही है। जिस प्रकार फेन उर्मि और बुदबुद समुद्र से भिन्न नहीं होते। वैसे ही शिव से उत्पन्न यह जगत् भी शिव से भिन्न नहीं है। जितना शिव सत्य है उतना ही जगत् सत्य है, क्योंकि शिव से जगत् अभिन्न है। जिस प्रकार पुष्प पलाशादि वृक्ष से भिन्न नही होते वैसे

ही जगत् शिव से भिन्न नहीं है।[82] यहाँ शकर के मत से इस मत का पार्थक्य नितान्त स्पष्ट है। ांकर जगत् को नितान्त मिथ्या कहते हैं।

शिव से जगत् की उत्पति न तो परिणामवाद से कही जा सकती है और न विवर्तवाद शब्द से। यह तो शक्तिविकास है। जब संसार का लय होता है तब यह शक्ति-संकोच कहलाता है।[83] इसको कच्छप के दृष्टान्त से स्पष्ट किया जा सकता है। जैसे कछुवा जब चरणों को बाहर निकालता है तब यह चरणों की उत्पति नहीं होती। इसी प्रकार जब वह पैरों को सिकोड़ता है तब उनका विनाश नहीं होता। वैसे ही शिव से इस जगत् की उत्पति और उसका विनाश कहना ठीक नहीं।

जीव :

यह जीव शिव का अंश है।[84] यह शिव से भिन्न भी है और अभिन्न भी। अग्नि और स्पुलिग में किंचित् भेद भी है और अभेद भी। दोनों को नितान्त अभिन्न नहीं कहा जा सकता क्योंकि शिव के सर्वज्ञत्व सर्वकृर्तृत्व आदि गुण जीव में नहीं पाये जाते। दोनों को नितान्त भिन्न भी नहीं कह सकते, अन्यथा जीवों में ज्ञान का सर्वथा अभाव प्रसक्त होगा।

शिव तत्व :

शिव सच्चिदानन्दस्वरूप नित्य अनाद्धि अनन्त और सर्व शक्ति सम्पन्न हैं। इसमें जब विमर्श शक्ति का उन्मेष होता है तब वह उन्मेष शिव तत्व कहलाता है। ये शिव तत्व 36 हैं। इनका विवेचन इसी प्रबन्ध में आगे किया जाएगा।इनमें से कुछ के नाम हैं शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर, माया, विद्या, पुरुष, प्रकृति, मन और अहंकार। यह जगत् और जीवों का प्रपञ्च पर शिव से उत्पन्न होता है और उसी में लीन हो जाता है। इसीलिए पर-शिव या परब्रह को स्थूल भी कहा जाता है।[85] यही है वीर दर्शन का शक्ति-विशिष्टाद्वैत।

रसेश्वर दर्शन

रसेश्वर दर्शन भी शैव दर्शन की एक शाखा है। रस पारद को कहते हैं। रस ही ईश्वर है। इस रस के सेवन से शरीर बलिष्ट और दिव्य बन जाता है। जीवन्मुक्ति की प्राप्ति इसी दिव्य शरीर से सम्भव है दुर्बल और रोगी शरीर से दुःख की निवृति कभी नहीं हो सकती। मुक्ति ज्ञान से होती है। ज्ञान अभ्यास से लभ्य है और अभ्यास दृढ़ शरीर से ही हो सकता है। इसलिए शरीर का दृढ़ बनाना परमावश्यक है। यही रसेश्वर दर्शन की मान्यता है।[86]

शरीर की दृढ़ता के लिए आयुर्वेद शास्त्र में अनेक औषधियों का

वर्णन आया है। उनमें सर्वोत्तम औषध पारद है। यह शिव के वीर्य से बना है। यह मनुष्य के शरीर को दिव्य बनाने में समर्थ है। पारद का पारदत्व यही है कि वह संसार के पार पहुँचा देता है।[87]

यह पारद तीन प्रकार का है—मूर्च्छित, मृत और बद्ध। स्वेदन मर्दन आदि संस्कारों से इन अवस्थाओं का आपादन किया जाता है। मुर्च्छित पारद रोगों का शमन करता है। मृत पारद जीवन देता है और बद्ध पारद सेंचरी शक्ति प्रदान करता है।[88]

पारद को रस और रस को ईश्वर कहा जाता है। विशुद्ध पारद के स्पर्श से लौह सुवर्ण बन जाता है। यही इसकी शुद्धता की परीक्षा की कसौटी है। इसके सेवन से शरीर भी दिव्य बन जाता है। उस पर वार्द्धक्य का प्रभाव नहीं होता। दिव्य शरीर आत्म-साक्षात्कार के अभ्यास में सहायता करता है।

रस का यही ईश्वरत्व है। रस-सिद्ध कवीश्वरों के शरीर में जरा मरण के भय का निषेध भर्तृहरि ने किया हैं।[89]

रस ब्रह्म का प्रतीक है। रस को प्राप्त करके ही साधक आनन्दी होता है ऐसा तैत्तिरीयोपनिषद का वचन है।[90]

रसेश्वर के प्रतिपादक ग्रन्थ हैं—नागार्जुन का "रस-रत्नाकर" और गोविन्द भगवत्पाद का "रस-हृदय"।

व्याकरण दर्शन

व्याकरण दर्शन भी शैव सम्प्रदाय से प्रसूत एक महत्वपूर्ण दर्शन की शाखा है जिसके आविष्कर्ता महर्षि पतन्जलि और पोषक श्री भर्तृहरि हैं। इस दर्शन के पोषण में नागेश भट्ट की लघुमन्जुषा ने भी पर्याप्त योगदान किया है। पतन्जलि ने महाभाष्य में इसका केवल परिचय दिया है किन्तु इसका विधिवत् प्रतिपादन भर्तृहरि ने ही वाक्यपदीप में किया है।

व्याकरण दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य शब्दाद्वैतवाद है। इसके अनुसार शब्द ही एक सत्य तत्व है जिसका स्वरूप है—स्फोट। "स्फुटत्यर्थोऽस्मात् इति स्फोट."[91] अर्थात् जिससे अर्थ स्फुटित होता है वह स्फोट कहलाता है। स्फोट से व्यवहारयोग्य शब्द और अर्थ का स्फुटन एक बार में ही नहीं होता। यह चार स्तरों को पार करता हुआ व्यवहार के योग्य होता है। स्फोट के ये चार स्तर वाणी के चार प्रकार कहे जाते हैं। ये चार प्रकार हैं—परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी वाक्। यह परा वाक् अक्षर शब्द-ब्रह्म है। यह व्यवहार के योग्य नहीं होता। जगत् इसी का विवर्तरूप है।[92] अव्यवहार्य होने के कारण भर्तृहरि ने इस परावाक् का त्याग करके त्रयी

वाक् का विवेचन किया है।[93]

पश्यन्ती वाक् चैतन्यरूपा है। इसमें ग्राह्य और ग्राहक का भेद ज्ञात नहीं होता। परा वाक् के समान यह भी व्यवहार योग्य नहीं होती। इसमें देश और काल के क्रम का आभास नहीं होता। इसी से इसका नाम अक्रमा या प्रति संहृतक्रमा भी है। किन्तु इसमें मध्यमा वाक् को प्रेरित करने की योग्यता रहती है। इसलिए परावाक् की अपेक्षा यह किंचित् अन्य सूक्ष्म होती है। इसी से इसका नाम "पश्यन्ती" सार्थक होता है।

पश्यन्ती वाक् का किंचित् विकसित रूप मध्यमा वाक् कहलाती है। किन्तु इस रूप में भी अभी तक वह अव्यवहार्य ही रहती है। इसमें किंचित् स्फुरण तो होता है किन्तु अन्दर ही अन्दर रहता है। वैखरी की तुलना में वह सूक्ष्म होती है।

जब इन्द्रियों के अभियात से प्राण में स्थूल वृति का उदय होता है तब बैसरी वाक् का प्रदुर्भाव होता है। यही वाक् व्यवहार के योग्य होती है। इसमें शब्दों का क्रम स्पष्ट रूप से प्रतिभासित होता है। चिन्तन मध्यमा से होता है और व्यवहार वैखरी से होता है। मध्यमा वाक् मनोविज्ञान का विषय है।

शब्द के पांच भेद हैं—उच्च, मन्द, उपांशु, परमापांशु तथा प्रति-संहृतक्रम। इममें उच्च और मन्द का सम्बन्ध वैखरी वाक् से है। उपांशु का सम्वन्ध मध्यमा से है तथा परमोपांशु और प्रतिसंहृत क्रम का सम्बन्ध पश्यन्ती वाक् से है।

वैयाकरण तत्वमीमांसा के अन्तर्गत द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष समवाय और अभाव के अतिरिक्त एक शक्ति तत्व को भी पृथक् पदार्थ के रूप में स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार यह व्याकरण दर्शन शब्दाद्वैतवाद का प्रतिपादक है। यह व्याकरण विद्या सब सुखीं का मूल और अपवर्ग का द्वार होने के कारण सब विद्याओं में श्रेष्ठ मानी गयी है।[94]

प्राप्यभिज्ञा दर्शन

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का मुख्य आधार-ग्रन्थ सोमानन्द की शिव-दृष्टि है। इस मत को प्रौढ़ि प्रदान की है उत्पलदेव के ग्रन्थ "ईश्वरप्रत्वभिज्ञा-कारिका" ने। इसको और अधिक विकसित कर व्यवस्थित करने का श्रेय आचार्य अभिनय गुप्त को जाता है जिन्होंने ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका पर विमर्शिनी टीका लिखी तथा "तन्त्रालोक" नामक स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा। उत्पलदेव ने स्वयं ही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका पर वृत्ति नाम की दो टीकाएं लिखी थीं

जो अप्राप्य हैं। इस प्रकार माधवाचार्य ने शिव दृष्टि के अतिरिक्त ये पांच ग्रन्थ ही अर्थात् ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका, वृत्ति, विवृति, लघ्वी विमर्शिनी तथा बृहती विमर्शिनी प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मूल शास्त्र माने जाते हैं।[95] त्रिक दर्शन इसी प्रत्यभिज्ञा दर्शन का अपर नाम है। त्रिक दर्शन प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की तत्व-मीमांसा और साधना-पक्ष से विशेष सम्बन्ध रखता है। इसी का विस्तृत विवेचन इस प्रबन्ध में किया जाएगा। यहां उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का विवेचन करना उचित होगा।

ईश्वराद्वयवाद :

प्रत्यभिज्ञा दर्शन अथवा त्रिक दर्शन पूर्णरूपेण अद्वैतवादी दर्शन है। इस अद्वैतवाद का नाम यहां ईश्वराद्वय है। इसके अनुसार परमेश्वर ही एक तत्व है। यह जगत् उसी का स्वयं ग्रहण किया हुआ रूप है। यह शिव से अभिन्न होता हुआ भी भिन्न सा प्रतीत होता है। परमेश्वर स्वतंत्र है। वह अपने रूप को आवृत करने में तथा अभिव्यक्त करने में समर्थ है। उसका यह सामर्थ्य स्वातन्त्रय शक्ति के नाम से कहा जाता है। सृष्टि स्थिति संहार अनुग्रह और विलयन ये पांच कार्य परमेश्वर के ही हैं। यह परम तत्व शिव और शक्ति का सामरस्य रूप है। इसी के अपर नाम हैं—चैतन्य, परा संवित्, अनुत्तर, परमेश्वर तथा परम शिव।

दर्पण-बिम्ब वाद :

जगत् के स्वरूप को विवेचित करने वाला सिद्धान्त प्रत्यभिज्ञा दर्शन में दर्पण बिम्बवाद कहलाता है। दर्पण में प्रतिबिम्बित वृक्ष आदि दर्पण से अभिन्न होते हुए भी दर्पण से भिन्न प्रतीत होते हैं। वैसे ही परमेश्वर में प्रतिबिम्बित यह जगत् परमेश्वर से यद्यपि अभिन्न है फिर भी घट पटादि रूप से भिन्न प्रतीत होता है। सांख्य दर्शन के अनुसार यह जगत् दर्पण-रूप बुद्धि में प्रतिबिम्बित होता है।[96] ईश्वराद्वयवाद में यह जगत् ईश्वर में प्रतिबिम्बित है। लोक में प्रतिबिम्ब की सत्ता बिम्ब पर आधारित होती है। किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार बिम्ब के बिना ही जगत्-रूप प्रतिबिम्ब की सत्ता है। परमेश्वर स्वेच्छा से स्वभित्ति में विश्व का उन्मीलन करता है।[97] प्रतिबिम्ब-रूप होते हुए भी त्रिक दर्शन के अनुसार जगत् मिथ्या नहीं है। क्योंकि यह परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति का विलास है।

आभासवाद का स्वातन्त्रय सिद्धान्त :

जगद्विषयक यह प्रतिबिम्बवाद त्रिक दर्शन में आभासवाद भी कहलाता है।[98] अद्वैत वेदान्ती भी जगत् को आभास मानते हैं, किन्तु उस आभासवाद में और प्रत्यभिज्ञा दर्शन के आभासवाद में बहुत भेद है।

अद्वैत वेदान्त के आभासवाद में जगत् मिथ्या है, किन्तु त्रिक दर्शन का यह आभासवाद जगत् को मिथ्या नहीं कहता। बल्कि जगत् यथार्थ है। क्योंकि इससे परमेश्वर का स्वातन्त्र्य सिद्ध होता है। परमेश्वर पूर्ण-काम है, वह जगत् का आभास किस लिए करता है? इसका उत्तर यह है कि यह परमेश्वर का स्वभाव है। जैसे जलना अग्नि का स्वभाव है वैसे ही जगद् रचना परमेश्वर का स्वेच्छा-परिगृहीत स्वभाव है। उसे उसके लिए कोई प्रेरित नहीं करता। वह स्वयं ही प्रवृत होता है। जिस प्रकार एक चक्रवर्ती सम्राट अनेक वाहनों के होते हुए भी स्वेच्छावशात् कभी कभी मनोविनोद के लिए पदाति भी चलता है वैसे ही परम शिव भी स्वेच्छा से ही जगत् को बनाकर क्रीड़ा करता है।[99] वह इच्छा का दास नहीं है। बल्कि इच्छा उसका अनुगमन करती है। इसी इच्छानटी के साथ क्रीड़ा करते हुए वह जगत् की विचित्रता के रूप में क्रीड़ा करता है।[100] यह उसकी विमर्श शक्ति का स्फुरण मात्र है। सृष्टि और संहार दोनों उसकी लीला का विलास हैं। इसे स्वातन्त्र्यवाद भी कहा जाता है।[101]

शिव और शक्ति का अभेद

त्रिक दर्शन में शिव और शक्ति का अभेद स्वीकार किया गया है। जिस प्रकार चन्द्रमा से चांदनी पृथक् कभी नहीं रह सकती वैसे ही शक्ति शिव से पृथक् नहीं रह सकती। शिव भी शक्ति के बिना कभी नहीं रहता। शक्ति से सम्पन्न होकर ही शिव स्वेच्छा से जगत् का आविर्भाव करते हैं। शिव और शक्ति का भेद कथमपि सम्भव नहीं। शक्ति के बिना शिव स्पन्दित होने में भी समर्थ नहीं हैं।[102] यही सिद्धान्त शंकराचार्य का भी है। अग्रिम अध्यायों में इसका अधिक प्रतिपादन किया जाएगा।

ज्ञान और भक्ति का सामन्जस्य

प्रत्यभिज्ञा दर्शन का साधन मार्ग अन्य दर्शनों की अपेक्षा अधिक हृदयग्राही है। इसमें ज्ञान और भक्ति दोनों का महत्वपूर्ण स्थान है। भक्ति के बिना ज्ञान और ज्ञान के बिना भक्ति साधक के लिए हृदयवर्जक नहीं होती। बुद्धिपक्ष और हृदयपक्ष दोनों ही मिलकर ही अमन्द आनन्द की सृष्टि करते हैं। वस्तुतः मोक्ष और कुछ नहीं हैं वह ज्ञान और भक्ति का समन्वित विकास ही है। इसे त्रिक दर्शन में चिदानन्द लाभ कहा जाता है। चित् का अर्थ है ज्ञान और आनन्द का अर्थ है भक्ति। ज्ञान के होने पर ही भक्ति का उदय होता है, तथा भक्ति के होने पर ही ज्ञान की ओर प्रवृति होती है।

ये प्रत्यभिज्ञा दर्शन के मुख्य सिद्धान्त हैं। विशेष विवेचन प्रसंगानु–

सार किया जाएगा। यहां प्रत्यभिज्ञा नामकरण का हेतु जान लेना आवश्यक है। मोक्ष का मुख्य साधन प्रत्यभिज्ञा है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—पहचानना। शिव के गुणों को पहचानने से ही शिवत्व लाभ होता है। जिस प्रकार कोई कामिनी सामने उपस्थित प्रियतम को देखकर भी तब तक आनन्दित नहीं होती जब तक वह उसे पहचान न ले कि यही मेरा प्रियतम है, वैसे ही अपने से अभिन्न शिव को पहचाने बिना चिदानन्द लाभ नहीं होता। शिव की पहचान गुरु के उपदेश से आत्म चैतन्य के स्फुरण होने पर ही होता है [103]

क्रम दर्शन

क्रम दर्शन शक्ति दर्शन के अन्तर्गत एक विशिष्ट विचारधारा है। यह भी अद्वैतवादी दर्शन है। क्रम दर्शन का विष्तृत विवेचन एवं उत्पत्तिपूर्वक प्रतिपादन महार्थ मन्जरी में किया गया है। इसके रचियता हैं महेश्वरानन्द, जो चोल देश के प्रसिद्ध तान्त्रिक थे। अभिनव गुप्त ने भी क्रम का दर्शन का विवरण "तन्त्रालोक" में दिया है। इसके अतिरिक्त अभिनव ने "क्रमस्तोत्र" नाम का एक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी बनाया है।

क्रम दर्शन का सम्बन्ध क्रम (Grade या Step) से है। क्रम-दर्शन के अनुसार मुक्ति सहसा प्राप्त नहीं होती। उसको उपायों द्वारा क्रमशः प्राप्त किया जाता है। क्रम का सम्बन्ध उपायों से है मुक्ति से नहीं।

क्रमदर्शन को कालीनय देवीनय तथा औत्तराम्नाय भी कहा जाता है। इसको कालीनय इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस मत में परम तत्व का नाम काली है। इस काली का नाम ही देवी है। इसलिए इसका देवीनय नाम भी सार्थक है। यह दर्शन वामामार्ग का प्रतिपादन करता हैं। इसलिए यह औत्तराम्नाय कहलाता है क्योंकि यह दक्षिणमार्ग का विरोधी है। दक्षिण का विरोधी उत्तरवाम ही कहलाता है। शिव के उत्तर मुख से उच्चारित होने के कारण भी यह औत्तराम्नाय से अभिहित किया जाता है।

इसको पञ्चक दर्शन भी कहा जाता है। जैसे तीन तत्वों को प्रमुखता प्रदान करने के कारण त्रिक दर्शन नाम सार्थक होता है वैसे ही तत्वों को पांच पांच के समूह में विभक्त करने के कारण इस कम दर्शन को पञ्चक दर्शन भी कहा जाता है। यह पञ्चक इस प्रकार है:

पञ्चवाह: पर-तत्व पांच रूपों में स्फुरित होता है। ये पांच स्फुरण पञ्च-वाह कहलाते हैं। इनके नाम हैं—व्योम वामेश्वरी, खेंचरी, दिकचरी, गोचरी, तथा भूचरी। स्फूर्ति शब्द के स्त्रीलिंग को देखकर इनमें स्त्रीलिंग का प्रयोग किया गया है।

कार्यशक्ति पन्चक :

पर-तत्व पांच प्रकार के कार्य करने का सामर्थ्य रखता है। ये कार्य हैं– जगत् की सृष्टि, स्थिति, संहार, अनाख्य (अकथनीय कार्य करना) तथा भासा (स्वप्रकाशत्व)।

वाक् पञ्चक :

वाणी के चार प्रकार ही व्याकरण शास्त्र में मान्य हैं, किन्तु क्रम दर्शन इनमें "सूक्ष्म" प्रकार को जोड़कर वाणी के पांच प्रकार मानता है—परा, सूक्ष्मा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैश्वरी।

ध्येय पञ्चक :

क्रम दर्शन में निदिध्यासन का अत्यन्त महत्व है। जिन विषयों पर साधक को चित्त केन्द्रित करना चाहिए वे स्थान भी पांच हैं—श्रीपीठ, पञ्चवाह, नेत्रत्रय, वृन्दचक्र तथा गुरुपंक्ति।

निज शक्ति पंचक :

परमेश्वर की अपनी शक्तियाँ भी पांच ही मानी गयी हैं। ये शक्तियां परमेश्वर का आत्मीय स्वरूप हैं—चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया।

कृत्य पंचक :

क्रम दर्शन की मान्यता के अनुसार "काली" को परमतत्व माना गया है। यह काली पांच कृत्यों का सम्पादन करती है—क्षेप, ज्ञान, प्रसंख्यान, गति तथा नाद। अन्य समस्त पंचक इन्हीं पांच कृत्यों से सम्बन्ध रखते हैं।

काली का स्वरूप

क्रम दर्शन का मूल तत्व काली है। प्राय.काल की पत्नी काली कही जाती है। काल शिव का नाम है। किन्तु क्रम दर्शन में काली का यह अर्थ नहीं हैं। काली शब्द कल धातु से घञ् प्रत्यय करने पर स्त्रीत्व की विवक्षा में ङीप् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है। कल धातु के पांच अर्थ हैं—कल विक्षेपे, कल ज्ञाने, कल गतौ, कल संख्याने तथा कल शब्दे। इसलिए काली के पांच व्युत्पतिलभ्य अर्थ हैं—विक्षेप करने वाली, ज्ञान देने वाली और ज्ञान रखने वाली, गति देने वाली संख्यान अर्थात् पदार्थों को एक दूसरे से पृथक् करने वाली तथा सब पदार्थों को अपने में समेट कर अपने आत्म चैतन्य स्वरूप से शेष रहने वाली। ये समस्त शब्द क्रम दर्शन के पारिभाषिक शब्द हैं इनका विशद विवेचन तन्त्रालोक में दृष्टव्य है।[104]

इस प्रकार "काली" वह पर तत्व है जो अपने अन्दर स्थित समस्त पदार्थों को जगत् के रूप में क्षिप्त करता है। क्षिप्त पदार्थों को परस्पर पृथक् पृथक् करता है, उनको स्वयं में प्रतिबिम्ब रूप में धारण करता है, पुनः

उनको अपने से अभेद रूप में ग्रहण करता है और सबको स्वात्म में विलीन करके आत्म चैतन्य में स्फुरित होता है।

"काली" तत्व को मातृसद्भाव व्योमवामेश्वरी तथा काल-कर्षिणी नामों से भी अभिहित किया जाता है। ये नाम काली के गुणों का प्रकाशन करने के कारण अन्वर्थता को प्राप्त करते हैं। जिस प्रकार माता स्वोदरस्य शिशु को समय आने पर बाहर प्रकट करती है वैसे ही काली स्वयं को द्वादश रूपों में प्रकट करती है। इन द्वादश रूपों में काली के बारह नाम हो जाते हैं—सृष्टि काली, रक्त काली, स्थितिनाश काली, यमकाली, संहारकाली, मृत्यु काली, रूद्र काली, (भद्रकाली), मार्तण्ड काली, परमार्क काली, कालानल रूद्र काली, महाकाल काली, तथा महाभैरव चन्डोग्रघोर काली।

व्योम-वाम का अर्थ है—आकाश में वमन करने वाली। काली समग्र पदार्थों को स्वेच्छा से बाहर आकाश में वमन अर्थात् क्षेपन करती है। इस लिए उसका व्योम-वामेश्वरी नाम सार्थक होता है।

काली काल के प्रभाव से अस्पृष्ट है। वह काल भी कलन करती है, उसका कर्षण करती है। अत: काल-कर्षिणी कहलाती हैं। इस काली पर-तत्व की नित्यता सिद्ध होती है।

क्रम दर्शन की आचार-मीमांसा बड़ी महनीय है। इसमें पातञ्जल योग में निर्दिष्ट अभ्यास वैराग्य रूप राजयोग तथा प्रणव जप को प्रमुखता दी गइ है। इसमें काली की बाह्यपूजा का विधान नहीं हैं बल्कि अन्तर्याग से काली प्रसन्न होती है। स्वरूप का परामर्श ही उसकी वास्तविक पूजा है।[105] अभिनव गुप्त संविद् रूप काली के साथ तादात्म्य रूप से अवस्थित होने को उसकी पूजा कहते हैं।[106] यद्यपि काली की प्राप्ति क्रम से होती है किन्तु काली स्वयं क्रम से रहित है।[107] यही क्रम दर्शन की संक्षिप्त रूपरेखा है।

कौल दर्शन

शाक्त सम्प्रदाय के अन्तर्गत प्राचीन काल में एक अन्य महत्वपूर्ण आचार-विचार की पद्धति प्रचलित थी जिसे कौलाचार अथवा कौल दर्शन कहा जाता था। काल की दृष्टि से यह दर्शन तान्त्रिक सम्प्रदायी में सबसे प्राचीन है। प्रत्यभिज्ञा मत से भी पहले इसका प्रचलन था। कलियुग में इसकी स्थापना श्री मत्स्येन्द्रदाथ ने की। यद्यपि यह आचार चारों युगों में विद्यमान था। कहते हैं सत्ययुग में खगेन्द्र ने त्रेता में कूर्म ने द्वापर में मेष नामक आचार्य ने इसकी प्रतिष्ठा की थी। कौल दर्शन का त्रिक दर्शन पर महान् उपकार है। यद्यपि कुछ सिद्धान्तों में पार्थक्य हैं। यदि इसे त्रिक

दर्शन का उपजीव्य कहा जाए तो यह अतिकथन नहीं होगा। प्रत्यभिज्ञा मत से इसमें यह अन्तर है कि प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार मुक्ति का उपाय प्रत्यभिज्ञा है जबकि कौलदर्शन शाम्भव उपाय से मुक्ति मानता है। प्रत्य-भिज्ञा त्रयम्बक मठिका के अर्न्तगत आता है तथा कौल दर्शन अर्धत्र्यम्बक मठिका के अर्न्थगत है। मठिका का अर्थ है सम्प्रदाय। इसका कारण यही है कि कौल दर्शन में त्र्यम्बक अर्थात् शिव को गौण माना गया है तथा शक्ति को प्रधान माना गया है, जबकि प्रत्यभिज्ञा दर्शन पूर्ण रूप से शिवाद्वयवादी है। दोनों दर्शनों का सम्बन्ध काश्मीर से है। यद्यपि कौल मत का प्रचार केरल और काशी में भी प्रचुर रहा, किन्तु अन्त में यह काश्मीर में ही स्था-पित हो गया।

कौल साहित्य :

कौल दर्शन की ग्रन्थ राशि कभी बड़ी विपुल रही होगी। शैव दर्शन के समान कौलतन्त्र भी आगमों पर आधारित है जिनका निर्माण स्वयं शक्ति ने किया। उन सब आधार-ग्रन्थों का परिचय देना यहाँ सम्भव नहीं नहीं है। कुछ प्रमुख ग्रन्थ इस प्रकार हैं :

1. **सिद्धयोगीश्वरी तन्त्र** : यह कौल दर्शन का प्रथम आगम है। इसमें कभी सौ करोड़ श्लोक थे, किन्तु वह अप्राप्त है। इस समय उसका संक्षिप्त रूप "मालिनी विजयोत्तर तन्त्र" नाम से प्राप्त है। इसका दूसरा नाम श्रीपूर्वशास्त्र भी है।

2. **रूद्रयामल** : यह भी कौल मत का प्रतिपादक मूल ग्रन्थ है। इसमें कुलाचार का विस्तृत विवरण दिया गया है।

3. **कुलार्णव तन्त्र** : यह कुलामार्गीय पञ्चमकार की उपासना का प्रति-पादक ग्रन्थ है। पंच मकारों की उपासना के विषय में इस ग्रन्थ की यह मान्यता है कि इनकी उपासना जितेन्द्रिय पुरुषों को ही करनी चाहिए। अन्यथा इनका आचरण महान अनर्थकारी हैं।

4 **ज्ञानार्णव तन्त्र** : इसमें त्रिपुरा देवी के स्वरूप का विस्तार पूर्वक विवेचन किया गया है।

5. **नित्या षोडशिकार्णव** : इसमें श्री त्रिपुरा का रहस्य उद्घाटित किया गया है। कौलिकी विद्या का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है जो संस्कृत विश्वविद्यालय वाराणसी से प्रकाशित हो चुका है।

6. **वामेकेश्वर तन्त्र** : वामेश्वरी देवी के स्वरूप और उसके साथनमार्ग को प्रतिपादित करने वाला यह तन्त्र कौलिकी विद्या का अनूठा ग्रन्थ है। जयरथ ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह कौलिकी विद्या वामेश्वरी तन्त्र

में अवतीर्ण होकर प्रकाशित हुई है ।[108]

7. **परात्रिंशिका** : इस पर सोमानन्द ने व्याख्या लिखी है ।

8। **कौलावली निर्णय** : इस ग्रन्थ का निर्माण ज्ञानानन्द परमहंस ने किया था । यह ग्रन्थ कौल मार्ग का सर्वांगपूर्ण ग्रन्थ कहा जाता है । यह बहुत विशाल है । इसका एक संक्षिप्त संस्करण कल्याण मन्दिर प्रकाशन प्रयाग से प्रकाशित हुआ है, जिसके लेखक पं० रमादत्त शुक्ल हैं ।

यह ग्रन्थ कौल दर्शन के आगम ग्रन्थ हैं । परवर्ती आचार्यों ने इनको आधार मानकर अपने टीका-ग्रन्थों तथा स्वतन्त्र ग्रन्थों का निर्माण किया । उनमें से कुछ आचार्यों के नाम इस प्रकार हैं—भास्कर राय । (70ा ई०), विद्यानन्द, शिवानन्द, विद्यानन्द, शंकर राशि, ईश्वर शिवाचार्य, विश्वावर्त, दीपिकानाथ, कल्लाण वर्मा, अभिनव गुप्त, शम्भुनाथ, सुमति नाथ, महेश्वरा नन्द आदि ।

कौल दर्शन के सिद्धान्त :

कौल दर्शन के आचार-सिद्धान्त का मूल तत्व है कुल । यह एक पारिभाषिक, शास्त्रीय शब्द है । कुल का अर्थ है परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति ।[109] यह शक्ति नित्य है । इसमें मद्य, मांस, मीन, मुद्रा और मैथुन इन पांच मकारों का सेवन किया जाता है । इसमें बाह्य मांस मदिरा नितान्त वर्जित है ।[110] इन शब्दों का बाह्य अर्थ ग्रहण करने वाले लोग अत्यन्त मूर्ख हैं, कौल मार्ग से सर्वथा अनभिज्ञ हैं । यह वह आचार है जिससे उत्कृष्ट विश्व-दर्शन में कोई आचार-पद्धति नहीं । इसमें निरतिशय पावनता है । जिसके आगे कोई आचरण कोई कर्तव्य और कोई धर्म शेष नहीं रह जाता । यह वह महा महनीय आचार है । किन्तु इसका अनुष्ठान कृपाण की धार के अग्रभाग पर चलने के समान, सिंह के कानों का अवलम्बन ग्रहण करने के समान तथा विषधर को कण्ठ में धारण करने के समान साधारण अधिकारियों के लिए नितान्त अशक्य है ।[111] जितेन्द्रिय राजयोगी ही इसका अधिकारी है । वैदिक तथा शैव सभी की आचार पद्धतियों से ये कुलाचार उत्कृष्ट है । इससे उत्कृष्टत्तर कुछ भी नहीं ।[112] इसलिए इसे ऊर्ध्वाम्नाय भी कहा जाता है क्योंकि यह सब धर्मों से ऊर्ध्व है और निम्नस्थ पुरुष को भी ऊंचा चढ़ाता है ।[113] यह कुलाचार क्या है इसका विवेचन अग्रिम अध्यायों में किया जाएगा ।

कौल दर्शन की आचार मीमांसा यदि 'कुल' तत्व पर प्रतिष्ठित है तो उसकी तत्व मीमांसा का मूल तत्व संवित् है । अन्य दर्शनों में संवित् शब्द से ज्ञान सामान्य का ग्रहण किया जाता है, किन्तु कौल दर्शन में

इसका यह अर्थ नहीं है। इस दर्शन में यह प्रकाश-विमर्श रूप वह बीज-रूपिणी शक्ति है जिसे त्रिपुरा, महात्रिपुर सुन्दरी ललिता अनुत्तरा परावाक् आदि नामों से कहा जाता है। इन नामों से यह प्रकट होता है कि यह दर्शन शाक्तमत पर अवलम्बित है।

यह परा संवित् त्रिपुरा क्यों कहलाती है, इसके उत्तर में कहा गया है कि त्रिपुरा अम्बिका का नाम है, क्योंकि यह ब्रह्मा, विष्णु और शिव इन तीन मूर्तियों की सृष्टि से भी पुरा अर्थात् पहले विद्यमान हैं। अथवा त्रयी स्वरूपा होने से त्रिपुरा कहलाती है। अथवा तीनों लोकों का पूरण करती है। इसलिए इसका नाम त्रिपुरा है।[114]

परा संवित् को ललिता इसलिए कहा जाता है, क्योंकि यह माया स्वरूपिणी है, समस्त भुवन को अपने सौन्दर्य से वशीभूत करती है। ललिता का धाम श्रीपुर है। श्रीपुर का प्रतिनिधि श्रीचक्र है जिसमें ललिता की पूजा की जाती है। इसका विस्तृत विवरण ब्रह्माण्ड पुराण के अन्तर्गत "ललितोपाख्यान" में देखना चाहिए।

इस संवित् को अनुत्तरा भी कहा जाता है। अनुत्तर को व्युत्पति है —"न विद्यते उत्तरं अधिकं यत:। अर्थात् जिससे महत्तर कोई अन्य तत्व नहीं होता वह "शिव" अनुत्तर कहलाते हैं। अनुत्तर की शक्ति अनुत्तरा कहलाती है। यह अनुत्तरा अनुत्तर से किसी भी रूप में पृथक् नहीं है।

वैयाकरण जिस पर तत्व को शब्द ब्रह्म या पश्यन्ती वाक् कहते हैं, कौल दर्शन उसी को परावाक् कहता है। भर्तृहरि ने जगत् को शब्द ब्रह्म का विवर्त माना है।[115] कौल दर्शन में जगत् को त्रिपुरा ललिता का अनुत्तरा का विवर्त माना गया है। यही त्रिपुरा षोडषी कहलाती है क्योंकि साधकों के निकट यह सर्वदा षोडषवर्षीया युवती के रूप में समुपस्थित रहती है।

कौल दर्शन का यह संक्षिप्त दिग्दर्शन मात्र है। इसका विस्तृत विवेचन यहां सम्भव नहीं। इसके कतिपय सिद्धान्तों का विवेचन यत्र तत्र इस प्रबन्ध में किया जाएगा, क्योंकि त्रिक दर्शन का इस दर्शन से बड़ा प्रगाढ़ सम्बन्ध है। इसकी आचार-पद्धति को समझना बड़ा दुष्कर कार्य है। महामनीषी विद्वज्जन भी इसे याथार्थ्य से जानने में भूल करते हैं। यही कारण है कि इसके विषय में अनेक भ्रान्तियां लोक और शास्त्रों में प्रचलित हैं। उनका निराकरण होना चाहिए। सम्भवत: कालान्तर में कोई धीर पुरुष कृतसंकल्प होकर इस दिशा में अग्रसर हो और इस दुष्कर कार्य का सम्पादन करे। कौल दर्शन अद्वैतवाद के साथ भक्ति का मनोहारी

समन्वय उपस्थित करता है। यही इसकी विशेषता है। यह वह महनीय दर्शन है जहां, भोग, योग बनकर उपस्थित हुआ है, पाप भी पुण्य बन जाता है और संसार मोक्ष का आनन्द प्रदान करता है।[116]

दर्शन शास्त्र की परम्परा में त्रिक दर्शन

यह भारतभूमि आदि काल से अनेक चिरन्तन विद्याओं की विकास-स्थली रही है। उन समस्त विद्याओं में आध्यात्मिक दर्शन-विद्या का जितना विकास हुआ उतना अन्य का नहीं हुआ। अपने इसी वैशिष्टय के कारण भारतवर्ष समस्त विश्व का विद्या-गुरु कहलाता है।

भारतवर्ष में विकसित दर्शन-विद्याओं को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है—वैदिक, अवैदिक एवं तान्त्रिक। चार्वाक्, बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शन हैं क्योंकि इनके सिद्धान्तों का आधार वेद नहीं है। प्रत्युत ये वेद और वैदिक सिद्धान्तों का विरोध करते हैं तथा ईश्वर की सत्ता का तिरस्कार करते हैं। न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, पूर्व मीमांसा और उत्तर मीमांसा ये षट् दर्शन वैदिक कहलाते हैं, क्योंकि इनके सिद्धान्त वेद पर आधारित हैं तथा आत्मा परमेश्वर परलोक पुनर्जन्म तथा कर्मफल पर आस्था रखते हैं। पाशुपत शैव शक्ति प्रत्यभिज्ञा आदि दर्शन तान्त्रिक कहलाते हैं, क्योंकि इनकी मान्यताएं मालिनी-विजयोत्तर, स्वच्छन्द तन्त्र रूद्रयामल, परात्रिंशिका आदि तान्त्रिक आगमों पर आधारित हैं। तान्त्रिक आचार्य उक्त आगमों को वेद के ही तुल्य प्रामाणिक अपितु उनसे भी अधिक उत्कृष्ट एवं प्रभावशाली मानते हैं।

उक्त अवैदिक एवं वैदिक एवं तान्त्रिक दर्शनों का अपना अपना विशिष्ट महत्व है। नास्तिक दर्शनों ने विलक्षण तर्क-चातुर्य और वाक्-कौशल की अवधारणा की थी जिसके बल पर बौद्ध एवं जैन धर्म समस्त भारत में ही नहीं बल्कि चीन, जपान, वर्मा और श्रीलंका तक फैल गया था। अवैदिक दार्शनिकों के तर्कयाटव का ही आश्रय लेकर वैदिक दार्शनिकों ने अपने पक्ष को प्रबल किया तथा बौद्धों का उच्छेद किया। वैदिक दर्शनों के चिन्तन की अन्तिम सीमा अद्वैत वेदान्त है। किन्तु तान्त्रिक दार्शनिकों को चिन्तन का पर्यवसान शिवाद्वैतावाद अथवा स्वातंत्र्य सिद्धान्त में होता है। त्रिक दर्शन उसी शिवाद्वैतवाद का प्रतिपादक दर्शन है।

यहाँ यह बतला देना आवश्यक है कि आचार्य शंकर के अद्वैतत्व और तान्त्रिक आगमोंके शिवाद्वैतवाद में मूलत: महान अन्तर है। शंकर का अद्वैत तत्व निर्गुण निर्विशेष और विशुद्ध विज्ञान-स्वरूप है। शिवाद्वैत का शिव अचि शक्ति-विशिष्ट और विलक्षण दिव्य गुणों से संयुक्त है। अद्वैत के प्राप्तयर्थ

केवल ज्ञान की आवश्यकता है। कर्म की वहाँ गति नहीं। शिवाद्वैत की प्राप्ति विविध साधना के द्वार सम्भव है। इसका विवेचन आगे किया जाएगा।

इस शिवाद्वैतवाद के प्रतिपादक त्रिक दर्शन को अद्वैत शैव-दर्शन पराद्वैत या परमाद्वैत दर्शन भी कहते हैं। इसके त्रिक नामकरण के हेतुत्व पर विचार किया जाएगा। यहाँ यह भी ध्यातव्य हैं कि समस्त शैव दर्शन का नाम त्रिक-दर्शन नहीं है। दर्शन विद्याओं के दो प्रमुख अंश हुआ करते हैं—सिद्धान्त पक्ष और साधना पक्ष। सिद्धान्तों के ज्ञान का अनुभव साधना के द्वारा हुआ करता है, तभी साधक का ज्ञान पूर्णता को प्राप्त करके जीवन्मुक्ति का आनन्द देता है। साधना के अभाव में ज्ञान को अभिभूत करके मोह पुन प्रबल हो सकता है और साथक का पतन सम्भावित है। अतः साधक के निःश्रेयस के लिए सिद्धान्त-ज्ञान और साधना दोनों ही परमावश्यक हैं। तान्त्रिक आगमों में साधना की आचार परम्परा वर्णित हुई है। यह आचार परम्परा "क्रम" नाम से कहलाती है। ये आचार हैं—वामाचार, दक्षिणाचार, कौलाचार, मताचार और त्रिक आचार। इन समस्त आचारों में त्रिक आचार सर्वश्रेष्ठ है।[117] इस त्रिक आचार के प्रतिपादक शास्त्रों में तन्त्रालोक तन्त्रसार शिव-सूत्र स्पन्द-कारिका आदि प्रमुख हैं। त्रिक आचार का प्रतिपादिक होने के कारण यह शास्त्र त्रिक-दर्शन कहलाता है। इस प्रकार यह त्रिक दर्शन शैव दर्शन के साधना पक्ष से सम्बन्ध रखता है।

शैव सम्प्रदाय के भेद :

शिव की उपासना भारत में बहुत प्राचीन काल से चली आती है। यजुर्वेद का शतरूद्रिय अध्याय, तैत्तिरीय अरण्यक,[118] श्वेताश्वतर उपनिषद्,[119] अथर्व-शिरसोपनिषद् महाभारत और वामन पुराण[120] में आगत शिव के नाम और स्तुति से शिवपूजा की प्राचीनता सिद्ध होती है। यह शिव पूजा देश के लगभग सभी प्रान्तों में होती थी।

कालान्तर में शिव की पूजा-पद्धति और सिद्धान्तों में भेद होने लगा। सिद्धान्त-भेद और साधना-भेद के कारण शैव विचारकों में कई वर्ग बन गए जो शैव सम्प्रदाय कहलाने लगे। ये शैव सम्प्रदाय या माहेश्वर सम्प्रदाय चार थे—पाशुपत, शैव, कालामुख और कापालिक। आजकल पाशुपत और शैव सम्प्रदायों का ही अत्यधिक प्रचार दिखाई देता है। कालामुख और कापालिक सम्प्रदायों का उच्छेद सा प्रतीत होता है। उक्त चार सम्प्रदायों का संक्षिप्त परिचथ दिया जाना यहां प्रासंगिक होगा।

पाशुपत सम्प्रदाय :

पाशुपत सम्प्रदाय के आद्य संस्थापक लकुलीश या नकुलीश हैं। लकुलीश का समय 105 ई० है। शिव के अष्टादशा अवतारों में लकुलीश सर्वप्रथम हैं। लकुलीश का जन्म भडौच के निकट "कारवन स्थान में हुआ था। राजपूताना और गुजरात में पाशुपत सम्प्रदाय अधिक प्रचलित था। पाशुपतों का एक विशेष वेष था। इनके मस्तक पर केश लहराते हैं। दक्षिण हस्त में बीजपूर का फल तथा वाम हस्त में लगुड़ रहता है। सम्भवत: लगुड़ (लाठी) धारण करने के कारण ये लगुडेश कहलाते थे जो कालान्तर में लकुलीश शब्द से अभिहित होने लगे। पशु और पति इन दो तत्वों को प्रमुखता प्रदान करने के कारण पाशुपत कहलाते हैं। वैसे पाशुपतों के अनुसार पांच पदार्थ हैं—कार्य, कारण, योग, विधि और दुःखान्त। इन सम्प्रदाय का मूल ग्रन्थ पाशुपत सूत्र है जिसके निर्माता साक्षात् महेश्वर हैं। शशीकर ने इस पर पंचार्थी भाष्य लिखा है। इसके सिद्धान्तों के विस्तृत ज्ञान के लिए पाठकों को काश्मीर भी सर्वज्ञ कृत गणिकारिका ग्रन्थ देखना चाहिए।

शैव सम्प्रदाय :

शैव सम्प्रदाय का अर्थ यहां शिव से सम्बन्ध रखने वाला सम्प्रदाय नहीं है। इस आधार पर तो पाशुपत कापालिक आदि अन्य सम्प्रदायों में भी भेद नहीं हो सकेगा। अत: शैव सम्प्रदाय के शैव सिद्धान्त, वीर शैव तथा प्रत्यभिज्ञा आदि के सिद्धान्तों में आस्था रखने वाले सम्प्रदायों का ग्रहण किया जाना चाहिए। शैव सम्प्रदायों में उपर्युक्त शैव सिद्धान्त वीर शैव प्रत्यभिज्ञा आदि सम्प्रदायों का समावेश हो जाता है। आगे चलकर इन सम्प्रदायों में विभिन्न दार्शनिक मान्यताएं उदित हो गयी जिनकी चर्चा आगे की जाएगी।

"शैव सिद्धान्त" तामिल प्रदेश में प्रचरित है। वीर शैव का प्रचार कर्नाटक में अधिक है तथा प्रत्यभिज्ञा मत का केन्द्र स्थल काश्मीर है।

उपर्युक्त शैव मतों के मूल आधारभूत ग्रन्थों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकताहै—शैवागम, स्पन्द शास्त्र तथा प्रत्यभिज्ञा शास्त्र। प्रमुख आगम इस प्रकार हैं—कामिक योगज, चिन्तक, कारण, अजित, दीप्त, सूक्ष्म,सहस्र, अंशुमान, सुप्रभेद, विजय, नि:श्वास, स्वायम्भुव, अनल, भैरव, मुकुट, विमल, चन्द्रज्ञान, बिम्ब. प्रोद्गीत, ललित, सिद्ध, संतान, सर्वोत्तर, परमेश्वर, किरण और वातुल। वसुगुप्त की स्पन्दकारिका स्पन्द शास्त्र का मूल ग्रन्थ है। शिवसूत्र भी उन्हीं की रचना है। प्रत्यभिज्ञा का

मूल आधार सोमानन्द की शिव दृष्टि है । त्रिक दर्शन इसी प्रत्यभिज्ञा शास्त्र की देन है जिसे अभिनव गुप्त ने तन्त्रालोक में परिपुष्ट किया । इनका विस्तृत विवेचन आगे किया जाएगा ।

कालामुख और कापालिक

आजकल शैवों के ये दोनों सम्प्रदाय भारत से प्राय: उच्छिन्न हो गए हैं । इसका कारण यह है कि इनकी साधना और आचार पद्धति आपात रूप से बीभत्स और भयानक प्रतीत होती है । वस्तुत: ऐसा है नहीं । बात वास्तव में यह है कि कापालिकों और कालामुख शैवों की साधना के समस्त क्रिया-कलाप अत्यन्त गोपनीय और प्रतीकात्मक हैं । उनका समझना विरल विद्वानों के लिए ही सुकर है । साधारण पाठक इन्हें समझ नहीं सकते । इनकी क्रियाओं को गुप्त रखा जाना परम आवश्यक है । इसी गोपनता के कारण ये दोनों सम्प्रदाय समाप्त हो गए । क्योंकि आपात रूप से इनकी क्रियाएं घृणित प्रतीत होती थीं । जैसे कापालिक षट् मुद्राएं धारण करते थे—कर्णिका रूचक कुण्डल शिखमणि भस्म और यज्ञोपवीत । कालामुख सम्प्रदाय में इससे भी बीभत्स चिन्ह धारण किये जाते थे । जैसे कपाल-पात्र भोजन, शव के भस्म से स्नान करना, भस्म को खाना, लगुड़ धारण करना, तथा पास में मदिरा को रखना आदि । मत्त-विलास प्रहसन में एक कापालिक कहता है[121] कि मदिरा पीनी चाहिए और प्रियतमा का मुख देखते रहना चाहिए । ललित और विकृत दोनों प्रकार के वेषों को धारण करना चाहिए । इस प्रकार जिसने मोक्ष-मार्ग दिखाया वह भगवान् शिव दिर्घायु हों । जो लोग इन क्रियाओं के रहस्यों को समझते थे वे गुप्त रखते थे । वे इनके रहस्यों को साथ लेकर ही काल-कवलित हो गए । जो इनका रहस्य नहीं जानते थे वे इनके सेवन में साँसारिक सुख लेते हुए समाज में निर्लज्ज कहलाने लगे । फलत: इसकी लोकप्रियता समाप्त हो गयी । कालामुखों का यह वामाचार वस्तुत पवित्र और उत्कृष्टतम होने पर भी अनाचार का सूचक बन गया । यही कारण रहा कि साधकों की नासमझी के कारण यह वामाचार मुक्ति मार्ग का परित्याग करके सांसारिक मारण मोहन उच्चाटन आदि सिद्धियों का साधन बन गया । केवल विषय-भोग ही इसका लक्ष्य रह गया । इस दुरपयोग के कारण ये दोनों सम्प्रदाय संसार से उठ गए । वैसे इनका सर्वथा उच्छेद तो नहीं हुआ है । अब भी कहीं कहीं अघोर कापालिक मिल जाते हैं । किन्तु समाज में उन्हें कुत्सित रूप में ग्रहण किया जाता है । कभीं एक समय था जब भारत में इनका प्राधान्य था । राजा भी इनके प्रभाव को स्वीकार करते थे ।

कालामुख सम्प्रदाय काल दमन, कारुणिक सिद्धान्ती, काठक सिद्धान्ती आदि नामों से भी अभिहित किया जाता है ।

त्रिक शास्त्र के विभिन्न नाम

त्रिक शास्त्र या त्रिक दर्शन किसी एक ग्रन्थ अथवा शास्त्र का नाम नहीं है । यह तो वाम कौल स्पन्द प्रत्यभिज्ञा आदि सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले विभिन्न शैवगमों की सांझी सम्पति है । जैसे दधि का मन्थन कर घृत रूप सार भाग निकाल लिया जाता है, उसी प्रकार अनेक शैव-ग्रन्थों का आडोलन कर शैवाचार्यों ने त्रिक दर्शक का आविष्कार किया है ।

इस अद्वैतवादी त्रिक शास्त्र का आविष्कार सर्वप्रथम आचार्य त्रयम्बक ने किया था । तत्पश्चात् वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पल और अभिनव गुप्त आदि मूर्धन्य विद्वानों ने स्पन्दकारिका,शिवदृष्टि, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-कारिका, तन्त्रालोक आदि ग्रन्थ-सम्पत्ति से इसका पोषण कर इसे विधिवत् व्यवस्थित किया । अत: इस त्रिक शास्त्र को त्र्यम्बकदर्शन, अद्वैत, शैव दर्शन, पराद्वैत दर्शन, प्रत्यभिज्ञा शास्त्र, स्पन्द शास्त्र, कुल शास्त्र आदि नामों से भी पुकारा जाता है । इसी को षडर्धशास्त्र और षडर्धक्रम-विज्ञान भी कहा जाता है । उक्त नामों के कारणों पर संक्षिप्त चर्चा प्रासंगिक है ।

त्रिक शास्त्र काश्मीर-शैव-दर्शन की एक विशिष्ट शाखा का नाम है । जो पूर्ण शिवाद्वयवाद में विश्वास रखती है । महर्षि दुर्वासा ने भगवान् शिव के आदेश से त्र्यम्बकादित्य के द्वारा कश्मीर में इसकी स्थापना की थी । इसी कारण इस शास्त्र का नाम त्र्यम्बक शास्त्र और शिवाद्वैत दर्शन हुआ ।

प्रत्यभिज्ञा त्रिक-दर्शन का एक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है । प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है पहचान करना । यदि हमने अपने प्रियतम को कभी देखा न हो, केवल उसके गुणों को सुनकर ही उससे प्रेम करने लगे हों तो वह प्रियतम कभी हमारे सामने आकर खड़ा भी हो जाए तो हम उसे देखकर तब तक आनन्दित नहीं हो सकते जब तक कोई हमें यह परिचय न करा दे यह वही तुम्हारा प्रियतम है जिसकी स्मृति में तुम अब तक तड़प रहे थे । परिचय कराने के बाद ही हम उसका प्रत्यभिज्ञान करते हैं और आनन्दित होते हैं । यही स्थिति शिव के प्रत्यभिज्ञान की भी है । गुरु की कृपा से जब हम शिव को पहचान लेते हैं तब हम उससे मिलकर आनन्दित होते हैं । यही प्रत्यभिज्ञा है । इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण यह त्रिक-शास्त्र प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र कहलाता है । इस सिद्धान्त की विशेष व्याख्या आगे की जाएगी ।

प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का मुख्य ग्रन्थ सोमानन्द की शिवदृष्टि है । इसका पूर्व विकास उत्पल की ईश्वर-प्रत्यभिज्ञाकारिका में और अभिनव गुप्त के तन्त्रालोक में हुआ ।

त्रिक-शास्त्र को स्पन्द-शास्त्र भी कहा जाता है । स्पन्द इस शास्त्र का प्रधान तत्व है । चलनात्मक शक्ति ही स्पन्दनाम्ना अभिहित होती है । भगवान् शिव स्पन्दरूपा शक्ति से सदैव युक्त रहते हैं । यह उनका स्वभाव है । स्पन्द सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के कारण ही त्रिक शास्त्र का अभिधान स्पन्द शास्त्र के साधना पक्ष से सम्बन्ध रखता है ।

शिव सूत्र और स्पन्दकारिका इस शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ हैं जिनका प्रणयन आचार्य वसुगुप्त ने किया ।

त्रिक शास्त्र को षडर्धशास्त्र भी कहा जाता है ।[122] यह नाम इसके एक विशिष्ट सिद्धान्त की ओर इंगित करता है । षडर्थ का अर्थ है—छ: का आधा, अर्थात् तीन तत्वों को सत्य रूप में प्रतिपादित करने वाला शास्त्र । त्रिक शास्त्र में छ: मात्राएं छ तत्वों का प्रकाशन करती हैं । ये छ: मात्राएं हैं अ, आ, इ, ई, उ तथा ऊ। अ मात्रा अनुत्तर तत्व का "आ" आनन्द का, "इ" इच्छा का, 'ई" ईशान का, "उ" उन्मेष का और "ऊ" मात्रा ऊर्मि तत्व का प्रकाशन करती है । इन तत्वों की विस्तृत व्याख्या आगे की जाएगी । इनमें पूर्व पूर्व का तत्व उत्तर उत्तर का कारण है । अत: आनन्द तत्व अनुत्तर पर आश्रित है । ईशान इच्छा पर और ऊर्मि उन्मेष पर अवलम्बित हैं । अनुत्तर का सामान्य अर्थ है चित् और उन्मेष का अर्थ है ज्ञान । इस प्रकार ह्रस्व मात्रा से प्रारम्भ होने वाले अनुत्तर इच्छा और उन्मेष ही प्रधान तत्व हैं । ये तीनों तत्व परम शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति के अनुकूल व्यापार करते हैं । उक्त षडर्ध अर्थात् तीन तत्वों का अंगीकार करने के कारण त्रिक शास्त्र का नाम षडर्ध शास्त्र सार्थक होता है ।

त्रिक शास्त्र का एक नाम कुल शास्त्र या कुलागम भी है । आचार्य अभिनवगुप्त के अनुसार कुल और त्रिक शब्द पर्यायवाची हैं । शैव दर्शन में भगवान् शिव का नाम कुल भी है । विश्व में एक ही आगम है—शैवागम । उस शैवागम का एक ही सार है—त्रिक । (तत्सारं त्रिक संक्षिप्तम्) इस त्रिक का ही दूसरा नाम कुल है, क्योंकि इस कुल में समस्त भेदों का लय हो जाता ।[123] कु पृथिवी तत्वं लीयतेऽस्मिन्निति कुलम् । जिस प्रकार देह के समस्त अंगों में प्राण तत्व व्याप्त रहता है वैसे ही कुल अर्थात त्रिक समस्त दृष्टि में व्याप्त है ।[124] पुष्प में जिस प्रकार गन्ध व्याप्त है,

तिल में तेल, देह में जीवात्मा और जल में अमृत व्याप्त है वैसे ही समस्त शैवागमों में प्रतिपादित कुल तत्व विश्व के अन्दर प्रतिष्ठित है ।[125] इस प्रकार कुल शास्त्र और त्रिक शास्त्र एक ही सिद्धांत के प्रतिपादक हैं।

त्रिक दर्शन के सिद्धांतों का सर्वांगीण ज्ञान तो योगियों के लिए भी दुष्प्राप्य है। त्रिक शास्त्र के कतिपय नामों की यहाँ दिङ्मात्र व्याख्या की गयी है। पर शिव को परतत्व के रूप में अंगीकृत करने वाला यह पराद्वैत शास्त्र परमशिव के अनुग्रह के बिना सर्वथा ज्ञातुमशक्य है।

त्रिक नाम विश्लेषण

काश्मीर शैव दर्शन की अद्वैत-परक शाखा का नाम त्रिक दर्शन है। जो अध्येता प्रथम अवसर पर इस शब्द के सम्पर्क में आता है वह सहसा इसके अर्थ के विषय में संशयित रहता है। जिज्ञासा होती है कि अद्वैत तत्व में पूर्ण आस्था रखने वाले और विपुल तर्क-सम्पत्ति से उसका प्रतिपादन करने वाले इस दर्शन का नाम त्रिक क्यों पड़ गया। "त्रिक" शब्द तो तीन संख्या का वाचक है। इसका अद्वैत से कैसा सम्बन्ध ? नाम यदि अन्वर्थ हो तो वह अपेक्षाकृत अच्छी तरह हृदयंगम होता है। नाम से तीन तत्वों का आभास हो और पर्यालोचन से उसका तात्पर्य अद्वैत में पर्यवसित हो तो संशय का होना स्वाभाविक है। इस संशय के निवारणार्थ त्रिक शब्द की व्याख्या किया जाना आवशक है। यहां कुछ हेतु दिए जा रहे हैं जिनसे हमें यह ज्ञात होगा कि इस दर्शन के "त्रिक" नामकरण का क्या रहस्य है।

"त्रिक" शब्द तीन संख्या के बोधक "त्रि" शब्द में पाणिनीय अष्टाध्यायी के "संख्यायाः संज्ञा संघ सूत्राध्ययनेषु" (5 / 1 / 581) इस सूत्र से संघ अर्थ में कन् प्रत्यय जोड़कर निष्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ है—तीन तत्वों का संघट्ट।

प्रथम हेतु

त्रिक शब्द की उपर्युक्त व्युत्पत्ति के आधार पर त्रिक-दर्शन अभिधान अन्वर्थता को धारण कर रहा है। काश्मीर शैव-दर्शन में चक्रपूजा के सन्दर्भ में द्वादश चक्रों की गणना की जाती है। उन द्वादश चक्रों में त्रिविध शक्ति की पूजा शैवों के द्वारा की जाती है।[126] ये तीन शक्तियां हैं—परा, परापरा और अपरा।[127] ये सृष्टि स्थिति संहार और अनाख्य रूप तुर्य इन चारों अवस्थाओं में स्फुरित होती हैं। अतः एक एक शक्ति के चार चार भेद हो जाने से कुल बारह भेद हो जाते हैं। इन द्वादश शक्तियों की पूजा ही द्वादश चक्रों में की जाती है। चक्र रहस्यपूर्ण रेखाचित्र को कहते हैं। जिन्हें मन्त्र भी कहा जाता है।

उपर्युक्त परा, परापरा और अपरा शक्तियां ही क्रमशः पश्यन्ती मध्यमा और वैश्वरी वाणी कहलाती हैं।[128] इन्हीं को इच्छा शक्ति और क्रिया शक्ति भी कहा गया है।[129] शद्धात्मक और अशुद्धात्मक समस्त व्यवहार इन तीनों शक्तियों के द्वारा ही विस्तारित किया गया है। यद्यपि भैरवादि पद वाच्य परम शिव की एक ही शक्ति है—स्वातन्त्र्य शक्ति। किन्तु कार्य-भेद और स्थिति-भेद से उसी के कहीं पांच भेद, कहीं चार, कहीं तीन और कहीं छः, सात, दस और बारह भेद हो गए हैं। इसी बात को आचार्य अभिनवगुप्त ने निम्न कारिकाओं में स्पष्ट रूप से अंगीकार किया है :

तासामपि च भेदांश न्यूनाधिक्यादियोजनम्।
तत्स्त्रातन्त्र्यबलादेव शास्त्रेषु परिभाषितम्॥

एक वीरो मामलोऽथ त्रिशक्तिव्चतुरात्मकः।
पंचमूर्तिः षडात्माऽयं सप्तको ष्टकभूषितः॥
नवात्मा दशदिक्छक्तिरेका दशकलात्मकः।
द्वादशारमहाचक्रनायको भैरवस्त्विति॥

तंत्रालोक 1/109-111

उपर्युक्त परादि शक्तियां शैव दर्शन में अ, इ और उ इन तीन मात्राओं से प्रकाशित की जाती हैं। अ से अनुत्तर, इ से इच्छा है और उ से उन्मेष का बोध होता है। पराशक्ति अनुत्तर है, परापरा इच्छा है और अपरा शक्ति उन्मेष कहलाती है। अनुत्तर चित् शक्ति है। इच्छा इच्छाशक्ति है और उन्मेष ज्ञान-शक्ति है। पराशक्ति के अनेक भेद हो जाते हैं जैसे पराप्रतिभा, कौलिकीशक्ति कुण्डलिनी शक्ति विमर्शशक्ति आदि। यह अनुत्तर इच्छा और उन्मेष का त्रिक ही वास्तविक तत्व है। जिससे अहमर्थ का पूर्ण परामर्श होता है।[131]

इस प्रकार परा-पपापरा—अपरात्मक, पश्यन्ती—मध्यमा—वैश्वर्यात्मक, अनुत्तरेच्छोन्मेषात्मक तथा चिदिच्छाज्ञानात्मक त्रिकों को स्वीकार करने के कारण यह अद्वैतवादी काश्मीर शैव दर्शन त्रिक नाम से अभिहित होता है।[132]

द्वितीय हेतु

मूल स्रोत की दृष्टि से त्रिक दर्शन ने तीन आगमों से अपने सिद्धान्तों का सार संगृहीत किया है। ये तीन आगम हैं—सिद्धा तन्त्र नामक तन्त्र और मालिनी—विजयोत्तर तन्त्र।[133] सिद्धातन्त्र क्रिया प्रधान है अर्थात्

त्रिक दर्शन की आचार पद्वतियां उसमें निर्दिष्ट हैं। नामक तन्त्र ज्ञान प्रधान है। इसमें परम महेश्वर भगवान् शिव के स्वरूप का युक्ति-युक्त विवेचन किया गया है। मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र उभय-प्रधान है।[134] अर्थात् इसमें ज्ञान और क्रिया दोनों का विस्तीर्ण वर्णन है।

उक्त तीनों आगमों में मालिनी-विजयोत्तर तन्त्र ही मुख्य माना जाता है।[135] सिद्धा और नामक इन दो तन्त्रों का सम्प्रति नाम ही अवशिष्ट है। पता नहीं किस कारण से ये काल के किस अज्ञात गृहवर में समा गए हैं। केवल मालिनी-विजयोत्तर ही इस समय उपलब्ध है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस पर मालिनी-विजय-वार्तिक नाम की व्याख्या लिखी है।

मालिनी-विजयोत्तर की मुख्यता का और सिद्धा तथा नामक की विलुप्तता का कारण सम्भवतया यह है कि सिद्धा और नामक में वर्णित विषय.वस्तु का संग्रह अकेले मालिनी-विजयोत्तर में विद्यमान है। मालिनी-विजयोत्तर की प्रशंसा स्वयम् अभिनव गुप्त ने की है। वे कहते हैं :

न तदस्तीह यन्त श्री मालिनी विजयोत्तरे।
देव देवेन निर्दिष्टं स्व शब्देनाथ लिंगत: ॥ तन्त्रालोक 1/17

अर्थात् शैवागमों का प्रतिपाद्य ऐसा कोई भी विषय नहीं है जिसका निर्देश देवाधिदेव भगवान् शिव ने मालिनी-विजयोत्तर में न किया हो। यह निर्देश कहीं शब्दत: और कहीं लिंगत: किया गया है।

श्री बी० एन० पंडित ने सम्भावना व्यक्त की है कि सम्भवत: यह तन्त्र किसी मालिनी-विजय नामक तन्त्र का उत्तर भाग है।[136] किन्तु आचार्य जयरथ ने इसकी व्याख्या इस प्रकार की है :

"श्री मालिनी विजयोत्तरे" इति नादिफान्ताया मालिन्या विजयेन सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वस्रोतोभ्य: प्लवते सारभूत त्वात् सर्वशास्त्राणाम्"

तन्त्रालोक विवेक 1/17

अर्थात् नकार से लेकर फकार पर्यन्त बीज मन्त्र रूपणी मालिनी-शक्ति पर विजय प्राप्त करके साधक समस्त बन्धन धाराओं को पार कर लेता है। इसलिए यह तन्त्र मालिनी-विजयोत्तर कहलाता है क्योंकि यह समस्त शास्त्रों का सारभूत है।

त्रिक-शास्त्र का सार मालिनी-विजयोत्तर में विद्यमान है। अभिनव ने स्वयं स्वीकार किया है :

तत्सारं त्रिक शास्त्रं हि तत्सारं मालिनीमतम् ॥ तन्त्रालोक 1/18

इस प्रकार त्रिक शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय सिद्धा, नामक और मालिनी-विजयोत्तर इन तीन आगामों पर आश्रित है। अत: यह त्रिक दर्शन नाम अन्वर्थता को प्राप्त करता है। कहीं कहीं नामक के स्थान पर वामक शब्द भी मिलता है।

तृतीय हेतु

"त्रिक" भगवान् शिव का नाम है। यह तीन अंशों से मिलकर बना है। ये तीन अंश हैं—अनुत्तर, इच्छा और उन्मेष। अनुत्तर चिदंश है जो शिव का निज स्वरूप है। इच्छा और उन्मेष उनकी शक्ति है। इच्छा और उन्मेष से ही शिव का प्रकाश होता है। परात्रींशिका में कहा गया है :

यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य वा।

ज्ञायते दिग्विभागा दितद्वच्छक्त्या शिव: प्रिये ॥

अर्थात् जिस प्रकार आलोक से दीपक के दिशा आदि का ज्ञान होता है और किरणों से सूर्य का ज्ञान होता है वैसे ही—इच्छा और उन्मेष रूप शक्ति से अनुत्तर शिव का ज्ञान होता है। इस प्रकार त्रिक तत्व तीन अंशों को धारण करता है। इसलिए भी इस तत्व का प्रतिपादक शास्त्र त्रिक दर्शन कहलाता है।

चतुर्थ हेतु

दश शिवागम, अठारह रुद्रागम और चौसठ भैरवागमों का सार रूप त्रिक माना गया है :

दशाष्टादशवस्वष्ट भिन्नं यच्छासनं विभौ:।

तत्सारं त्रिक शास्त्रं हि——— तंत्रालोक 1/18

ये त्रिक तीन हैं—पर त्रिक, अपर त्रिक और परापर त्रिक। शिव, शक्ति और संघट्ट यह पर त्रिक है। शिव, शक्ति और नर यह अपर त्रिक है। परा, परापरा और अपरा इन तीन देवियों का समूह परापर त्रिक कहलाता है। कामज योगज चिन्त्य मौकुट अंशुमत् दीप्त सूक्ष्म सहस्त्रार्क सुप्रभ और कारण ये शिवागम के भेद हैं। ये भेद दृष्टि प्रधान हैं।

विजय, नि:श्वास, समुदगीत पारमेश्वर, मुखबिम्ब, सिद्ध, सन्तान नारसिंह, चन्द्रांशु, वीरभद्र, आग्नेय स्वयम्भुव, विसर, रौरव, विमल, किरण, ललित और सौरभेय ये अठारह रुद्रागम हैं तो भेदाभेद दृष्टि प्रधान हैं।

भैरव, यामल, मत, मंगल, चक्र, शिखा, बहुरूप और वागीश ये आठ भैरवागम हैं। इनमें से एक एक के आठ आठ भेद हैं। इस प्रकार भैरवागम

के चौसठ भेद हो जाते हैं। इनके विस्तृत विवरण के लिए तंत्रालोक प्रथम आह्निक के अठारहवें श्लोक की जयरथ प्रणीत विवेक नाम की टीका देखें।

भैरवागम अभेद-दृष्टि-प्रधान है। उनमें भी त्रिक तत्व ही सर्वोतम है। परात्रींशिका विवरण में कहा गया है :

वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम्।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम्॥

अर्थात् वेद श्रेष्ठ आगम है। वेदों से वामागम उत्तम हैं। वाम से दक्षिणागम श्रेष्ठ है। दक्षिणागम से कुलागम शास्त्र उत्तम है। उससे भी मतागम और मतागम शास्त्र से भी त्रिक शास्त्र सर्वोत्तम है।

पूर्वोक्त तीन त्रिकों को स्वीकार करने के कारण ही यह दर्शन त्रिक कहलाता है।

शिव, शक्ति और संघट्ट से युक्त जो यह पर-त्रिक है, यही संसार के वैचित्र्य का हेतु है। जिस प्रकार लोक में दो वस्तुओं के सम और विषम मिश्रण से नाना गुण कर्म स्वभाव वाली विभिन्न वस्तुएं उत्पन्न हो जाती हैं, वैसे ही शिव और शक्ति के संघट्ट (मिलन) से विचित्र जगत् का निर्माण हुआ है। इन त्रिक को अनाख्य भी कहा जाता है। अनाख्य इसलिए कहा गया है क्योंकि इसकी व्याख्या करना संभव नहीं है।[137]

परापर त्रिक के अन्तर्गत परा परापरा और अपरा इन तीन देवियों में सबसे पहली परा देवी चित्प्रतिभा तथा भैरवयोगिनी कहलाती है।[138] 'चिद् रूपा चासौ प्रतिभा च' इस व्युत्पति के आधार पर यह चैतन्य स्वरूपा है तथा प्रज्ञारूपिणी है। बाहर की ओर उल्लसित होने का इसका स्वभाव है। प्रमाता प्रमाण और प्रमेय इन तीन अंशों वाले त्रिशूल रूपी कमल पर यह नित्य निवास करती है। भैरव अर्थात् पूर्ण स्वभाव शिव से सदैव अपृथक् रहने के कारण इसका नाम भैरव योगिनी है।[140]

दूसरी 'अपरा' देवी नृत्य करते हुए भैरवाकृति शिव के देह में स्थित रहने वाली शक्ति है। नर्तक शिव के देह में यह प्रावृट्कालीन मेघों में चमकती हुई विद्युत के समान कान्ति को धारण करती है।[141]

तीसरी परापरा देवी वह है जो अपनी ज्ञानरूप ज्योति से आणव कार्मण और मायीय मलरूप बन्धत्रय का विनाश करती है।[142] इसे परापरा इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह ज्ञान स्वभावा होते हुए भी इच्छा और क्रिया को भी धारण करती है। ज्ञान उसका पररूप है तो इच्छा और क्रिया उसका अपर रूप है।[143]

अपर त्रिक में स्वातन्त्र्य शक्ति क्रम-संसिसृक्षा तथा क्रमात्मता नाम

की परशिव की विभूतियों की गणना की जाती है।[144] इन्हीं को क्रमशः शिव शक्ति और नर कहा जाता है। क्रमात्मता का अर्थ है भेद-दृष्टि। यह भेद नररूप में ही लोक में दृष्टिगत होता है।

पंचम हेतु

शैवागमों में त्रिक शब्द केवल तीन तत्वों के समूह का ही वाचक नहीं है अपितु यह परमतत्व (Ultimate Reality) के रूप में भी अंगीकृत किया गया है, जिसे कुल भी कहा जाता है।[145] यह 'कुल" शिव और शक्ति से भी ऊपर स्थित है। यह समग्र विश्व कुल से और कुल में ही उदित होता है तथा कुल में ही लय को प्राप्त करता है। इसलिए यह सर्वविश्रान्ति-धाम कहलाता है।[147]

चूंकि त्रिक दर्शन पूर्णरूप से अद्वयवादी दर्शन है इसलिए भेदवाचक त्रिक शब्द भी परमार्थ में परतत्वरूप परमशिव में ही पर्यवसित होकर अभेदार्थ का वाचन करता है। त्रिक और कुल दोनों पर्याय हैं और पर-तत्व (Ultimate Reality) के बोधक हैं। इस दर्शन के त्रिक नाम का यह भी एक रहस्य है।

षष्ठ हेतु

आचार्य अभिनव गुप्त ने त्रिक शब्द को एक अन्य गहन अर्थ में भी परिभाषित किया है। "त्रिक" का अर्थ है—सौः [148] जो तीन वर्षों से बना हुआ एक दिव्य मन्त्र है। स औ और विसर्ग इन वर्णों से निर्मित होने के कारण "सौः" यह मन्त्र त्रिक कहलाता है। यह मन्त्र अन्य मन्त्र मन्त्रेशं और मन्त्र महेश से भी ऊँचा है।

इस मन्त्र के रहस्य को योगी भी नहीं जानते। शिव ही इसके रहस्य को जानते हैं या फिर वे जानते हैं जिन्हें परम गुरु के शक्तिपात से बोध हो चुका है। जो इस मन्त्र के अर्थ का साक्षात्कार कर लेता है वह योगाभ्यास के बिना पर तत्व के साथ एकता(oneness) को प्राप्त कर लेता है।

शिव-साधकों का यह विश्वास है कि प्रत्येक कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को समस्त सिद्ध पुरुष एवं योगी किसी एक स्थान पर इकठ्ठे होते हैं। सौभाग्य से यदि कोई पुरुष वहां पहुंच जाता है तो वह योगियों के द्वारा दिए गये एक विशिष्ट पेय का पान करता है तथा "सौः" इस मन्त्र का रहस्य जान लेता है। वह समस्त आध्यात्मिक शक्तियों का स्वामी हो जाता है। सामान्य स्पन्दना के द्वारा परतत्व के साथ एकत्व का लाभ कर वह अकुल हो जाता है।

सामान्य स्पन्दना एक ऐसी अगतिमय गति है जो अचल आत्मा में

चलता का आभास करा देती है।[149] इसे ही परावाक् कहा जाता है। यह चलता ही परमेश्वर की ज्ञान-क्रियात्मक विमर्शना है।[150]

इस प्रकार निकृष्ट रूप में हम कह सकते हैं कि त्रिक दर्शन के त्रिक शब्द में तीन संख्या का उपयोग किसी न किसी रूप में अवश्य हुआ है। किन्तु यहां यह बात विशेष रूप से ध्यातव्य है कि त्रिक दर्शन में भेदभाव का कोई स्थान नहीं है। यह पूर्ण रूप से अद्वैतवादी दर्शन है। यदि समग्र शैव दर्शन अद्वैतवादी है तो उसमें त्रिक दर्शन पूर्णाद्वैतवादी है क्योंकि यहां तो शिवतत्व से भिन्न कुछ भी नहीं है। छत्तीस तत्वों के रूप में विस्तारित यह विश्व प्रपंच साक्षात शिवस्वरूप ही है। शंकर अद्वैतवाद में भी यद्यपि जगत् ब्रह्म ही है किन्तु वह माया के द्वारा कल्पित है, परमार्थ में जगत् कुछ नहीं है। किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार जगत् भी वास्तविक शिव है। सुख दु.ख, शुभ अशुभ, धर्म अधर्म, राग वैराग्य, लोभ मोह, तृण वीरूधलतागुल्म आदि सभी शिव के अवर कोटि के रूप हैं। शिव ही अपने स्वरूप को भूलकर जड़ चेतनादि के रूप में प्रतिभासित हो रहा है और वही अपने निज रूप को पहचान कर विश्वोतीर्ण रूप में स्थित होता है। इसलिए त्रिक शब्द से किसी को भेदभाव की आशंका नहीं करनी चाहिए।

त्रिक दर्शन के प्रमुख सिद्धान्त

किसी भी "दर्शन" के तीन आधार स्तम्भ होते हैं—तत्वमीमांसा, ज्ञान मीमांसा और आचार मीमांसा। तत्व मीमांसा (Conception of Metaphysics) से अभिप्राय उस चिन्तन से है जिसमें पदार्थों की संख्या, उनकी सत्यता और असत्यता पर विचार किया जाता है। ज्ञान मीमांसा (Epistemology) का अर्थ है—उन प्रमाणों का विवेचन जिनके द्वारा उन तत्वों का ज्ञान किया जाता है। आचार मीमांसा में मोक्ष के उपायों (Path of Salvation) पर विचार किया जाता है। इन तीनों ही विषयों के सन्दर्भ में त्रिक दर्शन की मान्यताएं और सिद्धान्त अन्य दर्शनों से सर्वथा विलक्षण हैं। उसके कतिपय प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय देना प्रासंगिक होगा।

यथार्थवादी आभासवाद

जगत् की स्थिति को लेकर त्रिक दर्शन की दार्शनिक दृष्टि आभासवाद के नाम से जानी जाती है। जगत् की सत्यता और असत्यता के विषय में विभिन्न दर्शन सम्प्रदायों की दृष्टि पृथक् पृथक् है। अन्य दर्शनों में आभास का अर्थ "अवास्तविक" लिया जाता है। "जगत् आभास मात्र है" इसका अर्थ है संसार अवास्तविक (Unreal) है, असत्य है, मिथ्या है।

इसकी केवल प्रतीति होती है । वस्तुत: यह है नहीं ।

बौद्ध दर्शन की दृष्टि में कार्यरूप जगत् सर्वथा असत्य है । अनादि अज्ञान वासनाओं के कारण जगत् की सृष्टि स्थिति और प्रलय को केवल आभास होता है । वस्तुत: जगत् की सत्ता कहीं नहीं है । बौद्धों की यह दृष्टि विज्ञानवाद या आभासवाद (Idealism) कहलाती है ।

अद्वैत वेदान्त में आभास का अर्थ है मिथ्या प्रतीति । अद्वैतवादियों का मत भी बौद्धों से मिलता जुलता है । इनके अनुसार भी जगत् की प्रतीति मिथ्या है अवास्तविक है । बौद्धों से इसमें इतना अन्तर है कि बौद्ध तो जगत् को स्वप्नवत् नितान्त असत् कहते हैं किन्तु शंकर वेदान्ती जगत् की व्यवहारिक सत्ता स्वीकार करते हैं । पारमार्थिक दशा में ही वह असत् है । इस मत को अद्वैतीय आभासवाद (Monistic Idealism) कहा जाता है ।

न्याय मत में जगत् की सत्ता यथार्थ है । जगत्रूप कार्य का कर्ता परमेश्वर है, किन्तु वहां अवांछनीय तत्व यह है कि ईश्वर और जगत् के गुणों में कोई समानता नहीं मानी गयी है । अपितु दोनों में महान् वैषम्य है । ईश्वर चेतन सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है किन्तु जगत् जड़, ज्ञानहीन और शक्ति रहित है । केवल तर्क के बल पर ही न्याय दर्शन में ईश्वरकृत जगत् की यर्थार्थता सिद्ध की गयी है । इसे तार्किक यथार्थवाद (Logical Realism) कहा जाता है ।

वैशेषिकों ने जगत् का उपादान कारण परमाणुओं को और परमाणुओं में रहने वाले विशेषों को माना है । इस मत के अनुसार भी जगत् की सत्ता यथार्थ है । इस मत को परमाणु बहुत्ववाद (Atomic Plurism) कहा जा सकता है । सांख्यों के यथार्थवादी द्वैतमत (Realistic Realism) में भी जगत् की सत्ता वास्तविक है ।

त्रिक दर्शन का आभासवाद पूर्वोक्त आभासवाद और यथार्थवाद से सर्वथा भिन्न है । त्रिक दर्शन की दृष्टि में जगत् मिथ्या नहीं है अपितु पूर्णरूप से यथार्थ है । अन्य दर्शनों के आभासवाद में बहुत बड़ा दोष यह है कि वहां कर्ता और कार्य की खाई इतनी चौड़ी है कि दोनों का सम्बन्ध कथमपि नहीं बनता । तम: प्रकाश[151] के समान दोनों विरुद्ध-स्वभाव हैं । फिर दोनों में सम्बन्ध कैसे हो ? यह सम्बन्ध कार्यकारण में होना अत्यन्त अनिवार्य है । त्रिक दर्शन के आभासवाद में यह दोष नहीं है । इस मत के अनुसार परमशिव दर्पण के समान अपने में समस्त जगत् को अवभासित करता है । यह विचित्र विश्व परम शिव के अन्दर अभिन्न भाव से स्थित है । किन्तु वह अपने स्वातन्त्र्य के माहात्म्य से उसे भिन्नवत् अवभासित

करता है।

परमशिव और जगत् का परस्पर सम्बन्ध दर्पणबिम्ब के समान है। जिस प्रकार दर्पण में प्रतिबिम्बित वृक्षादि बिम्ब से अभिन्न होते हुए भी भिन्न से अवभासित होते हैं वैसे ही शुद्ध संवित्-स्वरूप परम शिव में प्रतिबिम्बित यह निखिल जगत् परम शिव से अभिन्न होते हुए भी घट पटादि रूप से भिन्नवत् प्रतीत होता है।[152]

त्रिक-दर्शन का यह बिम्ब प्रतिबिम्बभाव लोक में प्रचलित बिम्ब प्रतिबिम्ब भाव से विलक्षण है। लोक में प्रतिबिम्बित पदार्थ बिम्ब से पृथक् हुआ करता है। प्रतिबिम्बित पदार्थ आधेय होता है, बिम्ब उसका आधार हुआ करता है। किन्तु त्रिक दर्शन में बिम्ब भी शिव है और प्रतिबिम्ब भी शिव है। विश्वमय और विश्वोत्तीर्ण दोनों रूपों में शिव ही एक तत्व है। यहाँ बिम्ब के बिना ही प्रतिबिम्ब होता है। जगत् भी वस्तुतः शिव ही है। अतः जगत् यथार्थ है। स्वातन्त्र्य शक्ति के माहात्म्य से जगत् रूप प्रतिबिम्ब स्वतः प्रादुर्भूत होता है। संसार भी पारमर्थिक सत् है। संसार की यह सत्ता संसार—रूपता में नहीं है अपितु शुद्ध संवित्-रूप में है। शुद्ध संवित-रूप परम शिव परमार्थतया सत्य है। यह संसार परम शिव के अन्दर संविन् की अवस्था में ही रहता है। अतः संसार भी सत्य ही है। शिव का स्वातन्त्र्य भी सत्य है। उसकी लीला भी सत्य है। यह अविद्या के समान मिथ्या नहीं है। न ही संसार कोइ वन्ध्या पुत्र है।

इस प्रकार त्रिक दर्शन का जगद्विषयक यह सिद्धान्त यथार्थवादी आभासवाद (Realstic Idealism) कहलाता है। यथार्थवादी इस लिए कहलाता है क्योंकि जगत् शिवरूप होने के कारण वास्तविक है, और आभास इसलिए है क्योंकि भिन्न सा अवभासित होता है।

यह भिन्नवत् अवभासन परम शिव की इच्छा से ही होता है। इसमें उसका कोई स्वार्थ या परार्थ नहीं है। यह तो उसका स्वभाव है। केवल उसकी लीला है। अग्नि के जलने में क्या कारण है ? कुछ भी कारण नहीं। जलना अग्नि का स्वभाव है। जगत् का अवभासन भी शिव का स्वभाय है और जगत् का संकोचन भी उसका स्वभाव है। स्वातन्त्र्य रूप इच्छा सदा उसका अनुवर्तन करती है। जैसे सावभौम राजा स्वेच्छा से कभी पैदल चलता है और कभी रथ गजादि पर सवारी करता है।[153] वैसे ही परम शिव अपनी इच्छा से कभी जगत् का अवभासन करता है और कभी उसका तिरोधान करता है। ये अवभासन और तिरोधान शिव के प्रकाश विमर्शात्मक होने के कारण स्वतः सिद्ध हैं।

सामरस्य सिद्धान्त

त्रिक दर्शन की मान्यता के अनुसार परतत्व (Ultimate) प्रकाश विमर्श का सामरस्य रूप है। चेतना के अवभासात्मक रूप का नाम प्रकाश (Manifestation) है और विमर्श उसका स्वभाव है। प्रकाश ज्ञान है और विमर्श ज्ञान की क्रिया है। प्रकाश आभास है और विमर्श प्रतीति है।

परम शिव शुद्ध प्रकाश-स्वरूप है। वह सदा सर्वत्र सब स्थितियों में स्वयम् प्रकाशित होता रहता है। चेतना का स्वभाव ही है स्वयं प्रकाशित होना। सूर्य अग्नि आदि के प्रकाश को प्रकाशित होने के लिए चेतना के प्रकाश की अपेक्षा है। वे स्वयं प्रकाशित नहीं है। जीवों का अनुभव ही उनकी सत्ता को सिद्ध करता है, किन्तु जीवों की चेतना स्वयं प्रकाश है। जीवों का यह प्रकाश "अहम" के रूप में सदैव होता रहता है। जाग्रत्काल में भी स्वप्नावस्था में भी और सुषुप्ति में भी। शरीर बुद्धि प्राण और इन्द्रियाँ भी चेतना के प्रकाश से ही प्रकाशित होते हैं। जड़ पदार्थों का जो आभास होता है वह भी चेतना के प्रकाश से ही होता है। जीव और जगत् के रूप में स्वयं-प्रकाश परम-शिव ही प्रकाशित हो रहा है।

जहां प्रकाश है वहीं विमर्श भी है। जिसे अपना आभास या प्रकाश होता है, उसे साथ ी अपने अस्तित्व की भी प्रतीति होती है। जीव को "मैं" के प्रकाश के साथ "मैं" की प्रतीति भी सदा होती रहती है। आभास और प्रतीति में थोड़ा अन्तर है। दर्पण मे प्रतिबिम्ब का आभास होता है किन्तु उसकी प्रतीति उसे नहीं होती। उसकी प्रतीति चेतन जीव को ही होती है। इस प्रकार प्रकाश एकज्ञान (Knowledge) है और विमर्श (Awarsnees) जानने की क्रिया है। प्रत्येक प्राणी को अहं का प्रकाश और अहं का विमर्श साथ साथ होता है। इसी प्रकाश और विमर्श के वल से उसे विषय का भी प्रकाश और विमर्श होता है।

परमेश्वर भी प्रकाश विमर्शात्मक है। विमर्श कोई प्रकाश से भिन्न वस्तु नहीं है। ये दोनों ओत प्रोत होकर सदा साथ रहते हैं। प्रकाश इस-लिए प्रकाश है क्योंकि उसका स्वभाव विमर्श है।[154] विमर्श की विमर्शता भी प्रकाश के ही कारण है। ये दोनों अभिन्न हैं। परम तत्व के स्वरूप को समझाने के लिए इन दो शब्दों की केवल कल्पना की गयी है। परम तत्व उन्हीं प्रकाश और विमर्श का सामरस्य रूप है। उसी शुद्ध असीम एवं परिपूर्ण परमतत्व को परम शिव, शुद्ध संवित् पर ब्रह्म परमेश्वर, अनुत्तर तत्व आदि नामों से त्रिक दर्शन में कहा जाता है। सब कुछ यही तत्व है। इससे भिन्न कोई तत्व नहीं। सब रूपों में यही आभासित होता है, और

सब आभासों में इसी का विमर्श होता है।

परिपूर्णता का सिद्धान्त

शुद्ध संविदरूप परम शिव सदा सर्वत्र समस्त अवस्थाओं में परिपूर्ण ही रहता है। वह कभी घटता बढ़ता नहीं है, न कभी अशुद्ध होता है। देशकृत, कलाकृत और आकारकृत कोई संकोच भी वहां सम्भव नहीं है। जड़ जगत् और चेतन जीवों के रूप में वह संविदरूप परमशिव ही परिवर्तित होकर फैल गया है। परमार्थ अवस्था में तो वह विश्वोतीर्ण है किन्तु व्यवहार दशा में वही विश्वमय हो गया है। किन्तु विश्वोतीर्ण और विश्यमय इन दोनों अवस्थाओं में उसकी परिपूर्णता में कोई अन्तर नहीं आता। वह परिपूर्ण ही रहता है।

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते।
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्ण मेवावशिष्यते।

इस श्रुति का यही अभिप्राय है। परम तत्व एक असीम और अखण्ड तत्व है। प्रमाता, प्रमेय और प्रमाण के रूप में वही विद्यमान है। यह सब प्रपञ्च उसी में रहता है उसी में क्रिया करता है और उसी में लय को प्राप्त करता है। रहना, करना और लय भी वस्तुतः वही है। यह संसार भी संविद्रूप है, और संविदरूप शिव में ही रहता है, क्योंकि अवभासन चेतना का स्वभाव है, अचेतन का नही। अत जड़ जगत् भी संविद्रूप ही हुआ। यद्यपि हम अज्ञानमलावृत प्राणियों को इसका भान नहीं होता। प्रभु ही अपनी इच्छा से निज रूप को जगद्रूप में अवभासित करता है। यही बात उत्पलाचार्य ने ईश्वर प्रत्यभिज्ञा में कही है :

तदेवं व्यवहारे पि प्रभुर्देहादिमा विशन्।
भान्तमेवान्तरर्थोघामिच्छया भासयेद् बहिः।।

इस बात को महामनीषी शैव दार्शनिक बी० एन० पंडित ने दूध के दृष्टान्त से बड़ी सुन्दर रीति से स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार दूध में मक्खन, मलाई, पनीर, घी आदि रहते है। वैसे ही यह संसार भी परम शिव में रहता है। ये वस्तुएं दूध में अपने अपने व्यक्तिगत रूप में अलग अलग नहीं रहती हैं अपितु दूध की बनी हुई एक मात्र दूध की ही दशा में वहां रहती हैं। उसी तरह से सारे का सारा संसार उस शुद्ध संवित् में संवित् बना हुआ ही संवित् ही के रूप में सदैव रहता है। इस तरह से वह परा अनुत्तर संवित् परिपूर्ण है।[155]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि परम तत्व एक परिपूर्ण शुद्ध और असीम तत्व है। वह सदा परिपूर्ण ही रहता है सृष्टिकाल में भी और

संहार काल में भी। यद्यपि शंकर वेदान्ती भी पर ब्रह्म को परिपूर्ण विभु असीम और अखण्ड तत्व के रूप में स्वीकारा करते हैं किन्तु उनके मत में जगत् को सत्य नहीं माना गया है। वहां जगत परब्रह्म स्वरुप न होकर अविद्या कल्पित मिथ्या तत्व स्वीकृत किया गया है। किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार व्यावहारिक सत्ता के रूप में जगत् भी साक्षात् परम शिव ही है। वह तो जगत् को स्वेच्छा से भिन्न रूप में प्रकट करता है।[156] जगत् भी परम शिव के समान सत् और संविद् रूप और परिपूर्ण है। इस प्रकार परम शिव परिपूर्ण माना जाता है।

सत्कार्यवाद

जगत् की सत्ता के सन्दर्भ में त्रिक दर्शन सत्कार्यवादी है। सत्कार्य-वाद का अर्थ है कि यह समस्त संसार अभिव्यक्ति से पूर्व भी सत् था और तिरोभाव के अनन्तर भी सत् ही रहेगा। इसकी अपूर्व उत्पत्ति नहीं होती और न ही इसका अत्यन्त विनाश होता है। बौद्ध एवं अद्वैतवेदान्यिों के समान वह पुष्प के समान नितान्त असत्य यावन्ध्यापुत्र नहीं हैं। जैसा कि पीछे कहा गया—यह जगत् परम शिव में उसी प्रकार रहता है जैसे घृत आदि दूध में रहते हैं। जगत् को व्यवहार में इसीलिए लाया जाता है क्योंकि वह सत् है। यह पहले भी सत् था तभी तो प्रकाश में आ सका। प्रलय काल में भी यह परम शिव के भीतर संविद्‌रूप में रहेगा। इसका अभाव कभी नहीं होता। यही त्रिक दर्शन का सत्कार्यवाद है। इसी को आचार्य अभिनव गप्त ने इन पंक्तियों में अभिव्यक्त किया है :

एवं च संवृति विकल बुद्धिस्तद्‌वशदुच्यतां संवृतिसत्यत्वम्।
सत्यंत्वस्यैव प्रकारस्तद्. इति द्विचन्द्रवन्नासत्यता॥

ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्श 2/2/4

स्वातन्त्र्य सिद्धान्त

स्वातन्त्र्य सिद्धान्त त्रिक दर्शन का सर्वाधिक महत्वपूर्ण सिद्धान्त है। परम शिव की इच्छा-शक्ति ही स्वातन्त्र्य कहलाती है। स्थूल जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार का मूल कारण परम शिव का यह स्वातन्त्र्य ही है। जगत् परमेश्वर का न तो परिणाम है और न विवर्त, अपितु यह उसका स्वातन्त्र्यरूप है। प्रकाश विमर्शात्मक परम शिव अपने इसी स्वातन्त्र्य के प्रभाव से सदैव सृष्टि संहार आदि के प्रति उन्मुख बना रहता है। परमेश्वर की परमेश्वरता इसी पर अवलम्बित है।

स्वातन्त्र्य-सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि परम शिव स्वयम् ही, अपने से ही, अपने ही अन्दर, स्वयम् अपने को ही अपनी ही शक्ति से इस

विचित्र जड़ चेतन संसार के रूप में अभिव्यक्त करता है। इस कार्य के लिए उसे अपने से भिन्न किसी उपादान या उपकरणों की आवश्यकता नहीं रहती। न तो किसी माया की, न मिथ्यात्व की, न अविवेक की, न जीवों के कर्माशयों की और न किसी प्रकृति की ही अपेक्षा होती है। क्योंकि परम शिव से भिन्न तो कुछ होता ही नहीं। इसलिए सृष्टि संहार आदि में किसी अन्य साधन की अपेक्षा का प्रश्न ही कहाँ उपस्थित होता है? इसके लिए केवल उसका स्वभावभूत स्वातन्त्र्य ही कारण है। परमेश्वर की अपनी शक्तियाँ ही उससे अपृथक् रहती हुई प्रकृति बुद्धि अहंकार आदि विभिन्न तत्वों के रूप में प्रकट हो जाती हैं। सृष्टि संहार आदि कर्मों के लिए यदि परम शिव को किसी अन्य उपादान की अपेक्षा होती तो उसका स्वातन्त्र्य व्याहत हो सकता था, किन्तु ऐसा है नहीं। दृश्यमान सकल अर्थ-समूह शिवात्मक होने के कारण निरूपादान ही है।[157]

सृष्टि और संहार के प्रति परमेश्वर का यह औन्मुखय औपाधिक नहीं है अपितु स्वाभाविक है। यह परमेश्वर की परमेश्वरता है। यही उसका स्वातन्त्र्य है। जब वह अपने शिवत्व को विस्मृत कर जगद्रूप हो जाता है तो वह विश्वमय कहलाता है और जब पुन: अपने स्वरूप को पहचान कर शिव-रूप हो जाता है तो विश्वोतीर्ण कहलाता है। विश्व-मयता और विश्वोत्तीर्णता दोनों ही उसके आत्मभूत स्वभाव हैं।[158] यदि वह सर्वदा एकरूप से ही स्थित रहे तो निश्चित ही उसकी परमेश्वरता की और उसकी संविद्रुपता को हानि होगी। वह घट-तुल्य जड़ और अनीश्वर कहलाने लगेगा।[159]

परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की एक विशेषता यह भी है कि परमेश्वर जब जीव और जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो कर विश्वमय हो जाता है तो उसकी परमेश्वरता व्याहत नहीं हो जाती। वह फिर भी परमेश्वर ही बना रहता है। सृष्टि और संहार आदि क्रियाओं के द्वारा तो उसकी परमेश्वरता और निखर कर सामने आती है। परम शिव की इच्छा से उसके प्रकाश के अन्दर जब विभिन्न शक्तियाँ प्रतिबिम्बित हो जाती हैं तो शिव तत्व से लेकर पृथिवी-तत्व तक की और उसमें निवास करने वाले अनन्त प्रमाताओं प्रमेयों और प्रमाणों को तथा अनन्त देह, लोक और भावों की सृष्टि हो जाती है। यह उसका स्वातन्त्र्य ही है। इसे परमेश्वर का परिणाम या विवर्त नहीं कहना चाहिए। परिणाम मानने पर यह दोष आएगा कि उस अवस्था में परमेश्वर की परमेश्वरता छिप जाएगी। दूध जब दही के रूप में परिणाम को प्राप्त होता है तो दूध कहीं रहता ही नहीं। अंकुर के रूप में

परिणत होकर बीज का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार सांख्यों के परिणामवाद के अनुसार सृष्टिकाल में प्रकृति जब विकृति बन जाती है तो प्रकृति अदृश्य हो जाती है। प्रलय-काल में विकृति जब पुन: प्रकृति में लीन हो जाती है तो विकृति कहीं दिखाई नहीं देती। किन्तु स्वातन्त्र्य सिद्धान्त में यह दोष नहीं आता। सृष्टि और संहार दोनों अवस्थाओं में परम शिव की परम शिवता अदृश्य नहीं होती। अपितु वह और स्फुट रूप में चमक उठती है।

समस्त विश्व परमेश्वर के प्रकाश के भीतर प्रतिबिम्ब रूप में ही अवभासित होता है।[160] इन प्रतिबिम्बों से परमेश्वर की स्वच्छता में कोई अन्तर नहीं आता। उसकी स्वच्छता ज्यों की त्यों रहती है। प्रतिबिम्बों को स्पष्टता से तो बिम्ब की स्वच्छता अधिकाधिक विशद ही होती है। नील पीत आदि के प्रतिबिम्बों से स्फटिक की स्वच्छता ही ज्ञात होती है। इसी प्रकार शुद्ध संवित् में संसार के प्रतिबिम्बित होने से उसकी शुद्धता कम नहीं होती, अपितु उसकी परमेश्वरता और स्फुट होती है। यही तो उसके स्वातन्त्र्य की महिमा है।

लोक-प्रचलित बिम्ब प्रतिबिम्बभाव से परमेश्वर के प्रतिबिम्ब में भेद है। स्फटिक को प्रतिबिम्ब धारण करने के लिए अपने से भिन्न बिम्बों की आवश्यकता होती है। किन्तु शिव के लिए पृथक् बिम्बों की अपेक्षा नहीं होती। वह अपने प्रकाश के भीतर अपनी विमर्शात्मक शक्ति के विविध प्रतिबिम्बों को धारण करता हुआ विश्व का उन्मीलन करता है। स्वातन्त्र्य नाम की परमेश्वर की शक्ति ही उस प्रतिबिम्ब के धारण में हेतु है।[161] उसे अपने से भिन्न किसी भी साधन-सामग्री की आवश्यकता नही पड़ती। यह स्वातन्त्र्य अत्यन्त दुर्घट कार्यों का सम्पादन करने में भी समर्थ है।[162] इसके महात्म्य से जीवत्व, ईश्वरत्व, माया, अविद्या, वासना, कर्माशय, मिथ्याज्ञान, अविवेक, प्रकृति, परमाणु विद्या, विवेक यथार्थ ज्ञान और नैष्कर्म्य आदि सभी कुछ परमेश्वर के शुद्ध प्रकाश में प्रतिबिम्बित हो जाता है।

प्रश्न हो सकता है कि परिपूर्ण शिव सृष्टि संहार आदि कार्यों की ओर उन्मुख क्यों होता है? क्यों वह अपने स्वरूप को भूलकर विश्वमय होता है? क्यों अपनी असीमितता का त्याग कर ससीम समझ बैठता है? क्यों अपने पराद्वैत को विस्मृत कर द्वैतभाव का अवभासन करते हुए भिन्न सा प्रतीत होता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर परमेश्वर के स्वातन्त्र्य को स्वाभाविक कह कर दिया जा चुका है। यह सब करना उसका स्वभाव

है। स्वभाव तो स्वभाव ही होता है। उसे मिटाया नहीं जा सकता। अग्नि उष्ण क्यों होती है? वायु क्यों बहती है? जल नीचे की ओर क्यों बहता है? इन सब प्रश्नों का उत्तर क्या दिया जाए? यही कि इन का स्वभाव ही ऐसा है। वह शिव अपनी उमंग में आकर कभी अपने शिव भाव को भुलाकर जीव बन जाता है और कभी जीव भाव को त्याग कर स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कर पुनः शिव हो जाता है। यह उसका अपरिहार्य स्वभाव है। अब यदि यह प्रश्न किया जाए कि परम शिव का यह स्वभाव क्यों है? तो यह प्रश्न अविवेकपूर्ण है। स्वभाव के विषय में प्रश्न नहीं किया जा सकता। अग्नि में उष्णता न रहे तो उसे अग्नि ही कौन कहे। अपने स्वभाव को छिपाना और पुनः उसका प्रकाशन करना, यह अभिनय यदि परम शिव न करे तो उसे शिव ही कौन कहे? यह स्वभाव भी उसका स्वातन्त्र्य ही है।

स्पन्द सिद्धान्त

परम शिव के चलनात्मक स्वभाव को त्रिक दर्शन में स्पन्द कहा जाता है। "स्पन्द" शब्द का साधारण अर्थ है गति, हलचल या धड़कन। यह बात अनेक स्थानों पर कही जा चुकी है कि परमेश्वर प्रकाश विमर्शात्मक है। प्रकाश और विमर्श दोनों उसके स्वभाव हैं। वास्तव में तो परमेश्वर का एक ही स्वभाव है—परमेश्वरता। प्रकाश और विमर्श उसके दो पहलू हैं। प्रकाश उसका अविचल पहलू है जिसके कारण उसे शिव कहा जाता है। विमर्श उसका चलनात्मक पहलू है जिसके द्वारा वह सृष्टि-क्रिया में प्रवृत होता है। इस स्वभाव के कारण वह शक्ति कहलाता है। परम शिव एक ही साथ स्थिर भी है और क्रियात्मक भी। प्रशान्त भी है और चंचल भी। प्रकाश उसका चैतन्य है और विमर्श उस चैतन्य की हलचल है। दूसरे शब्दों में प्रकाश और विमर्श को चित् और आनन्द भी कहा जाता है।

चित् ज्ञानात्मक है और आनन्द क्रियात्मक होता है। चेतना में ज्ञान क्रियात्मक हलचल सदा होती रहती है। आनन्द कभी शान्त नहीं रहा करता। लौकिक आनन्दों में भी ऐसा ही हुआ करता है। योगी के प्रशान्त हृदय में भी आनन्द की तरंगे उठा करती हैं। इसी आनन्द के कारण परमेश्वर सदैव गतिशील रहता है। यदि आनन्द गतिशील न हो तो परम शिव पाषाणतुल्य और गगन तुल्य जड़ हो जाए। शांकर वेदान्त में परब्रह्म को नितान्त प्रशान्त और गतिशून्य माना गया है, किन्तु त्रिक दर्शन में परम शिव को प्रशान्त भी माना गया है और क्रियाशील भी। यह क्रियाशीलता ही तो उसे स्वरूप की अभिव्यक्ति में प्रवृत करती है। चेतना की

यह हलचल या क्रियाशीलता त्रिक दर्शन में "स्पन्द" नाम से कही गयी है। परमेश्वर के स्वातन्त्र्यमय विलास का बीज यह स्पन्द (Flutter) ही है।

परम शिव तो मानों चेतना का एक समुद्र है। उसमें आनन्द का स्पन्दन सदैव होता रहता है। आनन्द स्पन्द में जो तरंगे उठती हैं वे एक इच्छा का रूप धारण कर लेती हैं। परमेश्वर की यह इच्छा किसी बाह्य वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। यह तो केवल अपने स्वभाव को बाहर प्रकट करने की इच्छा होती है। इस इच्छा के उत्पन्न होते ही वह जीव और जगद्रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। यह उस इच्छा का प्रथम चरण है। द्वितीय चरण में वह जीव और जगत् के रूप में भुलाए हुए अपने स्वरूप को पुनः पहचान लेता है। जीव रूप में वह अपूर्ण, ससीम, अशुद्ध और आनन्दहीन प्रतीत होता था किन्तु वास्तव में तो वह परिपूर्ण असीम शुद्ध संविदरूप और आनन्दमय है। द्वितीय चरण में वह अपने इसी वास्तविक रूप को पहचान कर कृतकृत्यता का अनुभव करता है। अपने वास्तविक स्वरूप को भूलने और पहचानने की यह क्रीड़ा परमेश्वर का स्वभाव है। परम शिव का यह क्रियात्मक स्वभाव ही त्रिक दर्शन में स्पन्द कहा जाता है। इसी में अनन्त वैचित्र्यमय संसार की अभिव्यक्ति और तिरोधान का रहस्य छिपा हुआ है।

यहाँ यह बात विशेष रूप से ध्यान दिए जाने योग्य है कि इस गत्यात्मक स्पन्द से परमशिव में कोई परिणाम या विकृति नहीं आती। यह स्पन्द लौकिक पदार्थों की चलनात्मक गति से सर्वथा भिन्न है। क्षुधा पिपासा निद्रा आदि प्राण सम्बन्धिनी गति यहां अभिप्रेत नहीं है। सुख दुःख जैसी मानस गति भी यहां मान्य नहीं है। ये सब गतियाँ तो द्वैतभाव को सिद्ध करने वाली हैं। किन्तु शिव तो परमद्वैत है। स्पन्द तो शिव की शक्तिरूपा गति है, यह प्रकाश की विमर्शात्मक गति है। चेतना की आनन्दात्मक गति है। इससे परमेश्वर में विकृति नहीं होती अपूर्ण और सीमित वस्तु में ही गति से विकार आता है। परमेश्वर तो पूर्ण स्वभाव है। उसमें विकार सम्भव नहीं है। विकार का यह स्वभाव है कि वह वस्तु में परिवर्तन करके उसे अन्यथा कर देता है। वह पहले रूप को छोड़कर एक दूसरा नया रूप धारण कर लेती है। जैसे दूध में विकृति आने पर वह दधि का रूप धारण कर लेता है। किन्तु विचारणीय बात यह है कि परमेश्वर में जब विकृति आयेगी तो वह नया रूप क्या धारण करेगा? सभी कुछ तो उसके रूप हैं। संसार के विचित्र पदार्थों में उसी का तो रूप है। जो भी

उसमें परिवर्तन होगा वह उससे भिन्न कहाँ होगा ? उससे भिन्न तो कुछ है ही नहीं।

विकृति के भय से ही शांकर वेदान्त में ब्रह्म को स्पन्दहीन माना गया है। किन्तु यह उनका प्रमाद है। त्रिक दर्शन तो सर्वाधिक पराद्वैत-वादी दर्शन है। शांकर वेदान्ती जीव और जगत् को अविद्या-कल्पित कह कर पर-ब्रह्म से उनका भेद मानते हैं। किन्तु त्रिक दर्शन में तो जीव और जगत् भी परम शिव ही हैं। यह उसका विश्वमय रूप है। इस कारण द्वैत की और विकृति की गन्ध भी यहां नहीं है।

स्पन्द को स्वातन्त्र्य की एक छलकन समझिए। परम शिव आनन्द का एक समुद्र है जो सर्वथा परिपूर्ण है। उसमें जब स्पन्दन या छलकन होती है तो आनन्द की जो बूंदे इधर उधर बिखरती हैं तो मानों वह अनन्त लोकों और ब्रह्माण्डों के रूप में परिवर्तित हो जाती हैं। आचार्य उत्पल ने इस स्पन्द को परमेष्ठी का स्फुरणरूप हृदय कहा है।[163]

परम शिव के अचल स्वभाव और स्पन्दात्मक स्वभाव में आघात रूप से विरोध सा प्रतिभासित होता है। किन्तु परमार्थतः विरोध यहाँ दूषण नहीं अपितु भूषण बन गया है। त्रिक शास्त्र में पारदृश्वा ही इसे सम्यक्तया समझते हैं। स्पन्दन अचल शिव का मानों चल स्वभाव है। परमशिव अचल तो है ही किन्तु वह स्वातन्त्र्य की महिमा से गतिशील भी प्रतीत होता है। शुद्ध संवित् रूप में वह अचल है किन्तु प्रमेयों की सृष्टि करता हुआ मानों विचलित सा हो जाता है। यह जो विरोध सा प्रतीत होता है, वास्तव में वह विरोध और प्रतीति भी तो शिव ही है।[16]

शिवाद्वयवाद

त्रिक दर्शन की आध्यात्मिक दृष्टि पूर्ण अद्वैतवाद की है। अद्वैतवाद के आलोक में अपने निःश्रेयस के मार्ग पर अग्रसर होने वाले जिज्ञासु साधकों को यह बात अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए कि त्रिक दर्शन का यह अद्वैतवाद अन्य विभिन्न दर्शन धाराओं से सर्वथा विशिष्ट प्रकार का है। त्रिक दृष्टि में परम शिव ही एक तत्व (Supreme Absolute) है। यहां शिव निर्विशेष नहीं अपितु दिव्य शक्तियों से विशिष्ट है। ससार असत्य या मिथ्या नहीं, पूर्ण यथार्थ है। बन्धन और मोक्ष भी शिव है। संकोच और विकास भी शिव हैं। विद्या और अविद्या भी शिव हैं। एक तुच्छ से तुच्छ जड़ पदार्थ भी उतनी ही मात्रा में शिव है जितनी मात्रा में परम शिव। यहाँ कुछ भी अशिव नहीं।[165]

शैवी साधना के निरन्तर अभ्यास से सिद्ध योगियों को एक ऐसी

उन्नत चमत्कारपूर्ण दृष्टि प्राप्त होती है जिससे प्रत्येक वस्तु में शिव के ही दर्शन करते हैं। तब न कहीं भेद दिखाई देता है और न भेद का त्याग। तब घट भी शिव हो जाता है, जीव भी परम शिव के ही रूप में देखा जाता है।[166] आचार्य अभिनव गुप्त ने इसे पराद्वैत की संज्ञा दी है [167]

द्वैत. द्वैताद्वेत, अद्वैत

सिद्धान्त की दृष्टि से शैवागमों को तीन भागों में विभक्त किया जा सकता है—द्वैत प्रतिपादक, द्वैताद्वैत प्रतिपादक और अद्वैत प्रतिपादक। शैवाचार्यों की मान्यता है कि स्वयम् भगवान् शिव ने अधिकारिभेद को दृष्टि में रखते हुए उक्त त्रिविध शैवाशास्त्र की भूलोक में अवतारणा की। उन्होंने सर्वोत्तम अधिकारियों के लिए अद्वैतशास्त्र का मध्यम अधिकारियों के द्वैताद्वैत परक शास्त्र का और कोटि के अधिकारसों को दृष्टि में रखते हुए द्वैतपरक शास्त्र का उपदेश किया।

पशुपत शैव द्वैतवादी हैं। शैव सिद्धान्त और वीर शैव द्वैताद्वैत वादी हैं तथा त्रिक या प्रत्यभिज्ञामार्तानुयायी शैव अग्रैतवाद के पक्षपाती हैं।

भगवान् शिव की इच्छा से उक्त त्रिविध सिद्धान्तों की स्थापना के लिए तीन सिद्ध पुरुष भूलोक में प्रकट हुए—त्र्यम्बक, अमर्दक और श्रीनाथ। त्र्यम्बक ने अद्वेत शैव का, श्रीनाथ ने द्वैताद्वैत का और अमर्दक ने द्वैत-शैव की प्रतिष्ठापना की।[168] आचार्य अभिनव गुप्त के कथनानुसार त्र्यम्बकादित्य ने अद्वैत शैव के एक और सम्प्रदाय का प्रवर्तन अपनी पुत्री के द्वारा कराया था। इस सम्प्रदाय को पूर्ण विकास नहीं मिल पाया। सम्भवत इसीलिए इसे अर्धत्र्यम्बक मठिका कहा जाता है।[169] मठिका शब्द सम्प्रदायवाची है। इस प्रकार शैव दर्शन की साढ़े तीन मठिकाएं काश्मीर में प्रसिद्ध हैं। क्योंकि चतुर्थ शाखा अधूरी रह गयी थी। इसलिए इन्हें अर्धचतस्त्र मठिका कहा जाता है :

श्री सन्ततिस्त्रयम्बकाख्या तदर्धामर्दसंज्ञित।
इत्थमर्धं चतस्रोऽत्रऽमठिका शांकरे क्रमे :।

तन्त्रालोक 4/266

अतश्चार्थं चतस्रोऽत्र मठिका सन्ततिक्रमात्।
शिष्य प्रशिष्यै विस्तीर्णाः शतशाखं व्यवस्थितै: ॥

तन्त्रलोक 36/14

आजकल काश्मीर में केवल त्र्यम्बक शाखा ही प्रचलित है। शष ढाई शाखाएं नाम शेष रह गयी हैं। आचार्य वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पल और अभिनव गुप्त इसी त्र्यम्बक शाखा के विद्वान् थे।

काश्मीर शैव दर्शन में द्वैत से अभिप्राय उस सिद्धान्त से है जो शिव और शक्ति में भेद मानते हैं तथा जगत्प्रपन्च को शिव से प्रथक् स्वीकार करते हैं। द्वैताद्वैत वादी शिव और शक्ति में तथा शिव और जगत्प्रपञ्च में किंचित् भेद और किंचित् अभेद दोनों ही स्वीकार करते हैं।

अद्वैतवादी शैव दर्शन में शिव और शक्ति में पूर्ण अभेद माना जाता है। वह जगत् भी शिव से पूर्णतया अभिन्न माना जाता है। प्रत्यभिज्ञा और स्पन्द इसके प्रमुख तत्व हैं। इसी अद्वैतवादी शैव दर्शन को प्रत्यभिज्ञा शास्त्र, स्पन्द शास्त्र, त्रिक दर्शन, षडर्धशास्त्र और षडर्ध क्रम विज्ञान आदि नामों से अभिहित किया जाता है।

उपर्युक्त द्वैत, अद्वैत एवं द्वैताद्वैत प्रतिपादक शिवागमों में से किसी की उत्कृष्टता या अवरता नहीं समझनी चाहिए। सभी शिव से उदभूत हुए हैं। अत सभी का प्रमाण्य है। वस्तुत: एक ही आगम है—शैवागम। वैष्ण-वागम हो या बौद्धागम, वे भी शैवागम से ही प्रादुभूर्त हुए हैं।[170] इसीलिए आचार्य अभिनव गुप्त ने सांख्य योग और पाञ्चरात्र की भी निन्दा करने का निषेध किया है।[171]

एक आगम से जब विभिन्न सिद्धान्तों का प्रतिपादन करने वाले आगमों का विकास होता है तो अवस्तुदर्शी लोग प्राय: मोहवश भ्रान्त हो जाते हैं।[172] किन्तु भ्रान्ति निमूल ही है। विषयभेद और अधिकारी भेद से आगमभेद हो जाया करता है। उनके प्रमाण्य में किंचित् भी संशय नहीं करना चाहिए।[173]

त्रिक दर्शन पर अद्वैत वेदान्त का प्रभाव नहीं

काल क्रम की दृष्टि से आचार्य शंकर का निर्विशेषाद्वैत त्रिक दर्शन के शिवाद्वैतवाद से किंचित् प्राचीन है। आचार्य शंकर का निर्विशेषाद्वैत ईसा की अष्टम शताब्दी और नवम शताब्दी में पूर्णतया परिपुष्ट होकर फैल चुका था, जबकि शिवाद्वैतवाद का विकास नवम शताब्दी के उत्तरार्ध से प्रारम्भ हुआ था। दोनों दर्शन ही अद्वैतवाद का समर्थन करते हैं। इससे कुछ लोगों के मन में यह धारणा बन गयी है कि "काश्मीर के शिवादय बाद का आधार शंकर का निर्विशेषाद्वैतवाद ही है। थोड़े से परिवर्तन के साथ शंकराचार्य का अद्वैतवाद ही काश्मीर का शिवाद्वयवाद है।

वस्तुत: उक्त कथन वाचारम्भण मात्र ही है। विचार करने पर यह मत विशीर्ण हो जाता है। त्रिक दर्शन के शिवाद्वयवाद में अद्वैतवेदान्त की गन्ध भी नहीं है। न ही इसके विकास में अद्धैतवाद की कोई भूमिका ही रही है। ये दोनों स्वतन्त्र धाराएं हैं जो भिन्न देश और भिन्न काल में

प्रादुर्भूत और विकसित हुई हैं। 'शिवाद्वैतवाद काश्मीर में ही प्रादुर्भूत और विकसित हुआ है। 'शिवाद्वैतवाद काश्मीर में ही प्रादुर्भूत और विकसित हुआ' जबकि शांकर वेदान्त का आविर्भाव और विकास दक्षिण भारत में हुआ। अब तो यह समस्त भारत में फैला हुआ है। यदि शांकर वेदान्त का प्रभाव शिवाद्वयवाद पर किसी भी रूप में होता तो आचार्य वसुगुप्त, भट्ट कल्लट, आचार्य सोमानन्द और उत्पलदेव अपने ग्रन्थों में उसके सिद्धान्तों का उल्लेख अवश्य करते। केवल अद्वैत शब्द के साम्य से और पूर्ववर्ती होने मात्र से ही तो शांकर वेदान्त का प्रभाव शिवाद्वैतवाद पर नहीं माना जा सकता। त्रिक दर्शन के विकास में मुख्य रूप से पांच आचार्यों का योगदान रहा है—वसुगुप्त, भट्ट कल्लट, सोमानन्द उत्पलदेव और अभिनव गुप्त। आचार्य वसुगुप्त, भट्ट कल्लट और सोमानन्द ने शांकर वेदान्त की चर्चा तक अपनी रचनाओं में नहीं की। उत्पलदेव ने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में शांकर वेदान्त के चिदेकत्ववाद की असमीचीनता व्यक्त की है। उन्होंने कहा है कि चिदेकत्ववाद को यदि वास्तविक मान भी लिया जाए तो भी उसमें चिकीर्षा लक्षण रूप परामर्श के आभाव में क्रिया सम्भव नहीं है जो कि सृष्टि के लिए परम आवश्यक है।[174] इस प्रकार विरोधी दृष्टिकोण के होते हुए त्रिक दर्शन के शिवाद्वयवाद पर शांकर वेदान्त का प्रभाव कैसे माना जा सकता है?

आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने ग्रन्थों में आचार्य शंकर के सिद्धान्तों की चर्चा अवश्य की है किन्तु सर्वत्र खण्डन करने के लिए और उनकी असमीचीनता प्रतिपादित करने के लिए ही की है। वे उनसे प्रभावित कहीं भी नहीं हुए।

ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी में आचार्य अभिनव गुप्त, आचार्य शंकर की अविद्या का खण्डन करते हुए कहते हैं—"यदि चिद्रूप ब्रह्म ही एक तत्व है और भेद अविद्या के कारण ही प्रतीत होता है" यह कहते हो तो यह बताइये कि यह अविद्या का उपप्लव किसका है? ब्रह्म का या जीवादि का? ब्रह्म का तो हो नहीं सकता, क्योंकि वह ज्ञानात्मक है। ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म अविद्या से सम्बन्ध कैसे रख सकता है। ब्रह्म के अतिरिक्त जीवादि शांकर मत में कुछ होता ही नहीं है जो अविद्या का आधार बने।[175]

शांकर अद्वैतवाद में मोक्ष-प्राप्ति के लिए शम दम को अनिवार्य माना गया है। मन के निग्रह को दम कहा जाता है। शांकर वेदान्त में मन का निग्रह बलपूर्वक ही बताया गया है।[176] आचार्य अभिनव गुप्त को यह सिद्धान्त भी स्वीकार्य नहीं। वह कहते हैं कि ज्यों ज्यों मन और बहिरि-

न्द्रियों को अनादरपूर्वक बलात् दबाया जाता है त्यों त्यों उनमें और विकृति आती है[177] जिससे उद्देश्य के प्रति अरुचि उत्पन्न होती है। अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियों का वशीकरण तो आवश्क है किन्तु बलात् नही अपितु लक्ष्य के प्रति श्रदा और आस्था उत्पन्न करके। यह विरोध भी त्रिक दर्शन और शांकर वेदान्त को निरपेक्ष सिद्ध कर रहा है।

इस प्रकार त्रिक दर्शन के किसी भी आचार्य ने शांकर अद्वैत मत का समर्थन नही किया गया। आचार्य शांकर की आचार मीमांसा भी किसी शैवाचार्य को मान्य नहीं हुई। दोनों धाराओं का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यदि शंकर-वेदान्त का काश्मीर शैव दर्शन और त्रिक दर्शन पर किसी प्रकार का प्रभाव नहीं है और न ही किसी प्रकार का सम्बन्ध है तो शंकर वेदान्त काश्मीरी ब्राह्मणों में लोकप्रिय क्यों है ? इस प्रश्न के समाधान के लिए श्री बी० एन० पण्डित ने सम्भावना की है कि—'पन्द्रहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में काश्मीर के अधिकांश ब्राह्मण सिकन्दर बुतशिकन नामक सुलतान के आंतक से पीड़ित होकर काश्मीर से भाग गये और उसी शताब्दी के उत्तरार्ध में सुलतान जैनुलाबदीन के प्रोत्साहन से पुनः काश्मीर लौट आए। जसा प्रतीत होता है कि भारत के अन्य प्रान्तों से लौट आये ये काश्मीरी ब्राह्मण ही शांकर वेदान्त की लोकप्रियता को अपने साथ काश्मीर में ले आये।"(काश्मीर शैव दर्शन—पृ०20)

इस प्रकार निर्विवाद और निःसंशय रूप से यह कहा जा सकता है कि काश्मीर शैव दर्शन और त्रिक दर्शन पर शांकर अद्वैत-वेदान्त का प्रभाव कथमपि सिद्ध नहीं किया जा सकता।

संदर्भ सूची

1. कैलासाद्री भ्रमन्देवो मूत्यो श्रीकण्ठ रुपया।
   अनुग्रहाया वतीर्णश्चोदयामास भूतले ॥
   मुनि दुर्वाससं नाम भगवानूर्ध्व रेतसम्।
   नोच्छिद्यते यथा शास्त्रं रहस्यं कुरू तादृशम ॥
   तंत्रालोक श्लोक 1/8/विवेक
2. ततः स भगवान् देवादादेशं प्राप्य यत्नतः।
   ससर्ज मानसं पुत्रं त्रयम्बकादित्य नामकम् ॥ तंत्रालोक 1/8/विवेक
3. शिव दृष्टि 7/114-120

4. श्री सोमानन्द बोध श्रीमदुत्पल विनि:सृता: ।
जयन्ति संविदामोह सन्दर्भा: दिवप्रसर्पिण: ॥ तंत्रालोक 1/10
5. भारतीय दर्शन—ब० उ० पृ० 471
6. काश्मीर शैव दर्शन—पृ० 26
7. वैष्णव शैव और अन्य धार्मिक मत—पृ० 149
8. यो नारायण इत्यभूच्छ्रुत निधि: श्री कान्यकुब्जे द्विज:
तद्वंशे स्वगुण प्रकर्ष खचितो मुक्ताकणाख्योऽभवत् ।
तस्यैषा सदृशानुजेन रचिता रामेण विद्वज्जन
श्लाघ्यत्वात् सफलश्रमेण भगवद्गीता पदार्थप्रदा ॥
भगवद् गीता विवरण
9. कृतिस्तत्र भवतो महामहेश्वराचार्य शिरोमणि—राजानक—श्री मदुत्पल देव पाद—पदमानुजीविनो राजानक श्री रामकण्ठस्य—वहीं
10. अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्री कल्लटादय: ।
अवन्तिवर्मण: काले सिद्धा भूमिमवातरन् । राजतरंगिणी—5/66
11. न शिव: शक्तिरहितो न शक्तिर्व्यतिरेकिणी ।
शिव: शक्तस्तथा भावान् इच्छया कर्तुमीहते ।
शक्ति शक्तिमतो र्भेद: शैवे जातु न वर्ण्यते ॥ शिवदृष्टि 3/2/3
12. His family name seems to have been rather Utpalakar as his names of the father and the son are Udayakar and Vibhramakar—Introduction to the Ishvarpratyavivriti Vimarshini—M.S. Kaul.
13. इति प्रकाटितो मया सुघट एष मार्गो नव: ।
गुरुभिरुच्यते स्म शिव दृष्टि शास्त्रे यथा ॥ ई० प्र० का०
14. शब्देन चेत्तदेवं हि सर्वसंसारनाशता ।
असत्य व्यवहारेण तादृगेव जगद्भवेत् ॥ शिव दृष्टि 4/74
15. श्री सोमानन्द बोध श्रीमदुत्पल विनि:सृता: ।
जयन्ति संविदामोद सन्दर्भा दिव्य प्रसर्विण. ॥ तं० आ० 10
16. तदास्वाद भरावेश बृंहितां मतिषदपदीम् ।
गुरो र्लक्ष्मण गुप्तस्य नाद सम्मोहिनीं नुम: ॥ तं० आ० 11
17. जयताज्जगदुद्धृतिक्षमोऽसौ, भगवत्या सह शम्भुनाथ एक. ।
यदुदीरित शासनांशुभिर्मे प्रकटोऽयं गहनोऽपि शास्त्रामार्ग: ॥
तं० आ० 13
18. इत्यागमं सकल शास्त्र महाविधानाच्छ्री शम्भुनाथ वदनादधिगम्य सम्यक् ।

शास्त्रे रहस्य रस सन्तति सुन्दरेऽस्मिन् गम्भीर वाचि रचिता विवृतिर्मयेयम ।। —विवेक (जयरथो) 13

19. इति नवति तमेऽस्मिन् वत्सरेऽन्त्ये युगांशे
तिथि शशि जलधिस्थे मार्गशीर्षावसाने ।

20. अत्रिगुप्त कुलोत्पन्न शरीराधार संगतः ।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञाया मुपोद्धात्रं व्यापवृणोत्—ईश्वर प्र०वि०वि० 1/1

21. वही ।

22. तस्मिन् कुबेरपुर चारू सितांशु मौलि साम्मुख्य दर्शन विरुद्ध पवित्र भावे ।
वैतस्तरोधसि निवासममुष्य चक्रे राजा द्विजस्य परि भूमि सम्पत् ।
—तंत्रालोक 37/52

23. तुर्याख्यसन्तति महोदधि पूर्ण चन्द्रः
श्री सोमत सकलवित् किल शम्भुनाथः । तंत्रालोक 37/61

24. आमर्दसन्तति महार्णव कर्णधारः
सद्देशिकैरकवरात्मज वामनाथः— तंत्रालोक 37/60

25. श्रीमदुज्जटोट्भटादिनाना गुरु परिपाटी सन्तति यत्प्रदसादित महिमाभिरस्माभिरेतत् प्रदर्शितम्—तंत्रालोक विवेक खण्ड 3, पृ० 192

26. तस्मात् कर्मेन्द्रियाण्याहुस्त्वग्वद् व्याप्तृणि मुख्यत ।
तत्स्थाने वृतिमन्तीति मतंगे गुरुवो मम ।। तंत्रालोक 9/260, 61

27. श्रीमल्लक्ष्मण गुप्त दर्शितपथः श्री प्रत्यभिज्ञाविधौ—
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी, खण्ड 1, पृ० 1

28. श्रीनाथ सन्तति महाम्बर धर्म कान्तिः
श्री भूतिराज तलय. स्वपितृप्रसादः—तंत्रालोक 37/60

29. पित्रा स शब्द गहने कृत सम्प्रवेश स्तर्कार्णवोर्मि पृषतामल पूत चितः ।
साहित्य सान्द्र रसभोग परो महेश भक्त्या स्वयं ग्रहण दुर्मदया गृहीत ।।
तंत्रालोक 37/58

30. (क) त्रैयम्बक प्रसर सागर शापि सोमानन्दात्मजोत्पल ज लक्ष्मण गुप्तनाथ तंत्रालोक 37/61
(ख) अन्येऽपि धर्म शिव वामनकोद्भट श्री भूतेशभरस्कर मुख प्रमुखा महान्तः । तंत्रालोक 37/62

31. दृब्धं महादेव गिरौ महेश स्वप्नो पदिष्टाच्छिव सूत्र सिन्धौः ।
स्पन्दा यद वसुगुप्त पादैः श्री कल्लटस्तत्प्रकटी चकार ।। स्पन्दकारिका

3?. श्री मन्महादेव गिरौ वसुगुप्त गुरोः पुरा :
सिद्धादेशा त प्रादुरासन शिव सूत्राणि तस्य ह ॥
शिव सूत्र वार्तिक 1/3

33. अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्री कल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मणः काले सिद्धा भूमिमवातरन् ॥ रा० तं० 5/66

34. Abhinava Gupta—by K.C. Pandey, page 262.

35. इह मम गतस्तन्त्रालोके विवेचयतो यतः ।
निरवधि मभिप्रेतोत्साहः स एव निमित्तताम् ॥

36. श्री सुभट दत्त आसीदस्य गुरुयों ममाप्यकृत दीक्षाम्

37. 38. 39. श्री श्रृंगाररथाद् वाप्य कृतिनो जन्मा न वध क्रमं
श्री मच्छंखधरात्परं परिचयं विद्यासु सर्वास्वपि ।
श्री कल्याणतनो शिवादधिगमं सर्वागमानामपि—तं० आ० 1/133

40. श्रीमान् यशस्कर नृपः सचिवं समस्त धर्म्यं तिथतिष्वकृत पूर्णमनो-
रथाख्यम् अभिनव गुप्त पृ० 785

41. अभिनव गुप्त पृ० 262

42. जयरथ जयद्रथाख्यौ सकलजनानन्द को समगुणर्द्धी ।
ज्येष्ठो नयोरकार्षीत् तन्त्रालोके विवेकमिमम् । अभिनव गुप्त पृ० 785

43. रामकण्ठ कृतालोक निर्मलीकृत चेतसा ।
रत्नत्रय परीक्षेयं कृता श्री कण्ठ सरिणा—रत्न चव 107

44. श्रीमतः क्षेमराजस्य सद् गुर्वाम्नाय शालिनः ।
साक्षात्कृत महेशस्य तस्यान्ते वासिना मया ॥
श्री वितस्ता पुरीधाम्ना विरक्तेन तपस्विना ।
विवृतिर्योग नाम्नेयं पूर्णाद्वय मयी कृता ॥ —परमार्थसार टीका 198

45. यः कण्ठ धौम्यायन ता प्रसिद्ध विशुद्ध राजानक वंश जातः ।
स भास्कराख्यो द्विज एष टीकां करोति शास्त्रेऽभिनवोदितेऽस्मिन् ॥
भास्करी 1/2

46. श्रीमद् राजानक वैदूर्यकण्ठात्मज श्रीमद्वतार कण्ठ पुत्रो भास्कर
कण्ठो हं……कौल रनोत्तमेभ्यश्च विद्योपदेशमासाद्य—भास्करी 1/2

47. बोलास्ते सततोत्सवा जनपदाः श्लाघ्यो गुणैर्माधवो
—महार्थ मंजरी

48. नमो निखिल मालिन्य विलापन पटीयसे ।
महाप्रकाशं पादाब्ज पराग परमार्णवे ॥ महार्थ मंजरी ।

49. मधुराजकुमाराणां महाहन्ताधिरोहिणाम् ।

पश्चिमेन तदालोक ध्वस्त पश्चिम जन्मना ।। शिव सूत्र वार्तिक 45

50. महामाहेश्वर श्रीमत्क्षेमराजमुखोदगताम् ।
अनुसृत्यैव सद्वृति मन्जसा क्रियते मया ।। शिव सूत्र वार्तिक 1/2

51. अहं रूद्रे भिवर्सुभिश्चराम्यहमादित्यैरूत विश्व दैवै ।
अहं मित्रावरूणोभा विभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमशिव नोभा ।?
अहं सोममहिनसं बिभर्म्यह त्वष्टारमुत पूषणं भगम् ।
अहं दधामि द्रविगं हविष्मते सुप्राव्येयजमानाय सुन्वते ।
अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम् ।
ऋग्वेद वागाम्भृणी सूक्त 10/125

52. असौ वाव लोको गौतमाग्निस्तस्यादित्य एव समिदित्यादि—छा० 5/4/1

53. पर्जन्यो वाव गौतमाग्नि: छा० 5/5/1

54. पृथिवी वाव गौतमाग्नि:—छा० 5/6/1

55. पुरुषो वाव गौतमाग्नि:—छा० 5/7/1

56. योषा वाव गौमताग्नि.—छा० 5/8/1

57. ओं असौ वा आदित्यो देवमधु तस्य द्यौरेव तिरश्चीन वंशोऽन्तरिक्षमपूथो मरीचय: पुत्रा:—छा० 3/1/1

58. अथ ये स्योर्ध्वा रश्मयस्ता एवास्योर्ध्वा मधुनाड्यो गुह्या एवादेशा मधुकृतो ब्रह्मैव पुष्पं ता अमृता आप:—छा० 5/5/1

59. यद्यप्येतच्छुष्काय स्थाणवे ब्रूयाज्जयेरन्नेवास्मिन शाखा: प्ररोहेंयु पलाशानीति—छा० 5/2/3

60. अथ यदि महज्जिगमिषेत्`······मन्थे सम्पातमवनयेत्—छा० 5/2/4

61. अथ प्रतिसृप्यान्जलो मन्थमाधाय जपति०—छा० 5/2/6

62. अथ खल्वेतयर्चा पच्छ आचामति०—छा० 5।2।7

63. स यदि स्त्रियं पश्येत् समृदं कर्मेति विद्यात्—छा० 5/2/7

64. मनुस्मृति—कुलूक भट्ट की टीका 2/1

65. तन्त्राणां धर्मशास्त्रेऽन्तर्भाव:—वरिवस्या रहस्य प्रकाशं—भास्कर

66. परमार्थतस्तु तन्त्राणां स्मृतित्वाऽक्षिशेषेऽपि मन्त्रादि स्मृतीनां कर्मकाण्डशेषत्वं तन्त्राणां ब्रह्मकाण्ड शेषत्वमिति सिद्धान्तात्—सौभाग्य भास्कर – भास्कर

67. वयं तु वेद शिवागमयो भेदं न पश्याम: । वेदोऽपि शिवागम इति व्यवहारो युक्त: तस्य तत्कर्तृत्वात् । अत: शिवगमो द्विविध स्त्रैवर्णिक वेदागमौ—ब्र० सू० श्रीकण्ठभाष्य 2/2/28

68. (क) का० शै० द० बी० एन० पण्डित, पृ० 5
(ख) श्री मच्छीकण्ठ नाथाज्ञा वशात् सिद्धा अवातरन् ।
त्रयम्बकामर्दकाभिख्य श्रीनाथा अद्वये द्वये ।
द्वयाद्वये च निपुणाः क्रमेण शिव शासने । तंत्रालोक 36/13

69. Abhinava Gupta—page 83.

70. स० द० सं०—उमाशंकर ऋषि—पृ० 350

71. बी० एन० पण्डित—का० शै० द०, पृ० 6

72. का० शै० द०, पृष्ठ 6

73. सा जयति शक्तिराधा निज सुखमयनित्य निरूपमाकारा ।
भावि चराचर बीजं शिव रूपं विमर्श निर्मलादर्शः ॥
काम कला विलास

74. अनुग्रहाय लोकानां भट्ट श्री कल्लटादयः ।
अवन्तिवर्मण काले सिद्धा भुवम वातरन् ॥ राज तरंगिनी 5/66

75. ज्ञान मात्रे यथा शास्त्र साक्षात् दृष्टिस्तु दुर्लभा ।
पन्चार्थाद् यतो नास्ति यथावत् तत्व निश्चयः ॥
सर्व दर्शन संग्रह (पाशुपत दर्शन)

76. पश्यनात् पाशनाच्च पशवः । पाशा नाम कार्य करणाख्याः कलाः । ताभिः पाशिता बद्धाः सन्निरूद्धाः शब्दादि विक्षय परवशा भुत्वाऽव-तिष्ठन्ते—कौण्डिन्य भाष्य पृ० 5

77. असिधारा सुतीक्ष्णाऽपि न स्वात्मधेदिका यतः—मोक्षकारिका 67

78. मोक्षस्य नैव किंचिद् धामाऽस्ति न चापि गमनमन्यत्र ।
अज्ञान ग्रन्थि थिदा स्वशक्त्यभि व्यक्तता मोक्षः ॥
परमार्थ सार (अभिनव) का० 60

79. शक्तिश्च शक्तिश्च शक्ती, ताभ्यां विशिष्टौ जीवेशौ ।
शक्ति विष्टिौ तयो रद्वैतं शक्ति-विशिष्टाद्वैतम्—सिद्धान्त शिखामणि
लेखक शिव योगी

80. तदीया परमा शक्तिः सच्चिदानन्द रूपिणी ।
समस्त-लोक-निर्माण-समवासत्व-रूपिणी ॥
तदिच्छया ऽ भवत्साक्षात् तत्स्वरूपा नुकारिणी ॥
सिद्धान्त शिखामणि—परिच्छेद 2

81. यस्मादेतत् समुत्पन्नं महादेवाच्चराचरम् ।
तस्मादेत-भिद्येत यथा कुम्भादिकं मृदः ॥
शिवतत्वात् समुत्पन्नं जगदस्मान्न भिद्यते ।

फेनोर्मि बुदबुदाकारो यथा सिन्धौ न भिद्यते ।। सिद्धान्त शिखामणि

82. यथा पुष्पपलाशादि वृक्षरूपान्न भिद्यते ।
तथा शिवात् पराकाशाद जगतो नास्ति भिन्नता ।।
सिद्धान्त शिखमणि

83. आत्म-शक्ति-विकासेन शिवो विश्वात्मना स्थित ।
कुटीभावाद्यथा भाति पट: स्वस्य प्रसारणात् ।। सि० शि० म०

84. अनाद्यविद्या सम्बन्धात् तदंशो जीव नामक: । सि० शि० म०

85. स्थीयते लीयते यत्र जगदेतच्चराचरम् ।
तद् ब्रह्म स्थलभित्युक्तं स्थलतत्व-विशारदै: ।। सि० शि० म०

86. इति धन शरीर भोगान् मत्वाऽनित्यान् सदैव यतनीयम् ।
मुक्तौ सा च ज्ञानात् तच्चाभ्यासात् स च स्थिरे देहै ।।
रस हृदय (गोविन्द भगवत्पाद)

87. संसारस्य परं पारं दत्तेऽसौ पारद: स्मृत—रस हृदय

88. मूर्च्छितो हरति व्याधीन् मृतो जीवयति स्वयम् ।
बद्ध: खेचरतां कुर्यात् रसो वायुश्च भैरवि ।।—रस हृदय

89. जयन्ति ते सुकृतिनो रस-सिद्धा कवीश्वरा: ।
नास्ति येषां यश: काये जरामरणजं भयम् ।। नीति शतक

90. रसो वै स: रसं ह्येवायं लब्ध्वा नन्दी भवति—तै० उ० 2/7/1

91. तत्व दीपिका (उमा महेश्वर)

92. अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थ भावेन प्रक्रिया जगतो यत: ।। वाक्यपदीप 1/1

93. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुत ।
अनेक तीर्थ भेदायास्त्रय्या वाच: परं पदम् ।। वाक्यपदीप 1/144

94. तद् द्वार मय वर्गस्य वांगमलानां चिकित्सतम् ।
पवित्रं सर्व विद्याना मधि विद्यं प्रकाशते ।।—वाक्यपदीप

95. सूत्रं वृति विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ ।
प्रकरण विवरण पन्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञाया: ।।
सर्व दर्शन संग्रह

96. तस्मिश्चिद् दर्पणे स्फारे समस्ता वस्तु दृष्टय: ।
इमास्ता प्रतिबिम्बन्ति सरसीव तटदुया: ।। सांख्य प्रवचन भाष्य

97. स्वच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति ।—प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र 2

98. आभासरूपा एव जड चेतन पदार्थ: ।—प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी 3/2/1

99. यथा नृप: सार्वभौम: प्रभावामोद भावित: ।

क्रीडन् करोति पादात्त धर्मान् तद् धर्म धर्मतः ।।
तथा प्रभुः प्रमोदात्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।। शिव दृष्टि 1/37-38

100. एष देवो तया देव्या नित्यं क्रीड़ारसोत्सुकः ।
विचित्रान् सृष्टिसंहारन् विधते युगपद् विभुः ।। बोध पंचदशिका

101. तस्मात् अनप-ह्नवनीयः प्रकाशविमर्शात्मा संवित्स्वभावः परमशिवः भगवान् स्वतन्त्रयादेव प्रकाशते इत्यंय स्वातन्त्रयवादः प्रोन्मीलित.—अभिनव प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी ।

102. (क) न चे देव देवः न खलु कुशलः स्पन्दितुमपि—सौन्दर्य लहरी
(ख) न शिवेन बिना देवी न देव्या च बिना शिवः ।
नानयोरन्तरं किंचित् चन्द्र चन्द्रिकयो रिव ।
(ग) न शिवः शक्ति रहितो न शक्ति र्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तया भावान इच्छया कर्तुमीहते ।।
शक्ति शक्तिमतो भेद शैवे जातु न वर्ण्यते । शिव दृष्टि 3/2/3

103. तैस्तैरप्युपयाचितैरूपनतस्तन्व्याः स्थितोऽप्यन्तिके,
कान्तो लोक समान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा ।
लोकस्यैव तथानवेक्षित गुणः स्वात्माऽपि विश्वेश्वरो,
नैवालं निज वैभवायं तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ।।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 4/2/2

104. (क) स्वात्मनो भेदनं क्षेपः
(ख) भेदितस्या विकल्पसम्
(ग) गतिः स्वरूपारोहित्वं प्रतिबिम्बवदेव यत्
(घ) संख्यानमन्यतो व्यतिभेदनात्
(ङ) नादः स्वात्मपरायर्श शेषता तद्विलोपनात्—तन्त्रालोक आ० 2/204/275

105. तस्मात् स्वस्वरूप परामर्श एव परमा पूजा—महार्थ मन्जरी

106. संविदैकात्म्येनावस्थानं पूजा—तन्त्रालोक—3/211

107. प्रकाशाख्या संवित् क्रम विरहिता शून्य पद्धतो
बहिर्लीनात्यन्तं प्रसरति मसाच्छादकतया
ततोऽप्यन्तः सारे गलित रभसादक्रमतया,
महाकाली सेयं मम कलखतां काममखिजम् ।।—क्रमस्तोत्र 26

108. एषा तु कौलिकी विद्या सर्वसिद्धिप्रदायिका ।
बामेश्वर्यवतारे तु प्रकाशत्वमुपागता ।।
तन्त्रालोक टीका 3/207

109. कुलं शक्तिः समाख्याता सा च नित्या प्रकीर्तिता—तन्त्रालोक आ० 20
110. सेवते मधुमांसानि तृष्णया चेत् स पातकी—कुलार्णव 5/82
111. कृपाणधारागमनात् व्याघ्र कार्णावलम्बनात् ।
भुजंगधारणान्नूनमशक्यं कुलसेवनम् ।। कुलार्णव तन्त्र 2/123
112. वेदादिभ्यः परं शैव शैवाद् वामं च दक्षिणम् ।
दक्षिणाच्च परं कौलं कौलात् परतरं नहि ।। तन्त्रालोक आ० 3
113. उर्ध्वत्वाद् सर्वधर्माणामूर्ध्वाम्नायः प्रशस्यते ।
ऊर्ध्वं नयस्यधः स्थं चेत्यूर्ध्वाम्नायः इति स्मृतः ।। कुलार्णव 3/18
114. (क) त्रिमूर्ति सर्गाच्च पुराभवत्वात् त्रयीमयत्वाच्च परैव देव्याः ।
लये त्रिलोक्या अपि पूरकत्वात् प्रायोऽम्बिकायास्त्रिपुरेति नाम ।।
(ख) शिव शक्त्यात्म संज्ञेय तत्वत्रितय पूरणात् ।
त्रिलोक जननी चाथ तेन सा त्रिपुरा स्मृता । वामकेश्वर तन्त्र
115. अनादि निधनं ब्रह्म शब्द तत्वं यदक्षरम् ।
विवर्ततेऽर्थ प्रक्रिया जगतो यतः ।। वाक्यपदीप
116. भोगो योगयते सम्यक् पातकं सुकृतायते ।
मोक्षायते च संसारः कुलधर्मे कुलेश्वरी ।। कुलार्णव तन्त्र
117. वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ।।
118. तैत्तिरीय आरण्यक 10/16
119. श्वेताश्वतरोपनिषद 3/11
120. वामन पुराण 6/86-91
121. पेया सुरा प्रियतमा मुख मीक्षितव्यं धार्यः स्वभाव ललितो विकृतश्च वेषः ।
येनेदमीदृश मदर्श्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाक पाणिः ।।
122. इह यावत्तु मुख्येयं षडात्मा शास्त्रसन्ततिः ।
एतत्पूर्वार्ध भागीनि त्रिकशास्त्राणि यानि तु ।।
षडर्थसंज्ञया तानि गुरुभिर्भाषितान्यलम् ।।
मालिनी विजयवार्तिक—1/164
123. तस्य यत्तत् परं प्राप्यं धाम तत् त्रिक संज्ञितम् ।
सर्वाविभेदानुच्छेदात् तदेव कुलमुच्यते ।।—तन्त्रालोक 3 /31
124. यथोर्ध्वाधरता भाक्सु देहांगेषु विभेदिषु ।
एकं प्राणितमेवं स्यात् त्रिकं सर्वेषु शास्त्रतः ।। तदेव 35/32
125. पुष्पे गन्धस्तिले तैलं देहे जीवो जलेऽमृतम् ।

यथा तथैव शास्त्राणां कुल मन्त: प्रतिष्ठितम् ।। तन्त्रालोक 35/34

126. अतएव द्वादशात्मके चक्रे ये उपासका ते तत्र परम शिवे ख परिनिष्ठिता: तन्त्रालोक विवेक—1/108
127. तस्य शक्तय एवैतास्तिसो भान्ति परादिका: ।
 सृष्टौ स्थितौ लये तुर्ये तैनैता द्वादशोदिता: ।।
128. प्राक् पश्यन्त्यथ मध्यान्या बैखरी चेति ता इमा: ।
 परा परापरा देवी चरमा त्वपरात्मिका ।। तदैव 1/272
129. इच्छादि शक्ति त्रितयमिदमेव निगद्यते ।
 एतत्प्राणित एवायं व्यवहार: प्रतायते ।। तदैव 1/272
130. तथान्त: स्थ परामर्श भेदने वस्तुतस्त्रिकम् ।
 अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं यतो विश्वं विमर्शनम् ।। तंत्रालोक 33/22
131. तदेव त्रितयं प्राहु भैरवस्य परं मह: ।
 इत्याद्युक्तनयेन अनुत्तरेच्छोन्मेषाख्यं त्रिकमेव वस्ततो स्ति यत इदं सर्वसहमिति पूर्ण विमर्श स्यात—तंत्रालोक विवेक 33/22
132. त्रिकं परादिशक्ति त्रयाभिधायकं शास्त्रम्—तन्त्रालोक 1/106
133. तच्च सिद्धा नामक मालिन्याख्य खण्ड त्रयात्मकत्वात् त्रिविधम्— तंत्रसलसेक विवेक—1/18
134. तत्र क्रिया-प्रधानं सिद्धातन्त्रम्, ज्ञान-प्रधानं नामकं तन्त्रम् तदुभयमयं मालिनीमतम्—तदैव
135. तदैव मुख्यम्—तदैव
136. काशमीर शैव दर्शन—श्री बी० एन० पंडित, पृ० 23-24
137. तदेवं——जगद्वैचित्र्य बीज भूतं शिव शक्ति संघट्टात्मक पर त्रिक शब्द वाच्यम्, अनाख्यम्——तंत्रालोक विवेक 1/1
138. नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरव येगिनीम् ।
 मातृमान प्रमेयाशं शूलाम्बुज कृतास्पदाम् ।। तंत्रालोक 1/2
139. बहिरुल्जिलसिषा स्वभावाम् तंत्रालोक विवेक 2/1
140. भैरव योगिनीम्'' नित्यमेव परप्रमात्र वियुक्तत्वात् तदात्मभूताम— तंत्रालोक विवेक 1/2
141. नौमि देवीं शरीरस्थां नृत्यतो भैरवाकृते ।
 प्रवृण्मेध धन व्योम विद्युल्लेखा बिलासिनीम् ।। तंत्रालोक 1/3
142. दीप्त ज्योतिश्छटाप्तुष्ट भेद बन्ध त्रयं स्फुरत् ।
 स्ताज्ज्ञानशलं सत्पक्ष विपक्षोत्कर्तन क्षमम् ।। तंत्रालोक 1/3
143. ज्ञान शक्तिस्वभावमपि अन्तरासूत्रितेच्छा क्रियात्मकम्, अत एवं

परापरा शब्द व्ययदेश्यम—तंत्रालोक विवेक 1/4

144. स्वातन्त्रय शक्तिः क्रम संसिसृक्षा क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम ।। तंत्रालोक 1/5

145. तस्य यतत् परं प्राप्यं धाम तत् त्रिक शब्दितम् ।।
सर्वा विभेदानुच्छेदात् तदेव कुलमुच्यते ।। तंत्रालोक 35/31

146. यत्रोदितमिदं चित्रं विश्वं यत्रास्तमेति च ।
तत् कुलं विद्धि सर्वज्ञ शिव-शक्ति-विवर्जितम् ।।
तंत्रालोक जयरथी टीका 35/31

147. कुलस्यैव विश्रान्तिधामत्व मुक्तम् तं० आ० पृ० 373

148. परात्रींशिका 18 कारिका

149. एषैव च किंचिदरूपता यदचलमपि चलभाभासते—ई० प्र० वि० 1/5/14

150. स्पन्दकारिका—प्रो० नीलकण्ठ गुरटू—पृ० 115

151. तमः प्रकाशवद विरूद्ध स्वभावयो—ब्र० सू० शांकर भाष्य की भूमिका

152. निर्मले मुकुरे यदवत् भान्ति भूमि जलादयः ।
अभिन्नास्तद् वदेकस्मिन चिन्नाथं विश्ववृत्तिता ।। तंत्रालोक 3/4

153. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोद भावितः ।
क्रीडून करोति पादादि धर्मान् तद्धर्मधर्मत ।।
तथा प्रभुः प्रमादोत्मा क्रीडत्येवं तथा तथा ।। शिवदृष्टि 1/37/38

154. स्वभावमवभासस्य विमर्श त्रिदुरन्यथा ।
प्रकाशो र्थोपरक्तो पि स्फटिकादिजडोपम ।। ईश्वरप्रत्यभिज्ञा 1/5/11

155. काश्मीर शैव दर्शन—बी० एन० पंडित, पृ० 58

156. स्वेच्छया स्वभितौ विश्वमुन्मीलयति—प्रत्यभिज्ञा हृदयम—सूत्र 2

157. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निरूपादानमर्थ जातं प्रकाशयेत् ।। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा कारिका 1/5/7

158. विश्वोतीर्ण विश्वमयं चेति त्रिकादि दर्शन विदः ।
प्रत्यभिज्ञा हृदय 8

159. अस्थास्यदेक रूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदत्यक्ष्यद् घटादिवत् ।।

160. आदर्श कुक्षौ प्रतिबिम्बकारि समर्पकं स्याद् यदि मानभिन्नम् ।
सुस्वच्छ संविन्मुकुरान्तराले भावेषु हेत्वन्तरमस्ति नान्यत् ।।
परमार्थ चर्चा 5

161. हेतुश्च परमेश्वर शक्तिरेव स्वातन्त्र्यापरपर्याया भविष्यति ।
बिम्ब प्रतिबिम्बधारित्वाच्च विश्वात्मकत्वं भगवतः ॥
तंत्रसार पृ० 11

162. अति दुर्घटकारि त्वमस्यानूत्तरमेव यत् ।
एतदेव स्वतन्त्रत्वमैश्वर्यं बोधरूपता ॥ बोधस्पन्चदशिका 7

163. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषणी ।
सैषा सातया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा कारिका 13-15

164. स्पन्दनं च किंचिच्चलनम् । एर्षव च किंचिद्दूसमता यदचलमपि
चलमाभासते इति । प्रकाश स्वरूपं हि मनागपि नातिरिच्यते,
अतिरिच्यते इवेति तदचलमेवाभास भेदयुक्तमिव च भाति ।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्श 1/5/14

165. (क) एतौ बन्ध विमोक्षौ च परमेश स्वरूपतः ।
न भिद्यते न भेदो हि तत्वतः परमेश्वरे ॥
बोधपंचाशिका 4

(ख) अस्यां भूमौ सुखं दुःखं बन्धो भोक्षश्चित्ति जंड ।
घटकुम्भवदेकार्थाः शब्दास्ते ष्येक मेव च ॥ तंत्रालोक 2/9

166. सर्वे भावाः स्‌-मात्मानं जानन्तः सर्वत स्थिता ।
मदात्मना धटो वेत्ति वेद्म्यहं च घटात्मना ॥
नाना भावै स्वमात्मानं जानन्नास्ते स्वयं शिवः ।
चिद्व्यक्तिस्यकं नाना भेद भिन्न मनन्तकम॥
शिवदृष्टि 5/105-109

167. इदं हितत् पराद्वैतं भेद त्याग ग्रहौ न यत्—
मालिनी विजय वार्तिक 1/123

168. श्रीमच्छ्रीकण्ठनाथाज्ञावशात् सिद्धा अवातरन् ।
त्र्यम्बकामर्दकाभिख्य श्रीनाथा अद्वये द्वये ।
द्वया द्वये च निपुणाः क्रमेण शिव शासने ॥
तन्त्रालोक 36/13

169. आद्यस्य चान्वयो जज्ञे द्वितीयो दुहितृक्रमात् ।
स चार्थ त्र्यम्बकाभिख्यः सन्तान सुप्रतिष्ठितः ॥

170. एक एवागमस्तास्मात्तत्र लौकिक शास्त्रतः ।
प्रभृत्यावैष्णवाद्द बौद्धाच्छैवात् सर्व हि निष्ठितम् ॥
तंत्रालोक 35/30

171. सांख्य योग पाञ्चरात्रं वेद्वाश्चैव न निन्दयेत ।
यतः शिवोद्भवाः सर्वे इति स्वच्छन्द शासने ।। सदैव 35/36

172. एकस्मादागमाच्चैते खण्डखण्डा व्यपोदघृताः ।
लोके स्युरागमास्तैश्च जनो भ्राम्यति मोहितः ।।

173. अनेकागम पक्षेऽपि वाच्या विषयभेदिता ।
अवश्यमूर्ध्वाधरता स्थित्या प्रामाण्य सिद्धये ।। सदैव 35/37-38

174. वास्तवेऽपि चिदेकत्वे न स्यादाभातभिन्नयोः ।
चिकीर्षालक्षणैकत्व परामर्शं बिना क्रिया ।।
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 2/4/20

175. चिदरूपस्यैकत्वं यदि वास्तवं, भेदः पुनश्यमविद्योपप्लवादि त्युच्यते
तदा कस्यायमविद्योपप्लव इति न संगच्छते ।
ब्रह्मणो हि विद्यैकरूपस्य कथमविद्यारूपता ।
न चान्यः कश्चिदस्ति वस्तुतो जीवादिर्यस्या विद्या भवेत ।
ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी 2/2/20

176. मनसो निगह्यायत्तमभयं सर्व योगिनाम् ।
दु:खक्षय प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्ति रैव च ।।
गौडपादकारिक 3/40

177. अनादर विरक्त्यैव गलन्तीन्द्रिय वृतयः ।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद विकुर्वते ।।
मालिनी विजयवार्तिक 2/112

2

शिवतत्व निरूपण

तत्वमीमांसा का मर्म

लोकिक एवं दार्शनिक साहित्य में तत्व शब्द के अनेक अर्थ गहीत किए जाते हैं। तत् पद परोक्षार्थ की लोर संकेत करने वाला शब्द है। इसमें भाववाची त्व प्रत्यय लगाकर तत्व शब्द निष्पन्न होता है। "तत्व" शब्द का सामान्य अर्थ है वह वस्तु या उस वस्तु का भाल जिसकी सत्ता किसी न किसी रूप में लोक-सिद्ध है, और जिसमें कुछ होने या करने का सामर्थ्य निहित है।

लोक में वास्तविक स्थिति के लिए भी तत्व शब्द का प्रयोग किया जाता है। "मैं आपको तत्वतः नहीं जानता" इसका भाव यह है कि मैं वास्तविक रूप से आपको नहीं जानता हूं। "वयं तत्वान्वेषान्मधुकर हतास्त्वं खलु कृती" में तत्व का अर्थ वस्तु-स्थिति ही है।

दर्शन शास्त्र में मूल प्रकृति यथार्थता अथवा मूल कारण को भी तत्व कहा जाता है। तत्ववित् का अर्थ है आत्म ज्ञानी या बह्मज्ञानी। किसी वस्तु के सार भाग अथवा रहस्य को भी तत्व कहा जाता है। "संन्यासस्य महाबाहो तत्वमिट्टछामि वेदितुम्" में "तत्व" से रहस्यार्थ ही गहीत किया गया है।

दर्शन शास्त्र में "तत्वमीमांसा" का एक विशिष्ट अर्थ होता है। इस ब्रह्माण्ड में हम जो कुछ देखते हैं, सुनते हैं,सूंघते हैं, स्पर्श करते और स्वाद लेते हैं,उन दृश्य, श्रव्य आदि पदार्थों के पीछे कौन कौन वस्तुएँ आधार के रूप में काम कर रही हैं उनकी खोज करना और उन पर तर्क-पूर्वक विचार करने का नाम तत्वमीमांसा है। तत्व प्रायः परोक्ष ही होता है। उसे केवल बाह्य इन्द्रियां नहीं ग्रहण कर सकतीं। इसलिए सामने पड़ी वस्तु को भी

हम "इदं तत्वम्" कहते हैं। इदम् का अभिप्राय उसका बाह्य आकार प्रकार है। तत्व का अर्थ है कि उसमें कुछ अदृश्य रहस्य भी निगूढ हैं घृत दूग्ध का तत्व है। दुग्ध भी गौ के द्वारा खाए हुए तृणादि का तत्व है। तृणादि भी तत्व हैं पंचभूतों के। पंचभूत भी तन्मात्रों के तत्व हैं। इस प्रकार हम मूल कारण जो कि एक रहस्य है, उसकी खोज करते करते जिस अन्तिम तत्व पर पहुंचते हैं वही दर्शन शास्त्र के अनुसन्धान का विषय है। कहने का अभिप्राय यह है कि तत्व पहले परोक्ष ही होता है। इसीलिए कोई भी इदन्त्व नहीं कहता। सभी तत्व ही कहते हैं : सत्य और यथार्थ होने के कारण ही उसे अपरोक्ष कहा जाता है।

"तत्व" अर्थात अन्तिम सत्य पर विभिन्न दार्शनिकों ने अपने अपने ढ़ंग से अनुसन्धान किया है। किसी ने निखिल ब्रहमाण्ड में केवल एक ही तत्व माना है, किसी ने दो और किन्ही दार्शनिकों ने तीन तत्व स्वीकार किए हैं। अवान्तर तत्वों के रूप में यह संख्या कहीं सोलह कहीं चौबीस कहीं पच्चीस और कहीं छत्तीस तक जा पहुंची है।

त्रिक दर्शन में तत्व का अर्थ

ऊपर तत्व शब्द का और तत्वमीमांसा का जो अर्थ किया गया है, त्रिक शास्त्र में उतने अर्थ से काम नहीं चलता।त्रिक दर्शन की तत्वमीमांसा के रहस्य को समझने के लिए तत्व शब्द के अर्थ को थोड़ा और व्यापक करना होगा। ब्रह्माण्ड में फैले हुए घटक द्रव्य ही यहां तत्व नहीं कहलाते अपितु शक्ति के विकसित रूपों (Evolved form of Shakti) को भी यहां तत्व संज्ञा दी गयी है। पर तत्व को त्रिक दर्शन के अनुसार एक ही है किन्तु शक्ति से विकसित हुए छत्तीस रूपों को भी यहां ऊपर तत्य के रूप में स्वीकार किया गया है। उन छत्तीस तत्वों की भी यथार्थता इस दर्शन में उतनी है ज़ितनी परम शिव की यह विशेषता किसी अन्य दर्शन में नहीं मिल सकती। इसलिए त्रिक शास्त्र में तत्व का एक विशिष्ट अर्थ है, उसे जान लेना अत्यावश्यक है।

परम माहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने तत्व की परिभाषा इस प्रकार की हैं :

"तत्व" शब्द का अर्थ है—"तनोति सर्वमिति "तत्", परं रूपं तस्य भावस्त्तत्वम्" (तन्त्रालोक 9/1) अर्थात् जो सबका तनन—विस्तारण करता है, वह परम रूप शिव तत का शब्द का वाच्य है। उस तत् का भाव तत्व अथवा शिवत्व कहलाता है।

आचार्य अभिनव गुप्त फहते हैं कि यत्किंचित् भेद से जो रूप सर्वत्र

अन्वित हो वह रूप तत्व कहलाता है। वह रूप एक शिव ही है। उसी के स्वातन्त्र्य से छत्तीस रूपों में भी शिव ही अनुगत है। अतः पृथिवी आदि छत्तीस रूप भी शिव हैं। अतः वे तत्व कहलाते हैं।

उदाहरण के लिए पृथिवी एक तत्व है। क्योंकि धृति काठिन्य गरिमा स्थूलता आदि धर्मों से वह सर्वत्र अनुगत है। जहाँ धृति काठिन्य आदि धर्म होंगे वहाँ वहाँ पृथिवीत्व होगा।[2] जैसे सास्नादि के योग से खण्ड मुण्ड आदि में गोत्व अनुगत होता है वैसे ही धृत आदि धर्मों से वीर-सदन से वीरभद्र पर्यन्त आदि में पृथिवीत्व धर्म अनुगत है। अतः पृथिवी एक तत्व है।[3]

यहाँ जिज्ञासा हो सकती है कि जैसे धृत्तादि के योग से पृथिवीत्व का अनुगम होता है वैसे ही देह, भुवन आदि में भी तत्व की अनुगति होगी। क्योंकि वहां भी धृत्यादि गुण विद्यमान हैं। तो क्या देह भुवन आदि को भी तत्व मान लिया जाए ? देहादि को तत्व माना जाएगा तब तो तत्वों की संख्या अनन्त हो जाएगी। पूर्वोक्त लक्षण की अतिप्रसक्ति तो देहादि हो रही है। उसका वारण अवश्य ही करना चाहिए।

उपर्युक्त शंका सर्वथा उचित है उक्त लक्षण की अति प्रसक्ति को दृष्टि में रखकर आचार्य अभिनव गुप्त ने तत्व के लक्षण को कुछ और परिष्कृत किया है। तत्व का निर्दुष्ट लक्षण इस प्रकार बनता है:

स्वस्मिन्कार्येऽथ धर्मौघे यदाऽपि स्वसदृग्गुणे।
आस्ते सामान्य कल्पेन तननाद् व्याप्तृ भावत ॥
तत्तत्त्वं क्रमशः पृथिवी प्रधानं पुंशिवादयः।
देहानां भुवनानां च न प्रसंगस्ततो भवेत् ॥
तंत्रालोक 1/4-5

अर्थात् अपने घट शराब आदि कार्य में और सत्त्वादि गुणों के समूह में तथा अपने सदृश गुण वाले संकुचित प्रमातृ-वर्ग में जो पृथिवीत्वादि रूप अनुगामी रूप में स्थित है वह पृथिवी प्रकृति पुरुष शिव आदि वस्तु समूह तत्व कहलाता है। तत्व का शाब्दिक अर्थ है—तनोति व्याप्नोति स्वकार्यादि—अर्थात् चूंकि वह अपने कार्य को व्याप्त करता है उसका अनुगमन करता है इसलिए वह तत्व कहलाता है।

तत्व का उपर्युक्त लक्षण देह भुवनादि में अति प्रशक्त नहीं होता। क्योंकि देहादि अपने कार्यरूप चेष्टा आदि में और उसके भोगादि में अनुगामी नहीं होता। अर्थात् चेष्टा देह का कार्य है किन्तु देह सदैव चेष्टा का अनुगामी नहीं होता इसलिए देह तत्व नहीं है। पृथिवी ही तत्व है

क्योंकि वह देह में अनुगामिता से स्थित है ।[4]

तत्व उसी को कह सकते हैं जो महाप्रलय स्थायी हो तथा सब प्राणियों का उपभोग करता हो । अर्थात् तत्व प्राणियों का उपभोग करता है, प्राणी तत्वों का उपभोग नहीं करते । इसलिए देह घट आदि तत्व नहीं कहलाते क्योंकि देहादि महाप्रलय पर्यन्त स्थायी नहीं होते ओर न ही वे प्राणियों का उपभोग करते हैं । अपितु प्राणी ही उनका उपभोग करते हैं । जिसका उपभोग किया जाएगा उसका क्षय अवश्य ही होगा । ऐसी अवस्था में वह स्थायी कैसे रहेगा ।[5] आचार्य अभिनव गुप्त तत्व के उक्त स्वरूप के प्रामाण्य के लिए परमेष्ठी विरचित श्री मतंगशास्त्र को उदधृत करते है ।[6]

तत्व वस्तुरूप होता है कल्पित नहीं । उसमें अपने धर्मों को प्रकट करने की योग्यता होती है । वह अपने स्वरूप से कभी च्युत नहीं हुआ करता । जगत उसी के अधीन रहता है । तत्व से ही जगत् तत्=रचित होता है । वह तत्व स्वयम् किसी अन्य से तत नहीं होता ।[7] संक्षेप में तत्व का यही स्वरूप है ।

त्रिक दर्शन की तत्व-संख्या

त्रिक दर्शन की तत्व मीमांसा का अपना पृथक वैशिष्ट्य है । जो अपने भाव युक्ति एवं तर्कों के औचित्य से मनीषीवर्ग की बुद्धि और हृदय दोनों को सन्तुष्टि प्रदान करता है, यह बात अभी कही जा चुकी है । जिस प्रकार उसकी तत्व पद की व्याख्या अन्य शास्त्रों से भिन्न है वैसे ही उसकी तत्व संख्या भी अन्य दर्शनों की तत्व संख्या से बहुत भेद रखती है ।

त्रिक-दर्शन के अनुसार तत्वों की संख्या छत्तीस है जो दर्शन क्षेत्र में सबसे अधिक मानी जाती है । मल के अभाव और न्यूनाधिक भाव को लेकर इन छत्तीस तत्वों के विकास को तीन भागों में बांटा गया है:

1—शुद्ध सृष्टि
2—शुद्धाशुद्ध सृष्टि
3—अशुद्ध सृष्टि

1—शुद्ध सृष्टि

शुद्ध सृष्टि में निम्नलिखित पांच तत्व आते हैं :

1—शिव	:	शान्त्यातीता अवस्था
2—शक्ति	:	
3—सदाशिव	:	
4—ईश्वर	:	शान्तावस्था
5—शुद्ध विद्या	:	

उक्त पांचों तत्वों में मल का लेश भी नहीं होता, अतः इन्हें शुद्ध सृष्टि कहा जाता है। मल तीन प्रकार के होते हैं—मायीय मल, आणव मल और कार्मण मल। इनकी व्याख्या मलों के प्रसंग में आगे की जाएगी।

2—शुद्धाशुद्ध सृष्टि

निम्नलिखित सात तत्व शुद्धाशुद्ध सृष्टि कहलाते हैं :

6—माया	:	
7—काल	:	
8—कला	:	
9—नियति	:	माया के पाँच कंचुक
10—विद्या	:	
11—राग	:	
12—पुरुष	:	

इन सात तत्वों में मलों का किंचित् समावेश रहता है, किन्तु वे इन पर पूर्ण रूप से प्रभावी नहीं हो पाते। इसलिए इन्हें शुद्धाशुद्ध कहा जाता है। काल, कला, नियति, विद्या और राग, ये पांच तत्व माया के कंचुक अर्थात् आवरण कहलाते हैं जिनसे वह पुरुष को आवृत करती है।

3—अशुद्धि सृष्टि

निम्नलिखित चौबीस तत्व अशुद्ध सृष्टि कहलाते हैं :

13—अव्यक्त		(साम्यवस्था)
14—महत्		(विषमावस्था)
15—समष्टि अहंकार		(त्रिगुणात्मक)
16—समष्टि मन		(सात्विक अहंकार से उत्पन्न)
17—चक्षु	:	
18—श्रोत्र	:	पांच ज्ञानेन्द्रियां
19—घ्राण	:	राजस अहंकार से उत्पन्न
20—रसन	:	
21—स्पर्शन	:	
22—वाक्	:	
23—पाणि	:	पांच कर्मेन्द्रियां
24—पाद	:	राजस अहंकार से उत्पन्न
25—पायु	:	
26—उपस्थ	:	

27—शब्द	:	
28—रूप	:	पांच तन्मात्र
29—रस	:	तामस अहंकार से उत्पन्न
30—गन्ध	:	
31—स्पर्श	:	
32—आकाश	:	
33—वायु	:	पांच महाभूत
34—अग्नि	:	तामस अहंकार से उत्पन्न
35—जल	:	
36—पृथिवी	:	निवृत्ति कला

इस प्रकार उक्त छत्तीस तत्व ही सृष्टि क्रम में माने जाते हैं। इनको यदि सीधे क्रम से गिना जाए तो पृथ्वी छत्तीसवां तत्व ठहरता है, और यदि विपरीत क्रम से गिना जाए तो शिव तत्व छत्तीसवां बैठता है।

इन छत्तीस तत्वों में कुछ तत्व प्रमेय कोटि में आते हैं, कुछ प्रमाण कोटि में और कुछ तत्व प्रमाता कोटि में आते हैं। शिवतत्व समस्त अवच्छेदों से शून्य है जो कि छत्तीसवां तत्व है।[8]

जब उस छत्तीसवें शिव तत्व का उपदेश किया जाता है और उसकी भावना की जाती है तब वह सबका प्रतिष्ठापद शिवतत्व सैंतीसवां तत्व हो जाता है। यदि उसके सम्बन्ध में भी भावना की जाती है तो वही अड़तीसवां तत्व हो जाता है।[9]

यहां पर मन में शंका का उत्पन्न होना स्वाभाविक है कि एक ओर तो तत्वों की संख्या कुल छत्तीस बतायी जा रही है। अब पुनः अड़तीस कहे जा रहे हैं, तो यह कैसे सम्भव है। इससे तो अनवस्था आ जाएगी। क्योंकि यदि भाव्यमानता के कारण ही सैंतीसवां और अड़तीसवां तत्व कल्पित कर लिया गया तब तो अड़तीसवें तत्व की भी भावना करने पर उन्तालीसवां, चालीसवां और इससे भी आगे तत्व संख्या हो जाएगी।

ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। वस्तुतः यहां आचार्य अभिनव गुप्त का मन्तव्य यह है कि जिस छत्तीसवें शिव तत्व के सम्बन्ध में भावना की जाती है वह स्वरूपतः अनवच्छिन्न तथा स्वतन्त्र-स्वभाव है। किन्तु भावना करने से उसमें कुछ परिच्छिन्नता सी आ जाती है। वह परिच्छिन्नता वास्तविक नहीं होती, अपितु कल्पित होती है। इस प्रकार वह कल्पित परिच्छिन्न शिव तत्व छत्तीसवां हो जाता है और अपरिच्छिन्न शिव तत्व सैंतीसवां हो जाता है। इसी प्रकार जब सैंतीसवें तत्व की भी भावना की

जाती है (भावना से अभिप्राय है कि उसको ध्यान में लाकर चिन्तन किया जाता है) तो वह सैंतीसवां तत्व भी परिच्छिन्न सा हो जाता है और अपरिच्छिन्न तत्व अड़तीसवां हो जाता है। इससे अनवस्था नहीं आती।[10] अनवस्था इसलिए नहीं आती क्योंकि इसके आगे भावना करना सम्भव नहीं है। उस अनवस्था में पुरुष शिव ही हो जाता है। भावना, भावक और भाव्यमान का भेद समाप्त हो जाता है।

कहने का निष्कर्ष यह है कि तत्वों की संख्या छत्तीस ही है। सैंतीसवां और अड़तीसवां शिव तत्व तो मात्र भावना के कारण ही माना गया है। जिसे परम शिव अनुत्तर और संवित् कहा गया है वह तो तत्वोतीर्ण अवस्था है।

तत्वों का कार्यकारण भाव

उपर्युक्त छत्तीस तत्वों के रूप में साक्षात् संविद्रूप परमशिव ही स्थित है। वे स्वयं ही कार्य हैं और स्वयम् ही कारण हैं। यही परमार्थ स्थिति है। फिर भी मायिक सृष्टि की व्याख्या के लिए अन्य दार्शनिक परिपाटी को दृष्टि में रखकर त्रिक दर्शन में भी कार्यकारण भाव पर विचार किया गया है।

यह कार्यकारण भाव दो प्रकार का माना गया है—पारमार्थिक कार्य-कारण भाव और कल्पित कार्यकारण भाव। यह द्विविधता भी कल्पित ही समझी जानी चाहिए। ग्रहीताओं को समझाने के लिए ही कार्यकारण भाव को द्विविध कहा गया है।

परमार्थिक कार्यकारण भाव

परमार्थिक कार्यकारण भाव इतना है कि कर्तृस्वभाव स्वतंत्र परमेश्वर ही शिव तत्व से प्रारम्भ होकर पृथ्वी तक स्वयम् तत्व शरीर धारण करते हैं। ये छत्तीस तत्व उनके अपने स्वरूप से अभिन्न हैं। इन छत्तीस तत्वों का विकास ही कार्य सृष्टि है। संहार-क्रम में इनका विश्राम भी परम शिव में ही होता है। यही परमार्थिक स्थिति है।[11]

काल्पनिक कार्यकारण भाव

कल्पित कार्य-कारण-भाव नियति-नियन्त्रित हैं। लौकिक दृष्टि से जिसे हम सृष्टि के रूप में देखते हैं वह सब स्वतंत्र और प्रकाश स्वरूप परमेश्वर की क्रीड़ा मात्र है। इसलिए तत्वों की सृष्टि परमेश्वर के स्वरूप का ही अभिन्न रूप है। जो संहारक्रम में रूप प्रतीत होता है वह वस्तुतः स्वरूप-विश्राम का रूप है। इस प्रकार तत्वों की कोई भी स्थिति ऐसी नहीं है जो स्वरूप से अतिरिक्त हो। इसलिए काल्पनिक कार्यकारण भाव कोई वास्त-

विक स्थिति नहीं होती फिर भी मायिक स्थिति की व्याख्या के लिए कल्पित कार्यकारण भाव को स्वीकृत किया जाता है।

कल्पित कार्यकारण भाव का अभिप्राय यह है कि प्रत्येक कार्य अपने पूर्ण कारण पर निर्भर है। जितने भी तत्व हैं, वे सभी अपने अस्तित्व के लिए पूर्ववर्ती तत्त्व पर आश्रित रहते हैं। जैसे पंच महाभूत तन्मात्रों पर तन्मात्र इन्द्रियों पर, इन्द्रियां बुद्धि पर और बुद्धि मूल प्रकृति पर आश्रित है। मूल प्रकृति भी भोग्य होने के कारण भोक्ता पुरुष पर आश्रित है। पुरुष का संकोच परमेश्वर के स्वातंत्र्य पर आधृत है। इस प्रकार शिवाद्वैतवाद की दृष्टि में सभी तत्त्व संविदात्मक हैं।

घट का कल्पित कार्यकारणभाव यह है कि वह दण्ड, चक्र आदि अतिरिक्त सामग्री की अपेक्षा रखता है। कुलाल घट का परमार्थिक कारण है। कभी-कभी योगी की इच्छा से भी अंकुर का उदगम होता है और बीज से भी होता है।

यहां पर यह शंका होती है कि यदि घट के कारण दण्ड, चक्र, कुलालादि हैं तो इनका कर्ता शिव कैसे माना जाए जबकि त्रिक दर्शन में समस्त कार्यों का कर्ता साक्षात् शिव को ही माना गया है? आचार्य अभिनव गुप्त इस शंका का समाधान करते हैं कि परमेश्वर की कर्तृता का अभाव घट की रचना में भी नहीं होता। घट का कर्ता भी शिव ही है। परमेश्वर की अकल्पिक पारमार्थिक सत्ता वहां भी विद्यमान ही है। दण्ड, चक्र आदि सामग्री की कारणता युक्ति सिद्ध है। वह सामग्री स्वतन्त्र चैतन्य की असामान्य शक्ति के कारण सब भावों को एक सूत्र में ग्रथिक करने वाली होती है। समस्त कार्यों की सामग्री यद्यपि एक ही प्रकार की है चाहे वह घट हो, पट हो या स्वर्ण-कंकण हो। फिर भी सहकारी कारणों का समावेश जैसे-जैसे अधिक होता जाता है, वैसे-वैसे कार्य भी अन्य प्रकार का होता जाता है। इस प्रकार समस्त कार्यों की सामग्री परमेश्वर ही है। वही उपादान है और वही निमित्त है। इस प्रकार चैतन्य स्वरूप स्वतंत्र स्वभाव परमेश्वर ही विश्वभावमय शरीर धारण करते हुए घट के निर्माता हैं। कुम्भकार का चैतन्य भी उनसे अभिन्न है।[12]

यहां पर जिज्ञासा होती है कि यदि घट के निर्माता भी परमेश्वर ही हैं तो कुम्भकार के शरीर में कर्तृत्व का अभिमान कैसे होता है? अर्थात् कुम्भकार यह क्यों समझता है कि घट को मैंने बनाया।[13]

इसका उत्तर यह है कि कुम्भकार के रूप में वह अभिमान भी परमेश्वर करता है। घट और कर्तृत्वाभिमान समान ही है। अत: सामग्री-

वाद भी विश्व शरीर संवित् की ही कर्तृता का समर्थन करता है। सामग्री-वाद का अर्थ है पृथिवी में रहकर जिस प्रकार के घट का निर्माण होता है, वैसा घट मेरू में रहकर नहीं बन सकता। कार्य-कारण-भाव की इस प्रकार की कल्पना होने पर विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न तत्वों की जो विचित्रता दिखाई पड़ती है, वह भी युक्ति-सिद्ध हो जाती है। जैसे वृश्चिक का आविर्भाव गोबर से भी होता है, कीट से भी होता है, योगी की इच्छा से भी और मन्त्र से भी वृश्चिक बन जाता है। वह सब कार्य-कारण-भाव त्रिक-सिद्धान्त के अनुसार कल्पित ही है।[14]

परम शिव

पूर्वोक्त छत्तीस तत्वों के कर्ता परम-शिव हैं। एक मात्र यही परम तत्व है। शेष छत्तीस तत्व मिथ्या न होकर उन्हीं के स्वातन्त्र्य का विजृम्भण हैं और उन्हीं की परमेश्वरता की अभिव्यक्ति हैं। इसलिए छत्तीस तत्वों के विस्तृत स्वरूप-विवेचन से पहले तत्कारणभूत परम-शिव का स्वरूप जान लेना अनिवार्य है क्योंकि यही स्वरूप आगे के सभी तत्त्वों में व्याप्त है। इसी कारण त्रिक दर्शन में जगत् को भी शिव-रूप ही माना गया है।

परम शिव प्रकाश-विमर्शात्मक है

त्रिक दर्शन की मान्यता के अनुसार परमेश्वर शुद्ध संविद्रूप है। यह संवित् चैतन्य भी कहलाता है। (चैतन्यमात्मा शि० सू० प्र० 1/1)। यह संवित् प्रकाश और विमर्श का सामरस्यरूप है। यह निर्गुण या निर्विशेष नहीं है जैसा कि अद्वैत वेदान्ती स्वीकार करते हैं। प्रकाश से यहां चैतन्य का ही ग्रहण करना चाहिए। चैतन्य का स्वभाव ही यह है कि वह जहां भी रहता है स्वयम अवभासित होता रहता है। सूर्य चन्द्रमा आदि के बाह्य प्रकाश भी चेतन जीवों के प्रकाश से ही अभिव्यक्ति पाते हैं। किन्तु जीवों का चैतन्य स्वयमेव अवभासित होता है। उसे किसी अन्य की अपेक्षा नहीं रहती।

जीवों का चैतन्य सदैव "अहम्" के रूप में अवभासित होता है। मैं सोता हूं, मैं खाता हूं, मैं जाता हूं इत्यादि अनभूतियों में "मैं" की अनुभूति ही चैतन्य का अवभास है। यह "मैं" केवल जागरित और स्वप्न दशा में ही नहीं अपितु सुषुप्ति की दशा में भी अभिव्यक्त होता है। तभी तो जागने पर मनुष्य कहता है कि "मैं ऐसा सोया कि कुछ ज्ञान ही न रहा।" अर्थात् उस अज्ञान की प्रकृष्ट अवस्था में भी चैतन्य जागता ही रहा। "मैं" की अनुभूति उस काल में भी विद्यमान रही।

जाग्रदवस्था में तो "अहम्" का प्रकाश चक्षुरदि बाह्य इन्द्रियों के

प्रकाश से माना जा सकता है और स्वप्न में सुख दुःखात्मक बुद्धिरूप "अहम्" का प्रकाश अन्तःकरणों के प्रकाश से स्वीकार किया जा सकता हैं किन्तु सुषुप्ति में तो बाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरण का अभाव रहता है। फिर उस अवस्था में अहम् को प्रकाशित कौन करता है? कोई नहीं। अपितु अहम् उस दशा में अपने ही प्रकाश से प्रकाशित रहता है। वस्तुतः तो बाह्य इन्द्रियों एवं अन्तःकरणों का प्रकाश भी अपना नहीं है। वे भी अहम् के प्रकाश से ही प्रकाशित रहते हैं। किन्तु बाह्य इन्द्रियों और अन्तःकरणों के प्रकाश में अहम् के प्रकाश की अभिव्यक्ति उतने स्पष्ट रूप से नहीं होती जितनी सुषुप्ति में होती है।

कहने का अभिप्राय यह है कि चैतन्य या आत्मा या संवित् स्वयं प्रकाश है। उसी के प्रकाश से सब प्रकाशित होते हैं। वह प्रथम प्रकाश है। शेष सब अप्रकाश हैं। कठोपनिषद में कहा गया हैं :

तमेव भान्तमनुभाति सर्वं
तस्य भासा सर्वमिदं विभाति ॥

यहां "तस्य भासा" में षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से ऐसा आभास होता है जैसे परम शिव प्रकाश से कोई भिन्न वस्तु है। किन्तु वस्तुतः ऐसा है नहीं। परम शिव प्रकाशात्मक है। प्रकाश से भिन्न वह कोई दूसरी वस्तु नहीं है। षष्ठी का प्रयोग तो "राहोः शिरः" के समान वाचारम्भण मात्र है केवल कहने के लिए है। "तस्य भासा सर्वमिदं विभाति" का यही अभिप्राय है कि परमशिव से प्रादुर्भूत षटत्रिंशत् तत्वों में वही प्रकाशात्मक परमशिव विद्यमान है।

परमशिव शुद्ध-प्रकाश-स्वरूप है। शुद्ध का अर्थ यह है कि वह केवल प्रकाश ही प्रकाश हैं। प्रकाश के अतिरिक्त कुछ नहीं है। शरीर बुद्धि प्राण इन्द्रिय और शून्य में जो "अहम्" रूप प्रकाश है वह अशुद्ध अहम् प्रकाश है। वह सापेक्ष है, प्रमेयों के प्रकाश पर आश्रित है, ससीम है, विश्वमय है। अतः सब कुछ प्रकाश नहीं है। परम शिव तो विश्वोत्तीर्ण है। जिधर से देखो उधर से प्रकाश ही प्रकाश है। प्रकाश के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता। समस्त विश्व उसी में प्रतिबिम्बित है।[15] प्रतिबिम्बों से उपरञ्जित वह एक प्रकाशात्मक दर्पण ही है। किन्तु लौकिक दर्पण और प्रकाशात्मक परमशिव रूप दर्पण में बहुत असमानता है। इसे समझ लेना आवश्यक है।

यह हम पहले कह चुके हैं कि परम शिव प्रकाश-विमर्श का सामरस्य-रूप है। प्रकाश कभी विमर्श के बिना नहीं रहता। प्रकाश का स्वभाव विमर्श है। जहां प्रकाश होता है वहां विमर्श भी अवश्य होता है। प्रकाश

का अर्थ है आलोक या आभास और विमर्श का अर्थ है उस आभास की प्रतीति। जिसे अपना आभास होता है उसे उसकी प्रतीति भी होती है। जिसमें प्रकाश नहीं होता उसमें उसकी प्रतीति भी नहीं होती। जीवों को चूंकि 'अहम्'' का आभास होता है इसलिए उन्हें अपने "अहम्'' की प्रतीति भी होती है। दर्पण में प्रतिबिम्ब का केवल आभास होता है अर्थात् प्रतिबिम्ब वहाँ प्रकट हो जाते हैं किन्तु दर्पण को उन प्रतिबिम्बों की प्रतीति नहीं होती। हो भी कैसे? दर्पण को प्रतिबिम्बों का आभास ही नहीं होता तो उसकी प्रतीति उसे कैसे होगी। दर्पण में प्रतिबिम्बों का आमास तो देखने वालों को होता है। यदि दर्पण को यह आभास होता कि मैं दर्पण हूं तो वहाँ उसका विमर्श भी अवश्य होता। चूंकि जीव को अपने "अहम्'' का आभास होता है इसलिए उसे उसकी प्रतीति भी होती है।

निष्कर्ष यह है कि प्रकाश और विमर्श एक दूसरे में सदैव समाविष्ट रहते हैं। प्रकाश ज्ञान है तो विमर्श जानने की क्रिया है। इसलिए जो प्रकाश है वह साथ ही विमर्श भी है। प्रकाश इसलिए प्रकाश है क्योंकि प्रकाश उसका स्वभाव है और विमर्श भी इसलिए विमर्श है क्योंकि प्रकाश उसका स्वभाव है। अर्थात् प्रकाश की प्रकाशता विमर्श है और विमर्श की विमर्शता प्रकाश है।

परम शिव शुद्ध प्रकाश और शुद्ध विमर्श दोनों ही है। ये दोनों भाव उसमें एकात्मक और अभिन्न हैं। परस्पर भेद का अवभास इनमें होता ही नहीं। प्रकाश और विमर्श इन दो शब्दों का ही भेद है जो कि सर्वथा कल्पित है। परम शिव के स्वरूप को समझाने के लिए सिद्ध पुरुषों ने इन दो शब्दों की केवल कल्पना की है।

इस प्रकार परम शिव रूप प्रकाश-विमर्शात्मक दर्पण और लौकिक दर्पण में भेद स्पष्ट हो गया। लौकिक दर्पण में प्रतिबिम्बों का केवल आभास होता है, वह भी अपने प्रकाश से नहीं अपितु द्रष्टा के प्रकाश के बल से। प्रतिबिम्ब का विमर्श दर्पण को नहीं होता। चूंकि परम शिव प्रकाश-विमर्शात्मक है इसलिए समस्त जगत् उसमें प्रतिबिम्बित हो रहा है और उस प्रतिबिम्बित जगत् की प्रतीति भी उसे प्रतिक्षण होती रहती है। अपने शुद्ध प्रकाश रूप परिपूर्ण चेतना का विमर्श उसे सदा होता रहता है। यही अभिनव गुप्त ने तंत्रसार में विशद कर दी है:

अन्तर्विभाति सकलं जगदात्मनीह
यद्व यद्विचित्र रचना मुकुरान्तराले।
बोध: परं निज विमर्श रसानुवृत्या

विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।

तंत्रसार आ० 3

अर्थात् इस आत्मरूपी दर्पण के स्वच्छ तल में समस्त विश्व भासित हो रहा है। पर बोधस्वभाव परमेश्वर अपने विमर्श रूप चमत्काररस का आस्वादन करते हुए विश्व का परामर्शन कर रहे हैं। किन्तु जड़ दर्पण अपने अन्दर जिन विचित्र रचनाओं का निर्माण करता है उन रचनाओं, में उस दर्पण का परामर्शन नहीं होता। यही दोनों में अन्तर है।

इस संवित् रूप निर्मल दर्पण में जगत् के जो पदार्थ प्रतिभासित होते हैं वे अपने स्वंसवेद्य स्वरूप को लेकर ही भासते हैं, क्योंकि परम शिव के आमर्शन रस से वे भी विमृष्ट होते हैं। अतः वे जागतिक पदार्थ भी सत्य प्रतीत होते हैं।[16] जब प्रकाश सत्य है तो विमर्श असत्य कैसे हो सकता है। जगत् परम शिव का विमर्श हैं। इसमें जो प्रकाश है वह भी उसी का है किन्तु यह प्रकाश और विमर्श शुद्ध नहीं अपितु अशुद्ध है। अशुद्ध का अर्थ है सापेक्ष ससीम और विश्वमय। परम शिव तो शुद्ध प्रकाश और विमर्श का सामरस्य है। ऐसे सामरस्यात्मक पर-तत्व को सिद्ध पुरुषों की भाषा में संवित् कहा गया है। इसी संवित् को परब्रह्म, परमेश्वर परम महेश्वर भगवान् आदि नामों से अभिहित किया जा सकता है। त्रिक दर्शन में इसे परम शिव की संज्ञा दी गयी है। वैसे तो "शिव" शब्द ही अपने में पूर्ण है किन्तु छत्तीस तत्वों से इसे ऊपर रखने के लिए और उनका परम कारण बताने के लिए उसे परम शिव कहा गया है। छत्तीस तत्वों में "शिव" सबसे पहला तत्व है। आचार्य भास्कर भी कहते हैं कि तात्विक रूप से शिव और परम शिव में कोई अन्तर नहीं हैं तो भी स्वरूप निर्देशन के अभिप्राय से शिव और परम शिव कह दिया गया है। चूंकि वह अनाश्रित है इसलिए शिव है और व्यापक है इसलिए परम शिव है।[17]

परमार्थतया परम शिव ही सत् तत्व है। काश्मीर शैव दर्शन में इसे सैंतीसवां तत्व कहा गया है। यह बात पहले कही जा चुकी है। इससे भिन्न कुछ नहीं है। जड़ और चेतन सब कुछ यही है। यह पर से भी पर है और अवर से भी अवर है। जो साधक इसके पर और अवर दोनों रूपों को जान लेता है वह अज्ञानमल का क्षालन कर शिव रूप हो जाता है। त्रिक दर्शन में इसी परम तत्व को अनुत्तर भी कहा गया है।

अनुत्तर

त्रिक शास्त्र में परम तत्व को "अनुत्तर" नाम से भी अभिहित किया जाता है। अनुत्तर शब्द अपने भीतर अनेक रहस्यमय तत्वों को

समेटे हुए है। तन्त्र शास्त्र के अनेक प्रकार से इसकी व्याख्या की गयी है। किन्तु निष्कर्ष रूप में यह शब्द परमतत्व परमशिव के अर्थ में पर्यवसित होता है।

"अनुत्तर" का मुख्य अर्थ है—"अविद्यामानम् उत्तरम् अन्यत यस्मिन्।[18] अर्थात् जिससे उत्तर=अधिक किसी तत्व की सत्ता नहीं है वह पर-तत्व "अनुत्तर" नाम से व्यवहृत किया जाता है। अनुत्तरा उसकी शक्ति है जो उसके साथ अभिन्न रूप में सदा रहती है। स्वातन्त्र्य शक्ति क्रम-संसिसृक्षा तथा क्रमात्मता ये तीनों देवियां जिन्हें इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्ति भी कहा जाता है, इसी अनुत्तर में अविभागेन रहती हैं।[19]

पर-प्रकाशात्मक होने के कारण भी यह तत्व अनुत्तर कहलाता है।[20] यह अनुत्तर परम धाम तथा अकुल कहा जाता है। यह सम्पूर्ण जगत् उसी से अभिव्यक्त होता है और उसी में लय को प्राप्त करता है। यह ही उसकी कौलिकी शक्ति है।[21] स्वातन्त्र्य और विसर्ग-शक्ति से युक्त होकर वही अनुत्तर परम शिव विश्व रूप कहलाते हैं।[22] ये दोनों शक्तियां अनुत्तरा कही जाती हैं। विसर्ग-लीला की समाप्ति पर यह अनुत्तरा उसी अनुत्तर में विलीन हो जाती है। तब यह अनुत्तर विश्वोतीर्ण कहलाता है।

अनुत्तर को सूर्य सदृश एक प्रकाश का पुञ्ज ही समझना चाहिए। सूर्य को सविता भी कहा जाता है। यह अनुत्तर परम तत्व भी सबका सविता=जनपिता है। सूर्य भी अनुत्तर कहलाता है क्योंकि वह उत्तर दिशा में प्रकाशित नहीं होता। उत्तर में तो वह मध्य-रात्रि में लीन होता है। अनुत्तर का अर्थ वाम अर्थात् बायां भाग भी है! सूर्य जिस दिशा में उदित होता है उसका बायां भाग उसके लिए अनुत्तर ही तो हुआ। अनुत्तर का अभिप्राय ही यह है कि उसके आगे कुछ होता ही नहीं। सूर्य उत्तर दिशा से प्रकट होकर फिर उत्तर में ही लीन हो जाता है। उसके आगे उसकी गति सम्भव नही है। इसलिए वह अनुत्तर कहलाता है।

त्रिक शास्त्र में अनुत्तर को "अ" अक्षर से संकेतित किया जाता है। अ संवृत अक्षर है। संवृत का अर्थ है सिमटा हुआ। यह अनुत्तर पद, वाच्य परम शिव अपनी विश्वोत्तीर्ण अवस्था में संवृत ही तो होता है। इच्छा और उन्मेष शक्ति के द्वारा ही वह जगद्रूप में विवृत होता है। संवृति से ही विवृति होती है। आचार्य गौडपाद ने इसी संवृति से जगत् की उत्पति मानी है।[24] व्याकरण शास्त्र में अ को परावाक् कहा गया है। वाच्य-वाचक समस्त व्यवहार इसी "अ" से प्रकट होता है। पश्यन्ती मध्यमा और वैश्वरी इसी के विवृत रूप हैं।

शैवी साधना और चर्या इसी अनुत्तर पथ पर आरूड होने का प्रयास है। जो साधक इस अनुत्तर पद पर आरूड हो जाते हैं उनके लिए किसी उपाय की अपेक्षा नहीं रह जाती।[25]

यदि आप वैदिक शब्दराशि के उद्भव पर सूक्ष्म मेधा से विचार करें तो हम देखेंगे कि समस्त शब्दजाल और ज्ञान की उत्पति इसी अकार से हुई है। ऋग्वेद सबसे प्राचीन वेद माना जाता है। उसका प्रथम मन्त्र है : "अग्निमीडे पुरोहितम्"। इसमें प्रथम वर्ण "अ" है। यह अकार पर-तत्व अनुत्तर रूप परम शिव की ओर इंगित कर रहा है। अग्नि उसी का नाम है। यास्क कहते हैं अग्निरग्रणी भंवति। परमात्मा इसलिए अग्नि है क्योंकि वह अग्रणी है। सबसे प्रथम वही था। अन्त में भी वही है और मध्य में भी वही विराजमान है। "अकार" की थोड़ी और विवृति हुई तो वह ई बन गया। ई वर्ण शक्ति का वाचक है जो "ईडे" पद में निहित है। शक्ति के बिना ईडन=स्तुति हो ही नहीं सकती। "ई" से ही ईश बनता है। जो "ई" में शयन करता है उसे ईश कहते हैं। ईश का ईशित्व शक्ति के द्वारा ही होता है। अन्यथा वह "श" अर्थात् शव तुल्य होता है।

"वेद" शब्द की उत्पति भी अकार से ही हुई है। "ततिरीय" में कहा गया है तदात्मानभवेत अहं ब्रह्मास्मि। अर्थात् उस ज्ञान-स्वरूप ब्रह्म ने अपने को ही जाना कि में ब्रह्म हूं। जरा इस मन्त्र के गूढ अर्थ पर ध्यान देंगे तो वेद की उत्पति का रहस्य समझ में आ जाएगा। मन्त्र कह रहा है कि "ब्रह्म ने अपने को ही जाना कि मैं ब्रह्म हूं।" इसका गूढ़ार्त यह है कि ब्रह्म में जब जानने की प्रक्रिया प्रारम्भ होती है या जब उसकी स्वयम् को जानने की इच्छा होती है तब वही ज्ञान-प्रक्रिया या इच्छा शब्दरूप धारण करके वेद बन जाती है। इस मन्त्र में गठित "अवेत" शब्द पर ध्यान दीजीए। "अवेत्" में प्रारम्भिक वर्ण "अ" है। यही वर्ण जब प्रारम्भ में से हटा कर अन्त में रख दिया जाए तो 'वेद" शब्द निष्पन हो जाता है। अर्थात् अ ही आदि है और अ ही अन्त है। वेद की योनि "अ" अर्थात् अनुत्तर परम शिव है और अन्त में भी वही है। यही वेद की उत्पति का रहस्य है।

सांख्यों का अव्यक्त भी यही "अ" है। इस "अ" से जब हंकृति रूप क्षोभ होता है तो शक्ति का उद्बोध होता है और वही शक्ति अहंकार बन जाती है। अहम् और अहंकार की उत्पति "अ" से अर्थात उसी अनुत्तर रूप परम शिव से ही होती है। कहने का निष्कर्ष यह है कि अनुत्तर शब्द परम शिव की अनेक विशेषताओं को उध्घाटित कर रहा है। इसे ही

स्पन्द नाम से शैव शास्त्रों में कहा गया है। यद्यपि स्पन्द अनुत्तर की चलनात्मक शक्ति का नाम है,[26] यह उसकी प्रथम हलचल है फिर भी कारण और कार्य में अभेद मान कर परम शिव को स्पन्द कह दिया जाता है।[27]

निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि यह परम शिव ही षटत्रिशंत् तत्वों का कारणभूत परम कारण है। उपनिषद कहती है—वही वास्तविक कारण है। वह करण के अधियों का भी अधिपति। उसका न कोई कारण है और न कोई अधिपति हैं।[28] वही वीर्यावानों का वीर्य है, बलवानों का बल है. ओजस्वियों का ओज है। वहीं शाश्वत अचल और ध्रुव है।[29]

जगद्रचना में परम शिव की कर्म-निरपेक्षता

नैयायिक आदि द्वैतवादी दार्शनिक जगदरचना में ईश्वर के साथ साथ जीव के कर्मों को भी अपेक्षित मानते हैं। ईश्वर को ही एक मात्र स्वतन्त्र कारण वे नहीं मानते। अपितु ईश्वर जीव और परमाणु अथवा प्रकृति इन तीनों तत्वों की सम्मिलित क्रिया से जगत ी रचना होती है। ईश्वर मुख्य निमित्त है। जीव साधारण निमित्त है क्योंकि ईश्वर जगत की रचना जीवों के उपभोग के लिए ही करता है। इसमें उसका अपना कोई स्वार्थ नहीं होता। परमाणु प्रकृति के उपादान कारण माना गया है। शांकर वेदान्त में अवश्य ही ईश्वर को अभिन्न-निमित्तोपादान कारण माना गया है। किन्तु वहां भी माया को उपादान कारण माना गया है और ईश्वर भी वहाँ मिथ्या ही है। वास्तविक नहीं। क्योंकि माया की उपाधि को ओढ़कत ही वह सृष्टि-कर्ता ईश्वर कहलाता है। जीव के कर्मों की अपेक्षा शांकर वेदान्त में भी मानी गयी है। इस प्रकार अन्य दर्शनों में किसी न किसी रूप में ईश्वर को किंचित् परतन्त्र ही माना गया है स्वतन्त्र नहीं। वह जगत् की रचना करने से पहले भी जीवों के कर्मों की अपेक्षा रखता तथा जीवों के कर्मों का अनुरूप फल देने के लिए भी वरध्य है।

त्रिक शास्त्र की दृष्टि इससे सर्वथा भिन्न है। त्रिक दर्शन में परमेश्वर को सर्वथा स्वतन्त्र माना गया है। उसका स्वातन्त्र्य ही उसकी परमेश्वरता है। संसार की रचना के लिए कर्मों की अपेक्षा नहीं रखता, क्योंकि कर्मों की अपेक्षा तो उसे होती है जो जीव को और जगत् को भिन्न समझता है। शैव शास्त्रों में तो संसार भी उससे भिन्न नहीं। वही जीव है और वही कर्म हैं। वही कर्मफल भी है और वही उसका भोक्ता भी है।

वस्तुतः जगत् और उसका कर्ता ये दो बातें कहने के लिए ही दो हैं। न कोई कार्य है और न ही कोई कर्ता। न कोई फल है न भोक्ता, न पाप

है न पुण्य, न बन्धन है न मोक्ष, कोई न साधक है और न कोई साधना। परमार्थ स्थिति तो यही है।[30] किन्तु व्यवहार में सभी कुछ है और जो कुछ है सब शिव ही है। व्यवहार में तो बन्धन भी सत्य है और मोक्ष भी।[31] व्यवहार में ही क्यों, जब शिवक्य की बात हमने स्वीकार कर ली फिर तो प्रत्येक दशा में सब कुछ शिव ही हुआ। मिथ्या ज्ञान भी और भ्रान्ति भी शिव ही है। शिव से जो भेद-व्ययहार लोक में दिखाई दे रहा है वह भेद भी शिव ही है। जैसे घट और कुम्भ एकार्थक है वैसे ही शिव से भिन्न जो सुख दुःख, बन्धन, मोक्ष, चेतन और जड़ प्रतीत हो रहे हैं वस्तुतः वे शब्द मात्र ही हैं। अर्थ सभी का शिव ही है।[32]

जब वस्तुस्थिति ऐसी है तब कर्मों की ही अपेक्षा जगन्निर्माण के लिए क्यों हो। शिव की शिवता के विकास का नाम ही तो संसार है। कर्म भी संसार के अन्तर्गत है। शिव तो एक ऐसा चित्रकार है जो बिना तूलिका के, बिना रगों के और बिना भित्ति के जगत् रूपी चित्र का निमार्ण करता है। उसके लिए किसी उपादान (Material) की भी आवश्यकता नहीं। वह उपादान भी है।

इस जगत् में जीव के जितने भी कर्म हैं उनमें जीव का कोई कर्तृत्व नहीं है। जीव के कर्म शिव की प्रेरणा से ही हो रहे हैं। अतः शिव ही उनका कर्ता है। जिसे हम जीव कहते हैं, शैव दर्शन में उसे नर कहा गया है। त्रिक दर्शन में शिव शक्ति और नर इन तीनों को परत्रिक की संज्ञा दी गयी है।[33] इन तीनों का वास्तविक अभेद ही माना गया है। अतः इनके अतिरिक्त संसार की कोई सत्ता नहीं है। संसार के प्राणियों के भोज्य पदार्थ भी शिव की प्रेरणा से ही उनके उदर में जाते हैं और सुख दुःख मोहात्मक फल की सृष्टि करते हैं। यहाँ तक कि मद्य भी शिव की प्रेरणा से ही मद करता है।[34]

उपर्युक्त विवेचन का अर्थ कदापि नहीं लेना चाहिए कि त्रिक दर्शन में कर्म की में चर्चा ही नहीं की गयी या कर्म के महत्व को स्वीकार ही नहीं किवा गया। कर्म का महत्व है। वस्तुतः संसार का अंकुर तो वही है।[35] परमार्थ का विचार करने पर भले ही सब कुछ शिव हो किन्तु लोक में कर्म की कारणता को उपेक्षित नहीं किया जा सकता। चतुर्दश भुवनों में जो वैचित्र्य दिखाई दे रहा है वह सब कर्म के द्वारा ही किया गया है। जीव के मल का विजृम्भण जीव के कर्मों से ही होता है। यद्यपि है यह भी शिव का स्वरूपभूत स्वातन्त्र्य ही। किन्तु लोक में इसका आश्रय और कर्ता पुरुष को ही माना गया है। इसी मल को अभिलाषा, अज्ञान, अविद्या, लोलिका,

भवदोष, अनुप्लव, ग्लानि, शोषण, विमूढ़ता, अहंममात्मक आतंक, माया शक्ति, आवृति, दोषबीज पशुत्व और संसार कारण आदि नामों से व्यवहृत किया जाता है।[36]

चूंकि यह संसार कर्मवश ही वैचित्र्य को धारण करता है और यह कर्म ही संसार का अंकुर है।[37] इसलिए सांख्य योग की तरह त्रिक-शास्त्रों में भी नैष्कर्म्य का उपदेश दिया जाता है।[38] किन्तु त्रिक-शास्त्र का अनुशीलन करते वालों को यह अवश्य ही ध्यान रखना चाहिए कि कर्म निष्कर्म अज्ञान आदि सब शिव रूप ही हैं। इसके कारण शिव के पारतन्त्र्य की शंका नहीं करनी चाहिए। इस प्रकार यह तथ्य निष्कृष्ट रूप से पर्यवसित हुआ कि एक अकेला परम शिव ही जगत् की विचित्रता का कारण है। इसके लिए जीव के कर्म या प्रकृतिरूप उपादान की आवश्यकता नहीं है। परमेश्वर सर्वात्मना स्वतन्त्र है। वह कर्म-निरपेक्ष कर्ता है।

परमशिव की विश्वरूपता

परमशिव के दो रूप त्रिक शास्त्र में बताए गए हैं—विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय होने में अन्य कोई हेतु नहीं है अपितु उसकी इच्छा ही एक कारण है। क्योंकि वह स्वतन्त्र है इसलिए जब चाहता है तब छत्तीस तत्वों के रूप में अपने को विस्तारित करके विश्वमय हो जाता है और जब तरंग उठती है तब सबका संहार करके विश्वोत्तीर्ण होकर अद्वय रूप में स्थित हो जाता है। अस्वतन्त्र का कर्तृत्व कभी उपपन्न हो ही नहीं सकता।[39] विश्वोत्तीर्ण रूप में वह प्रकाश-प्रधान है और विश्वरूप में विमर्श-प्रधान है। विमर्श का अर्थ ही है—विश्वाकार विश्व-प्रकाश और विश्व-संहार के द्वारा अहं का अकृत्रिम स्फुरण।[40] यही उसकी स्पन्दात्मक क्रीड़ा है।[41]

अब यदि प्रश्न किया जाये कि परमेश्वर यह विश्वमयी क्रीड़ा क्यों करता है? तो इसका एक ही उत्तर है कि यह उसका स्वभाव है। आत्म-प्रकाशन और आत्म-गोतन ये दोनों कार्य उसकी स्वातंत्रयेच्छा से ही होते हैं। ऐसी इच्छा करना उसका स्वभाव ही है। स्वभाव क्यों है यह प्रश्न तो किया ही नहीं जा सकता। स्वभाव तो स्वभाव ही है। स्वभाव कहते ही उसे हैं जो स्वयमेव होता है। अग्नि क्यों जलाता है, वायु क्यों बहता है, जल नीचे की ओर क्यों बहता है? इन प्रश्नों का क्या उत्तर है? केवल यही कि इनका स्वभाव ही ऐसा है।

यह स्थूल जगत् संविद्रूप परमशिव की आत्म-प्रच्छादन-क्रीड़ा है।[42] इसके द्वारा वह स्वयम् को स्वयम् से छिपाना चाहता है। अपने स्वरूप को

भुलकर उन्मत्तबद क्रीड़ा करने का भी अपना एक सुख है । भुलने की क्रीड़ा समाप्त करके वह फिर स्वयम् निज स्वरूप को पहचानने की इच्छा करता है । और पहचानकर पुन. संविद् रूप हो जाता है । अपने को भूलना उसका असामर्थ्य नहीं है । वह पूर्ण समर्थ है, सब कुछ कर सकता है । किन्तु लीलावशं असमर्थ जैसा हो जाता है । एक सार्वभौम राजा जो पूर्ण ऐश्वर्य-सम्पन्न है, कभी पैदल चलता है और कभी रथ पर बैठकर चलता है । क्यों ? क्योंकि वह अपनी इच्छा का स्वामी है । कभी कीड़ा के लिए, कभी कौतुकवशं विभिन्न चेष्टाएँ करता है । परमेश्वर भी ऐसा ही है । प्रमोदवश स्वरूप-गोपन और स्वरूप-प्रकाशन की क्रीड़ाएँ करता है ।[43]

परमेश्वर की विश्वरूपिणी इन क्रीड़ाओं का उपादान भी उसकी इच्छा के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । उसकी इच्छा ही जगद्रूप में परि-वर्तित हो जाती है । लौकिक कर्ता की तरह वह परमुखापेक्षी नहीं है । कुम्भकार घट-निर्माण के लिए उपादान कारण और सहकारियों की अपेक्षा करता है, किन्तु परमशिव तो ठहरा सर्व-समर्थ और पूर्ण स्वतन्त्र । फिर उसे निज के अतिरिक्त अन्य किसी की क्या आवश्यकता । वही निमित्त है और वही उपादान । यद्यपि परमार्थरूप से विचार करने पर लौकिक घट का कर्ता भी शिव ही है, क्योंकि वही कुम्भकार के रूप में भी है और मृत्तिका भी वही है और जो घट बना है वह घट भी तो शिव ही है । फिर भी लौकिक घट में परमशिव का कर्तृत्व तिरोहित रहता है । जब हम विचित्र रचनामय विपुल ब्रह्माण्ड का निरीक्षण करते हैं तो साक्षात् कर्ता परमशिव ही सिद्ध होते हैं क्योंकि इतना सामर्थ्य किसी अन्य में नहीं हो सकता । इस प्रकार परमशिव की इच्छा ही जगत् का मूल उपादान है । वही कर्ता है वही करण है और वही कार्य है ।

आचार्य शंकर भी ब्रह्म को अभिन्न-निमित्तेपादान कारण कहते हैं । किन्तु शांकर मत में बड़ा भारी दोष यह है कि वहाँ जगत् को परमार्थतया मिथ्या माना गया है और ब्रह्म का जगत्कर्तृत्व भी मायिक है वास्तविक नहीं । अर्थात् ईश्वर भी मिथ्या और जगत् भी मिथ्या । किन्तु त्रिक शास्त्र में परमशिव की इच्छा को उससे नितान्त अभिन्न माना गया है । अत; यहां जगत् भी सत्य है ।

परमशिव जब अपनी शक्ति की ओर उन्मुख होते हैं तो केवल इच्छा से ही विभिन्न रूममय हो जाते हैं । वे ज्ञान-शक्ति के उद्रेक से सदाशिव और क्रिया-शक्ति के उद्रेक से ऐश्वरी तनु को धारण कर लेते हैं ।[44]

परमेश्वर की इच्छा को एक सिद्ध योगी की अमोघ इच्छा के समान

ही समझें। जिस प्रकार योगी की इच्छा मात्र से नाना देह, नगर वृक्षादि की तुरन्त सृष्टि हो जाती है, उस पदार्थ-संघात के लिए किसी मृदादि उपादान की अपेक्षा नहीं होती है, उसी प्रकार भगवान् की इच्छा ही षटत्रिंशत् तत्वों के रूप में प्रसृत हो जाती है।[45] परमेश्वर की इच्छा जब थोड़ी और उन्मुख होती है तो वही ज्ञान कहलाती है, और ज्ञान का थोड़ा सा और अधिक उन्मेष ही क्रिया कहलाता है इस प्रकार इच्छा ज्ञान और क्रिया ये तीनों ही संविदरूप परमशिव के विमर्श का ही रूपान्तर हैं।[46]

जब हम परमेश्वर के इस जगदाकार परिणाम को परमेश्वर से भिन्न वस्तु समझ लेते हैं तभी हम भूल कर बैठते हैं। त्रिक दर्शन में भेद के लिए तनिक सा भी अवकाश है ही नहीं। त्रिक दर्शन तो पूर्ण अद्वयवादी है, किन्तु इस शिवाद्वयवाद को सरलता से हृदयंगम भी नहीं किया जा सकता। यह अनन्त भेदात्मक जगत् नित्य शिव-रूप है। अतः नानात्मकता में भी सत्यता विद्यमान है।[47] क्योंकि जगत् उससे भिन्न तो है नहीं। भिन्न होता या केवल अविद्या का परिणाम मात्र होता तो मिथ्या हो सकता था, किन्तु यह तो साक्षात् शिव ही है। अतः नाना रूपता में भी शिवात्मकता छिपी हुई है। वस्तुतः तो इस शिवात्मकता को छिपी हुई भी नहीं कहना चाहिए। यह तो स्पष्ट प्रसाद है उस परमशिव का। यदि दूध गाय के स्तन से पृथक् हो जाए तो क्या वह दूध नहीं रहता? दूध, दूध ही रहता है, चाहे वह स्तन में हो या पात्र में।[48] संवित, संवित् ही है चाहे वह किसी भी रूप में हो, किसी भी काल में हो या किसी भी देश में हो।

जिज्ञासा हो सकती है कि यदि परमशिव विश्वमय है और यह विश्व ही शिवमय है तब तो नरक में भी शिव ही होगा, वही नारकीय दुःखों को भी भोगता होगा? तो इसका समाधान यह है कि शिव तत्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त तत्वजात शिवात्मक है। इसलिए स्वर्ग और नरक भी शिवात्मक ही हैं। इसमें संशय का अवकाश कहाँ है? वही स्थान के अनुरूप देहों का और देहानुरूप भावनाओं को प्राप्त हो जाता है। कीड़ावश वही दुःखवेद्य कर्मकारी देहों को नरक में निवास की योग्यता के साथ धारण कर लेता है।[49] यातना देने वाला भी वही है, यातना सहने वाला भी वही है, यातना का उपकरण भी वही है और स्वयं यातना भी वही है।

योगियों की एक विशिष्ट विभूति है निर्माण-चित्त।[50] योगी अपने सामर्थ्य से विभिन्न जन्मों में भोग्य कर्मों का एक ही समय में फल-भोग करने के लिए अनेक शरीरों का निर्माण कर डालता है और उन शरीरों में अनेक चित्तों की रचना करता है। किन्तु उन नाना देहों में स्थित चित्तों का

नियामक योगी का मुख्य चित्त ही होता है। त्रिक शास्त्र के आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि उन नाना देहों में, जिनमें कुछ उत्कृष्ट कोटि के होते हैं, कुछ मध्य कोटि के होते हैं और कुछ निकृष्ट होते हैं, योगी का विभाजन नहीं होता।[51] योगी एक ही रहता है। क्या कभी सहस्रों तरंगों से समुद्र का विभाजन होता है? नहीं। वैसे ही स्वर्ग नरकादि लोकों के द्वारा और लोकस्थ प्राणि-देहों के द्वारा शिव का भेद नहीं होता। वह अखण्ड ही बना रहता है। अखण्ड परमशिव में जो भेद की प्रतीति होती है वह प्रतीति या भ्रान्ति भी शिव रूपा ही है। मोक्ष भी शिव-रूप है और बन्धन भी शिव रूप है।[52] परमशिव को एक सिद्ध योगी ही जानो। वही संसार की इन भूमिकाओं का कर्ता द्रष्टा और स्वयम् भूमिका भी है। वही अनुष्ठाता वही अनुष्ठान और वही अनुष्ठान का फल है। इस प्रकार समस्त पदार्थों की शिवता समान रूप से सर्वत्र स्थित है।[53] पर और अपर रूप से जो भेद कहा गया है वह तो श्रद्धालुओं द्वारा कल्पित कर लिया गया है।

जिज्ञासु पूछ सकता है कि यदि यह विश्व शिवमय ही है तो संसार को तुच्छ कहने वाले वाक्यों की क्या गति होगी। विश्व की असत्यता केवल प्रतिवादी शास्त्रों में ही नहीं, अपितु शैव शास्त्रों में भी अनेक स्थानों पर संसार को असत्य कहा गया है। तब तो संसार को सत्य कहने वाले आपके कथन से उन वाक्यों का विरोध उपस्थित होता है। उन तुच्छत्व वाक्यों की संगति कैसे सिद्ध होगी?

उक्त जिज्ञासा को शान्त करने के लिए आचार्य सोमानन्द कहते हैं कि विश्व को तुच्छ कहने वाले वाक्यों को अर्थवाद समझना चाहिए। जिनका उद्देश्य वैराग्य का आपादन करना है। उनका अभिप्राय इतना ही है कि केवल जगत् को ही पूर्ण शिव न समझ लिया जाए अपितु उसका विश्वोत्तीर्ण रूप भी अनुसन्धेय होना चाहिए। सर्व-शिवत्व में नाना चित्व की कल्पना तो सम्भव ही नहीं है।[54] इसलिए तुच्छत्व वाक्यों का तात्पर्यरूप से निर्दोषत्व ही समझना चाहिए। जैसे माता के "विषं भुङ्क्ष्व" इस वाक्य का तात्पर्य विष भक्षण से न होकर परगृह भोजन के निषेध में पर्यवसित है, वैसे ही विश्व तुच्छत्व वाक्यों का तात्पर्य वैराग्य सम्पादन में ही समझना चाहिए।[55]

शिवाद्वयवाद के इतना सबल समर्थन करने के बावजूद भी शैवाचार्यों को यह विश्वास नहीं है कि इस सिद्धान्त को सभी साधक हृदय में उतार लेंगे। यह शिवाद्वयवाद उन्हीं के हृदय में अवतीर्ण होता है जिन पर स्वयम् महेश्वर की कृपा होती है। उपनिषद् भी "यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः" कह कर परमेश्वर के अनुग्रह को ही सर्वातिशायी मानती है। केतकी कुसुम के

सौरभ का आस्वादन भृंग को छोड़कर भला मक्षिका कैसे कर सकती है। महेश्वर की प्रेरणा के बिना साधक उस परमाद्वयार्चन में भला कैसे अनुरक्त हो सकता है।[56]

शुद्ध सृष्टि या शुद्ध अध्वा

परमशिव से जिन छत्तीस तत्वों की सृष्टि होती है उन्हें तीन भागों में विभाजित किया जाता है—शुद्ध सृष्टि शुद्धाशुद्ध तथा अशुद्ध सृष्टि शुद्ध सृष्टि को शुद्ध अध्वा और अशद्ध सृष्टि को अशुद्ध अध्वा कहा जाता है। शिव-तत्व से लेकर शुद्ध-विद्या-तत्व की सृष्टि को शुद्ध सृष्टि कहते हैं और शुद्ध-विद्या तत्व से नीचे की माया आदि सात तत्वों की सृष्टि को शुद्धाशुद्ध सृष्टि कहते हैं तथा शेष चौबीस तत्व अशुद्ध सृष्टि कहलाते हैं।

शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या इन पांच तत्वों की शुद्ध सृष्टि के कर्ता साक्षात् परमशिव हैं। वे स्वयम् ही अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति के विलास से इन तत्वों का सृजन और संहार करते रहते हैं। जैसे समुद्र में प्रतिक्षण असंख्य तंरगों का बनना और मिटना होता रहता है वैसे ही संवित् रूप समुद्र में इन पांच तत्वों का उदय और लय अनन्त अनन्त रूपों में प्रतिक्षण होता रहता है। यह बात तो हम पहले ही कह चुके हैं कि स्पन्द की गति दो दिशाओं में साथ साथ ही होती है—अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी। अन्तमुंखी गति से इन पाँच तत्वों का लय होता है और बहिर्मुखी गति से उदय होता है। यह प्रक्रिया एक साथ ही होती है। क्षण क्षण में असंख्य रूपों में इनका उदय और लय होता रहता है। इन पाँच तत्वों के सृष्टि और संहार कार्य परमशिव ने किसी को नहीं सौंपा है। अपनी परमेश्वरता से ही वह इस कार्य का निर्वाह स्वयमेव करता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इन पाँच तत्वों की सृष्टि को शुद्ध सृष्टि क्यों कहा जाता है ? इसके तीन कारण हैं। प्रथम तो यह कि इनके कर्ता साक्षात् परमशिव हैं। शुद्ध पारमेश्वरी लीला के आस्वादन से ये आनन्द में झूमते रहते हैं। दूसरा कारण यह है कि इन शुद्ध सृष्टि के प्राणियों को अपने स्वरूप के विषय में विपरीत ज्ञान नहीं होता है। हम जैसे मलयुक्त प्राणी तो शरीर इन्द्रिय प्राण मन आदि को आत्मा समझ बैठते हैं। यही विपरीत ज्ञान है। किन्तु शुद्ध सृष्टि के प्राणी स्वयम् को शुद्ध संविद्रूप ही समझते हैं। शुद्ध "अहम्" का ही ज्ञान इनको निरन्तर होता है। इसलिए इसे शुद्ध सृष्टि कहा जाता है।

तीसरा कारण यह है कि इन तत्वों की सृष्टि में माया की कोई भूमिका नहीं होती। शुद्ध तत्वों के प्राणियों का न तो जन्म होता है और

न मरण । जन्म और मरण तो देहधारियों का होता है । इर पाँच तत्वों का कोई सूक्ष्म या स्थूल देह नहीं होता । मल और अपवित्रता का प्रभाव भी देह पर ही होता है । किन्तु शुद्ध सृष्टि के प्राणी देहरहित होते हैं । इन्हें तो एक प्रकार का भाव अथवा एक प्रकार की दृष्टि ही समझिए । ये तो शुद्ध संवित् ही होते हैं । माया से सर्वथा अस्पृष्ट होने के कारण भी इन्हें शुद्ध सृष्टि कहा जाता है ।

इस प्रकार शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या ये पाँच तत्त्व सर्वथा शुद्ध हैं । शिव, शक्ति, सदाशिव ईश्वर और अनन्तनाथ ये क्रम से उक्त तत्वों के तत्वेश्वर हैं और अकल, मन्त्र महेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र ये पाँच तत्वों के पाँच प्राणी हैं । इस सृष्टि को शुद्ध सृष्टि या शुद्ध अध्वा कहा जाता है ।[57]

शिव तत्व (प्रथम तत्व का स्वरूप)

परमशिव प्रकाश और विमर्श का सामरस्य रूप है । यह तथ्य युक्ति-पूर्वक अभी तक प्रतिपादित किया गया । संवित् ही परमशिव है । प्रकाश और विमर्श उसके दो आत्मभूत स्वभाव हैं । उस संविद्रूप परमशिव से सबसे प्रथम जो तत्व आविर्भूत होता है उस तत्व का नाम "शिव" है ।

परमेश्वर इस विशाल जगत्रूपी महावृक्ष का बीज है । उस बीज में निहित स्वातन्त्र्यशक्ति के विलास से जब स्पन्दन होता है तो उसका प्रकाश-रूप अंश कुछ स्पष्ट रूप से अभिव्यक्त हो उठता है । उसी आविर्भूत प्रकाश का नाम "शिव" है । अब यहाँ यह पूछने की आवश्यकता तो होनी ही नहीं चाहिए कि उस संविद्रूप बीज में स्पन्दन किस कारण से हुआ । जब वह स्वतन्त्र है तो उसे स्पन्दित होने से कौन रोक सकता है । वह ठहरा अपनी इच्छा का स्वामी । जब वह चाहता है स्पन्दित हो जाता है और जब चाहता है निःस्पन्द हो जाता है । परमशिव चैतन्यरूप है । यह कहने का यही अभिप्राय है कि वह चेतने की क्रिया का स्वतंत्रकर्ता है । अर्थ यह हुआ कि परमेश्वर जगत् का प्रसार और संकोच करने में किसी अन्य कारण की अपेक्षा नहीं रखता । अपेक्षा करेगा तो परतन्त्र हो जाएगा ।

स्पन्द

संवित् की स्फुरणा या स्पन्द ही परमशिव को शिव तत्व के स्तर पर अवतीर्ण करता है । इसलिए इस स्पन्द के मर्म को समझ लेना अत्यावश्यक है । "स्पन्द" शब्द स्पदि धातु से निष्पन्न हुआ है । स्पदि धातु किंचित् चलनार्थक है । स्पन्द का अर्थ हुआ—किंचित् चलन या स्फुरण । वास्तव में स्पन्द शक्ति का स्वरूप कम्पनात्मक या उच्छलनात्मक है ।[59] इसे बोध

रूपी समुद्र में निरन्तर उछलती हुई तरंग ही समझिए। जिसे हम लोक में कम्पन या हलचल कहते हैं या पवन से हिलाए गए पत्ते की सिहरन कहते हैं यह स्पन्द वैसा न हीं है। अपितु यह चिद्घन भगवान् की बाह्य जगत् रूप में स्वतन्त्र शक्तिप्रसाद की संकल्पात्मक उन्मुखता है। इसी संकल्पात्मक उन्मुखता को आचार्य वसुगुप्त ने उन्मेष और निमेष कहा है।[60]

स्पन्द को परमेश्वर का हृदय भी समझना चाहिए।[61] यह विमर्श की एक हलचल है। एक क्रियाशीलता है जो एक साथ ही उन्मेष और निमेष अर्थात् विकास और संकोच दोनों कार्य करती हैं। उन्मेष का अर्थ है विश्वोत्तीर्ण होने की इच्छा और निमेष का अर्थ है विश्वमय होने की इच्छा। यह सामर्थ्य विमर्श-रूप स्पन्द-शक्ति का ही है कि वह अवभासित पदार्थ को अपने में लय कर सकती है, निज रूप को पररूप बना सकती है, दोनों को एकाकार बनाकर धारण कर सकती है और दोनों को पृथक् पृथक् भी अवभासित कर सकती हैं।[62] इसलिए शैव शास्त्रों में इसे सर्वसंहा कहा गया है।

यह विमर्शात्मक स्पन्दशक्ति या संकल्पात्मक गतिमयता द्विमुखी है-- अर्थात् अन्तर्मुखी भी है और बहिर्मुखी भी है। विश्वोत्तीर्ण या प्रकाश प्रधानता की ओर गति अन्तर्मुखी है और विश्वरूपता अथवा क्रिया—प्रधान विमर्श-रूपता की ओर प्रवृति बहिर्मुखी है। सागर कभी तरंगहीन होता है तो कभी तरंगायमान रूप को धारण करता है। ये दोनों ही स्वभाव उसके हैं।[63] संवित् रूप समुद्र की स्पन्दात्मक तरंगों का स्वभाव भी कभी विश्वोत्तीर्ण होता है और कभी विश्वमय होता है। इन दोनों स्वभावों से वह कभी भी विरत नहीं होता। इस उभयविध स्फुरणा के बिना संवित् का स्वरूप ही नहीं बनेगा।[64] स्फुरण के बिना तो प्रकाश स्फटिकवत् जड़ ही कहलाएगा।[65]

यह विमर्श-रूप स्पन्द ही है जो जगत् का द्रावण अर्थात् बाह्य इदंरूप में अवभासन करता है और पुन: उसका आन्तर अहंरूपता में विलयन करता है। इस प्रकार वह दोनों ओर निरन्तर क्रियाशील रहता है। उसकी दिशा युगपत् बहिर्मुख और अन्तर्मुखी भी है। स्पन्द का बहिर्मुख प्रसार स्वात्मविकास कहलाता है और अन्तर्मुखी प्रसार स्वात्म—संकोच कहलाता है। अपने बहिर्मुखी प्रसार में वह पराद्वैतवाद को भी भुला डालता है। और द्वैतभाव का अवभासन करता हुआ जीवरूप में प्रकट होकर अपने आपको शिव से, अन्य जीव से तथा इस प्रमेय संसार से पृथक् समझने लगता है। अपने अन्तर्मुखी संकोच में वह अपने भूले हुए स्वरूप को पुन: पहचान कर फिर से

शिव बन जाता है। बनता क्या है शिव तो वह था ही। वह केवल अपनी शिवता को पहचान कर उसके आनन्द का उपभोग फिर से करने लग जाता है। ये दोनों उसके निजी स्वभाव हैं। इस प्रकार स्पन्द शक्ति से वह द्विमुखी क्रिया करता है। इस प्रकार स्पन्द विमर्श का ही स्फुरणात्मक परिणाम है।[66]

स्पन्द-शक्ति एक महान् सत्ता है।[67] इसलिए प्रत्येक क्रिया करने में स्वतन्त्र है।[68] यही शक्ति विश्व के प्रत्येक दृश्यमान अथवा अदृश्यमान पदार्थ को सत्ता प्रदान करती है। इतना ही नहीं जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष रूप में पूर्ण अभाव होता है उनको ही कल्पना के द्वारा सत्ता प्रदान करती है। आकाश-पुष्प, बन्ध्यापुत्र और शशश्रृंग ऐसी ही कल्पनाएं हैं।[69] इसके अतिरिक्त देश, काल और आकार की सीमाओं को भी यही स्पन्द शक्ति जन्म देती है। यह स्पन्द स्वयं नित्य और व्यापक है इसलिए वह ससीम पदार्थों में भी अपनी असीमता को नहीं खोता है।

स्पन्द शक्ति अनन्त है

परमशिव की शक्ति वस्तुतः एक ही है—स्वातन्त्र्य शक्ति। चूंकि उसका स्वभाव निरन्तर स्पन्दित होना है, इसलिए उसी का नाम स्पन्दशक्ति भी है। यह शक्ति एक होते हुए भी प्रसार की भूमिका पर सतत अनन्त धाराओं में प्रवहमान है। संसार के जितने भी दृश्य अदृश्य कल्पित पदार्थ हैं वे सब इसी शक्ति के रूप हैं। यह शक्ति दो रूपों में कार्य करती है—सामान्य भूमिका के रूप में और विशेष भूमिका के रूप में। सामान्य रूप का अर्थ है—अनेकाकारता में एकाकारता और विशेष रूप का अर्थ है—एकाकारता में अनेकाकारता। स्पन्द शक्ति का सामान्य रूप विश्वात्मक सूक्ष्म चेतना है जो कि विश्व के अनेक रूपों में भी सामान्य रूप से व्याप्त है। इसका दूसरा विशेष रूप विश्व के अनेक एवं विचित्र नाम रूपात्मक पदार्थों का रूप है। इस रूप में भेद की प्रधानता होने के कारण परमार्थ में एक होते हुए भी अनेकाकाररूप में प्रवहमान है।

स्पन्दशक्ति की सामान्य भूमिका पति-दशा की भूमिका है जिसमें वह चित आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया इन पांच रूपों में निरन्तर विकास को प्राप्त करती रहती है। पति प्रमाता की जो मूल स्वातन्त्र्य शक्ति है वही उसकी आनन्दघनता है, आनन्द का चमत्कार ही इच्छा-शक्ति कहलाती है, उसकी प्रकाश-रूपता ही चित्-शक्ति कहलाती है, उसका विमर्शरूप ही ज्ञान शक्ति है और प्रत्येक प्रकार के आकार को अवभासित करने का उसका सामर्थ्य ही क्रिया-शक्ति है।[70] स्पन्द की विशेष भूमिका उसका पशु अर्थात्

जीव-भाव की भूमिका है जिसमें वह अन्तःकरण प्राण और इन्द्रिय आदि के रूप में निरन्तर प्रवहमान रहती है। इस प्रकार यह निखिल प्रपञ्च परमेश्वर की इसी स्वातन्त्र्यात्मक स्पन्दशक्ति का ही प्रसार है।[71]

इस प्रकार यह स्वातन्त्र्यात्मक स्पन्दशक्ति अनेक रूपों में प्रसृत है फिर भी मुख्य रूप से इसके तीन ही रूप हैं—इच्छा, ज्ञान और क्रिया।[72] ये इसके शश्वत रूप हैं जो पति और पशु दोनों अवस्थाओं में सतत स्फुरित होते रहते हैं। प्रत्येक प्राणी के अन्तःकरण में सर्वप्रथम किसी वस्तु की इच्छा ही उत्पन्न होती है। वह वस्तु बाहर नहीं होती अपितु वह अन्तश्चेतना में पहले ही विद्यमान होती है। उस वस्तु को वह ज्ञानशक्ति से जानता है और पुनः क्रियाशक्ति से उसे कार्यरूप प्रदान करता है। यही स्थिति पतिदशा की भी है। समस्त विश्वकल्पना शिव के अन्दर इच्छा शक्ति के रूप में पहले से ही अभिन्न रूप में अवस्थित रहती है। यही इच्छा शक्ति उत्तरोत्तर प्रसार को प्राप्त करती हुई ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में अभिव्यक्त होती है। ज्ञानशक्ति के द्वारा परमेश्वर पदार्थों का आमर्शन करता है और क्रियाशक्ति के द्वारा उनका बाह्य रूप में अवभासन करता है। इस प्रकार शिव की एक ही स्पन्दशक्ति उत्तरोत्तर प्रसार के क्रम में इच्छा ज्ञान और क्रिया का व्यपदेश धारण करती है।

इच्छा ज्ञान और क्रिया ये तीनों रूप परमेश्वर की माया-शक्ति के सामर्थ्य से उत्पन्न होते हैं। स्वातन्त्र्य शक्ति जब इदंभाव को बाहर अवभासित करने के लिए उन्मुख होती है तब वही मायाशक्ति कहलाती है।[73] यह माया शिव दशा को छोड़ कर सब को प्रभावित करती है।[74] यह शक्ति की वह अवस्था है जिसमें समस्त विश्व रचना की भेद-कल्पना भरी हुई होती है किन्तु वह अविभक्त रूप में रहती है। उसमें उसका विभाग नहीं होता। आचार्य जयरथ ने इस स्थिति की कल्पना सेम की फली से की है। जिस प्रकार सेम की फली के अन्दर अनन्त फलियों की कल्पना अविभक्त रूप में विद्यमान रहती है वैसे ही शिव की मायाशक्ति में अनन्त भेद-कल्पना अविभक्त रूप में निवास करती है।[75] यही भेद-कल्पना उत्तरोत्तर प्रसृत होती हुई स्पष्ट भेद के रूप में अभिव्यक्त होती है।

इस प्रकार यह शिव की स्पन्दशक्ति अनन्त अनन्त रूपों में विस्तार को प्राप्त करती हुई विभिन्न शक्तियों के रूप में अभिव्यक्त होती हैं।

शक्ति तत्व (द्वितीय तत्व)

स्पन्द के स्वरूप का ज्ञान हो जाने पर शिव-तत्व के आविर्भाव का रहस्य हमारी समझ में आ जाता है। परमशिव में जब स्पन्द हुआ तो

सामरस्य का भंग हुआ। प्रकाश और विमर्श दोनों प्रकट से हो गए। प्रकाश-प्रधान तत्व शिव कहलाया और विमर्श-प्रधान तत्व शक्ति कहलाया। शिव-तत्व में चित् शक्ति आविर्भूत हो उठी और शक्ति तत्व में आनन्द शक्ति प्रकट हो उठी। अर्थात् स्पन्द की प्रथम गति से शिव और उत्तर गति से शक्ति का आविर्भाव हुआ। कुछ और स्पन्दन हुआ तो आनन्द से इच्छा-शक्ति प्रकट हुई। यह इच्छाशक्ति ही शक्तितत्त्व का पूर्ण विकास है।

यह इच्छा किसी अप्राप्त वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा नहीं होती। शिव तो परिपूर्ण है, उसमें कोई न्यूनता है ही नहीं। यह इच्छा तो केवल अपने स्वभाव को अभिव्यक्त करने की एक उमंग होती है। चेतना के समुद्र में उठने वाली यह एक ऐसी लहर है जो बाहर आने के लिए व्यग्र है। शिव की यह इच्छा सदैव निरोधरहित होती है।[76] इसलिए शिव जैसा चाहता है वैसी क्रीड़ा करता है।

यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि शिव और शक्ति को पृथक करके विवेचन करना सम्भव नहीं है। ये दोनों पूर्णरूप से अभिन्न हैं।[77] इसलिए शिवतत्व के विवेचन में शक्ति-तत्व का और शक्तितत्व के विवेचन में शक्ति तत्व का समावेश बलात् हो ही जाता है। शक्ति का विस्तार-पूर्वक विवेचन तो हम द्वितीय अध्याय में करेंगे। इस प्रकरण में तो शिव के सन्दर्भ में ही शक्ति का विवेचन करना अभीप्सित है।

शिव और शक्ति का अभेद

विवेकशील मानवचित्त प्रायः प्रत्येक वस्तु को पृथक् रूप में जानना चाहता है। यह उसका स्वभाव है। इसी स्वभाव के वश होकर वह शिव और शक्ति को भी विश्लेषित करके जानने का प्रयास करता है। किन्तु परमेश्वर के ये दोनों रूप इतने अभिन्न रूप से परस्पर असाश्लिष्ट हैं कि एक को दूसरे से पृथक् करके जानना सम्भव नहीं। सम्भव हो भी कैसे? शिव की शिवता उसकी शक्तिता ही तो है। शक्ति की शक्तिता भी उसकी शिवता ही है। अर्थात् शिव उसे कहते ही इसलिए हैं क्योंकि वह शक्तिमान् है और शक्ति को भी शक्ति इसलिए कहते हैं क्योंकि वह शिव=कल्याणकारिणी है। शिव शक्तिरहित हो ही नहीं सकता।[78] शक्तिरहित हो जाए तो उसे शिव कौन कहे। शक्ति भी यदि अपनी शिवता को खो दे तो उसका स्वरूप ही विनष्ट हो जाए। क्या अग्नि कभी अपनी दाहकता खो सकती है? अग्नि ही तो दाहक है और दाहकता का ही नाम अग्नि है। दोनों का पार्थक्य कभी सम्भव ही नहीं। इसी प्रकार हिम से कभी शैत्य पृथक् नहीं हो सकता।

प्रतिपक्षी आक्षेप कर सकता है कि मन्त्र के द्वारा जब शक्ति का स्तम्भन कर दिया जाता है तो अग्नि से उष्णता वियुक्त हो जाती है। तो फिर आप यह कैसे कहते है कि अग्नि और दाहकता में तादात्म्य है ? इस आक्षेप का उत्तर आचार्य सोमानन्द देते हैं कि मन्त्र से अग्नि की शक्ति स्तम्भित कर दिए जाने पर उसे अग्नि ही नहीं कहा जा सकता।[79] दूसरी बात यह कि मन्त्र अग्नि से उसकी दाहकता को पृथक् नहीं करता अपितु उसकी दाहकता को हमारे पास तक आने से रोकता है।

शिव और शक्ति वस्तुतः परिपूर्ण परमशिव के दो कल्पित स्वभाव हैं। शिव उसका शुद्ध प्रकाश रूप अचल स्वभाव है। इस स्वभाव से वह निरन्तर एक ही स्वरूप से स्थिर रहता है। उसका दूसरा शक्तिरूप स्वभाव उसकी अनुपम असीम और परिपूर्ण क्रीड़ा का स्वभाव है जिसके द्वारा वह अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों के विषय में सृष्टि स्थिति संहार पिधान और अनुग्रह इन पंच कृत्यों की लीला का अभिनय करता रहता है। वस्तुतः इनको दो स्वभाव भी यहीं कहना चाहिए। स्वभाव तो एक ही है परमेश्वरता या स्वातन्त्र्य। ये तो दो पार्श्व हैं उसके। एक पार्श्व है शुद्ध प्रकाशता का अचल रूप, जिसे शिव कहा गया है. उसका दूसरा पहलू इस विशाल विश्वमय नाटक के सन्दर्भ में निरन्तर प्रवत्त रहने का है। इस पहलू को शक्ति नाम दिया गया है। परमेश्वर के ये दोनों पहलू साथ साथ ही चलते हैं। शिवत्व का अर्थ है स्थिरता और शक्तिता का अर्थ है गतिशीलता। जब शिवता की स्फुट अभिव्यक्ति होती है तो शक्तिता अस्फुट हो जाती है और जब शक्तिता की स्फुट अभिव्यक्ति होती है तो शिवता अस्फुट हो जाती है। दोनों की अभिव्यक्ति साथ साथ चलती है। स्फुटता और अस्फुटता का ही अन्तर रहता है। कोई विभाजक काल-रेखा इनके मध्य कल्पित नहीं की जा सकती। एक ही समय में परमशिव अविचल भी है और गतिशील भी। विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी। स्फुट भी है और अस्फुट भी, शिव भी है और शक्ति भी।

शिव और शक्ति को पृथक् करके न तो अनुभव किया जा सकता है और न विवेचन किया जा सकता है। यह तो साधक के दृष्टिकोण का ही रूप है कि वह उन्हें पृथक् पृथक् देखता है। वह शिव को आधार बना लेता है और शक्ति को आधेय कल्पित कर लेता है। वास्तव में तो इनमें कोई भेदात्मक सम्बन्ध है ही नहीं। ये दोनों परस्पर नितान्त अभिन्न हैं।[80] एक दूसरे के अभिव्यञ्जक और परिपोषक हैं। परमेश्वर की परमेश्वरता इन दो स्वभावों से ही पुष्ट होती है। शांकर मत के अनुसार यदि परमेश्वर सदा

एक रूप से ही स्थित रहे तो वह अपनी परमेश्वरता और संवित्व को निश्चित ही छोड़ बैठेगा ।[81]

इस प्रकार त्रिक शास्त्रों में शिव और शक्ति में पूर्ण अभेद माना गया है ।[82] और विभिन्न दृष्टान्तों के माध्यम से इसे पुष्ट किया गया है ।इसलिए इस शंका का यहाँ अवकाश नहीं होता चाहिए कि शिव के स्वरूप-निरूपण के प्रकरण में शक्ति का निरूपण क्यों किया जा रहा है । वस्तुतः शिव का स्वरूप-निरूपण शक्ति के ही अधीन है । शक्ति के विभिन्न रूपों की चर्चा हम अगले अध्याय में करेंगे ।

शिव की विभिन्न अन्वर्थ संज्ञाएँ

वस्तुत: तो परमशिय का कोई नाम नहीं होता । जो सर्वस्वरूप है भला उसका क्या नाम हो सकता है । किन्तु विश्व में जितने भी नाम हैं चाहे वे जड़ पदार्थों के हैं या चेतना प्राणियों के वे सभी नाम उसी शिव के हैं । क्योंकि विश्वरूप में शिव ही तो प्रसृत है । इस प्रकार शिव अनाम भी है और वही सर्वनाममय भी है । वह अरूप भी है और सर्वरूप भी, अकाम भी है और सर्वकाम भी, जड़ भी है और चेतन भी, उपासक भी है, उपास्य भी, भेद भी वही है, अभेद भी वही है और भेदाभेद भी वही है । वही शक्ति भी है और शक्तिमान् भी । अधिक क्या कहा आए । दृष्टा और दृश्य, वक्ता और वाच्य, स्तोता और स्तुति, नाम और नामी, पद और पदार्थ सब कुछ वही है ।

कहने का अभिप्राय यह है कि परमार्थ रूप में तो शिव समस्त संज्ञाओं और अभिधानों से रहित है किन्तु भेदप्रिय पशुप्रमाता विभिन्न नामों से उसकी स्तुति करते हैं । उपासना के लिए उपास्यदेव का कोई रूप तो कल्पित करना ही पड़ेगा और उसका कोई नाम भी रखना ही पडेगा । शिव की उपासना के लिए भी साधकों ने उसके विभिन्न नाम रख लिए हैं । उनमें तीन नाम साधकों को सर्वाधिक प्रिय है—भैरव, देव और पति । ये नाम यदृच्छाशब्द नहीं हैं अपितु ये अन्वर्थ संज्ञाएँ हैं, जिनका निरन्तर जप करने से साधक अभेद-रूप भैरवपद को प्राप्त कर लेता है ।[83] जप से अभिप्राय यहाँ शिव का बार बार परामृश्यमान परावाक्रूप स्वरूप समझना चाहिए । वैखरी वाणी से पुनः पुत. उच्चारण करना जप नहीं है । यह जप चित की वह अवस्था है जिसमें भाव और अभाव दोनों स्थितियों से किंचित विलक्षणता रहती है । केवल सवित् का स्फुरण मात्र ही वहाँ रहता है ।[84] इस प्रकार परमेश्वर में भूयो भूयः भावना का नाम ही जप है । यह एक स्वयनाद है जो परावाक् स्वरूप है ।[85] भैरव आदि नामों में जो अर्थ छिपा हुआ है उसे

जाने बिना भावना करना सम्भव नहीं है। अतः शास्त्रोक्त रीति से भैरव आदि पदों का संक्षिप्त निर्वचन किया जाता है।

भैरव शब्द का निर्वचन

शिव का भैरव नाम साधकों को अपेक्षाकृत अधिक प्रिय है। इस शब्द में शिव की अनेक विशेषताएँ निहित हैं जो इसके सुनने मात्र से ही चित में स्फुरित होने लगती हैं। आचार्य अभिनव गुप्त ने इसके विभिन्न निर्वचन किए हैं।

प्रथम निर्वचन : "भैरव" में भ वर्ण भरणपोषण और धारण का द्योतक है और रव शब्द उसके शब्दन अथवा नाद के स्वभाव को प्रकट करता है। चूंकि यह विश्व का भरण पोषण और धारण करता है, तथा सदैव अपनी शक्तियों से गरजता रहता है। इसलिए यह भैरव कहलाता है। यह विश्वरूप में सर्वत्र स्फुरित हो रहा है। इसलिए विश्व के द्वारा भी वह भृत पोषित और धारित किया जाता है। इस कारण भी उसका भैरव नाम सार्थक होता है। इस प्रकार "भरणात् खणाच्चं भैरव" यह इसकी प्रथम निरूक्ति है।[86]

द्वितीय निर्वचन : भीणां अवनात् रक्षणात् "भैरव" अर्थात् यह भीरू पुरुषों का हित करने वाला है इसलिए भी यह भैरव कहलाता है। मनुष्यों की भीरुता में संसार ही निमित्त है। संसार ही सबसे बड़ा भय है। उससे अभयदान देने वाला यह शिव भैरवपद वाच्य है।[87]

तृतीय निर्वचन : भी का अर्थ है संसार का त्रास। रव का अर्थ है भगवद् विषयक परामर्श। इस प्रकार भीरव का अर्थ हुआ—संसार के त्रास से जनित भगवद् विषयक परामर्श। उस परामर्श से उत्पन्न होने के कारण यह भैरव कहलाता है। अर्थात् शिव परामर्शवान् साधकों के हृदय में स्फुरित होता है, इसलिए इसका भैरव नाम सार्थक होता है।[88]

चतुर्थ निर्वचन : चूंकि शिव भगवद्-विषयक विमर्शन का शक्तिपात के माध्यम से कारण है, इसलिए भी वह भैरव कहलाता है। अभिप्राय यह है कि भगवान् शिव शक्तिपात के द्वारा संसार के भय को दूर कर देते हैं।[89]

पंचम निर्वचन : भैरव शब्द की एक अन्य भी विचित्र परिभाषा जयरथ ने की है। भ का अर्थ नक्षत्र भी होता है। उन नक्षत्रों का ईरण अर्थात् प्रेरित करने वाला काल भेर कहलाता है। उस काल के क्षण, पल आदि स्वरूप का जो व अर्थात् वायन=अभिभव करते हैं ऐसे काल का ग्रास करने वाली समाधि से युक्त योगी लोग भेरव कहलाते हैं। उन योगियों का स्वामी यह शिव ही है। इसलिए यह शिव भैरव शब्द से अभिहित होता है।[90] भेरवाणां स्वामी भैरव।

षष्ठ निर्वचन: भैरव शब्द की एक अन्य परिभाषा भी है जो भैरव शब्द की अत्यधिक अन्वर्थ परिभाषा प्रतीत होती है। वह इस प्रकार है—भीः अर्थात् संकोच स्वभाव वाले पशुजनों के भय के लिए जिन शक्तियों का ग्व अर्थात् शब्दराशि से उत्पन्न हुआ विमर्श-रूप शब्द चारों दिशाओं में प्रसृत है ऐसी शक्तियां हैं इन्द्रिय—शक्तियाँ तथा खेचरी गोचरी, दिक्चरी और भूचरी ये चतुर्विध शक्तियां। इसलिए ये शक्तियाँ भीरव कहलाती हैं। इन सबका स्वामी वही शक्तिमान् शिव है। इसलिए भीरवा शक्तियों का स्वामी होने के कारण वह भैरव कहलाता है।[91] उन शक्तियों के द्वारा वह संसार की विचित्र भीषण वृत्तियों का निर्माण करता है। इसलिए वह महाभीम= महाभयानक है।[92] इसलिए वह भैरव शब्द-वाच्च है। लोक में भी भीषण शक्तियों का स्वामी भयानक प्रतीत होता है।

कहने का अभिप्राय यह है कि भैरव शब्द अर्थानुगत वाचक शब्द है।[93] भरण और रवण का सामर्थ्य होने से वह जगत् में भैरव कहलाता है। इस भैरव शब्द के सतत उच्चारण से शिव प्रसन्न होते हैं और साधक को अभेद-बुद्धि प्रदान करते हैं।[94] उक्त निर्वचनों में से जिस किसी भी रूप से परमेश्वर का ध्यान किया जाए परमेश्वर उसी रूप से उसके लिए प्रकट होता है।[95] वह तो साधकों का चिन्तामणि है जो उन्हें अभीष्ट वर प्रदान करता है। वह भक्तों को अभय-दान करने वाला है। संसार के जीवों के आक्रन्द का भी यही हेतु है। भक्तों के हृदय में प्रकट होकर उनका उद्धार भी यही करता है। यह काल का भी काल है। खेचरी आदि शक्तियों का भी यही स्वामी है। इस प्रकार यह महा भयानक भी है और परम सौम्य भी है। यह विज्ञान-स्वरूप है इसयिए इसे विज्ञान-भैरव भी कहा जाता है।

देव शब्द का निर्वचन

शिव का एक नाम देव भी है। निगम और आगम दोनों शास्त्रों में शिव को देव नाम से अभिहित किया गया है। लोक और वेद दोनों में ही अस्था रखने वाले साधक प्रायः देव शब्द से परमशिव की स्तुति करते हैं।

देव शब्द अनेक क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाला अन्वर्थ शब्द है। देव शब्द दिवु, धातु से निष्पन्न हुआ है। दिवु धातु छ अर्थों में प्रयुक्त होती है—क्रीड़ा, विजिगीषा व्यवहार, द्योतन, स्तुति और ज्ञान। इन छः क्रियाओं से युक्त होने के कारण ही शिव देव नाम से कहे जाते हैं।

क्रीड़ा : अपनी स्वातन्त्र्यात्मक शक्ति के माहात्म्य से शिवतत्व से लेकर पृथिवीतत्व पर्यन्त निखिल विश्व का उल्लासन उसकी क्रीड़ा है।[96] वस्तुतः बात यह है कि परमार्थ में तो वह एक अखण्ड और भेद-रहित है किन्तु

भिन्न भिन्न रूपों में अपने को प्रकट करता रहता है। यह स्वभाव उसकी क्रीड़ा ही है। विश्वरूप में प्रकट होने में उसका अन्य कोई निमित्त नहीं है। क्रीड़ा ही एक निमित्त है। कुछ छोडने या ग्रहण करने के उद्देश्य से वह विश्वप्रथन में प्रवत्त नहीं होता। वह तो नित्य तृप्त और पूर्णकाम है। जैसे कोई बालक केवल कौतुकवृश खिलौनों को बनाता है और तोड़ता रहता है। मनोविनोद ही उसमें निमित्त है। शिव की क्रीड़ा में भी उसकी आनन्दधनता ही एक हेतु है।[97] इसी क्रीड़ा-स्वभाव के कारण परमशिव देव कहलाता है।

विजिगीषा : सबसे उत्कृष्ट होने की इच्छा को विजिगीषुता कहते हैं।विजिगीषु पुरुष यही सोचता रहता है कि मैं किस प्रकार सबको अभिभूत करके सबसे ऊपर स्थित हो जाऊं। शिव भी सर्वोत्कृष्ट होना चाहता है। सर्वोत्कृष्ट तो वह है ही। सर्वोत्कृष्ट भी क्या, वह तो सर्व ही है, किन्तु उसकी सर्वता विश्वोत्तीर्ण रूप में अप्रकट रहती है। विश्वमय रूप में अपने को प्रथित करके वह सर्वोकृष्ट होने की लीला करता है। यही उसकी विजिगीषुता है। इसी विजिगीषा के कारण वह परमशिव देव शब्द वाच्य है।[98]

व्यवहार : दीव्यति व्यवहरति इति देवः, इस निर्वचन के आधार पर देव शब्द का अर्थ व्यवहार करने वाला भी है। परमेश्वर सबसे अभिन्न है फिर भी "अहीमदं जानामि" इस अपारमार्थिक भेदरूप में अपने को व्यवहार में लाता है। इसलिए भी वह देव कहलाता है।[99]

द्योतन : दीव्यति द्योतते द्योतयति इति वा देवः, देव का यह भी एक निर्वचन है। शिव तिखिल प्रमातृप्रमेयात्मक जगत् का अवभासन करता है। उस अवभासन को वह दीव्यति अर्थात् द्योतित होता है एवं उसका वह द्योतन करता है, इस कारण्‍ वह देव कहलाता है।[100]

स्तुति : दिव् धातु स्तुत्यर्थक भी है। यह सकल जगत् स्वरूप-लाभ से लेकर समस्त इति कर्तव्यतापर्यन्त उसी शिव के अधीन है। इसकी प्रवृति उसी पर निर्भर करती है। समस्त प्राणियों के अन्त करण उसी की इच्छा का अनुवर्तन करते हैं। इस प्रकार की भावना से उस परमशिव की स्तुति की जाती है, इस कारण "तेन दीव्यते स्तूयते इति देवः" इस व्युत्पति के आधार पर शिव को देव कहा जाता है।[101]

गति : गत्यर्थ को लेकर भी देव शब्द की सार्थकता सिद्ध होती है। गति का अर्थ है ज्ञान और प्रसरण। जानाति प्रसरति च इति देवः—चूंकि परमेश्वर सर्वज्ञ है और सर्वव्यापक है, प्रमातृप्रमेयात्मक यह सकल जगत् किसी विशेष उपादान के बिना ही उसी से प्रसृत हुआ है इसलिए भी वह देव शब्द से

लोक और शास्त्र में व्यपदिष्ट हुआ है ।[102]

पति शब्द का निर्वचन

शैव शास्त्रों में शिव का एक महत्वपूर्ण नाम पति भी है। यह भी एक अन्वर्थ अभिधान है। पाति रक्षति इति पतिः—अर्थात् परमेश्वर चूँकि सबकी रक्षा करता है अतः पति कहलाता है। पा धातु रक्षार्थक है। यह रक्षा अपने भीतर शासन रोधन पालन और पाचन इन चार क्रियाओं को समाविष्ट किए हुए है। चूंकि परमशिव शास्त्रोपदेश आदि के द्वारा बोध्य पदार्थों का बोध करता है, संसारी प्राणियों का रोधन अर्थात् अपने भीतर विलय करता है, सकल प्राणियों का भोग्य पदार्थों के प्रदान द्वारा पालन करता है तथा कर्म करने वाले प्राणियों के कर्मों का फलदान द्वारा पाचन करता है, इसलिए वह पति कहलाता है। श्रेयोमय है इसलिए शिव कहलाता है।[103] उसे शिव कहने का अभिप्राय तो यही है कि वहाँ अशिव तो कुछ है ही नहीं। जो कुछ हो रहा है, किया जा रहा है और देखा जा रहा है वह अद्वय शिव ही है। अतः पति ही शिव है और शिव ही पति है।

यहां यह शंका होती है कि यदि सब कुछ शिव ही है, अशिव कुछ नहीं है तो फिर भैरव देव पति आदि शब्दों से ही उसका अभिधान क्यों किता जाए ? फिर तो सभी नाम उसके हैं, वही नाम भी है और वही नामी भी। कोई भी नाम लिया जाए सभी से उसी का बोध होगा - फिर विशिष्ट नामकरण का क्या अभिप्राय ?

शंका उचित ही है। वस्तुतः भैरव आदि विशेष नामों का एक विशेष लक्ष्य है। "वैशेष्यात् तद्वादः" इस न्याय के आधार पर विशिष्ठ नाम विशिष्ट गुणों के कारण ही दिया जाता है। थोड़ा बहुत बल तो सभी में होता है किन्तु सबको बलवान नहीं कहा जाता। अन्यों की अपेक्षा अधिक बल वाले को ही लोग बलवान् कहते हैं। इसी प्रकार अधिक गुण वाले को गुणवान् और अधिक धन वाले को धनवान् कहा जाता है। परमेश्वर को भैरव आदि नामों से व्यपदिष्ट करने का भी यही लक्ष्य है। भैरव देव और पति शब्द के व्यपदेश में जो हेतु दिए गए हैं और परमेश्वर के जिन वैशिष्ट्यों का उल्लेख किया गया है, वे विशेषताएँ शिव के अन्यान्य रूपों में नहीं होतीं, अपितु केवल उसी सर्वसमर्थ परमेश्वर में ही होती हैं। रुद्र उपेन्द्र ब्रह्मा आदि भी परमेश्वर की ही विभूतियां हैं किन्तु उन सबसे सब वैशिष्ट्य नहीं होते। कुछ ही शक्ति उनमें होती है। शिव का किंचित् अंश ही उनमें निहित है। अतः वे भैरव आदि शब्दों से अभिहित नहीं किए जाते। उनका व्यवच्छेद करने के लिए ही परमशिव को भैरव, देव

तथा पति शब्दों में प्रस्तुत किया गया है।[104] महान् की स्तुति महान् पदों से ही की जानी चाहिए। परमेश्वर तो 'महतो महीयान्' है। अन्य नाम यदि साधारण नाम हैं तो भैरव उत सबसे श्रेष्ठ नाम है। उक्त विशिष्ट नामकरण का यही उद्देश्य है। विशिष्ट एवं अन्वर्थ नामों से स्तुति किए जाने पर ही परमात्मा हृदय में प्रकाशित होता है। नाम की महत्ता को नामी से कम नहीं समझना चाहिए। वैष्णव तन्त्रों में तो राम के नाम को राम से बड़ा माना गया है। क्योंकि नाम के जप से ही राम प्रसन्न होते हैं। इसी प्रकार भैरव शब्द के श्रवण मात्र से जो भाव-चमत्कृति हृदय में स्फुरित होती है वह अन्य शब्दों में नहीं हो सकती। वैसे तो किसी भी नाम से जप करें वह शिव के पास ही जाता है। किन्तु उन नामों के जप का फल दूसरा है। भैरव शब्द का जप तो उन्हें करना चाहिए जो अपने चित्त में सद्यः शिवाद्वयभावना का समावेश चाहते हैं। अस्तु।

शिव की मानस-प्रत्यक्षगोचरता

त्रिक दर्शन में शिव का प्रत्यक्षविषयत्व स्वीकार किया गया है। अर्थात् शिव अनुमानादि प्रमाणों का विषय नहीं है अपितु वह तो साक्षात् प्रत्यक्षप्रमाण का विषय है। प्रत्यक्ष से ही उसका ज्ञान हो सकता है। यद्यपि अनुमानादि से भी उसका ज्ञान सम्भव है, किन्तु अनुमानादि प्रमाणों की प्रवृति वहीं उचित होती है जहां प्रत्यक्ष की गति नहीं होती। किन्तु शिव तो सर्वदा सर्वत्र सबके लिए प्रत्यक्ष है फिर उसके लिए अनुमानादि की क्या अवश्यकता। त्रिक शास्त्र की मान्यता के अनुसार प्रमाण प्रमेय और प्रमाता सभी कुछ तो शिव का ही रूप है। इसलिए "शिव प्रत्यक्ष से ज्ञेय है" यह कथन भी वस्तुतः अयुक्त ही है। फिर भी शास्त्रीय व्यवहार में कल्पित प्रमाण-प्रमेय-भाव भी उचित मान लिया जाता है।

शिव प्रत्यक्ष का विषय होने पर भी बाह्येन्द्रियों से गोचर नहीं है। क्योंकि बाह्येन्द्रियों से जो ज्ञान होता है वह विकल्पात्मक ज्ञान होता है जबकि शिवतत्व अमनस्क और अरूप होने के कारण निर्विकल्पक है। यहाँ शिव से तात्पर्य शुद्ध-प्रकाशरूप शिव समझना चाहिए, विश्वमय शिव नहीं। वह शिव मानस-प्रत्यक्ष का विषय है।[105] यद्यपि मानस-प्रत्यक्ष की विकल्पात्मक होता है किन्तु प्रथम क्षण में वह विकल्पशून्य ही होता है। इसे बुभुक्षादिन्याय से समझना चाहिए।

बुभुक्षा पिपासा आदि को चक्षु आदि इन्द्रियों से नहीं देखा जा सकता, क्योंकि बुभुक्षादि बाह्य इन्द्रियों का विषय ही नहीं है। बुभुक्षादि एक अनुभूति है, अतः उनका प्रत्यक्ष केवल मन के ही द्वारा किया जा सकता

है। क्षुधा एक ऐसी अनुभूति है जिसे विकल्पात्मक और अविकल्पक दोनों ही कहा जा सकता है। चूंकि क्षुधा एक मानस अनुभव है इसलिए विकल्पात्मक तो वह होगा ही, क्योंकि मन स्वयम् संकल्प विकल्पात्मक तत्व है। किन्तु प्रथम क्षण में क्षुधादि की विषयता विकल्पहीन होती है। द्वितीय क्षण में "यह बुभुक्षा है" ऐसे विकल्प का उदय होता है।[106]

बुभुक्षादि के ही समान शिव भी मानस-प्रत्यक्ष का ही विषय है। बाह्येन्द्रियों से उसका ग्रहण सम्भव नहीं है। किन्तु शिव का प्रत्यक्ष मन शक्ति के द्वारा करता है।[107] शिव का ग्रहण उसकी शक्ति के द्वारा ही सम्भव है. क्योंकि शक्ति के बिना तो शिव कुछ भी नहीं होता। अत: शिव की प्राप्ति में शक्ति के अतिरिक्त दूसरा उपाय हो ही नहीं सकता। शक्ति और शक्तिमान् में उपायोपेयभाव सम्बन्ध है। इसमें लेशमात्र भी संशय नहीं है।[108]

तो निष्कर्ष यह हुआ कि शिव का प्रत्यक्ष मन के ही द्वारा सम्भव है अन्यथा नहीं। मन विकल्पात्मक है। अत शिव का प्रत्यक्ष भी विकल्पों से होता है। विकल्प का अर्थ यह है कि नाम, जाति, गुण, कार्य आदि की योजना के साथ ही शिव का ज्ञान मन के द्वारा किया जाता है।

यहाँ यह आक्षेप किया जा सकता है कि किसी पदार्थ को उसी अवस्था में ज्ञात कहा जा सकता है जब वह सब प्रकार से जान लिया जाए। विकल्पात्मक ज्ञान तो आंशिक ज्ञान होता है। नाम एक विकल्प है, गुण एक विकल्प है, जाति एक विकल्प है। अत अंशत ही वह ज्ञान करा सकता है। सर्वात्मना ज्ञान उससे सम्भव नहीं है, क्योंकि विकल्प नियत अंश में ही अभिनिविष्ट होता है। ऐसी स्थिति में शक्ति के द्वारा शिव के मानस-प्रत्यक्ष को सर्वात्मना ज्ञान कैसे कहा जा सकता है। शक्ति भी तो एक विकल्प है। अतः मानस-प्रत्यक्ष को शिव का पूर्ण ज्ञान नहीं कहा जा सकता।[109]

उक्त आक्षेप का उत्तर आचार्य अभिनव गुप्त वृक्ष के दृष्टान्त से देते हैं।[110] आशय यह है कि हम वृक्ष के केवल रूप को दूर से ही देखकर यह जान लेते हैं कि वह वृक्ष है। हमने वृक्ष का स्पर्श नहीं किया, न ही उसके रस का आस्वादन किया है। उसकी गन्ध का भी ग्रहण हमने नहीं किया फिर हम यह कैसे जान लेते हैं कि यह वृक्ष है। हमने तो केवल उसके एक विकल्प अर्थात् रूप का प्रत्यक्ष किया था। उस एक विकल्प के द्वारा ही जिस प्रकार समग्र वृक्षका ज्ञान कर लिया जाता है वैसे ही नाद बिन्दु आदि शक्ति के ही द्वारा शिव का मानस-प्रत्यक्ष कर लिया जाता है। वह एक ही

शक्ति समग्र शक्तियों के अधिष्ठान स्वरूप शिव का अध्याहार कर लेती है। उस एक श क्त के द्वारा ज्ञात शिव को भी हम ज्ञात ही कहेंगे अज्ञात नहीं।[111] अज्ञात कहने पर अनभव से विरोध होता है।

जिज्ञासा होती है कि यह नाद और बिन्दु क्या है जिसके द्वारा मन शिव का प्रत्यक्ष करता है? वस्तुत नाद और बिन्दु ये दो सूक्ष्म शक्तियों के नाम हैं जो मन में बहुत गहरे में निवास करती हैं। मन की गहराइयों में तो अनन्त शक्तियां छिपी हुई पड़ी है। बाह्य इन्द्रियों को अवरूद्ध करके मन में थोड़ा सा झाकने पर ही इनका साक्षात्कार होने लगता है। नाद और बिन्दु का साक्षात्कार तो थोड़ा सा अभ्यास करने पर ही हो जाता है। जब हम एकान्त शान्त स्थान में बैठकर बाह्य इन्द्रियों को अवरूद्ध मन के द्वारा मन का ही ध्यान करते हैं तो प्रारम्भ में एक अस्पष्ट सी ध्वनि सुनाई पड़ती है। निरन्तर अभ्यास से यह स्पष्ट से स्पष्टतर होती जाती है। इसे ही योगी जन अनाहत या अनहद कहते हैं। बिन्दु एक गोलाकर सूक्ष्म प्रकाशात्मक उर्जा होती है जिसका साधात्कार योगी को मन के अन्दर ही होता है।

ये शक्तियाँ वस्तुतः शिव का ही रूप होती हैं। शक्ति ही शिव की शिवता है और शक्ति की शक्तिता ही शिव है। यह बात पहले कही जा चुकी है। मन में इन शक्तियों का दर्शन ही शिव का मानस-प्रत्यक्ष कहलाता है। मन ही क्यों, सभी विषयों में और सभी इन्द्रियों के अर्थों में शिव ही तो स्थित है। कहीं भी ध्यान लगाइये वहीं शिव का साक्षात्कार होगा। क्योंकि अशिव तो कुछ है ही नहीं।[112] ध्यान का तात्पर्य निराकार तिराश्रय तथा निश्छल बुद्धि से है। शरीर की मुखहस्तादि कल्पना का नाम ध्यान नहीं है।[113]

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि परमशिव के प्रत्यक्ष में शक्ति ही एक उपाय हैं। उसी के द्वारा शिव का मानस-प्रप्यक्ष कहा गया है। वह शक्ति अनन्त रूपों में सर्वत्र प्रसृत है।[114]

शिव की विभूतियां

शिव की विभूतियों का इदमित्थंरूपेण कथन करना सम्भव नहीं। मन और वाणी से अगम्य है उसका स्परूप। कहा तो उसे जाता है जो कहने वाले से भिन्न हो। त्रिक शास्त्र के अनुसार सब कुछ तो शिव ही है। कहने वाला भी वही है और कहने योग्य भी वही। वाचक वाच्य और वक्ता का भेद यहाँ स्वीकार ही नहीं किया गया। जडाजडात्मक विश्व वैचित्र्य, सृष्टि, स्थिति और संहार तथा जाग्रत् स्वप्न सुषुप्त और तुरीय

ये चार अवस्थाएँ सभी कुछ परमेश्वर की शक्ति का ही स्फार हैं।[115] यह शक्ति-स्फार ही शिव की विभूति है। दूसरे शब्दों में उसका स्वातन्त्र्य ही उसकी विभूति है।

शान्त्यातीता, शान्ता, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति ये पांच कलाएँ, इनमें समाविष्ट षट् त्रिंशत् तत्व चतुर्दश भुवन, वर्णाध्वा मन्त्राध्वा, सृष्टि आदि पंचकृत्य जाग्रदादि अवस्थाएँ, मन्त्रेश्वर आदि प्रमातृवर्ग सभी कुछ परमेश्वर का ही स्वातन्त्र्यभूत ऐश्वर्य हैं, उससे भिन्न कुछ नहीं। चिदानन्द परमार्थ शिव ही सबका अनुप्राणक है। इसलिए जो कुछ हम सोच सकते हैं और जो कुछ कह सकते हैं वहाँ तक शिव की विभूतियों का ही साम्राज्य है।[116]

अभिनव गुप्त ने शिव के छः भेद बताए हैं—भुवन, विग्रह, ज्योति, आकाश, शब्द और मन्त्र।[117] वस्तुतः शिव तो एक ही है। साधना-फल के भेद से ये उसके छ रूप कल्पित कर लिए गए हैं। भुवन का अर्थ है—भोगों का आधारभूत लोक-समूह। विग्रह शब्द से रूद्र क्षेत्रज्ञ आदि विग्रही कारणों का ग्रहण करना चाहिए। ज्योति को बिन्दु भी कहते हैं जिसके विषय में कहा गया है कि वह कदम्ब के समान गोलाकार और चमचमाते हुए तारे के समान कोई प्रकाशरूप है। आकाश का अर्थ है शून्यरूप व्यापिनी शक्ति। शब्द नादात्मक है और मन्त्र कहते हैं अकार उकार मकारात्मक वर्ण समूह को।[118] इनकी धारणा करने से दिव्य विभूतियां सहज ही प्राप्त हो जाती हैं। शिव की साक्षात् धारणा का फल तो समावेश है जिसकी चर्चा हम आगे इसी प्रकरण में करने वाले हैं। शिव के इन अवर रूपों की धारणा करने से भी अलोकिक सिद्धियां सुलभ हो जाती हैं।

पृथिवीतत्व की धारणा करने वाले योगी को बिन्दु भेद नामक विभूति प्राप्त होती है।[119] इसमें भ्रूमध्य में एक प्रकार का विशेष तेज प्रकट हो जाता है। आकाशतत्व की धारणा करने से योगी एक विशेष प्रकार की स्वयम् उच्चरित ध्वनि को सुनता है।[120] इसे नाद सिद्धि कहते हैं। तेज की धारणा से रूप-सिद्धि प्राप्त होती हैं जिसके द्वारा अन्धकार में भी वस्तु स्पष्टतया देखी जा सकती है।[121] जलतत्व पर धारणा करने से योगी को बिना स्वादिष्ट पदार्थ खाये ही अमृत के आस्वाद की अनुभूति होती है। यह सिद्धि रस कहलाती है।[122] इसी प्रकार स्पर्श और गन्ध की सिद्धि भी वायु आदि तत्वों की धारणा से सहज ही उपलब्ध हो जाती है। इन सभी सिद्धियों को शिव की ही परोक्ष विभूतियाँ समझना चाहिए।

महाकवि कालिदास ने शिव को अष्टमूर्ति कह कर उनकी स्तुति की

है।[123] और यह कहा है कि ये आठ मूर्तियां साक्षात् प्रतिदिन प्राणियों के द्वारा देखी जाती हैं ! जल,अग्नि, यजमान, सूर्य, चन्द्र, आकाश, पृथ्वी और वायु इन प्रत्यक्ष आठ मूर्तियों में शिव की विभूतियाँ ही विराजमान हो रही हैं। कालिदास मूलतः शैव ही थे और उच्चकोटि के तान्त्रिक भी थे, ऐसी हमारी दृढ मान्यता है। इन आठ मूर्तियों में निहित यदि शक्तिरूप शिव की विभूति के साक्षात् दर्शन करने की इच्छा हो तो इनमें धारणा के अभ्यास से ऐसा किया जा सकता है। वस्तुतः जो आधक शिव के जिस रूप में निष्ठा रखता है वह उसको उसी रूप में देखकर अपना अभिमत प्राप्त कर सकता है।[124] उसके इस बाह्य रूप को जान कर योगी क्रमशः उसके परमार्थ रूप को भी जान लेता है और मोक्ष को प्राप्त कर लेता है। परमशिव के कृपा-कटाक्ष से दुष्कर कार्य भी सुकर हो जाते हैं। जो एकाग्र चित्त से एक बार भी शिव का ध्यान कर लेते हैं वे फिर नरक की यातना नहीं सहते।[125] उनका कृष्ण कर्म भी कुछ न कुछ सुख देने वाला ही बन जाता है। अन्यथा तो शास्त्र विरूद्ध आचरण करने वाले पुरुष नरक में भयंकर पुरुषों के द्वारा पीड़ित किए जाते हैं।[126]

शिव की विभूतियों का यही सार है। इनको जानकर पुरुष क्रम से शिवभाव में समाविष्ठ हो जाता है और साक्षात् शिव ही हो जाता है। होता क्या है शिव तो वह है ही। केवल शान्त्यातीता कला में प्रतिष्ठा को प्राप्त कर लेता है।

स्पन्द की त्रिविध भूमिका और उसमें शिव का स्थान

परमेश्वर की स्वातन्त्र्यात्मक स्पन्दशक्ति ही सकल विश्व की उत्पति स्थिति संहार पिधान और अनुग्रह इन पंच कृत्यों का सम्पादन करती है। इस क्रम में तीन भूमिकाओं का अवभासन हुआ करता है पहली भूमिका पूर्ण अभेद की भूमिका है, दूसरी भेदाभेद भूमिका होती है और तीसरी भूमिका स्पष्ट भेद की भूमिका होती है।

1. अभेद भूमिका

स्पन्द की पहली भूमिका में शिव और शक्ति का आविर्भाव होता है। यह पूर्ण अभेद की भूमिका है। इसे शक्ति भूमिका भी कहते हैं। इस शक्ति-भूमिका में शिवता और शक्तिता दोनों भाव अभिन्न होकर रहते हैं। शिवता यदि स्थिर भाव है तो शक्तिता किंचित् चलता का भाव है। किन्तु ये दोनों भाव एक ही स्पन्द के दो पहलू हैं। इन्हें दो पहलू कहना भी ठीक नहीं। द्वित्व तो वहां रहता ही नहीं। यह तो पूर्ण अभेद की स्थिति है। इन दोनों के भीतर यह निखिल भेदात्मक जगत् इस प्रकार निलीन होकर

रहता है जैसे न्यग्रोध के बीज में विशाल न्यग्रोध वृक्ष समाया रहता है। वह न्यग्रोध वृक्ष बीच के अन्दर ही रहता है किन्तु वृक्ष के रूप में नहीं, बल्कि बीज के रूप में रहता है। उस दशा में वृक्ष की दशा का तो नाम भी नहीं होता। वहां केवल बीज होता है। शाक्त भूमिका भी केवल अभेद की अवस्था होती है। उस भूमिका में केवल "अहम्" का ही अवभास होता है, 'इदम्' का नहीं। पूर्णाहन्ता का अवभास ही अभेद भूमिका है। द्वैत की अवस्था में ही इदं की प्रतीति हो सकती है। जब वहां द्वैत है ही नहीं तो "इदम्" का अवभास कैसे सम्भव है? उस दशा में सम्पूर्ण "इदम्" उसी "अहम्" में बीच रूप में अवस्थित रहता है। शिव दशा के "अहम्" में प्रकाश की प्रधानता रहती है और शक्ति दशा के "अहम्" में विमर्श की प्रमुखता होती है। शिवता और शक्तिता दोनों अवस्थाएँ पूर्ण 'अहम्' के अवभास की अवस्थाएँ हैं। ज्ञान शिव है और विज्ञान शक्ति है।[128] ज्ञान से सद् असद् वस्तु का निश्चय किया जाता है इसलिए वह शिव है और विज्ञान से यथेष्ट कार्य का निर्माण किया जाता है इसलिए वह शक्ति है।[129] दोनों का तुल्य स्तर है, दोनों अभेद भूमिका पर आरुढ हैं, दोनों में "अहम् का अवभास होता है। यही स्पन्द की प्रथम भूमिका है।

2. भेदाभेद की भूमिका

स्पन्द की दूसरी भूमिका भेदाभेद भूमिका कहलाती है। इस भूमिका में "अहम्" के अन्दर "इदम्" का हलका सा आभास होने लगता है। शुद्ध प्रकाशरूप प्रमाता अपने अन्दर प्रमेयता की अनुभूति करने लगता है। किन्तु अभेद के आभास की स्थिति वनी रहती है। चूंकि इस अवस्था में "अहम्" और "इदम्" दोनों का अवभासन होता है इसलिए यह भेद की भूमिका है। किन्तु दोनों में परस्पर अभेद का भी आभास होता हैं। इसलिए यह अभेद की भी भूमिका है। इसलिए यह भेदाभेद भूमिका कहलाती है। इसी का दूसरा नाम विद्या भूमिका भी है। विद्या का अर्थ है "अहमिदम्" का तथा "इदमहम्" का ज्ञान। अर्थात् इस भूमिका के प्राणी जगत् को "मैं यह हूं" इस दृष्टि से देखते हैं।

3 भेद भूमिका

स्पन्द की तीसरी भूमिका का नाम भेद भूमिका है। इस अवस्था में "अहम्" और इदम्" स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् अवभासित होने लगते हैं। मायाशक्ति के द्वारा यह भेद किया जाता है। यह जगत् के पूर्ण विकास की भूमिका है। इसमें प्रमाता प्रमेय का ज्ञान "इदम्" के रूप में करता है। "अहम् का "इदम्" से कोई सम्बन्ध नहीं रहता। "अहम्"

केवल "अहम्" के द्वारा जाना जाता है और "इदम् केवल "इदम् के द्वारा। शैव दर्शन में माया जड़ तत्वों का उपादान कारण मानी गयी है। शैवों की यह माया शांकर वेदान्त की माया से भिन्न है। वहाँ वह ईश्वर की उपाधि है और मिथ्या है। किन्तु शैव दर्शन में माया यथार्थ तत्व है क्योंकि वह भी शिव-रूपिणी है। यह परमशिव की परिपूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति है। इससे जब बाह्य जगत् पूर्ण रूप से विकसित हो जाता है तब भेद भूमिका के अन्तर्गत आता है। इसी कारण यह माया-भूमिका कहलाती है।

परमेश्वर की अवरोहण एवं आरोहण लीला

यह बात पहले कही जा चुकी है कि परमेश्वर की स्पन्दात्मक गति उभयतो वाहिनी है। अनन्तानन्त रूपों में विकास को प्राप्त करती हुई परमेश्वर की लीला अवरोहण क्रम से अभेद से भेदाभेद और भेदाभेद से पूर्ण भेद की भूमिका में निरन्तर उतरती ही रहती है और साथ ही आरोहण क्रम से भेद से भेदाभेद की ओर तथा भेदाभेद से पूर्ण अभेद की अवस्था में चढ़ती ही रहती है। यहां यह बात ध्यातव्य है कि परमेश्वर की अवरोहण लीला शिवतत्व से प्रारम्भ करके पृथ्वी तत्व पर पहुंच कर सम्पन्न होती है और आरोहण लीला पृथ्वी तत्व से प्रारम्भ होकर शिवतत्व पर पहुँच कर विश्रान्त होती है। शिव पूर्ण अभेद की अवस्था है और पृथ्वी पूर्ण भेद की अवस्था है। पृथ्वी को निवृत्ति कला कहते हैं क्योंकि वहीं से प्रभु की लीला स्वरूप की तरफ़ लौटना प्रारम्भ करती है। शिव और शक्ति की अवस्था का नाम शान्त्यातीता अवस्था है क्योंकि उसके ऊपर कुछ नहीं होता। वह साधक की कृतकृत्यता की दशा है। परमेश्वर की इसी अवरोहण और आरोहण लीला का नाम विचित्र संसार है।

परमेश्वर की अवरोहण लीला का अर्थ है जगत् का विकास और शिवता का संकोच, तथा आरोहण का अर्थ है जगत् का संकोच और शिवता का विकास। इसलिए इस जगत् में छोटी से छोटी जड़ वस्तु भी शिव का ही रूप समझनी चाहिए। एक पाषाण का टुकड़ा भी शिव ही है। अन्तर है तो केवल इतना ही कि शिव तत्व में परमेश्वर की परमेश्वरता पूर्ण अभिव्यक्त रहती है और पाषाण में वह संकुचित होकर रहती है। शिव तत्व में भी संसार की स्थिति उतनी ही विचित्र है जितनी बाह्य रूप में दिखायी देती है, किन्तु शिव दशा में वह अस्फुट रहती है। वहाँ तो शिवता ही प्रस्फुट रहती है। संसार की संसारता वहां शिव-रूप में ही निवास करती है। परमेश्वर की ये दोनों लीलाएं साथ साथ ही चलती रहती हैं। इनमें कभी व्यवधान नहीं आता। इसलिए परमशिव के स्पन्द को एक गतिहीन

गति कहा गया है। गतिहीन इसलिए कहा गया है क्योंकि वह गति शिवता से बाहर जा कहाँ सकती है ? रहती तो वह शिव ही है। जहाँ से चलती है फिर वहीं लौटकर आती है। लोटकर भी क्या आती है। वह तो कहीं गयी ही नहीं थी। लौटना और जाना तो केवल समझने और समझाने के लिए है। एक भाव का विकास दूसरे का संकोच है और एक भाव का सकोच ही दूसरे भाव का विकास है। इसलिए आरोहण और अवरोहण एका प्रकार की लीला ही समझनी चाहिए। लीला कहते ही उसे हैं जो समझ के परे हो, जो न होकर भी होती हुई दिखाई देती हो। जो एक तरफ से अवरोहण है वह दूसरी ओर से आरोहण है और जो एक ओर से आरोहण कहलाता है वही दूसरी तरफ से साथ ही अवरोहण कहलाता है। इस प्रकार परमेश्वर की उभयविध लीला बड़ी विचित्र है।

शिव-साधना और उसका फल

त्रिक आचार में शिव-साधना के फल को समावेश कहा जाता है। शैवी साधना का अभ्यास जब पूर्णता को प्राप्त करता है तो उस सिद्ध पुरुष में एक ऐसी अलौकिक दृष्टि का उदय होता है जिससे वह प्रत्येक वस्तु को शिव-रूप में ही देखता है और शिवरूप ही अनुभव करता है। उस अवस्था में जीव अपनी ससीमता को और परतन्त्रता को दबाकर अपने भीतर असीम और स्वतन्त्र शिवता को समाविष्ट कर लेता है। इसी को त्रिक शास्त्र में समावेश नाम दिया गया है। समस्त शैवी साधनाओं का लक्ष्य यही है। सर्वत्र इसी का प्राधान्य है।

समावेश का मुख्य लक्षण है ज्ञान और कर्तृत्व की मुख्यता।[130] ज्ञान का अर्थ है अपने स्वरूप का बोध और कर्तृत्व की मुख्यता का अर्थ है स्वातन्त्र्य की अनुभूति या उसकी उन्मग्नता। यह समावेशात्मक ज्ञान अज्ञानरूप मल का प्रतिपक्षी है। इस समावेश के कारण जीवरूप इसी देह में स्थित हुआ भी पति और मुक्त कहलाता है। इस प्रकार त्रिक शास्त्र में समावेश समस्त आचारों का लक्ष्य है।[131]

शैव शास्त्रों में अनेक आचारों का उल्लेख मिलता है। जैसे वामाचार, दक्षिणाचार, कौलाचार, मताचार, समयाचार, और त्रिक आचार। इन सबका उल्लेख प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। प्रसंगवश अष्टम अध्याय में इनका विस्तृत विवेचन किया जाएगा। इन सब आचारों में त्रिक आचार ही सर्वश्रेष्ठ है ऐसा आचार्य अभिनव गुप्त का कथन है।[132]

उक्त सभी आचारों में न्यूनाधिक चर्या का उपयोग अवश्य किया जाता है। मद्य, मीन, मांस, मैथुन और मुद्रा इन पांच मकारों के सेवन को

चर्या कहा जाता है। ये शब्द आन्तरिक साधनाओं के प्रतीक हैं। इनका बाह्य द्रव्यों से कोई सम्बन्ध नहीं। जिह्वा लोलुप कापालिकों ने इन शब्दों का बाह्य-परक अर्थ लेकर इसे लोक-निन्दा का पात्र बना दिया। वास्तव में तो खेचरी मुद्रा का आनन्द मद्य कहलाता है। इडा और पिंगला मीन है। मन को मांस कहा गया है। सुषम्ना का ब्रह्मरन्ध्र से सम्बन्ध ही मैथुन है और असत्संग का मुद्रण मुद्रा है। त्रिक आचार में इस चर्चा की प्रधानता है जिससे समावेश शीघ्र होता है। ज्ञान और भक्ति का सुन्दर समन्वय इस त्रिक आचार में ही उपलब्ध होता है जिससे यह नितान्त कमनीय बन गया है।

यहाँ यह बात अवश्य ही ध्यान रखनी चाहिए कि उपर्युक्त आचारों की साधना करते हुए भी यह निश्चित नहीं है कि समावेश हो ही जाए। इसकी अन्तिम चाबी भगवान् शिव के ही हाथ में है। वही जब चाहेगा तभी उसमें पशु भक्ति उत्पन्न होगी।[133] वह जब चाहता है जिसे चाहता है और जितनी मात्रा में चाहता है उतनी भक्ति उसे दे देता है। जीव का इस पर कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। दीक्षा की प्राप्ति भी शिव की इच्छा से सम्भव है।[134] यह तो निश्चित ही है कि शांकरी दीक्षा को प्राप्त किए बिना सैकड़ों ज्ञानों से भी शिव का ज्ञान नहीं होता।[135] शिव की दीक्षा और शिव का ज्ञान दोनों ही मल को नष्ट कर सकते हैं अन्य कोई उपाय नहीं है।[136]

शक्ति भूमिका

शैवी साधना की तुर्या दशा अथवा शाक्त भूमिका पर आरुढ़ व्यक्ति ही समावेश में समर्थ होता है। इस भूमिका को प्राप्त करने का अभिलाषी साधक सांसारिक क्रिया-कलाप को छोड़ नहीं देता। अपितु संसार के नाना कार्य करते हुए ही क्षुद्र से क्षुद्र पदार्थों में भी वह स्वातन्त्र्य-भूत शिवात्मकता को अनुभव करने का प्रयास निरन्तर करता रहता है। इसका निरन्तर अभ्यास करते रहने से, त्रिक शास्त्र के अध्ययन से परमेश्वर के अनुग्रह से और सदगुरु के कृपा-कटाक्ष से साधक की भावना शरीरादि के आत्माभिमान से ऊपर उठकर विश्वात्म-भाव पर आरुढ़ हो जाती है जिससे अहं विमर्श स्फुरित हो उठता है, चिद्रूपता पर पड़ा हुआ मायीय मलावरण छिन्न हो जाता है और उसका स्वभाविक प्रकाश चमकने लगता है। इस प्रकार साधक इस देह में स्थित होता हुआ ही शाक्त भूमिका का स्पर्श कर लेता है। यही तुर्यादशा है, यही स्वच्छन्द भूमिका है, और यही भैरव भूमिका है।[137]

यह भूमिका शैवी साधना की वह उच्च अवस्था है जहाँ पहुँच कर साधक को प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक काल में और प्रत्येक स्थान पर उसे अपनी ही चिद्रूपता की अधिष्ठातृता का अनुभव होता है। विश्व की समस्त भंगिया उसे अपना ही रूप प्रतीत होती हैं। जैसे जल की तरंगे जल से भिन्न नहीं होती, वह्नि की ज्वाला वन्हि का ही रूप होती हैं और सूर्य का आलोक सूर्य से अपृथक होता है, वैसे ही साधक को अपना ही चिद्रूप बहिर्मुख विकास के रूप में प्रतीत होता है।[138]

तुरीयातीत भूमिका

शैवी साधना की अन्तिम अवस्था तुरीयातीत भूमिका है। तुरीया अवस्था पर अविचल और शाश्वत स्थैर्य प्राप्त करने के अनन्तर तुरीयातीत भूमिका पर आरोहण होता है। तुरीयातीत भूमिका पर आरुढ़ होने का अर्थ है पूर्ण शिवभाव को प्राप्त कर लेना। शैवी साधना की विश्रान्ति यहीं पर आकर हो जाती है।

विस्मय

स्पन्द कारिका में उपर्युक्त योग-भूमिकाओं को "विस्मय" नाम दिया गया है।[139] शैव शास्त्रों में विस्मय का अर्थ एक स्वसंवेद्य अनुभूति है जिसका कथन किया जाना सम्भव नहीं। जब योगी शाक्त भूमिका का साक्षात्कार कर लेता है तो उस अवस्था के प्रति योगी की एक अतृप्ति जैसी भावना उत्पन्न होती है, जिससे वह पुनः पुनः उस भूमिका के आनन्द में निमग्न होना चाहता है। ऐसे समय पर उसके अन्दर एक आश्चर्य जैसी स्थिति होती है जो उसे बार बार अन्तर्मुख होने के लिए आकृष्ट करती है। यह विस्मयात्मक योग भूमिका केवल स्वानुभवगम्य है और नित्य नव नव चमत्कारमयी है।

यह विस्मयात्मक योग-भूमिका लौकिक आश्चर्यमयी स्थिति से बहुत भिन्न नहीं है।[140] लौकिक अनुभव में भी जब कोई मनुष्य किसी अन्यत्र असुलभ विशिष्ट वस्तु का साक्षात्कार कर लेता है तो उसके मन में एक आश्चर्य जैसी अनिर्वचनीयवृत्ति उत्पन्न होती है। उस समय वह उस विशिष्ट वस्तु को कौतुहलपूर्ण नेत्रों से देखता हुआ कुछ भी अभिव्यक्त करने में स्वयम् को असमर्थ सा पाता है। केवल उसी वस्तु को देखकर अन्तस् में उसके सौन्दर्य का ही रस लेना चाहता है। यह स्थिति विस्मय कहलाती है। इसी प्रकार शाक्त भूमिका और तुरीयातीत भूमिका पर आरुढ़ स्वात्मनिष्ठ साधक के रूप रसादि पाँचों विषय जब सामान्य स्पन्दमयी अहन्ता में विश्राम ले लेते हैं तब उसके अन्दर अनिर्वाच्य अतिशय से युक्त

एवं चैतन्य रस के दिव्य आस्वाद से पूर्ण स्वरूप समावेश का उदय होता है। उस समावेश के आनन्द का अनुभव करता हुआ साधक आश्चर्यमानता से विभोर हो उठता है।

क्रम मुद्रा

तुर्या भूमिका का साधक जब एक बार स्वरूप-समावेश का आनन्द ले लेता है तो वह बार बार उसकी अनुभूति के लिए अन्तर्मुख होता है और बार बार बहिर्मुख होता है। निरन्तर अभ्यास से शनैः शनैः यह स्थिति इतनी सहज हो जाती है कि साधक बहिर्मुखता से अन्र्मुखता में और अन्तर्मुखता से बहिर्मुखता में विद्युत्गति से प्रवेश कर सकता है। इसके लिए उसे कोई प्रयास नहीं करना पड़ता। अनवरत अभ्यास से यह उसका स्वभाव ही बन जाता है। इस स्थिति को क्रम-मुद्रा कहा जाता है।

क्रम-मुद्रा एक नित्योदित समाधि की अवस्था है। इस अवस्था में साधक बहिर्मुखता की स्थिति में भी समाधिस्थ सा ही होता है।[141] अन्तः-प्रवेश और व्युत्थान ये दोनों दशाएँ आवेश जैसी स्थितियाँ बन जाती हैं। इसलिए क्रम-मुद्रा सबाह्याभ्यन्तर समाधि की अवस्था त्रिक शास्त्र में कही गयी है।[142]

क्रम-मुद्रा एक मदिरोन्मत्त क्षीब पुरुष के जैसी स्थिति बना देती है। इसके प्रभाव से सिद्ध योगी व्यत्थान-दशा में समस्त सांसारिक क्रियाएँ करता हुआ भी समाधिकालीन संस्कारों के द्वारा प्रत्येक विषय में चिन्मयता का ही आभास पाता है। इस प्रकार बाह्य और आभ्यन्तर दोनों अवस्थाओं में वह स्वरूपनिष्ठ ही होता है।[143] क्षण भर में बहिर्मुख तो क्षणभर में अनतर्मुख, यही स्थिति निरन्तर चलती रहती है जब तक वह तुरीयातीत दशा पर नहीं पहुंच जाता।

क्रम-मुद्रा का शाब्दिक अर्थ है क्रम का मुद्रण कर देना। सृष्टि स्थिति और संहार यह संविच्चक् का क्रम है। यह क्रम अहर्निश प्रतिक्षण प्रवहमान है। समाधि की दशा में तो इस क्रम का ज्ञान नहीं होता किन्तु व्यत्थानदशा में इसकी प्रतीति प्राय हुआ करती है। किन्तु साधना की तुर्या भूमिका व्युत्थानावस्था में भी इस क्रम का मुद्रण अर्थात् प्रतिबन्ध कर देती है। इसलिए इसे क्रम-मुद्रा कहा जाता है।[144] इसी को भैरव-मुद्रा स्शरूप-समावेश अथवा शाम्भव समावेश आदि नामों से भी शैव शास्त्रों में कहा गया है।

क्रम-मुद्रा की यह लोकोत्तर दशा शिव के अनुग्रह के बिना प्राप्त नहीं होती। भगवान् ही जब चाहते हैं तभी साधक को इस आनन्दमयी

अवस्था की अधिगति होती है।

शैवी साधना की विशेषता

ये सभी योग-भूमिकाएँ समावेश की प्राप्ति में ही पर्यवसित होती हैं। शैवी साधना की यही विशेषता है कि प्राणी मनुष्य देह में रहता हुआ ही शिवत्व की अनुभूति करता है। वह संसार से भागता नहीं है अपितु सांसारिक व्यवहारों को करता हुआ ही परमार्थ की अनुभूति भी करता है। वह विषयों से डरता नहीं अपितु उनका उपभोग करता हुआ ही उनको जीतने का प्रयास करता है। वह यह देखना चाहता है कि मेरा चित्त विषयों से अभी अनासक्त हुआ है या नहीं। यदि वह यह देखता है कि अब विषयों में इतना आकर्षण नहीं रहा कि उसके मन को अपने वश में कर सकें तो वह यह जान लेता है कि उसकी साधना सफल हुई या सफलता की ओर बढ़ रही है। यदि विषयों के जरा से झोंके से ही चित्त का दीपक डगमगाने लगे अर्थात् उनकी ओर चित्त दौडने लगे तो समझना चाहिए कि साधना अभी पूर्ण नहीं हुई।

शैवी साधना वीर और धीर पुरुषों का कार्य है। अरण्य में जाकर तो कुछ समय के लिए सभी का चित्त एकाग्र हो जाता है। वीरता तो इसी में है कि विकार कारणों की सम्मुख स्थिति होने पर भी चित्त में लेश मात्र भी विकार न आए। शैवी साधना के मर्मज्ञ महाकवि कालिदास ने इस तथ्य को कुमार-सम्भव में स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है :

विकार हेतौ सति विक्रियन्ते
येषां न चेतासि त एव धीराः ॥ कुमार सम्भव
पंचम सर्ग

शैव साधकों की यह मान्यता है कि मधुर विषयों की ओर से जब मन को और इन्द्रियवृत्तियों को बलात् दमित किया जाता है तो थोड़ा सा अवसर मिलते ही वे कोटि कोटि कुमार्गों में दौड़ने लगती है। जैसे अश्व की वल्गा के थोड़ी से भी शिथिल होने पर वे अश्व कुमार्ग में दौड़ पडते हैं वैसे ही इन्द्रियाँ भी एक उच्छृंखल अश्व की तरह हैं। थोड़ा सा छिद्र पाकर इन्द्रियां विषयों की ओर भागती हैं। परिणाम यह होता है कि पहले किया हुआ दमन और तप भी व्यर्थ चला जाता है। अनादर-विरक्ति से इन्द्रियों की वृत्तियाँ गलित हो जाती हैं। जैसे जैसे उनका बलात् विनियमन किया जाता है त्यों त्यों उनमें अधिकाधिक विकार आता चला जाता है।[145]

इसलिए त्रिक आचार की यह नीति है कि समाज के नियमों के अनुसार मधुर विषयों का उपभोग करते हुए ही शैवी साधना के द्वारा

समावेश को प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए। एक बार भी यदि यह समावेश का स्वाद प्राप्त हो गया तो लौकिक विषय तो क्या दिव्य विषय भी उसके आस्वाद के समक्ष फीके से लगने लगते हैं। उनका आकर्षण स्वतः ही पीछे छूट जाता है। इसलिए यह शैवी साधना कोई वैरागियों अथवा संन्यासियों का पलायन मार्ग नहीं है अपितु यह सामाजिक गृहस्थों की साधना है। यह उन धीर वीर गृहस्थों का पथ है जो संसार-संग्राम में आकर्षक मधुर विषयों से दो दो हाथ करते हुए पराजित करते हुए निरन्तर लक्ष्य की ओर बढ़ते रहते हैं। केवल काम दुःख को छोड़कर गृहस्थ पुरुषों को और कोई कष्ट नहीं होता। वहाँ भी वीर पुरुष ही नारियों के साथ लीलापूर्वक रमण करते हैं।[146]

समावेश के विभिन्न उपाय

शैवी साधना दो प्रकार की है—बाह्य साधना और अन्तः साधना। बाह्य साधना में श्री चक्र की पूजा, अष्टमूर्ति शिव की पूजा, कुलार्चन, कुमारी पूजा, योनि-पूजा आदि बाह्य क्रियाओं से सम्बन्ध रखने वाली उपासना आती है। वृक्ष जल शिला आदि के रूप में देवी देवताओं की पूजा भी इसी के अन्तर्गत आती है। समावेशरूप लक्ष्य की प्राप्ति में इस बाह्य साधना की उपयोगिता अत्यल्प ही है। मुख्यतया वह अन्तः साधना का ही विषय है।

अन्तः साधना भी अनेक प्रकार की है। साधक के स्तर को देखते हुए साधना का स्तर भी निम्न और उन्नत हो जाता है। निम्न स्तर की साधना के नियम ऊपरी स्तर के साधकों पर चरितार्थ नहीं होते और उच्चस्तरीय साधना के नियम निम्नस्तर के साधकों पर लागू नहीं किए जा सकते।

त्रिक दर्शन की मान्यता है कि कोई भी साधना सब साधकों पर चरितार्थ नहीं की जा सकती। प्रत्येक औषधि प्रत्येक रोगी को नहीं दी जाती। जैसा रोग वैसी ही औषधि दी जाती है। इसी प्रकार जैसा साधक होता है वैसी ही साधना गुरु के द्वारा उपदिष्ट की जाती है। किसी साधक की आस्था द्वैत में प्रतिष्ठित होती है और किसी की अभेद में। अभेद बुद्धि के नियम भेदवादियों पर भला कैसे लागू किए जा सकते हैं। एक ही उपाय से सभी शिष्यों का उद्धार नहीं होता। इसलिए परीक्षण पटु गुरु शिष्य के चित्त की अच्छी प्रकार परीक्षा करने के उपरान्त ही उसे उपयुक्त शास्त्र का उपदेश करता है। जैसे विवेकशील वैद्य अच्छी प्रकार रोग की परीक्षा करके ही रोगी की शक्ति के अनुसार उसे औषधि देता है वैसे ही योग्य गुरु शिष्य के बलाबल की अच्छी प्रकार परीक्षा करके ही शास्त्र का उपदेश

करता है। संसार में अनन्त मनुष्य हैं और अनन्त ही उनके अन्त: करण हैं। उन सबकी रूचियाँ और प्रकृतियाँ भिन्न भिन्न प्रकार की हैं। उन सबको एक ही साधना मार्ग पर नहीं चलाया जा सकता। यदि चलाया जाएगा तो सफलता नहीं मिलेगी। इसलिए त्रिक शास्त्र में मनुष्यों के कल्याणार्थ विभिन्न उपाय चित्तभेद के अनुसार बताए गए हैं (चित्त भेदान्मनुष्याणां शास्त्रभेदो बरानने)।

शैव दर्शनों में दो प्रकार के प्रमाता माने गए हैं—पशु प्रमाता और पति प्रमाता। संसार में भेद दृष्टि रखने वाले तथा जड़ देह इन्द्रिय आदि को आत्मा समझने वाले प्राणी पशु प्रमाता हैं तथा सर्वत्र शुद्ध संवित् को अपना स्वरूप समझने वाले तथा जगत् को अपने ही देह का विकास समझने वाली प्राणी पति प्रमाता है।[147]

पश्यतीति पशः जो केवल देखता ही है तत्व को समझता नहीं है उसे पशु कहते हैं। अथवा पाश्यते इति पशुः—जो बांधा जाता है वह पशु है। पशु प्रमाता संसार में बुद्ध होता है। पति तत्वज्ञ होता है और पशुओं का स्वामी होता है। उन दोनों की साधना-पद्वति एक नहीं हो सकती। पशु प्रमाताओं के लिए द्वैतवादी शास्त्र उपयोगी है और पति-प्रमाता के लिए अभेदवादी भैरवादि शास्त्र कल्याणकारी हैं। पशु भक्ष्या-भक्ष्य, शुद्धि, अशुद्धि और विधि निषेध के कठोर नियमों में आबद्ध होता है। उनमें संकोचभाव की अधिकता हीती है। किन्तु पति-प्रमाताओं में उत्तरोत्तर शिवता का ही विकास होता जाता है। भक्ष्या-भक्ष्य विधि निषेध आदि की चिन्ता भी इनमें नहीं होती। उन्हें तो किसी भी उपाय से, साधन से. क्रिया से या विषय से समावेश की प्राप्ति हो जाती है। पशु प्रमाताओं को इन पति प्रमाता के कर्तव्यों का अनुकरण नहीं करना चाहिए। उन्हें इस स्तर पर आने के पश्चात् ही अर्तात् अभेद-भाव पर आस्था होने के उपरान्त ही पति-प्रमाताओं के शास्त्र का पालन करना चाहिए। पाशव ज्ञान में संकोच का तारतम्य होता है और पति-ज्ञान में विकास का।[148] अतः दोनों ही साधना एक नहीं हो सकती। वैसे क्रम से दोनों को ही समावेश की प्राप्ति हो सकती है क्योंकि संकोच और विकास हैं तो शिव के ही रूप। हाँ उपाय में भेद और तारतम्य अवश्य है। अतः उन उपायों को अच्छी प्रकार जान लेना चाहिए।

त्रिक शास्त्र में समावेश के अनेक उपाय निर्दिष्ट किए गए हैं जिसकी साधना से प्राणी अवश्य ही शिवभाव-समाविष्ट हो सकता है। ये उपाय हैं—शाम्भव उपाय, शाक्त उपाय, आणव उपाय, उच्चार योग और

अनुपाय । इनका विशद विवेचन अष्टम अध्याय में अज्ञात निरूपण के प्रसंग में किया जाएगा । यहाँ इनकी दिङ् मात्र व्याख्या की जाती है ।

शाम्भव उपाय

देह, मन, बुद्धि, प्राण या वाणी के द्वारा कुछ भी न करते हुए न कुछ सोचते हुए, सर्वथा अकिंचित्कर होकर चित्त को निश्चल बनाने का अभ्यायस करना शाम्भवोपाय है ।[149] इसमें केवल आत्मदेव ही कर्ता कर्म और करण सब कुछ होता है । इसी को इच्छोपाय भी कहते हैं । यह अभेदोपाय भी कहलाता है ।

शाक्तोपाय

उच्चाररहित शान्तभाव से केवल चित्त के द्वारा अपने वास्तविक स्वरूप और स्वभाव को यथार्थ रूप से जानने का अभ्यास करना शाक्त उपाय कहलाता है । इसमें साधक का चित्त अपने स्वयं के विषय में ही शुद्ध दिकल्पों के ही ज्ञान का अभ्यास करता रहता है । शाम्भवोपाय में चित्त की भी आवश्यकता नहीं थी । शाक्त उपाय में चित्त अपेक्षित होता है ।[150] भेदाभेद उपाय भी कहलाता है ।

आणव उपाय

चित्त को अपने से भिन्न वस्तुओं पर स्थिर करके भावना के द्वारा उन वस्तुओं को आत्म परमेश्वर के रूप में ही समझने का अभ्यास करना आणव उपाय है ।[151] शाम्भवापाय और शाक्तोपाय के अधिकारी विरले महापुरुष ही होते हैं । आणव उपाय के अधिकारी साधारण साधक भी हो सकते हैं ।

उच्चार योग

हृदय में प्राण के उच्चार के साथ साथ सर्वता असीम और परिपूर्ण आनन्द की अवस्था में विश्रान्त होने का अभ्यास करना उच्चारयोग है । शैवी साधना में इसे प्राणयोग भी कहते हैं । यहां उच्चार शब्द से वाणी द्वारा उच्चारण नहीं समझना चाहिए और न ही प्राणयोग का अर्थ प्राणायाम समझना चाहिए । प्राण को आलम्बन बनाकर जो साधना की जाती है वही त्रिक शास्त्र में उच्चारयोग या प्राणयोग कहलाती है । जगदानन्द की अनुभूति हृदय में इसी उच्चारयोग से होती है ।[152]

अनुपाय

किसी उत्कृष्टतर अधिकारी को जब किसी उपाय के बिना ही शिव-भाव का समावेश हो जाता है तो उसे अनुपाय या तिरूपाय समावेश कहा जाता है । यह समावेश किसी समर्थ गुरु के अनुग्रह से, दृष्टिपात से, उसके

हस्त स्पर्श से या उसके दिए हुए चरु भोजन के खाने से किसी अभ्यास के बिना ही स्वयमेव हो जाता है।[153]

इस प्रकार शाम्भव से अनुपाय तक की यह शैवी साधना त्रिक दर्शन की अपनी संपत्ति है। इस समस्त उपायों में बलात् चित्त को निरुद्ध करना उपयुक्त नहीं माना गया है। इस शैवी साधना की प्रारम्भिक अवस्था में चित्त को शिवभाव की भावना में लगाया जाता है। अभ्यास परिपक्व होने पर शिवभाव का समावेश अनायास ही हो जाता है। वृत्तिनिरोध की आवश्यकता ही फिर नहीं पड़ती। संक्षेप में त्रिक शास्त्र के अनुसार समावेश ही शिव साधना का अन्तिम लक्ष्य है।

सात प्रकार के प्राणी

परमेश्वर की इन षट् त्रिशत् तत्वों की सृष्टि में सात प्रकार के प्रमाता निवास करते हैं। इन्हें ही प्राणी कहा जाता है। प्रामाता का अर्थ है जानने वाला और करने वाला। अर्थात् प्रमाता ज्ञान-शक्ति और क्रिया-शक्ति से सम्पन्न होता है। प्राणी शब्द का अर्थ यहाँ स्थूल देह धारण करने वाला या श्वास प्रश्वास लेने वाला नहीं समझना चाहिए। अपितु प्राण शब्द का अर्थ है जीवन शक्ति। इस जीवन शक्ति को धारण करने वाला प्रमाता प्राणी कहलाता है।[154] यद्यपि अपनी पूर्ण भेद की अवस्था में प्राणी स्थूल देह भी धारण करता है, श्वास प्रश्वास की क्रियाएँ भी करता है, क्षुधा पिपासा निद्रा आदि की अनुभूति भी ग्रहण करता है किन्तु यह प्राणी शब्द का पूर्ण अर्थ नहीं है। अभेद और भेदाभेद की भूमिका के प्राणी उक्त क्रियाएँ नहीं करते। उनका स्वरूप तो शुद्ध चैतन्य ही होता है।

ये प्रमाता या प्राणी त्रिक शास्त्र में सात प्रकार के माने गए हैं— अकल, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर, मन्त्र, विज्ञानाकल, प्रलयाकल और सकल। शिव और शक्ति तत्व के प्राणी अकल प्राणी कहलाते हैं। सदा-शिव तत्व के प्राणी मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर-तत्व के प्राणी मन्त्रेश्वर और शुद्ध-विद्या के प्राणी मन्त्र-प्राणी कहलाते हैं ये शुद्ध सृष्टि के प्राणी हैं। इससे निचली भूमिका अर्थात् भेदाभेद भूमिका के प्राणी विज्ञानाकल और प्रलयाकल कहलाते हैं। अशुद्ध सृष्टि की पूर्ण भेद की भूमिका के प्राणी सकल कहलाते हैं।

सात प्रकार के प्राणियों का यह संक्षिप्त विवेचन है। यथा स्थान इनका विशद विवेचन किया जाएगा। यहाँ केवल इतना जान लेना चाहिए कि प्राणियों का यह विभाजन मल के अभाव, उसकी विरलता और घनता के आधार पर किया जाता है। त्रिक दर्शन में अज्ञान को मल कहा जाता है। यह मल ही संसार का कारण है। इस अज्ञान को भी ज्ञान का अभाव

नहीं समझना चाहिए । अपितु शैव शास्त्रों में ज्ञान के संकोच को या अपूर्ण ज्ञान को अज्ञान कहा गया है । इसी मल के कारण प्राणियों का वर्गीकरण किया गया है ।

शिव और शक्तितत्व के प्राणी जिन्हें अकल कहा जाता है मल से सर्वथा रहित होने के कारण निर्मल या शुद्ध प्राणी कहलाते हैं। मन्त्र महेश्वर तथा मन्त्रेश्वर एवं मन्त्रप्राणी शुद्धाशुद्ध कहलाते हैं क्योंकि इनमें मल का हल्का सा उन्मेष होता है और इनसे नीचे के माया तत्व के प्राणी विज्ञानाकल प्रलयाकल और सकल प्राणी अशुद्ध प्राणी कहलाते हैं । सकल प्राणियों की अपेक्षा विज्ञानाकल और प्रलयाकल उत्कृष्ट माने गए हैं । इनमें सकल प्राणी ही देह इन्द्रिय अन्तः करण श्वासादि आदि व्यवहारों को करते हैं अन्य नहीं । विज्ञानाकल और प्रलयाकल प्राणियों का देह अत्यन्त सूक्ष्म होता है । किन्तु अकल मन्त्रेश्वर, मन्त्रमहेश्वर और मन्त्र प्राणियों का देह नहीं होता । वे शुद्ध संवित् रूप में ही प्रतिष्ठित रहते हैं । पूर्ण अहम् के प्रकाश और विमर्श का ही इन्हें अवभास हुआ करता है । इनमें मल का सर्वथा अभाव होता है । मल तीन प्रकार का है—आणव मल, मायीय मल और कार्मण मल । इनका विशद विवेचन आगे किया जाएगा ।

शिव और शक्तितत्व के प्राणी—अकल

उल्लेख किया जा चुका है कि शिव और शक्तितत्व में प्रतिष्ठित प्राणियों की अकल संज्ञा है । अकल का अर्थ है—कलाओं से रहित । यह कला माया का कार्य है। क्रियाशक्ति के संकोच को कला कहा गया है । कलातत्व के साथ अशुद्ध विद्या, राग नियति और काल ये चार तत्व मिलकर कला-पंचक कहलाते हैं । यह कला-पंचक संवित् का चित्, इच्छा, ज्ञान, क्रिया और आनन्द का संकोच कर देते हैं जिससे वह संवित् पुरुष या जीव कहलाने लगती है । इसी कला-पंचक के द्वारा किए गए शक्ति-संकोच से प्रमाता परिमित हो जाता है ।[155] यह कला शिव और शक्ति तत्व के प्राणियों में नहीं होती, इसलिए उन्हें अकल कहा जाता है ।

माया तत्व से प्रसूत कला का यह स्वभाव ही है कि वह शुद्ध संवित्रूप शिव को किंचित्कर्तृत्व का अभिमानी बना देती है ।[156] इसलिए वह अशुद्ध सृष्टि के तत्वों में स्वयम् को अल्पज्ञ अशक्त, सीमित और आनन्द रहित सा समझ लेता है ।[157] किन्तु शिव और शक्ति तत्व पूर्ण शुद्ध सृष्टि हैं इसलिए इनको कला का स्पर्श भी नहीं हो पाता ।

अकल प्राणी सबसे उत्कृष्ट कोटि के प्राणी हैं । ये नितान्त निर्मल होते हैं क्योंकि माया ने इनको मलिन नहीं किया होता । ये पूर्ण अभेद की

भूमिका पर स्थित होते हैं। पूर्ण अभेद का अर्थ यह है कि इन्हें अपने स्वरूप भूत अहम्प्रकाश और अहंविमर्श के अवभास के अतिरिक्त कुछ भी ज्ञात नहीं होता। ये अपने को पूर्ण अपरिमित और अद्वैत परमेश्वर ही समझते हैं। "अहम्" के अतिरिक्त इन्हें अन्य किसी प्रमेयरूप इदम् का अवभास होता ही नहीं। "इदम्" का तो उस समय नाम भी नहीं होता। केवल 'अहं" रूप स्पन्द की आनन्दात्मक तंरगें ही इन प्राणियों में सतत उछलती रहती हैं। इन्हें स्वयम् ही अपने आनन्द का सतत अनुभव हुआ करता है।

अकल प्राणियों की स्थिति शिवतत्व और शक्तितत्व में होती है। शिवतत्व के प्राणि शाम्भव प्राणी कहलाते हैं और शक्तितत्व के प्राणी शाक्त प्राणी कहलाते हैं। चूँकि शिवतत्व प्रकाश-प्रधान अवस्था है इसलिए शाम्भव प्राणियों में प्रकाश का अवभास अधिक होता है और शाक्त प्राणियों में विमर्श की चमत्कृति होती है। यह हम अनेकशः कह चुके हैं कि शिव और शक्ति में भेद नहीं हुआ करता। यह पूर्ण अभेद की अवस्था है। इसलिए शाम्भव और शाक्त दोनों प्रणियों के "अहम्' के अवभास में कोई अन्तर नहीं है। विशेष अभिप्राय इतना ही है कि उन प्रणियों को इदन्ता या विषयता का लेशमात्र भी आभास नहीं होता।

यहाँ यह बात विशेवरूप से ध्यान रखनी चाहिए कि "शिव" का अर्थ यहाँ कैलासवासी चन्द्रमौलि भगवान् शंकर नहीं है और न ही शक्ति का अर्थ गिरिजा लेना चाहिए। भमवान् चन्द्रमौलि और गिरिजा तो शुद्ध विद्या तत्त्व के अधिपति भगवान् अनन्तनाथ के द्वारा अभिव्यक्त किए गए अन्य तत्त्वेश्वर हैं जिन्हें सृष्टि-संचालन के लिए विशिष्ट कार्यों में नियुक्त किया गया है। शिव का अर्थ यहां शुद्ध प्रकाश ही लेना चाहिए और शक्ति से भी विमर्शरूपिणी चेतना ही गृहीत की जानी चाहिए।

समीक्षा

त्रिक दर्शन के अद्वयवाद को और शिव से षट्त्रिंशत् तत्वों के उन्मेष की विधि को सूक्ष्म बुद्धि से समझ लेने के पश्चात् अन्य सभी दर्शनों के जगदुत्पति के सिद्धान्त अपूर्ण एवं दोषयुक्त प्रतीत होने लगते हैं। बौद्ध, न्याय, सांख्य मीमांसा और शांकर वेदान्त तथा वैष्णव दर्शनों में पृथक् पृथक् रीति से जगत् की उत्पत्ति, विकास, प्रलय और मोक्ष की विधि का विवेचन किया गया है। इन दर्शनों में अब तक शांकर वेदान्त ही अपेक्षाकृत प्रबुद्ध विद्वानों के हृदय में स्थान बना पाया है। उसी के तर्कों ने उनकी बुद्धि को सन्तुष्ट किया है। उसी को प्रायः सर्वोत्कृष्ट दर्शन माना जाता

है । कहते हैं अन्य शास्त्र अभी तक जम्बुकों के समान गरजते हैं जब तक वेदान्त केसरी की गर्जना नहीं होती ।[158] किन्तु हमारा यह दृढ़ विश्वास है कि यदि काश्मीर शैव दर्शन की इस अद्वयवादी शाखा का एक बार भी निष्पक्ष दृष्टि से अनुशीलन कर लिया जाए तो शांकर सिद्धान्त भी उसी प्रकार निस्सार और नीरस प्रतीत होने लगेगा जिस प्रकार मृद्वीका मधु माधुरी के स्वाद के पश्चात् समस्त माधुर्य फीके लगने लगते हैं ।

हमारे उक्त कथन का अभिप्राय यह कदापि नहीं है कि अन्य दर्शनों के सिद्धान्त झूठे हैं या उनकी उपयोगिता नहीं है । वे भी सत्य हैं । उनकी भी उपयोगिता है । चार्वाक दर्शन भी जो कहता है वह भी किसी सीमा तक सत्य है । तभी तो सिद्ध पुरुष भी व्यवहार के स्तर पर चार्वाक जैसे ही लगते हैं । लगते क्या हैं होते ही चार्वाक हैं । इसी प्रकार जिस जिस दर्शन के लिए उनका आविर्भाव हुआ है उस उस प्रयोजन की सिद्धि तो वे कर ही देते हैं । किन्तु उन दर्शनों को पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता । वे आंशिक सत्य का ही उद्घाटन करते हैं । जो दर्शन साधक को चरम लक्ष्य पर न पहुँचा सके अथवा आनन्द की अन्तिम भूमिक पर आरुढ़ न करा सके उसे पूर्ण सत्य नहीं कहा जा सकता । वह किसी मध्यवर्ती स्थान पर ही पहुँचा सकते हैं । अतः उन्हें अंशतः ही सत्य कहना उपयुक्त होगा । ऐसे दर्शन अवर कोटि के साधकों के लिए ही हितकारी हो सकते हैं, उत्तम कोटि के साधकों के लिए नहीं । पूर्ण सत्य तो यह त्रिक दर्शन का शिवाद्वयवाद ही है क्योंकि यहाँ मिथ्या कुछ भी नहीं है । विद्या, अविद्या, भ्रम, मिथ्या ज्ञान, पाप, पुण्य जगत् स्वेच्छाचार सभी कुछ शिवरूप होने के कारण सत्य हैं ।

न्याय सांख्य आदि दर्शनों की विद्या भी साधारण सामर्थ्य और बुद्धि वाले साधकों के लिए उपयोगी है । साधारण पुरुष भेद-बुद्धि पर प्रतिष्ठत होते हैं । उनके लिए भेदवादी शास्त्र उपयोगी हो सकते हैं, किन्तु भेदवाद बहुत समय तक ठहर नहीं सकता । साधना यदि निरन्तर गतिशील रहे तो वह अभेदवाद पर ही जाकर विश्राम लेती है । किन्तु सभी मनुष्यों की मानसिक योग्यता बराबर नहीं होती । अतः एक ही शास्त्र सबके लिए हितकर नहीं हो सकता । काश्मीर शैव दर्शन की यह मान्यता है कि विभिन्न प्रकार के मनुष्यों के हृदयों को सन्तुष्ट करने के लिए परमेश्वर ने विभिन्न प्रकार की दर्शन विद्याओं का आविष्कार ऋषियों के द्वारा कराया है । जैसे एक ही औषधि सब रोगों में आरोग्यकारिणी नहीं होती, वैसे ही एक शास्त्र सब साधकों का कल्यान नहीं कर सकता । यह अद्वयवादी त्रिक शास्त्र भी उच्चतम स्तर के साधकों के लिए ही उपयोगी है ।

नैयायिको के परमाणुवाद में दोष

न्याय और वैशेषिक दर्शन जगत् का आरम्भ परमाणुओं से मानते हैं। उनके अनुसार परमेश्वर परमाणुओं के संघात से इस जगत् की नूतन सृष्टि करते हैं। नूतन सृष्टि का अर्थ यह है कि यह स्थूल जगत् पहले से परमाणुओं में नहीं था परमात्मा ने ही इसको परमाणुओं को जो जोड कर बनाया है। परमात्मा के द्वारा बनायी हुई इस सृष्टि में जीवात्मा अपने कर्मों का फल भोगता है। उसके वे कर्म अनादि हैं क्योंकि उनका कारणभूत मिथ्याज्ञान भी अनादि हैं। जीवात्मा तत्वज्ञान के द्वारा मिथ्याज्ञान का नाश करके मोक्ष प्राप्त कर सकता है। मोक्ष दशा में जीवात्मा शून्य गगन और शिला शकलवत् प्रवृत्तिशून्य हो जाता है। उस समय वह न कुछ सोचता है, न कुछ करता है और न कुछ चाहता है। न्याय दर्शन में इस अवस्था को अपवर्ग नाम दिया गया है।[159]

शिवाद्वयवादियों की दृष्टि में न्याय का यह परमाणुवाद न तो निर्दुष्ट है और न ही रुचिकर है। न्याय की दृष्टि में परमाणु सबसे सूक्ष्म और नित्य पदार्थ हैं किन्तु त्रिक दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया में तो यह बहुत पश्चात् की रचना है। जब ब्रह्मा जी स्थूल जगत् की सृष्टि करते हैं। परमाणु से सूक्ष्म तो पंचतन्मात्र ही हैं। तन्मात्रों से सूक्ष्म अहंकार है, अहंकार से सूक्ष्म बुद्धि है और उसमें भी सूक्ष्म अव्यक्त है। अव्यक्त से पहले भी द्वादश तत्वों की सृष्टि हो चुकी है। न्याय का परमाणु तो यहाँ सूक्ष्मता में कहीं ठहरता ही नहीं। यह तो बहुत स्थूल तत्व है। इसलिए परमाणु को सबसे सूक्ष्म कहना तो नितान्त प्रमाद है।

न्याय का अपवर्ग भी मुमुक्षुओं को ग्राह्म नहीं हो सकता। यह तो एक अकर्मण्यता और जड़ता की अवस्था है। इसे तो सुषुप्ति से भी नीचे की अवस्था कहना चाहिए। क्योंकि सुषुप्ति में आनन्द की अनुभूति होती है। इससे अच्छा तो संसार ही है जहाँ बीच बीच में थोड़ा बहुत सुख मिल जाता है।

न्याय सिद्धान्त में दूसरा दोष यह है कि यहाँ जीवों के कर्मो को भोग का हेतु और मिथ्याज्ञान को कर्मों का हेतु तो बताया गया है किन्तु मिथ्या ज्ञान का क्या कारण है ? इस प्रश्न को अनुत्तरित ही छोड़ दिया गया है। केवल अनादि मानकर उत्तरदायित्व से बचा नहीं जा सकता। त्रिक दर्शन तो इसका उत्तर दे सकता है। चूंकि यह सब शिव का स्वभाव ही है, इसलिए वहाँ कोई दोष नहीं आता।

सांख्यों का परिणामवाद

सांख्यों का परिणामवाद भी हृदय को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट नहीं करता। सांख्यों की दृष्टि में सबसे सूक्ष्म तत्त्व अव्यक्त हैं। महत्तत्व से लेकर भूतपर्यन्त तत्वसमूह विषमावस्थापन्न प्रकृति का परिणाम है। भोग और मोक्ष का कारण भी प्रकृति ही है। बन्धन और मोक्ष भी वस्तुतः प्रकृति का ही होता है किन्तु पुरुष में उपचरित होता है। प्रकृति और पुरुष ये ही दो अन्तिम सत्य तत्व हैं। तत्वज्ञान से कैवल्य होता है। कैवल्य की दशा में पुरुष समस्त विशेषणों से रहित होकर चैतन्यमात्र स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है।

त्रिक शास्त्र की दृष्टि में सांख्यों का यह परिणामवाद भी अन्तिम सत्य नहीं है। यह हम पहले ही कह चुके हैं कि शैव दर्शनों में शुद्ध सृष्टि के पांच तत्वों की तुलना में प्रकृति बहुत स्थूल तत्व है। प्रकृति और पुरुष के मूल स्रोत को ढूँढने का कोई प्रयास सांख्य दर्शन में नहीं किया गया है। यह भी उसका एक दोष है। प्रकृति में क्षोभ कौन करता है, किसकी प्रेरणा से वह भोग और मोक्ष में प्रवृत होती है ? यह प्रश्न भी वहाँ अनुत्तरित रह जाता है। योग दर्शन में अवश्य ही ईश्वर को छब्बीसवें तत्व के रूप में स्वीकृत किया गया है किन्तु वहाँ भी जगत् की रचना, स्थिति और संहार में उसकी कोई उपयोगिता नहीं मानी गयी। केवल "ईश्वरप्रणिधानाद्वा" कह कर समाधि की सिद्धि में उसकी सहायकता सिद्ध की गयी है। फिर सांख्यों का कैवल्य भी सुषुप्ति की एक भूमिका से कोई उत्कृष्ट अवस्था नहीं है। ऐसे केवल पुरुषों को भगवान् श्रीकण्ठनाथ प्रकृति के नूतन क्षोभ के अवसर पर पुनः संसार के चक्र में डाल देते हैं। यह कैवल्य दशा तभी तक स्थायी है जब तक प्रकृति का नूतन क्षोभ नहीं होता। अतः त्रिक दर्शन को यह कैवल्य की अवस्था मान्य नहीं है।

बौद्धों के आभासवाद की सदोषता

जगत्-विषयक बौद्ध दार्शनिकों का आभासवाद और मोक्ष विषयक निर्वाण का सिद्धान्त सुधीजनों को कथमपि ग्राह्य नहीं हो सकता। त्रिक शास्त्र में आस्था रखने वालों के लिए तो स्वीकार्य होने का प्रश्न ही उपस्थित नहीं होता। बौद्ध क्षणिकवादी हैं। उनके अनुसार कोई भी वस्तु स्थिर नहीं। एक क्षण से अधिक कोई भी वस्तु नहीं ठहर सकती। फिर भी उनकी एकता और स्थिरता का आभास हमें होता है। अनन्त क्षणिक वस्तुओं की परम्परा (सन्तान) में जो एकता का आभास होता है वह एक कल्पना या भ्रान्ति ही है जिसका कारण अनादिकाल से चली आ रही अविद्या की

वासना है। यहीं बौद्धों का आभासवाद का सिद्धान्त कहलाता है।

बौद्धों के मत में आत्मा भी कोई स्थिर तत्व नहीं है। आलय-विज्ञान और प्रवृत्ति-विज्ञान का निरन्तर प्रवहमान सन्तान ही आत्मा है। इसे वे पंचस्कन्धात्मक कहते हैं। जब चित्त की वासनाओं का क्षय हो जाता है और क्लेशों का सर्वथा नाश हो जाता है तो चित्त भी बुझ जाता है। जैसे तेल के क्षीण हो जाने पर दीपक न तो आकाश की ओर जाता है और न पृथ्वी की ओर जाता है। बस जहाँ का तहाँ शान्त हो जाता है। यही दशा चित्त की भी है। वासना और क्लेश ही चित्त के पोषक हैं। इनके क्षीण हो जाने पर चित्त का भी जीवन शान्त हो जाता है। बौद्धमत में चित्त का यह शान्त हो जाना ही निर्वाण या मोक्ष कहलाता है।[167] वास्तव में न प्रमाता कुछ है और न ही प्रमेय कुछ है। सब कुछ शून्य है। किन्तु शून्य होते हुए भी सब कुछ आभासित होता है।

त्रिक दर्शन में पदार्थों के निरन्तर गतिमान् और क्षणस्थायी होने का बौद्ध सिद्धान्त तो सत्य ही है किन्तु बौद्धों ने आत्मा को भी क्षणिक मान लिया है। यह उनकी महान् पश्यतोहरता है। विज्ञान वेदना और संसकारों का कोई आधार तो होना ही चाहिए। अन्यथा स्मृति कैसे बनेगी। स्मृति के अभाव में लोक व्यवहार कैसे चल सकता है। "जिसका मैंने पूर्वक्षण में अनुभव किया था उसी का मैं अब स्मरण कर रहा हूं।" ऐसी स्मृति लोकयात्रा में सबको होती है। संसार के आदान प्रदान, पठन पाठन प्रत्यभिज्ञा आदि व्यवहार इसी स्मृति के आधार पर होते हैं। अतः स्मृति और लोक-व्यवहार की सिद्धि के लिए अनुभवजन्य संस्कारों के आधार के रूप में स्थायी आत्मा को अवश्य स्वीकार करना चाहिए जो भूतकाल के अनुभवों का साक्षी हो। क्षणिक मानने पर तो अनुभव और संस्कार प्रथम क्षण के साथ ही नष्ट हो जाते हैं। फिर उत्तरक्षण में उनका साक्षी कौन होगा?

बौद्धों की निर्वाण दशा को पूर्ण मुक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। न्याय के अपवर्ग के समान यह भी एक प्रगाढ़ सुषुप्ति या मूर्च्छा जैसे ही अवस्था है जिससे फिर संसार में लौटना पड़ता है। संसार में भी लौटना कैसा? संसार में तो वह था ही। बुझा हुआ दीपक जलाने पर फिर से जल जाता है। वैसे ही निवार्ण को प्राप्त चित्त-विज्ञान फिर से कर्म और क्लेश के चक्र में आ सकता है। सुषुप्ति में प्रमेय पदार्थों का ही लोप हुआ करता है प्रमाता का नहीं। तभी तो जागने पर यह अनुभूति होती है कि मैं सुख से सोया। यही बात आचार्य बसुगुप्त ने स्पन्द कारिका में कही है कि लोक में कार्यत्व और कर्तृत्व दो ही अवस्थाएँ होती हैं। कार्यत्व अवस्था नश्वर

होती है जबकि कर्तृत्व क्षयरहित हुआ करता है। सुषुप्ति में प्रमाता का कार्योन्मुख प्रयत्न ही लुप्त हुआ करता है। प्रमाता स्वयम् अलुप्त ही रहता है। किन्तु अपनी अलुप्तता की अनुभूति प्रबुद्ध साधकों को ही हुआ करती है। अप्रबुद्ध साधक यही समझते हैं कि उनका ही लोप हो गया है।[162] इसी अवस्था को वे मोक्ष समझ लिया करते हैं। अभिनव गुप्त कहते हैं कि अमोक्ष में मोक्ष की लिप्सा रखने वाले ऐसे साधकों को माया संसार-चक्र में घुमाती रहती है।[163] अतः बौद्धों का निर्वाण का सिद्धान्त ग्राह्य नहीं है।

विवर्तवाद में दोष

त्रिक दर्शन की तुलना में ब्रह्मद्वैतवादी वेदान्तियों का विवर्तवाद भी अपूर्ण प्रतीता होता है। अद्वैतवेदान्ती जगत् को ब्रह्म का विवर्त कहते हैं। जगत् की व्यावहारिक सत्ता ही है पारमार्थिक नहीं। अनादि अविद्या के प्रभाव से ही इसका आभास होता है। अतः ससार मिथ्या है। उसका कारण अविद्या अनिर्वचनीय है क्योंकि सत् और असत् कहकर उसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। अविद्यावशात् आभासित होने वाला यह जगत् वैसा ही है जैसा कि स्वप्नदृष्ट वस्तु समूह अथवा मायाजन्य गन्धर्व नगर आदि का आभास होता है। अविद्या के समूल नाश होने पर ही मोक्ष होता है। श्रवण मनन और निदिध्यासन से अविद्या का नाश होता है। मोक्ष में आत्मा की स्थिति गगनोपम होती है जहाँ न कोई सुख होता है न दुःख न कोई ऐश्वर्य यही विवर्तवादियों का सारभूत सिद्धान्त है।

त्रिक दार्शनिक इस अवस्था से भी सन्तुष्ट नहीं होते। अविद्या को अनादि मानना किन्तु जगत् को विवर्त कहना परस्पर विरोधी वचन हैं। फिर ब्रह्म को निर्गुण निर्विशेष और परमेश्वरता से रहित कहना क्या उसे तुच्छ और हेय वस्तु के तुल्य बनाना नहीं है। जिस मोक्ष में आत्मा का स्वरूप सर्वथा ऐश्वर्यहीन और आनन्दरहित हो जाए भला वह अवस्था किस काम की।[164] हम समझते हैं कि अद्वैतवेदान्ती जिस शान्तावस्था को मोक्ष की संज्ञा दे रहे हैं वह कोई पूर्ण मोक्ष से थोड़ी नीचे की अवस्था प्रतीत होती है। क्योंकि पूर्ण मोक्ष की अवस्था में तो आनन्द का अथाह स्रोत बहता है। किन्तु अद्वैतवेदान्तियों की साधना-प्रक्रिया कुछ इस प्रकार की है कि उसमें नीचे पतन नहीं होता। यदि निरन्तर अभ्यास करते रहा जाए तो शैवी अवस्था एक दिन अवश्य प्राप्त हो जाएगी। मोक्ष के आनन्द की तुलना कभी कभी विषयानन्द से भी दी जाती है। अतः मोक्ष में आनन्द का अभाव कहना तो नितान्त अयुक्त है। ब्रह्म की ईश्वरता को असत्य

कहना भी त्रिक दर्शन को मान्य नहीं है। परमेश्वर में परमेश्वरता ही न रहे तो वह खपुष्प के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। त्रिक शास्त्र के अनुसार तो जगत् का विस्तार भी परमेश्वर की परमेश्वरता है और उसका संकोचरूप भी उसकी परमेश्वरता है। अतः दोनों ही सत्य हैं। यह कितनी बड़ी अज्ञता है कि ब्रह्म के विवर्तरूप जगत् को तो मिथ्या कहा जाए और मोक्ष को सत्य माना जाए। चलो जगत् को मिथ्या ही मान लेते हैं किन्तु मिथ्यारूप में वह सत्य ही हुआ। मिथ्यात्व और कल्पना भी परमेश्वर का ही रूप हुआ। जब ब्रह्म के अतिरिक्त अद्वैतवादियों को अन्य कुछ स्वीकार्य ही नहीं है तो जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह भी उसी का रूप हुआ। इस प्रकार सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर त्रिक शास्त्र का शिवाद्वयवाद ही तर्क के निकषोपल पर निर्दुष्ट सिद्ध होता है।

वैष्णव सिद्धान्तों की अपूर्णता

रामानुज, यामुनाचार्य, निम्बार्क, मध्व, वल्लभाचार्य आदि वैष्णव दार्शनिक परम सत्ता को श्रीकृष्ण वासुदेव नारायण आदि नामों से पुकारते हैं। उनके अनुसार विद्या और अविद्या परमेश्वर की दो शक्तियाँ हैं।[165] किन्तु अज्ञान तथा कर्म परम्परा को वहाँ भी अनादि माना गया है। फिर ये वैष्णव आचार्य किसी न किसी रूप में भेदवाद का ही आश्रय लेते हैं चाहे वह विशिष्टाद्वैत हो या शुद्धाद्वैत हो। मुक्ति की अवस्था भी वैष्णव दर्शन में बड़ी विचित्र है। वह भी एक भोग की ही विशेष अवस्था है। मोक्ष का धाम श्रीकृष्ण का वैकुण्ठ लोक है जहाँ श्रीकृष्ण एक दिव्य देह का धारण करते हैं और मुक्त पुरुष भी शरीर धारण करके किंकर बनकर भगवान् की सेवा करते रहते हैं, तथा दिव्य विषयों का उपभोग करते हैं।

विचारणीय यह है कि जिस मुक्ति की दशा में भौतिक लोक भी हो, भगवान् और मुक्त पुरुष दोनों ही देह काभी धारण करते हों तथा उपभोग-योग्य दिव्य विषय भी उपस्थित हों तो वह मुक्ति ही क्या हुई ? वह तो एक भोग-लोक ही हुआ। शुद्धाद्वैतवादी वैष्णव अवश्य ही परिपूर्ण परमेश्वर की पर-मेश्वरता को अंगीकार करते हैं किन्तु श्रीकृष्ण के परमधाम एक वृन्दावन लोक की कल्पना वहाँ भी की गयी है जहाँ मुक्त जीव निवास करते हैं। इस प्रकार द्वैत का भाव वहाँ भी माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन तो द्वैत की गन्ध को भी सहन नहीं करता। अतः वैष्णवों का यह वैकुण्ठवाद भी पूर्ण अद्वय-वादी त्रिक दर्शन को मान्य नहीं है। यह तो विवर्तवाद से भी निम्न कोटि का सिद्धान्त है। जहाँ द्वैत का लेश भी रहता है ऐसा कोई भी सिद्धान्त अपूर्ण ही कहलाएगा। त्रिक दर्शन तो पूर्ण अद्वयवादी दर्शन है जहाँ शिव के

अतिरिक्त कुछ नहीं है और जहाँ किसी भी वस्तु को अनादि कह कर उत्तर-दायित्व से बचने का प्रयास नहीं किया गया।

निष्कर्ष

यदि समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो त्रिक शास्त्र का तर्क ही उचित प्रतीत होता है। यह जगत् न तो विवर्त है, न आभास है, न परिणाम है और न शून्य है। यह तो परमेश्वर का स्वातन्त्र्य है। जब परमेश्वर जीव और जगत् के रूप में अभिव्यक्त हो जाता है तो उसकी परमेश्वरता छिप नहीं जाती अपितु वह और अधिक स्फुटता से अभिव्यक्त हो उठती है। जब परमेश्वर की इच्छा से उसकी शक्तियाँ उसी के प्रकाश के भीतर स्पन्दित हो उठती हैं तो शिवतत्व से लेकर पृथ्वीतत्व पर्यन्त यह नानात्मक विचित्र जगत् अभिव्यक्त हो उठता है। इसे न परिणाम कहना उचित है और न विवर्त। इसे स्वातन्त्र्य कहना ही अधिक उचित है। अतः यह असत्य या मिथ्या नहीं है। जिस रूप में यह दिखाई दे रहा है उस रूप में भी यह सत्य ही है। यद्यपि यह इसका पारमार्थिक रूप नहीं है अपितु व्यावहारिक रूप है क्योंकि इसकी उत्पति और विनाश होता रहता है। व्यावहारिक सत्ता कल्पित भी होती है। किन्तु कल्पित सत्ता भी तो सत्ता ही है।

अभिनव गुप्त कहते हैं कि यदि दूध गौ के स्तन के नीचे गिर जाए तो क्या वह दूध नहीं रहता ? वह दूध ही रहता है।[166] दूध में विकृति आने पर जब दधि, घृत आदि रूप बनते हैं तब भी दूध असत् नहीं हो जाता। दूध फिर भी सत् ही रहता है। हाँ, उसका रूप बदल जाता है। वह दधि के रूप में परिवर्तित हो जाता है। इसी प्रकार जब बीज से अंकुर निकलता है तो बीज कहीं दिखाई नही देता। इससे वह असत् नहीं हो जाता। इसी प्रकार परमशिव से प्रादुर्भूत यह विश्व भी असत्य नहीं है। यह बदला हुआ शिव का ही रूप है। यह शिव का विश्वमय रूप है। शिव का विश्वोत्तीर्ण रूप ही सत्य नहीं है अपितु उसके दोनों ही रूप सत्य हैं। सर्वत्र और सर्वदा शिव के रूप का ही समावेश प्राप्त करना जीवन्मुक्ति है। त्रिक दर्शन का यही सिद्धान्त अनवद्य होने से सभी के लिए ग्राह्य है।

शांकर अद्वैत एवं त्रिक शास्त्र का पराद्वैत

काश्मीर शैव दर्शन की त्रिक शाखा पूर्णरूप से अद्वयवादी है। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को विशुद्ध रूप से पूर्ण अद्वैतवाद नहीं कहा जा सकता। वहाँ केवल ब्रह्म का ही अद्वैत है। जीव और जगत् दोनों ही मिथ्या हैं, माया के पुत्र हैं। इसलिए पूर्ण अद्वैत कहाँ रहा ? पूर्ण अद्वैत तो तब माना जाता

जब सभी कुछ ब्रह्म ही होता। पूर्ण अद्वैत तो त्रिक शास्त्र में ही माना गया है। यहाँ तो जो कुछ है शिव ही है। वक्ता भी शिव है और श्रोता भी। मिथ्या भी शिव है और सत्य भी, जड़ भी, चेतन भी, संकोच भी विकास भी बन्धन भी और मोक्ष भी, द्वैत भी और अद्वैत भी, शुद्ध भी और अशुद्ध भी, सब कुछ शिव ही है। कोई भी वस्तु किसी भी प्रकार अशिव है ही नहीं। शैवी साधना के साधक ही इस शिवाद्वैतवाद या शिवाद्वयवाद का साक्षात् अनुभव करते हैं। उनकी दृष्टि में घट भी शिव हैं और शिव ही घट है। स्वयम् शिव ही सबको आत्मा समझते हैं। इस प्रकार सभी भाव सर्वात्मक हैं।[167]

इस प्रकार यह शिवाद्वयवाद पुर्णरूप से अद्वयवादी है। इसलिए जैसे विद्या से उसे जाना जाता है वैसे ही अविद्या से भी उसे जाना जाता है क्योंकि विद्या और अविद्या भी तो वही है। इसलिए अभिनव गुप्त ने इसे पराद्वैत नाम दिया है। यह सर्वा-सुन्दर पूर्ण अद्वैत-दृष्टि शैवों के अतिरिक्त अन्य किसी की भी नहीं हैं।[168] यहाँ न भेद का त्याग है और न उसका ग्रहण। जब भेद है ही नही तो त्याग और ग्रहण का प्रश्न ही कहाँ उत्पन्न होता है। यही इस पराद्वैत का वैशिष्ट्य है कि इसके रसिक मोक्ष और संसार दोनों का समान रसास्वादन करते हैं।[169] अपने से अपने को ही जानते हैं। विधि और निषेध शिव के अतिरिक्त कुछ भी नहीं। इसलिए त्रिक शास्त्र का पराद्वैत आचार्य शंकर के ब्रह्माद्वैतवाद से अधिक हृद्य है।

आचार्य शंकर ने विद्या और अविद्या सुख और दुःख तथा बन्धन और मोक्ष को परस्पर विरोधी बताकर एक को ग्राह्य और दूसरे को त्याज्य कहा है। जिसे त्याज्य कहा है उसे छोड़ पाना इतना सरल तो है नहीं। वह छूट भी कैसे सकता है। वह तो एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। फिर क्यों न दोनों को शिवरूप ही समझ कर दोनों का आनन्द लिया जाए। यह शिव-दृष्टि जितनी सरल है उतनी हृद्य भी है। ऐसा मानकर लौकिक व्यवहार भी सुचारु रूप से चल सकता है और परमार्थ की प्राप्ति भी सुगम हो जाती है। इसलिए वेदान्तियों की एकांगी और आपेक्षिक दृष्टि से त्रिक शास्त्र का यह पराद्वैत ही ग्राह्य है।

संदर्भ सूची

1. यान्युक्तानि पुराण्यमूनि विविधं भेदं यदेष्वन्वितं

रूपं भाति परं प्रकाश निबिडं देवः स एकः शिवः ।
तत्स्वातन्त्र्यरसात्पुनः शिवपदाद् भेदे विभाते परं
यदरूपं बहुधाऽ नुगामि तदिदं तत्वं विमोः शासने ।।
तंत्रालोक 9/1

2. यत्तु कतिपय भदानुगतं रूपं तत्वत्वम् यथा पृथिवी नाम धृति काठिन्य स्थौल्यादिरूपा कालाग्निप्रभृति वीर भद्रान्त भुवनेशाधितिष्ठित ब्रह्माण्डानुगता ।। तंत्रसार आ० 8, पृ० 69

3. (क) तथाहि कालसदनाद् वीर भद्र पुरान्तगम् ।
धृति काठिन्य गरिमाद्यवभासादधरात्मता ।।
तंत्रालोक 9/3

(ख) सास्नादि योगाद् यशा खण्ड मुण्डावौ गोत्वमनुगामि तथा धृत्यादियोगात् कालाग्नि भुवनादावपि पृथ्वीत्वमिति ।
तंत्रालोक विवेक 9/3

4. ततश्च देह भुवनादौ नैवं प्रसंग; नहि स्वकार्ये चेष्टादौ तत्तद्भोगादौ च देहादित्वमनुगामितामियात् । विवेक 9/4-5

5. आ महाप्रलय स्थायि सर्वप्राण्युभोग कृत् ।
तत्पमित्युच्यते तज्ज्ञैर्न शरीर घटद्यतः ।। तदैव

6. श्री मन्मतंग शास्त्रादौ तदुक्तं परमेष्ठिना ।। तंत्रालोक 9/6

7. तत्वं यद् वस्तुरूपं स्यात्स्वधर्म प्रकटात्मकम् ।
तत्वं वस्तु पदं व्यक्तं स्फुटमाम्नाय दर्शनात् ।।
यदच्युतं स्वकाद् वृत्ता ततं चात्मवशं जगत् ।
ततमन्येन वा न स्यात् तत्तत्वं तत्वसंततौ ।।
विवेक 9/6

8. सर्वावच्छेद शून्यं शिवतत्वं षटत्रिशम्—तंत्रसार दशमाहिक

9. तद्यदोपदिश्यते भाव्यते वा यत् तत्प्रतिष्ठास्पदं, तत् सप्तत्रिशम्, तस्मिन्नपि भाव्यमाने अष्टात्रिशम्—तदैव

10. न चानवस्था तस्य भाव्यमानस्य अतवच्छिन्न-स्वातन्त्र्य योगिनो वेद्यीकरणें सप्तत्रिश एवं पर्यवसानात्—तदैव ।

11. तत्र पारमार्थिक एतावान् कार्यकारणभावो यदुत कर्तृस्वभावस्य स्वतन्त्रस्य भगवत् एवं विधेन शिवादिधरान्तेन वपुषा स्वरूपभिन्नेन स्वरूपविश्रान्तेन च प्रथनम् । तन्त्रसार आहिनक 8

12. इत्येवं सवेदन स्वातन्त्र्य स्वभाव. परमेश्वर एवं विश्वभाव शरीरो घटादेर्निमाता—कुम्भकारसंविदस्ततोऽनधिकत्वात् —तदैव

13. कथं कुम्भकारशरीरस्यकर्तृत्वाभिमानः —तदैव
14. एवं कल्पितेऽस्मिन् कार्यत्वे शास्त्रेषु तत्वानां कार्यकारणभाव प्रतियत् बहुप्रकारत्वं तदापि संगतम्, गोमयात्, कीटात्, योगीच्छात मन्त्रा-दौषधात् वृश्चिकोदयवत् । तदैव
15. प्रतिबिम्लित समस्त तत्वभूत भुवन भेदमात्मानं पश्यता निर्विकल्पतया शाम्भवैन समावेशेन जीवन्मुक्तता—तंत्रसार—तृतीय आह्निक
16. संवेदन निर्मल दर्पणेऽस्मिम् सकलं स्फुरन्निज सारम् ।
आमर्शन रस सरहस्य विमृष्ट रूपं सायं भाति ॥
तंत्रसार 3 आ०
17. तत्वत: शिव परम शिवयो रैक्यमेव । तथापि स्वरूप निर्देशा-भिप्रायेण अनाश्रित शिवत्वेन कथनम्, व्यापकत्वाभिप्रायेण पर शिवत्व कथनम् ॥ भास्कर भाष्य भाग—2 पृ० 211
18. तन्त्रालोक विवेक 1/1
19. स्वातन्त्र्य शक्तिः क्रम संसिसृक्षा क्रमात्मता चेति विभो विभूतिः ।
तदेव देवीत्रयमन्तरास्ता मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम् ॥
तंत्रालोक 1[5
20. पर प्रकायात्मकत्वात् अनुत्तरम् —विवेक 1/5
21. अनुत्तरं परं धाम तदेवा कुलमुच्यते ।
विसर्ग नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ॥ तन्त्रालोक 3/143
22. तस्मादनुत्तरो देवः स्वाच्छन्द्यानुत्त रत्यतः ।
विसर्ग शक्ति युक्तत्वा त्सम्पन्नो विश्वरूपकः ॥ तदैव 1/95
23. विसर्ग एवं आक्तोऽयं शिव बिन्दुतया स्थितः ।
गर्भीकृतानन्त विश्वः श्रयतेऽनुत्तरात्मताम् ॥ —तदैव 3/201
अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता शक्कि स्वरूपिणी ।
प्रत्याहृताशेष विश्वाऽनुत्तरे सा निलीयते ॥ तदैव 3/204
24. संवृत्या जायते सर्वम्—माडूक्य कारिक 4/56
25. इति ये रुढ़ संवित्ति परमार्थ पवित्रिताः ।
अनुत्तर पथं रुढ़ास्तेऽभ्युपाया नियन्त्रिता: ॥ तन्त्रालोक 2/34
26. यद्यमतुत्तरमूर्ति निजेच्छया जगदिदं स्रष्टम् ।
पस्पन्दे सस्पन्दः··············ष०न०स० ।
27. योऽनुत्तरः परः स्पन्दो यश्चानन्दः समुच्छलन् ।
ताविच्छोन्मेष संघट्टाद् गच्छतोऽति विचित्रताम् ।
तन्त्रालोक 3/93

28. न तस्य कश्चित् पतिरस्ति लोके न चेशिता नैव च तस्य लिंगम् ।
स कारणं करणाधिपाधियो न तस्य काश्चिज्जनिता, न चाधिपः ॥
श्वेताश्वतरोपनिषद

29. तद्वीर्य सर्ववीर्याणां तदैव बलवती बलम् ।
तदौजश्चौ जसां सर्व शाश्वतं ह्यचलं ध्रुवम् ॥
तन्त्रालोक 3/229

30. न निरोधो न चोत्पति न बद्धो न साधकः ।
न ममुक्षुर्न व मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥
गौडपाद कारिका 2/32

31. एतौ बन्ध विमोक्षौ च परमेश्वर स्वरूपतः ॥
न भिद्यते न भेदो हि तत्वतः परमेश्वरे ॥ बोध पंचाशिका 14

32. अस्यां भूमौ सुखं दुःख बन्धो मोक्षश्चित जंडः ।
घट कुम्भवदेकार्थाः शब्दास्तेऽप्येकमेव च ॥ तंत्रालोक 2/19

33. नर शक्ति शिवात्मकं त्रिकं हृदये या विनिधाय भासयेत् ।
प्रणमामि परामनुत्तरां निजभासा प्रतिभा चमत्कृतिम् ॥
परात्रींशिका विकर्श—पृ 2

34. अतः कर्म विपाकज्ञ प्रभु शक्ति वलेरितम् ।
मद्यं सूते मदं दुःखं सुखं मोहफलात्मकम् ॥ तंत्रालोक 9/80

35. संसारकारणं कर्म संसारांकुर उच्यते ।
चतुर्दश विधं भूतवैचित्र्यं कर्मजं यतः ॥ तदैव 9/88

36. मलोऽभिलाषश्चाज्ञानमविद्या लोलिका प्रथा ।
भव दोषीऽनुप्लवश्च ग्लानिः शौषी विमूढ़ता ॥
अहंममात्मताऽतंको मायाशक्तिरथावृतिः ॥
दोष बीजं पशुत्वं च संसाराकुर-कारणम् ॥
इत्याद्यन्वर्थं संज्ञाभिस्तत्र तत्रैष भण्यते ॥ तंत्रालोक 9/84-86

37. एवं यतः कर्मवशादेव विचित्रः संसारः समुद्भवैत अतः सर्वेषां
तदुच्छेदायैव यत्नः । तं॰ विवेक 9/88

38. अत एव सांख्य योग पाञ्चरात्रादिशासने ।
अहं ममेति संत्यागो नैष्कर्म्यायोपदिश्यते ॥ तं॰ 8/89

39. वस्तुतः सर्वभावानां कर्तेशानः परः शिवः ।
अस्वतन्त्रस्य कर्तृत्वं नहि जातुपपद्यते ॥ —तंत्रालोक 6/8

40. विमर्शो नाम विश्वाकारेण विश्वप्रकाशेत
विश्व संहरणेन च अकृत्रिमाहमिति स्फुरणम्—परा प्रवेशिका पृ॰ 2

41. हर्षानुसारी स्पन्दः क्रीड़ा —परा प्रवेशिका उत्पलदेव कृत वृति
42. आत्म प्रच्छादन क्रीड़ां कुर्वतो वा कथंचन ।
मायारूपमितित्यादि षटत्रिंशत्तत्वरूपताम् ।।
बिभ्रद् बिभर्ति रूपाणि तावता व्यवहारतः ।
यावत्स्थूलं जड़ाभासं संहतं पार्थिवं धनम् ।। शिव दृष्टि 1/32-33
43. यथा नृपः सार्वभौमः प्रभावामोद भावितः ।
क्रीडन्करोति पादात धर्मास्तदधर्म धर्मतः ।।
तथा प्रभुः प्रमोदत्मा क्रीडत्यैवं तथा तथा ।। शिव दृष्टि 1/37-38
44. तदेवं प्रसृतो देवः कदाचिच्छक्तिामात्र के ।
बिभर्ति रूपमिच्छातः कदाचिज्ज्ञान शक्तिः ।।
सदाशिवतत्व मुद्रेकात् कदाचिदैश्वरीं तनुम् ।। शिव दृष्टि 1/29
45. योगिनामिच्छया यद्वन्नानारूपोपपत्तिता ।
न चास्ति साधनं किंचिन्मृदादिच्छां विना प्रभोः ।।
तथा भगवदिच्छैव तथात्वेन प्रजायते ।। शिव दृष्टि 1/44
46. इत्शं शिवो बोधमयः स एवं पर निर्वृतिः ।
सैब चोन्मुखता याति सेच्छा ज्ञान क्रियात्मताम् ।। शिव दृष्टि 1/39
47. एवं भेदात्मकं नित्यं शिवतत्व मनन्तकम् ।
तथा तस्य व्यवस्थानान्नाना रुपेऽपि सत्यता ।। शिव दृष्टि 1/48
48. गोः स्तनात्पाततः क्षीरे विकारस्तत एवं हि ।
न च न क्षीरमित्येष व्यपदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ।। शिव दृष्टि 1/18
49. स्थानानुरूपतो देहान् देहाकारेण भावनाः ।
आददत्तेन तेनैव रूपेण प्रविभाव्यते ।।
क्रीडया दुः खवेद्यानि कर्मकारीणि तत्फलैः ।
सम्भत्स्यमानानि तथा नरकार्णव गहवरे ।।
निवासीति शरीराणि गृहवाति परमेश्वरः ।।
50. (क) निर्माण चित्तान्यस्मिता मात्रात् —पायो० सू० 3/4
(ख) अस्मिता मात्रं चित्त कारण मुपादाय निर्माण चित्तानि करोति।
ततः सचित्तानि शरीराणि भवन्ति —व्या० भा० 3/4
51. यथा न योगिनोऽस्तीह नाना सैन्य शरीरकैः ।
विभागस्तदवदीशस्य मध्योत्कृष्ट निकृष्टकैः ।
भावैर्नास्ति विभेदत्वमथवाम्बंधि वीचिवत् ।। शिव दृष्टि 3/36-37
52. बन्ध मोक्षौ न भिद्येते सर्वत्रैव शिवत्वतः । शिव दृष्टि 3/68

53. एवं सर्वं पदार्थाना समैव शिवता स्थिता ।
परापरादिभेदोऽत्र श्रेद्दधानैरुदाहृत ॥ शिव दृष्टि 1/48

54. विश्वस्यासत्यरूपत्वं यैर्वाक्यैर्वर्णितं क्वचित् ।
शिवोक्तैस्तै विरोधः स्यात्सर्वसत्यत्ववादिनः ॥
उत्पलदेव कृत वृत्ति पृ० 140

55. विश्वतुच्छत्व वाक्यानां वैराग्याद्यर्शवादिनाम ।
तात्पर्येण न दोषी स्ति नाना चित्रं न कल्पते ::
शिव दृष्टि 3/95

56. केतकी कुसुमसौरभे भृशं भृंग एव रसिको न माक्षिका ।
भैरवीय परमाद्वयार्चने कोऽपि रज्यति महेश चोदितः ॥
तन्त्रालोक 4/276

57. तदेवं पञ्चकमिदं शुद्धो ध्वा परिभाष्यते ।
तत्र साक्षात् शिवेच्छैव कर्त्र्याभासित भदिका ॥
तन्त्रालोक 9/60

58. यदयमनुत्तरमूर्ति निजेच्छयाऽसिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे सस्पन्दः प्रथम शिवतत्वमुच्यते तज्ज्ञैः ॥
षटत्रिंशत् तत्व सन्दोह ।

59. स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः । तंत्रालोक 4/183

60. यस्योन्मेष निमेषाभ्यां जगतः प्रलयोदयौ ।
तं शक्ति चक्र विभव प्रभवं शंकरं नुमः ॥ स्पन्दकारिका 1-1

61. सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 1/2/54

62. विमर्शो हि सर्वसहः परमपि आत्मीकरोति, आत्मानं परी करोति, उभयं एकीकरोति, एकीकृतं द्वयमापि न्यग्भावयति—इत्येवं स्वभावः
ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्श 1/5/13

63. निस्तरंग तरंगादिवृत्तिरेव हि सिन्धुता —तंत्रालोक 4/185

64. किंचिच्चलनमेतावदनन्य स्फुरणं हि यत् ।
ऊर्मिरेषा विबोद्यब्धे नं संविदनया बिना ॥ तंत्रालोक 4/184

65. स्वभावभवभासस्य विमर्शं विदुरन्यथा ।
प्रकाशोऽर्थोपरक्तोऽपि स्फटिकादिजडोपमः ॥ ई० प्र० 1/5/11

66. हृदये स्वविमर्शोऽसौ द्राविताशेषविश्वकः ।
भावग्रहादिपर्यन्तभावी सामान्यसंज्ञक ।
स्पन्दः स कथ्यते शास्त्रे स्वात्मन्युच्छलनात्मकः ॥
तं० 9. 102. 3

67. सा स्फुटता…ई० प्र० 1. 5. 14
68. सत्रा च भवनकर्तृता सर्वक्रियासु स्वातन्त्र्यम् ।
ई० प्र० वि० 1.5.14
69. सा च खपुष्पादिकमपि व्याप्नोति । ई० प्र० वि० 1. 5. 14
70. तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः तच्चमत्कार इच्छा शक्तिः प्रकाश-रूपता चिच्छक्तिः आमर्शात्मकता ज्ञानशक्तिः, सर्वाकार योगित्वं क्रियाशक्तिः । तंत्रसार आन्हिक ।
71. शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः ।
शिव सूत्र विमर्श पृ० 89
72. इत्थमेवं मुख्याभिः शक्तिभिर्युक्तोऽपि वस्तुत इच्छाज्ञान क्रिया शक्ति युक्तः अनवच्छिन्नः प्रकाशी निजानन्द विश्रान्तः शिव रूपः
तंत्रसार आन्हिक
73. माया नाम च देवस्य शक्ति ख्याति रे किणी ।
भेदावभास स्वातन्त्र्यं तथा हि स तया कृतः ॥ तंत्रालोक 1/149
74. शिवदशामेकां मुक्त्वा मायाशक्तिः सर्वत्रकृत पद्यः ।
स्पन्द विवृति पृ० 6
75. अत एव बहिर्मुखताया भाविनो विभागस्य शिम्बिकाफलवत् अस्यां गर्भीकारोऽस्ति ॥ तंत्रालोक विवेक 9/15
76. यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृतरूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ॥ स्पन्दकारिका 1/2
77. न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।
उभयोरस्ति तादात्म्यं बह्दिाहकयोरिव ॥ स्वचन्दन्द तन्त्र
78- न शिवः शक्तिरहितो न शक्तिः शिववर्जिता ।
उभयोरस्ति तादात्म्यं वह्निदाहकयो-रिव ॥
स्वच्छन्द तन्त्र 11/271
79. परमेश्वरता जयत्यपूर्वा तब विश्वेश यदीशितव्यशून्या ।
अपराऽपि तथैव ते ययेदं जगदाभाति यथा तथा न भाति ॥
शिवस्तोत्रावली —16-30
80. न शिवः शक्तिरहितो न शक्ति र्व्यतिरेकिणी ।
शिवः शक्तस्तथा भावानिच्छया भासयेद्बहिः ॥ शिव दृष्टि 3/2
81. अथास्यदेक रूपेण वपुषा चेन्महेश्वरः ।
महेश्वरत्वं संवित्त्वं तदात्यक्ष्यद् घटादिवत् ॥ परात्रींशिका
82. शक्ति शक्तिमतो र्भेदः शैवे जातु न विद्यते ॥ शिव दृष्टि 3/3

83. परं शिव तु व्रजति भैरवाख्यं जपादपि ।
तत्स्वरूपं जपः प्रोक्तों भावाभावपदच्युतः ॥ तं॰ 1/90

84. तस्य शिवस्य स्वरूपं परावाक्स्वभावम् आत्मरूपं, अर्थात् भूयो भूयः परामृश्यमानं जपः अत एव भावाभावपदच्युतः — पूर्वोक्तनीत्या तन्मध्यस्फुरत्संवित्परामर्शमात्रसारः —त॰ वि॰ 1/90

85. भूयो भूयः परे भावे भावना भाव्यते हि या ।
जपः सोऽत्र स्वयं नादो मन्त्रात्मा जप्य ईदृश. ॥ तदैव

86. धारयति पोषयति च स्वात्मभित्ति संलग्नत्वेन तदुल्लासनात् । तेन विश्वेन भ्रियते…तेन भरणाद् रवणाच्च भैरवः इत्ययं निरुक्तः । तं॰ वि॰ 1/96

87. संसारभीरु हितकृच्च —तदैव

88. संसार भीतिजनिता रवात् परामर्शताऽपि हृदिनातः तं॰ 1/97

89. भवाद्व भयं भीस्तस्य रवो विवेचनं विमर्शनं तस्य शक्तिपातंमुखेन अयं कारण मिति भैरवः । तं॰ वि॰ 1/97

90. भानि नक्षत्राणि ईश्यति प्रेरयति इति भेरः कालः, तस्य तत्वं क्षणाद्यात्मकं स्वरूपं, तस्य सम्यङः निश्शेषेण शोषं अभिभवं कुर्वन्ति इति कालं वायन्ति इति भेरवाः —काल ग्रास समाधिरूढ़ावधाना योगिनः, तेष अयं स्वामी तत्वेन प्रकटः स्फुरित इति भैरवः । तदैव

91. संकोचि पशु जन भिये यासां रवणं स्वकरण देवीनाम् ।
अन्तर्बहिश्चतु विधखेचर्यादिक गणस्यापि ॥
तस्य स्वामी संसार वृत्ति विघटन महाभीम ॥ तं॰ 1/99-90

92. महाभीम इति भीषणः तेनात्र भैरव शब्दः सकेतितः —तं॰ वि॰ 1/99

93. भैरव इति गुरुभिरिमै रन्वर्थैः संस्तुतः शास्त्रे । तं॰ 1/100

94. भिया सर्वं रवयति सर्वदो व्यापकोऽखिले ।
इति भैरवशब्दस्य सततोच्चारणाच्छिवः । विज्ञान भैरव श्लोक 127

95. येन येन हि रूपेण साधकः संस्मरेत्सदा ।
तस्य तन्मयतां याति चिन्तामणि रिवेश्वरः ॥ तं॰ 1/115

96. स्वस्वातन्त्र्य माहात्म्यात् शिवादि क्षित्यन्ता शेष विश्वात्मलोल्लासनमेवास्य क्रीड़ा —तं॰ वि॰ 1/101

97. नहि किंचिदुपादातुं हातुं वा जगत्सर्गादा ईश्वरः प्रवर्तते, अत एव स्वानन्दघनत्वमेवात्र हेतुरूपात्तः —तदैव

98. सर्वोत्कर्षेण वर्तनेच्छा विजिगीषुता। विजिगीषोर्हि कथं नु नाम सर्वानिवाभिभूय अहं वर्ते इतीयसेव इच्छा भवति। तेन दीव्यति विजिगीषते इति देवः —तदैव

99. व्यवहरणमभिन्नेऽपि स्वात्मनि भेदेन संजल्पः —तं० 1/102

100. निखिलस्य प्रमातृप्रमेयात्मनो निखिले चास्य यदवभासनं तत् द्योतन, तेन दीव्यति द्योतते द्योतयति इति वा देवः। तं० वि० 1/102

101. यतः सकलमिद जगत् स्वरूपलाभात्प्रभृति समस्तेतिकर्त्तव्यताया तदायत्त प्रवृत्ति, इत्यस्य स्तुतिः। सवे हि शिवमन्त्रमहेश्वरादयः तत्परतन्त्र वृत्ति त्वादुन्मुखतया प्रह्वा इति भावः। ...तेन दीव्यते स्तूयते इति देवः। तदैव

102. तेन दीव्यति जानाति प्रसरति च इति देवः — तदैव

103. शासनरोधन पाचन पाचन योगात्स सर्वमुपकुरुते।
तेन पतिः श्रेयोमय एव शिवो नाशिवं किमपि तत्र ॥
तंत्रलोक 1/104

104. ईदृग्रूपं कियदपि रुद्रोपेन्द्रादिषु स्फुरेद्येन।
तेनावच्छेउनुदे परममहत्पद विशेषणमुपात्तम् ॥ तं 1/105

105. शिवतत्त्वस्य बाहेन्द्रियाप्रत्यक्षत्वेऽपि मानस-प्रत्यक्ष-विषयत्वात् किंचित्वेन प्रतिसमाहितम —तन्त्रालोक विवेक —1/75

106. यतो बुभुक्षादीनां विकल्पात्मक एव मानसोऽनुभवो न भवतीत्यर्थः। आसां हि प्रथममविकल्पकमानसप्रत्यक्ष-विषयत्पमप्य स्ति, अन्यथा तत्पृष्ठ भाविनो बुभुक्षेयमिति विकल्पस्योदयो न स्यात्
— तं० वि० 1/76

107. एवं शिवोऽपि मानस-प्रत्यक्ष-गोचरो भवत्येव किन्तु शक्तिद्वारेणेति विशेषः। तं० वि० 1/76

108. शिव प्राप्त्युपायतया शक्तिरेव, नहि एतदवगमादौ उपायान्तरमस्ति उपपद्यते वा। अतश्च शक्तिशक्तिमतोरूपायोपेय भावात्मा क्रमः सम्यगेव स्फुटः, न कश्चिदत्र संशयः —तं० वि० 1/74

109. ननु सर्वात्मनार्थो ज्ञातो भवति, न तु अंशेन, विकल्पश्च सर्वात्मना अर्थं ज्ञातु न शक्नोति, नियतांशाऽभिनि वेशित्वात तस्य, अतः शिवस्तेन शक्तिद्वारेण विषयीकृतोऽपि सर्वात्मना तद्गोचरीभावान्त ज्ञातः
तं० वि० 1/76

110. रसाद्यनध्यक्षत्वेऽपि रूपादेव यथा तरुम्।
विकल्पो वेत्ति तद्वत्तु नाद बिन्दादिना शिवम् ॥ तं० 1/77

111. (क) न हि सर्वात्मत्वेन अगृहीतत्वाद् अगहीत एवासौ इति वक्तुं युज्यते अनुभवविरोधात् । तद्वत् नादविन्द्वाद्यात्मक शक्ति द्वारेण शिवोऽपि ज्ञात एवं भवति इति सिद्धान्तः । तदैव

(ख) प्रत्यक्षेण यथा वृक्षी रूपमात्रादविगृह्यते ।
रसादयो गृहीता नो तथेशो ज्ञानशक्तितः ॥
गृह्यते तन्वभावेन वस्तुभाव विवर्जनात् । तदैव

112. विषयेषु च सर्वेषु इन्द्रियार्थेषु च स्थितः ।
यत्र यत्र निरूप्येत नाशिवं विद्यते क्वचित् ॥ तं० वि० 1/88

113. ध्यानं या निश्चला बुद्धि र्निराकारा निराश्रया ।
न तु ध्यानं शरीरस्य मुखंहस्तादि कल्पना ॥ तं० वि० 1/90

114. एवं शक्तिरेव परतत्वाधिगमे परमुपायः इति सिद्धम् । सा च भवनाधिरूपतया अनन्त प्रकाश इत्युक्तप्रायम् । तदैव 1/77

115. एवं यत्किंचन जडाजडात्मक विश्ववैचित्र्यं यच्च तद्विषयं सृष्ट्यादि जाग्रदाद्यवस्थादि वा तत्सर्वं परमेश्वरस्य शक्तिस्फार एवं ॥
तं० वि० 1/78

116. बहुत शक्तित्वमस्योक्तं शिवस्य यदतो महान ।
कला तत्व पुरार्णाणु पदादि भेंद विस्तरः ॥
सृष्टि स्थिति तिरोधान संहारानुग्रहादि च ।
तुर्यमित्यपि देवस्य बहु शक्तित्व जृम्भितम् ॥
जाग्रत्स्वप्न सुषुप्तान्य तदतीतानि यान्यपि ।
तान्यप्यमुष्य नाथस्य स्वातन्त्र्य लहरीभर ॥
महामन्त्रेश मन्त्रेश मन्त्राः शिव पुरोगमः ।
अकली सकलश्चेति शिवस्यैव विभूतम् ॥
तंत्रालोक 1/78-81

117. भुवनं विग्रहो ज्यातिः खं शब्दो मन्त्र एवं च ।
विन्दुनादादि संभिन्नः षड़विधः शिव उच्यते ॥ तं० 1/63

118. भुवनं तत्तदभुवनाधिष्ठेयं भोगाधाररूपम् । विग्रहशब्देन उपचाराद् विग्रहिणो लक्ष्यन्ते । ······ज्योतिः बिन्दुः कदम्बगोकाकारः स्फुर त्तारक सन्निभः ······ खं शून्यं शक्ति मान्त्रः
अकारोकार मकारात्मा विवेक-1/73

119. बिन्दुः — भ्रूध्यार्यं प्रदेशे ······ तेजो विशेषो यो बिन्दुभेदाभ्यासात् धरातत्वध्यायिनामभि व्यज्यते । स्प० का० वि० 4/12

120. नादो ...... स्वाच्चरितो ध्वनि विशेषोऽयं व्योम तत्वाभ्यासितः
श्रृण्वन्ति — तदैव
121. रूपं सन्तमसाद्यावरणेऽपि सति तत्तद दृश्यवस्त्वाकारदर्शनम् यत्तेजस्त-
त्वन्यक्ष निक्षिप्तमतयो निरीक्षन्ते — तदैव ।
122. रेसा — रसवद्वस्तुविरहेऽपि अमृतास्वादो मुखे ...... अप्तत्वध्या-
यिभिर्य उपलभ्यते ... तदैव
123. या सृष्टिः स्रष्टुराद्या वहति विधिहुतं या हविर्या च होत्री, ये द्वे कालं
बिधातः श्रुति विषयगुणा या स्थिता व्याप्य विश्वम् ।
यामाहुः सर्वबीज प्रकृतिरिति यया प्राणितः प्राणवन्तः ।
प्रत्यक्षाभिः प्रपन्नस्तनुभिरवतु वस्ताभिरष्यभिरीशः ॥
शाकुन्तलम् 1/1
124. यो यदात्मकता निष्ठस्तदभावं स प्रपद्यते
व्योमादि शब्द विज्ञानात्परो मोक्षो न संशयः ॥
125. ये सकृदपि परमेश शिव मेकाग्रेण चेतसा शरणम् ।
यान्ति न ते नरक युजः कृष्ण तेषां सुखाल्पतादायि ॥ तं० 8/29
126. शास्त्र विरुद्धाचरणात् कृष्णं ये कर्म विद्धते ।
तत्र भीमैर्लोक पुरुषः पीड्यन्ते भोगपर्यन्तम् ॥ तदैव 8/28
127. यथा न्यग्रोधबीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ॥
परात्रींशिका पृ० 258
128. ज्ञानं ब्रह्म विज्ञानं च भगवन्मयीं क्रियाम् । गीतार्थ समुंद पृ० 43
129. ज्ञानं तदुच्चते येन सद्सद्वस्तु निश्चयः ।
यथेष्ट भाव निर्माण शक्ति विज्ञानमुच्यते ॥
विंशतिका शास्त्र टीका पृ० 21
130. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च परात्मनः ।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत् समावेश लक्षणम् ॥
ई० प्र० 3/2/12
131. यत्पुनः कर्तृताया मुख्यत्वं तन्नान्तरीयकश्च शून्यादेर्गुणभाव...यच्च
तत् कर्तृताया मुख्यत्वम उन्मग्नता. इदमेव ज्ञानम्, अज्ञानात्मकमल
प्रति पक्षत्वात् । तदेतन्मुख्यत्वं समावेशस्य लक्षणम्, येन देह
स्थितोऽपि पतिः इति मुक्त इति शास्त्रेषूक्तः ।
132. (क) परात् परतरं त्रिकम् —परात्रींशिका विवरण —पृ० 91
(ख) वाम मार्गाभिषिक्तोऽपि दैशिकः परतत्ववित् ।

संस्कार्यो भैरवे सोऽपि कुले कौले त्रिकेऽपि सः ।।

तदैव पृ० 92

133. तस्यैव हि प्रसादेन भक्ति रुत्पद्यते नृणाम् ।
यया यान्ति परां सिद्धिं तद् भावगत मानसाः ।।

134. शिवेच्छया प्रपद्येत दीक्षां ज्ञानमयीं शुभाम् ।
मन्त्रयोगात्मिकां दिव्यां ततो मोक्ष व्रजेत् पशुः ।।

स्वच्छन्द तन्त्र 10/705

135. नान्यक्षा मोक्षमायाति पशुज्ञानशतैरपि ।
शिवज्ञानं न भवति दीक्षामप्राप्य शांकरीम् ।। तंत्रालोक 8/192

136. शिव दीक्षादिना छिन्न शिव ज्ञानासिना तथा ।
न प्ररोहेत् पुनर्नान्यो हेतुस्तच्छेदनं प्रति ।। तंत्रालोक 8/336

137. योगी स्वछन्द योगेन स्वच्छन्द गति चारिणा ।
स स्वच्छन्द पदे युक्त स्वच्छन्द समतां व्रजेत् ।।

स्वच्छन्द तन्त्र 7/257/8

138. जलस्येवोर्मयो बन्हे ज्वाला भंग्यो यथा रवेः ।
मयैव भैरवस्यैता विश्वभंग्यो विनिर्गताः ।। विज्ञान भैरव 110

139. तमधिष्टातृभावेन स्वभावमवलोकयन् ।
स्मयमान इवास्ते यस्तस्येयं कुसृतिः कुतः ।।
स्पन्दकारिका ।।

140. यथा सातिशयानन्दे कस्यचिद विस्मयो भवेत् ।
तथाऽस्य योगिनो नित्यं तत्तदविद्यावलोकने ।।
निसामान्य परानन्दानुभूति स्तिमितेन्द्रिये ।
परे स्वात्मन्यतृप्त्येव यदाश्चर्यं हि विस्मयः ।।

शिवसूत्र वार्तिक 1/12/63

141. क्रममद्रया अन्तः स्वरूपया बहिर्मुखः समाविष्टो भवति साधकः

प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र 19

142. तत्रादौ बाह्यादन्तः प्रवेशः अभ्यन्तरात् बाह्यस्वरूपे प्रवेशः
आवेशवशात् जायत इति सबाह्यभ्यन्तरोऽयं मुद्राक्रमः ।

प्र० हृ० सू० 19

143. आसादित समावेशो योगिवरो व्युत्थानेऽपि समाधि रस संस्कारेण क्षीब इव सानन्दघूर्णमानो भावराशिं शरदभ्रलवमिव लीयमानं पश्यन् भूय अन्तर्मुखतामेव समवलम्बमानो निमीलन समाधिक्रमेण

स्वदै क्यमेव विमृशन् व्यत्थानाभिमतावसरेऽपि समाध्येक रस एवं भवति —तदैव

144. अत्रायमर्थः सृष्टि स्थिति संहृति सविच्चकात्मकं क्रमं मुद्रयति, स्वाधिष्ठितयात्मसात् करोति येयं तुरीया चितिः शक्ति ।।

तदैव

145. स्वं पन्थानं ह्यस्येव मनसो ये निरुन्धते ।
तेषां तत्खण्डनायोगाद् धावत्युत्पथ कोटिभिः ।।
कि स्विदेतदिति प्रायो दुःखऽखेऽयुत्कण्ठते मनः ।
सुखादपि विरज्यते ज्ञानादेतदिदं त्विति ।।
तथाहि गुरुरादिश्यद् बहुधा स्वकशासने ।
अनादर विरक्त्यैव गलन्ती न्द्रियवृतभः ।
यावत्तु विनियम्यन्ते तावत्तावद् विकुर्वते ।।

मा० वि० 2/109-112

146. न तत्र दुः खितः कश्चिन्मुक्त्वा दुःखमनगंजम् ।
रमन्ते तत्र वै वीरा नारीभिः सह लीलया ।।

स्वच्छन्द तन्त्र 108

147. स्वांगरूपेषु भावेषु प्रमाता कश्यते पतिः ।
मायातो भेदिषु क्लेश कर्मादिकलुषः पशुः ।।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा 3/2/3

148. संकोच तारतम्येन पाशवं ज्ञानमीरितम् ।
विकास तारतम्येन पति ज्ञानं तु बाधकम् ।।

तंत्रालोक 4/252

149. अकिंचिच्चिन्तकस्यैव गुरुणा प्रति बोधतः ।
जायते यः समावेशः शाम्भवोऽसावुदाहृतः ।।

मा० वि० तन्त्र 2/23

150. उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्
यं समावेशमभ्येति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते ।।

मा० वि० तं० 2/22

151. उच्चारकरण ध्यान वर्ण स्थान प्रकल्पनैः ।
यो भवेत् स समावेशः सम्यगाणव उच्येते ।। तदैव 2/21

152. तदैव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरुचिवान् ।
तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः ।। तत्रालोक 5/52

153. सिद्धानां योगिनीनां च दर्शन चरु भोजनम् ।

कथनं संक्रमः शास्त्र साधनं गुरु सेवनम् ॥
इत्याद्यो निरूपायस्य संक्षेपो यं वरानने ॥ तंत्रालोक 2/2

154. ज्ञानं क्रिया च भ ूतानां जीवतां जीवनं मतम् ।
ई० प्र० 1/1/5

155. एवं कला विद्या काल राग नियतिभिरोत प्रोतो मायया पहृत सर्वस्वः सन् पुनरपि प्रतिवितीर्णतत्सर्वस्वराशि मध्यगत भाग मात्र एवं भ ूतोऽयं मितः प्रमाता भाति — ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्श 3/1/9

156. माया तत्वात्कला जाता किंचित्कर्तुत्व लक्षण — तंत्रालोक 9/174

157. माया हि चिन्मयादभेदं शिवाद विदधती पशोः ।
सुषुप्तता मिवाधत्ते तत एवं ह्यदृक्क्रियः ॥ तं० 9/175

158. तावद् गर्जन्ति शास्त्राणि जम्बुका विपिने यथा ।
न गर्जति महासत्वो यावद वेदान्त केसरी ॥ स्फुट

159. दु ख जन्म प्रवृति दोष मिथ्या ज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरा पायादपवर्ग· —न्यायसुत्र 4/1/2

160. तस्मान्न वध्यतेऽद्धा न मुच्यते नापि संसरति कश्चित् :
संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृति: ॥ सांख्यकारिका 62

161. दीपो यथा निवृतिमभ्युखेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेहक्षयात् केवलमेति शान्तिम् ॥
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम् ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् क्लेशक्षयात् केवल मेति शान्तिम् ॥
सोन्दरनन्द

162. अवस्था युगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयिणी तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ॥
कार्योन्मुखः प्रयत्नो य· केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिंल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुधः प्रतिपद्यते ॥
स्पन्द कारिका 14-15

163. असद्युक्ति बिचारज्ञानछुष्क तर्कावलम्बिनः ।
भ्रमयत्येव तान्माया ह्यमोक्षे मोक्ष लिप्सया ॥
तंत्रलोक 8/332

164. जायया सम्परिष्वक्तो न ब्राह्यं किंचन वेद नान्तरम् ।
निदर्शनं श्रुतिः प्राह मूढस्तं मन्यते विधिम् ॥
विज्ञान भैरवोद्योत, पृ० 59

165. पांचरात्र विदश्चान्ये वदन्ति परिनिष्ठितम् ।

ब्रह्मास्ति वासुदेवाख्यं स एवं जगदीश्वरः ।।
विद्याविद्ये द्वयं चास्य साधनं समवस्थितम् ।
अविद्यया जगत कुर्यात् विद्यया मोक्ष्यते पशून् ।।

शिव दृष्टि 6/16-17

166. गोः स्तनात् पाततः क्षीरे विकारस्तत एवं हि ।
न च न क्षीरमित्येष व्यपदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ।।

शिव दृष्टि 1/18

167. सदा शिबात्मना वेत्ति घटः स च मदात्मना ।
सर्वे सर्वात्मका भावाः सर्वे सर्वस्वरूपतः ।।
सर्वस्य सर्वमस्तीह नाना भावात्मरूपकैः ।
मदरूपत्वं घटस्यास्ति ममास्ति घटरूपता ।।

शिव दृष्टि 5/107-108

168. इदं हि तत् पराद्वैतं भेदत्याग ग्रहौ न यत् । मा० वि० वा० 1/123

169. आत्मनात्मनि न जानते विधिं निस्तरंग पर बोध भास्वराः ।
यत्पद स्थिति जुषो महाजना मोक्ष संसृति समान बुद्धयः ।।

परात्रींशिका 24

3

शक्ति-तत्व का निरूपण

शक्ति का स्वरूप

अब प्रसंग-प्राप्त शक्ति के स्वरूप का विस्तार से वर्णन किया जाता है। गत प्रकरण में यह बतलाया जा चुका है कि शिव और शक्ति के स्वरूप को पृथक् पृथक् करके नहीं दिखाया जा सकता। ये दोनों तत्व इतने अभेद-भाव में स्थित हैं कि एक के बिना दूसरे की कल्पना ही नहीं की जा सकती। शिव का स्वरूप शक्ति पर आधृत है और शक्ति का स्वरूप शिव पर निर्भर है। दूसरे शब्दों में यह कहिए कि शक्ति ही शिव का स्वरूप है और शिव ही शक्ति का स्वरूप है। इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए कहा जा सकता है कि शिव ही शक्ति है और शक्ति ही शिव है। फिर भी एक ही तत्व को दो नामों से कहा जाता है। दो नामों का होना इसलिए अपरिहार्य है क्योंकि एक के बिना दूसरे का कथन सम्भव ही नहीं। उदाहरण के लिए यदि पूछा जाए कि अग्नि क्या है तो कहा जाएगा कि जिसमें दाहक-शक्ति रहती है वही अग्नि है। फिर प्रश्न होगा कि यह दाहक शक्ति क्या है ? तो फिर लौट कर उसी तत्व पर आएंगे कि उसी दाहक शक्ति का नाम तो अग्नि है। इसी प्रकार दीपक क्या है ? प्रकाश। फिर भी कहा जाता है कि यह दीपक का प्रकाश है। वैसे ही यदि पूछा जाए कि शिव क्या है ? तो उत्तर होगा कि जिसमें अपरिमित शक्ति है वही शिव है। तो फिर यह शक्ति क्या है ? उसे शिव से पृथक् करके दिखाइए। इस पर सुतरां विज्ञ पुरुष यही कहेगा कि वह शिव ही शक्ति है, वही शक्तिमान् है। शिव और शक्ति को पृथक् करके दिखाना और पृथक् पृथक् वर्णन करना सम्भव नहीं है, फिर भी विवेचन की सुविधा के

लिए शिव और शक्ति इन दो नामों की कल्पना कर ली गयी है। और तव शिव की शक्ति और शक्ति से शिव यह भेद-कथन भी उपपन्न हो जाता है।

वस्तुतः शक्ति का विवेचन भगवान् के निष्कल स्वरूप को कहने की दिशा में एक प्रयास मात्र है। वैसे तो भगवान् शिव निर्विकल्पक बोधरूप है और स्वानुभूत्यैकगम्य हैं। उनका स्वरूप वर्णन सम्भव नहीं है। शक्ति तत्व के विवेचन से उसे जानने का प्रयत्न किया जाता है। जैसे दाहक शक्ति से अग्नि की पहचान की जाती है।[1] आलोक से दीपक की पहचान होती है और किरणों से सूर्य का ज्ञान किया जाता है वैसे ही शक्ति की सहायता से शिव का स्वरूप पहचान में आता है।[2] किन उपायों से शक्ति के द्वारा शिव को पहचाना जाता है उनका विवेचन हम आगे करेगें।

शक्ति क्या है

शक्ति क्या है यह जानने से पहले यह जानना आवश्यक है कि वह कौन सी वस्तु है जो शक्ति नहीं है। जब हम यह विचार करते हैं कि शक्ति से भिन्न यहाँ है क्या, तो बहुत चिन्तन के पश्चात् इस निष्कर्ष पर पंहुचते हैं कि यहाँ ऐसा कुछ भी दृष्टिगोचर नहीं होता जो शक्ति न हो। जहाँ भी चेष्टा है, सामर्थ्य है गति है स्थिति है, वह सब शक्ति का ही कार्य है। वह कार्य भी है कारण भी। वह उत्पाद्य भी है उत्पादक भी। विद्या भी यही है अवद्यिा भी, लक्ष्मी भी अलक्ष्मी भी, लज्जा भी निर्लज्जता भी। किसी के हृदय में यही श्रद्धा, बुद्धि कान्ति शान्ति और धृति है तो किसी के हृदय में यही अश्रद्धा, अशान्ति, भ्रान्ति निद्रा, तन्द्रा, भय, क्रोध आदि भी है। इसके अनन्त रूप हैं। दुर्गा सप्तशती में कहा गया है कि यह शक्ति सुकृति पुरुषों के घर में लक्ष्मी बनकर विराजमान रहती है तो पापियों के घर में यही दारिद्रय् बनकर रहती है। पुण्यशालियों के हृदय में यही बुद्धि है और श्रद्धा है। कुलवधुओं के हृदय में यही लज्जा के रूप में विराजती है।[3]

शकनात् शक्तिः, अर्थात् कुछ कर सकने को शक्ति कहते हैं।[4] प्रत्येक प्रमाता और प्रमेय अपनी परिधि में अपने सामर्थ्य के अनुसार कुछ न कुछ कर सकता है। चलना फिरना, बोलना, सोचना, सोना, जागना, देखना सभी कुछ शक्ति का कार्य है। ऐसी बात नहीं कि चेतन ही कुछ कर सकता है, जड़ पदार्थ भी कुछ न कुछ कर सकते हैं। वायु बहता है। पत्ते हिलते हैं, सूर्य चमकता है, पृथ्वी घूमती है जो जितना बड़ा काम कर सकता है उसे उतना ही बड़ा शक्तिमान् कहा जाता है। सबसे महान् और कठिन कार्य तो विश्व का निर्माण करना ही है। इस अचिन्त्य और अति

विचित्र अनन्त विश्व के निर्माणरूप दुर्घट कार्य को सबसे कड़ा शक्तिमान् ही कर सकता है। जो यह कार्य करता है उसे ही त्रिक दर्शन में भैरव शंकर शिव आदि नामों से कहा जाता है। चूंकि यह जीव भी अंशतः शक्तिमान् है इसलिए यह भी अंशत शिव हीं है।

निष्कर्ष यह है कि शक्ति शिव का सामर्थ्य है। चूँकि उसके सामर्थ्य से भिन्न कुछ है ही नहीं अतः सब कुछ शक्ति ही है। यह शिव की इच्छा है और चराचर जगत् का बीज है।

क्रियात्मकता या विमर्श

पूर्व प्रकरण में बताया गया था कि परमशिव प्रकाश और विमर्श का सामरस्यरूप है। उसमें जब उसी की इच्छा से स्पन्द होता है तो प्रकाश और विमर्श कुछ स्पष्ट रूप से पृथक् पृथक् स्फुरित होने लगते हैं। उसका प्रकाशरूप शिवतत्व कहलाने लगता है और विमर्शरूप शक्तितत्व नाम से जाना जाता है। यह विमर्श एक प्रकार की गति या क्रियाशीलता ही समझनी चाहिए। यह गति या क्रिया बाह्य पदार्थो की चलने फिरने और हिलने जैसी गति नहीं है। न ही यह सुख दुःख जैसी मानसिक अनुभूति है और न ही यह क्षुधा पिपासा जैसी गति है। यह विमर्श तो परमशिव की इच्छा रूपी गति है एक आनन्दात्मक हलचल है। उसकी एक क्रीडा है जिससे वह सृष्टि स्थिति संहार पिधान और अनुग्रह इन पंच कृत्यों को करता है। प्रकाश उसकी स्थिरता है तो यह विमर्शरूप शक्ति उसका चलस्वभाव है। इस शक्ति के द्वारा वह परमेश्वर एक होते हुए भी अपने को विश्वरूप में प्रकट करना चाहता है। यह शक्ति ही उत्तरोत्तर विकास को प्राप्त करती हुई विभिन्न रूपों से और विभिन्न नामों से जानी जाती है।

निष्कर्ष यह हुआ कि शक्ति एक क्रिया है। विश्वरूपता की ओर परमेश्वर की एक उन्मुखता है, उसका एक आनन्दात्मक चमत्कार है, उसकी एक क्रीड़ा है, एक लीला है, एक सामर्थ्य है। त्रिक शास्त्र में इसी को स्वातन्त्र्य, परमेश्वरता, इच्छा, विमर्श आदि नामों से कहा जाता है। इसके स्वरूप की जटिलता यह है कि इसे शक्तिमान् के साथ ही देखा जा सकता है। लौकिक शक्ति की भी यही दशा है। हम शक्तिशाली पुष्ट देह को देख सकते हैं शक्ति को नहीं देख सकते। शक्ति का ज्ञान उसकी क्रियाओं से ही होता है। यह सम्पूर्ण चराचर जगत् परमेश्वर में शक्ति के रूप में उसी प्रकार स्थित रहता है जैसे न्यग्रोध के बीज के अन्दर महावृक्ष स्थित रहता है।[5]

एक ही शक्ति—स्वातन्त्र्य शक्ति

परमार्थरूप में तो शिव की एक ही शक्ति है, और वह है स्वातन्त्र्य शक्ति। शक्तियाँ अनेक नहीं होती। अनेक होते हैं उसके रूप, उसके कार्य और उसके स्तर। कार्य-भेद से ही शक्ति का भेद मान लिया जाता है। जैसे विद्युत् एक है किन्तु कहीं वह प्रकाश करती है, कहीं जलाती है, कहीं वाहन खींचती है और कहीं विभिन्न यंत्रों को गति देती है। वैसे ही शक्ति एक ही होती है। इस निखल विश्व में उसी के विभिन्न रूप व्याप्त हैं। वही सूर्य का प्रकाश है और वही चन्द्रमा की ज्योत्स्ना भी। इन्द्रियों की अधिष्ठात्री भी है और इन्द्रियों के रूप में वही है। जड़ भी वही है और चेतन भी वही। सुख देती है और वही दुःख भी। वही संहारकारिणी है तो वही रक्षा करती है। वही श्री हैं तो वही सरस्वती भी। वही मदनिका है तो वही मोह का विनाश भी करती है। अधिक क्या कहा जाए, वही बन्धन है तो वही मोक्ष भी है। स्वयम् भगवती ने शुम्भासुर से कहा था

एकैवाहं जगत्यत्र द्वितीया का ममापरा।
पश्यैता दुष्ट मय्येव विशन्ति मद्विभूतयः ॥
दु० स० श० 10/5

शिव की उस एक शक्ति का नाम स्वातन्त्र्य है। उसी का अपर नाम इच्छा है। उसी का नाम विमर्श है। स्वातन्त्र्य का का अर्थ है कि परमशिव अपनी इच्छा से ही इस जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार करता है। अविद्या, वासना, मिथ्याज्ञान, कर्म, अदृष्ट, परमाणु या प्रधान, इनमें से किसी भी उपादान की उसे आवश्यकता नहीं होती। वह तो ठहरा सर्वसमर्थ। उसे किसी की क्या आवश्यकता। वह अपनी इच्छा से ही बिना किसी उपादान के बाह्य देश में प्रसृत हो जाता है।[6] यही है उसका स्वातन्त्र्य। अपने उसी स्वातन्त्र्य का विमर्शन करता हुआ जब उसके प्रति उन्मुख होता है तो वह सृष्टि के रूप में अपने को अभिव्यक्त करना चाहता है। तब वह अपने ही प्रकाश के भीतर अपनी ही अनिरुद्ध इच्छा से शक्तियों के प्रतिबिम्बों को प्रकट कर देता है। वे ही शक्तियां सृष्टि स्थिति और संहार के रूप में प्रकट हो जाती हैं।[7]

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि परमेश्वर की एक ही शक्ति है—उसका स्वभावभूत स्वातन्त्र्य। इसी शक्ति का जब विभिन्न रूपों में विस्फार होता है तो परमेश्वर बहुशक्ति-सम्पन्न कहलाता है।[8] यह शक्तिभेद कल्पित ही होता है। एक होते हुए भी अनेक शक्तियों के रूप में प्रतिभासित होना उसका स्वभाव है। इससे उसके अद्वयत्व में भेद नहीं आता।[9] वह एक

ही रहता है। क्या दाह, पाक, प्रकाश आदि कार्य करने से बन्हि में भेद आता है ? बन्हि वही रहती है।[10] इसी प्रकार शक्तियों के आनन्त्य से न तो शिव में भेद होता है और न ही शक्ति के स्वरूप में कोई भेद आता है। वस्तुतः स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति एक ही है। इच्छा ज्ञान क्रिया आदि शक्तियाँ इसी का अवान्तर रूप हैं।[11] शक्ति के उद्रेक का जनक भी तो शक्ति ही होता है। अन्य सभी शक्तियाँ स्वातन्त्र्य शक्ति का कल्पित रूप होती हैं। इसी शक्ति के द्वारा उन उन रूपों में सृष्टि परमेश्वर में भी कोई भेद नहीं आता। इस प्रकार शक्ति वस्तुतः एक ही होती है।[12]

स्वातन्त्र्य और जगदुपादानत्व

त्रिक शास्त्र का यह सर्वतोविलक्षण सिद्धान्त है कि परमेश्वर की स्वातन्त्र्यरूपा चिति शक्ति ही इस भेदात्मक जगत् का अनन्य हेतु है।[13] यही उपादान है, यही निमित्त है और यही असमवायि कारण भी है। जगत् के निर्माण के लिए उसे किसी माया की, अविद्या की, प्रकृति की या परमाणु की आवश्यकता नहीं पड़ती। न्यायमत में ईश्वर जगत् का केवल निमित्त-कारण है। परमाणु उसके उपादान कारण हैं। शांकर वेदान्ती अविद्या को उपादान कहते हैं। सांख्य प्रकृति को जगत् का उपादान कारण कहते हैं। ये सभी मत दूषित भेदबुद्धि के विजृम्भणमात्र हैं। ईश्वर से भिन्न किसी अन्य कारण को स्वीकार करके वे ईश्वर को अस्वतन्त्र और परमुखापेक्षी बना देते हैं।

विचारणीय प्रश्न यह है कि जब सभी दार्शनिक कर्त्ता को स्वतन्त्र कहते हैं तो क्या फिर उसे जगन्निर्माण के लिए किसी अन्य उपादानादि की अपेक्षा करनी चाहिए ? स्वतन्त्र का स्वातन्त्र्य यही तो है कि वह सब कुछ करने न करने और अन्यथा करने में सर्वदा समर्थ होता है। यदि वह समर्थ है तो उपादानादि को भी स्वतः ही बना सकता है। यदि वह अपने से सर्वथा भिन्न प्रकृति परमाणु अथवा माया की अपेक्षा करेगा तो निश्चित रूप से वह परतन्त्र ही होगा। फिर "स्वतन्त्रः कर्त्ता" यह पाणिनि का सिद्धान्त भी व्याहत होगा। अतः त्रिक शास्त्र का ही यह सिद्धान्त युक्ति-युक्त प्रतीत होता है कि परमेश्वर ही इस जगत् का अनन्य हेतु है। यद्यपि त्रिक दर्शन में भी शुद्ध विद्या, माया, प्रकृति आदि को कारण माना गया है किन्तु ये सब परमेश्वर से भिन्न तो नहीं हैं। ये तो सब उसकी अभिन्न स्वातन्त्र्य शक्ति के ही विकसित रूप हैं। इसलिए यहाँ पूर्ण अद्वयवाद का ही साम्राज्य है।

प्रायः लौकिक दृष्टान्त का अवलम्ब लेकर शैव दर्शन पर यह आक्षेप

किया जाता है कि कुम्भकार घट के निर्माण में स्वतन्त्र तो है किन्तु उसे मृतिका रूप उपादान की आवश्यकता होती है। वह मृत्तिका कुम्भकार से सर्वथा भिन्न है। अतः दो तत्व अवश्य ही स्वीकार करने चाहिए।

यह आक्षेप सर्वथा निस्सार है। आक्षेप-कर्ता यह भूल जाते हैं कि परमेश्वर के स्वातन्त्र्य से कुम्भकार के स्वातन्त्र्य की तुलना नहीं की जा सकती कुम्भकार तो स्वतन्त्र कर्ता हो ही नहीं सकता। उसमें शक्ति अल्प है, ज्ञान भी अल्प है और चिकीर्षा में भी वह स्वतन्त्र नहीं है। इसलिए उसे मिट्टी की आवश्यकता होती है, उसे घट बनाने के लिए मन को भी तैयार करना पड़ता है। किन्तु परमेश्वर तो ठहरा पूर्ण समर्थ, पूर्ण स्वतन्त्र और पूर्ण सर्वज्ञ। फिर उसे कुम्भकार के साथ कैसे तुलित किया जा सकता है। वास्तव में देखा जाए तो कुम्भकार में जो थोड़ा बहुत स्वातन्त्र्य देखा जाता है, वह भी उसी परमेश्वर का ही दिया हुआ है। दिया हुआ भी क्या है, कुम्भकार भी तो पशुभूमिका पर उतरा हुआ शिव ही है। मिट्टी भी शिव है और समस्त सहायक सामग्री भी शिव ही है। अतः कुम्भकार के दृष्टान्त से शिवाद्वय वाद पर आक्षेप नहीं किया जा सकता।

परमेश्वर जब अपने से भिन्न संसार को अवभासित करना चाहता है तो अपनी स्वातन्त्र्य शक्ति को माया शक्ति का रूप दे देता है और उससे अपने स्वतन्त्र प्रकाश रूप को विस्मृत कर, अख्याति द्वारा असीम से ससीम पशु का रूप धारण कर लेता है। वह अख्यातिरूप अशुद्धि भी उसी की अपनी इच्छा से उत्पन्न की हुई है। उसी से वह दरिद्र, असहाय, तुच्छ कामनाओं से ग्रस्त और संशययुक्त सा बन जाता है। वह स्वयम् ही स्वयम् की सृष्टि करता है, स्वयम् ही अपना पालन करता है। स्वयम् ही स्वयम् का संहार करता है, स्वयम् ही पिधान और अनुग्रह भी करता है। इस प्रकार वह अनन्य मुखापेक्षी होकर इन पाँच दुर्घट कृत्यों का सम्पादन करने के कारण स्वतन्त्र कहलाता है। यही उसकी स्वातन्त्र्य शक्ति का अर्थ है।

यदि माया प्रकृति परमाणु आदि जगत् का उपादान होते तो जगत् में अप्रकाशमानता ही होती। किन्तु जगत् तो प्रकाशमान है और सबके द्वारा अनुभव किया जाता है। इससे यही सिद्ध होता है कि प्रकाश रूपा चिति शक्ति ही जगत् का एकमात्र हेतु है। इसलिए देश काल आदि के आकार और चिति से अनुप्राणित सकल पदार्थ अपने चित्स्वरूप का भेदन करने में कथमपि सम्भव नहीं हो सकते। क्योंकि यह स्वातन्त्र्यरूपा चिति-शक्ति व्यापक नित्योदित और परिपूर्ण स्वभाव वाली है।[14]

यहाँ यह जिज्ञासा होती है कि यदि जगत् चिति-शक्ति से थोड़ा सा

भी भिन्न नहीं है तो फिर चिति शक्ति में और जगत् में कार्यकारणभाव क्यों माना जाता है ? अर्थात् यह क्यों कहा जाता है कि जगत् परमेश्वर से उत्पन्न हुआ है ? इसका समाधान यह है कि वास्तव में तो स्वच्छ एवं स्वतन्त्र भगवती चिद्रुपिणी शक्ति ही अनन्त जगत् के रूप में स्फुरित हो रही है। यही पारमार्थिक कार्यकारण भाव है। यही शक्ति प्रमातृ-प्रमाण-प्रमेयात्मक विश्व के प्रकाशन में हेतु है। वह स्वतन्त्र होने के साथ साथ अपरिच्छिन्न और स्वप्रकाश है। अतः उक्त कार्यकारण भाव की सिद्धि में भला अन्य प्रमाण और क्या उपयोगी हो सकते हैं ।[15] वह शक्ति स्वयम् ही तो प्रमाण है। स्वयम् ही वह प्रमेय भी है। तो जो प्रमाण उसी चिति शक्ति से प्रादुर्भूत हुए हैं क्या वे प्रमाण उसे जानने में समर्थ हो सकते हैं ? अपने चरणों से यदि कोई अपने सिर की छाया का उल्लंघन करना चाहे तो क्या उसका सिर उसके चरणों की पकड में आ सकता है ? नहीं। क्योंकि पैर और सिर दोनों एक ही देह के भाग हैं और इनकी छाया भी उसी का रूप है। वैसे ही प्रमाण और प्रमेय उसी चिति शक्ति का विस्फार है। अतः कार्यकारण-भाव भी उसी का रूप है।

वस्तुतः यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाए तो इन सब प्रश्नों का और शंकाओं का निराकरण स्वतन्त्र शब्द से स्वतः ही हो जाता है। जब परमेश्वर की चिति शक्ति स्वतन्त्र है तो वह विश्व की सिद्धि में भी पूर्णतया समर्थ है। भोग और मोक्ष का भी हेतु वही है। यद्यपि समस्त भेदभाव अवास्तविक हैं, किन्तु चूँकि वह भेदभाव और उसकी अवास्तविकता भी उसी की इच्छा से अपने में स्वयम् उत्पादित है अतः वह वास्तविक भी है ।[16] त्रिक-शास्त्र के आचार्यों का कथन है कि भगवती चिति शक्ति को स्वतन्त्र कहना उसे वेदान्तियों के ब्रह्मवाद से विलक्षण सिद्ध करता है। वेदान्तियों का ब्रह्म जगद्रचना में स्वतन्त्र नहीं है अपितु माया की मिथ्या उपाधि के अवलम्ब से वह जगत्कर्ता बनता है। परमार्थ में सर्वथा ऐश्वर्यहीन और सभी प्रकार की शक्तियों से रहित है जबकि त्रिक दर्शन का परमेश्वर स्वातन्त्र्य शक्ति से वशिष्ट है ।[17] वह स्वेच्छा से, अपने में ही विश्व का उन्मीलन करता है ।[18]

अभिनव गुप्त कहते हैं कि स्वेच्छा से विश्व के उन्मीलन का अभिप्राय यह है कि वह वेदान्तियों के ब्रह्म के समान अन्य की इच्छा से अर्थात् माया-जनित कामना के प्रभाव से ऐश्वर्य को प्राप्त करके संसार को नहीं बनाता। अपितु इच्छा ही जगत् की रचना में निमित्त है और वही उपादान भी है। यदि वह अन्य उपादानादि की अपेक्षा करेगा तो उसके स्वातन्त्र्य की हानि

होगी और चिति की चिन्ता भी घटित नहीं होगी।[19] इसी प्रकार परमेश्वर स्वेच्छा के साथ साथ स्वभित्ति में ही विश्व का उन्मीलन करता है। यह उन्मीलन वैसा ही है जैसा कि दर्पण में नगर[20] का प्रतिबिम्ब उन्मीलित होता है। दर्पण में प्रतिबिम्बित नगर दर्पण से भिन्न नहीं होता, अपितु दर्पणरूप ही होता है, फिर भी भिन्न सा प्रतीत होता है। वह दर्पण, वह नगर, वह प्रतिबिम्ब और उस प्रतिबिम्ब का आभास सब उसी परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का विलास है। अतः वही प्रमाण प्रमेयात्मक है वही उपादानोपादेयात्मक है, वही भेद भी है और वही अभेद भी। यही उसके स्वातन्त्र्य का अर्थ है। सकल दर्शनों के तत्वमीमांसीय और ज्ञान-मीमांसीय सिद्धान्त उसी स्वातन्त्र्य से प्रादुर्भूत हुए हैं, वे सब उसी की पृथक् पृथक् भूमिकाएँ हैं। अतः सब सत्य हैं।[21]

स्वातन्त्र्य शक्ति के पांच मुख

शिव तत्व के निरूपण के अवसर पर यह बात बहुशः कही जा चुकी है कि परमेश्वर की एक ही शक्ति है—स्वातन्त्र्य। यह स्वातन्त्र्य शक्ति शिव का स्वभाव है, उससे अभिन्न है। वह अपने स्वरूप को संछादित करने में और उसे पुनः पहचानने में स्वतन्त्र है। अपने स्वातन्त्र्यभूत स्वभाव से वह उमंग में आकर अणुरूप संकुचित पशुप्रमाता के स्तर पर उत्तरकरबद्ध जैसा हो जाता है और पुनः जब इच्छा होती है तब स्वरूप का प्रथन कर पूर्ण स्वतन्त्र शिवभाव पर प्रतिष्ठित हो जाता है।[22]

पूर्ण शिव-भाव के स्तर पर यह स्वातन्त्र्य शक्ति पाँच स्तरों पर प्रसृत होती है। ये स्तर हैं—चित् निवृति इच्छा ज्ञान और क्रिया। ये पाँच शक्तियाँ शिव के पाँच मुख कहलाते हैं। प्रकाशरूपता का नाम चिच्छक्ति है, स्वातन्त्र्य का ही दूसरा नाम निर्वृति या आनन्द है। आनन्द का चमत्कार इच्छाशक्ति है आमर्शात्मक स्पन्द का नाम ज्ञानशक्ति है और समस्त आकारों को धारण करना क्रिया शक्ति है।[23] इनमें से चित् और आनन्द का सामरस्य तो परमेश्वर का ही स्वरूप है। इच्छा उसका स्वभाव है तथा ज्ञान और क्रिया उसके स्वभाव का विकसित रूप हैं। यदि इन्हें विभक्त रूप में देखा जाए तो इन्हें ही शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर और शुद्ध विद्या इन पाँच तत्वों के रूप में देखा जा सकता है।[24]

शिव को पंचमुख कहा जाता है। ईशान, तत्पुरुष, वामदेव, सद्योजात और अघोर ये शिव के पाँच मुख माने जाते हैं। वस्तुतः ये पाँच मुख अन्य कुछ नहीं, चित्त, निर्वृति, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच शक्तियों के ही सशरीर रूप हैं।

ये पाँच शक्तियाँ परमेश्वर के अन्दर स्वभावतः ही सदा स्पन्दायमान होती रहती हैं। इनकी व्यापकता और प्रसार में कहीं कोई देश काल आदि से उत्पन्न बाधा नहीं आती, न ही इनकी कोई सीमा है। ये परमेश्वर की अन्तरंग शक्तियां हैं। इन्हीं के स्पन्दन से शिवतत्व से लेकर महामाया तक के तत्वों की उनके पांच तत्वेश्वरों की ओर अकल आदि पांच प्राणियों की सृष्टि होती है। इसी कारण इन पाँच तत्वों की सृष्टि शुद्ध सृष्टि कहलाती है।

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पाँच शक्तियाँ स्वातन्त्र्य शक्ति के भेद नहीं है अपितु ये उसके रूप हैं। ये भी स्वातन्त्रय शक्ति ही हैं। जलाने पकाने और प्रकाश करने से अग्नि के तीन भेद नहीं हो जाते। वैसे ही स्वातन्त्र्य शक्ति ही इन इन रूपों में अभिव्यक्त होती है।

लौकिक कर्तृत्व में भी यही देखने में आता है कि घट पट आदि के कर्ता कुम्भकार तन्तुवाय आदि अपने अपने कार्यों को करने में स्वतन्त्र होते हैं। चित् और आनन्द का किंचित् अंश इन लौकिक कर्ताओं में भी होता ही है। तदनन्तर सबसे पहले कुम्भकार के मन में घट के निर्माण की इच्छा उत्पन्न होती है। फिर वह घट को बनाने का ज्ञान प्राप्त करता है और फिर घट बनाने के लिए दैहिक क्रिया में जुट जाता है। इस प्रकार चिच्छक्ति आनन्दशक्ति, इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का अंश सभी जीवों में व्याप्त है। यह शक्ति-अंश उन्हें परमेश्रव ने ही दिया होता है। किन्तु परमेश्वर तो ठहरा असीम शक्तियों का स्वामी। स्वामी भी क्या, वह तो इन्हीं का स्वरूप मात्र है। उसकी शक्तियों में कोई तारतम्य नहीं है। वह असीम और संकोचरहित शक्तियों से इस अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड वाले महा-नाटक का सूत्रधार है। यही उसकी परमेश्वरता है।

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि चित् आदि पाँच शक्तियाँ उसी स्वातन्त्र्य के पाँच मुख हैं। इन्हीं के द्वारा सर्वज्ञता सर्वकर्तृता पूर्णता, नित्यता और व्यापकता की बाह्य अभिव्यक्यि होती है।

ज्ञातृता और कर्तृता

ज्ञातृता और कर्तृता परमेश्वर का अकृत्रिम और यथार्थ स्वभाव है।[25] यह ज्ञातृता और कर्तृता संविद्रूप परमेस्वर की अहं विमर्शमयी स्फुरणा के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। संवित् मानों चैतन्य का असीम समुंद्र है। उसमें ज्ञातृता मौर कर्तृता की तरंगे सदैव उठा करती हैं। इन तरंगों से शून्य वह कभी नहीं होता। संवित् या चैतन्य कभी निष्क्रिय हो ही नहीं

सकता। अब यदि पूछा जाए कि निष्क्रिय क्यों नहीं होता ? तो यह प्रश्न निराधार है। क्योंकि सक्रिय होना उसका स्वभाव है। स्वभाव तो स्वभाव ही है। स्वभाव के विषय में प्रश्न हो ही नहीं सकता। ज्ञान और क्रिया पर चैतन्य का अनन्य मुखापेक्षी अधिकार है। यह उस सर्वकर्ता का अव्यभिचरित स्वभाव है। इसी स्वभाव से वह विश्व का इंदरूप में प्रसारण करता है और प्रसारित किए हुए भावमण्डक का पुनः अहंरूप में विलयन करता है। इसी प्रसारण और विलयन का दूसरा नाम स्वात्मविकास और स्वात्मसंकोच है।

शांकर मत से भेद

शांकर वेदान्ती ब्रह्म को ज्ञातृता और कर्तृता से सर्वथा रहित मानते हैं। परमार्थरूप में उनका ब्रह्म ज्ञाता और कर्ता नहीं है। ज्ञान चिकीर्षा और कृतिमत्व ये तीन उसके तटस्थ धर्म हैं, कुछ समय के लिए स्वीकार किए गए हैं। ये उसके स्वाभाविक धर्म नहीं हैं। वास्तव रूप में तो परब्रह्म शान्त और निस्पन्द हैं। निस्तंरग-महोदधि-कल्प है। इसलिए ज्ञातृता और कर्तृता रूप चैतन्य का उसमें सर्वथा अभाव है। शान्त होना ही उसका स्वभाव है। संसार के झंझट से उसे कुछ लेना देना नहीं है। नाम रूपात्मक संसार के स्वरूप से ब्रह्म का स्वरूप नितान्त विलक्षण है। शांकर मत में ब्रह्म सत् चित् और आनन्द स्वरूप तो है किन्तु वह पूर्णरूप से शान्त है। न वह जानता है न कुछ करता है। निश्चेष्ट निष्क्रिय उदासीन और शक्तिहीन है।

त्रिक शास्त्र के आचार्यों को परमशिव की यह अशक्तता और उदासीनता स्वीकार्य नहीं है। जो परमेश्वर इतने विशाल ब्रह्माण्ड का कर्ता है, वह स्वतन्त्र और सर्वज्ञ तो अवश्य ही होगा। फिर यह कैसे सम्भव है कि वह ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से शून्य हो। महोदधि में कोई तरग न उठे यह सम्भव ही नहीं। जिसका जो कार्य स्वभाव नहीं होता वह उस कार्य को कभी नहीं कर सकता। या तो यह मानना पड़ेगा कि परमात्मा जगत् का कर्ता नहीं है। यदि उसे जगत् का कर्ता कहा जाएगा तो निश्चित रूप से उसकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति को उसका स्वाभाविक धर्म मानना पड़ेगा।

इस विषय में त्रिक दर्शन का शिवाद्वयवाद ही युक्तियुक्त सिद्ध होता है। संविद्रूप अथवा चैतन्यस्वरूप परमेश्वर अपने स्वभावभूत स्वातन्त्र्य से सदैव सविशेष ही बने रहते हैं। वास्तव में चैतन्य वही हो सकता है जो प्रसरणशील हो और निजस्वरूप के प्रसार करने का रसिक हो। चैतन्यस्वरूप वह परमेश्वर ही विश्वरूप में अवभासित हो रहा है। इसलिए यह

बाह्य जगत् भी गर्हित नहीं है। शांकर वेदान्ती संसार को तुच्छ और हेय कह कर इसे परमेश्वर से विलक्षण स्वभाव वाला मानते हैं। यह उनका प्रमाद है। यह संसार तो ऊपर से लेकर नीचे तक सब कुछ शिवरूप ही है। फिर इसके गर्हित होने का प्रश्न ही कहाँ उठता है। पाँच कृत्य रूप निज कर्म को करने में वह स्वयम् ही प्रवृत हो रहा है। अतः किसी अन्य निमित्त को खोजने की आवश्यकता ही क्या है। सब कुछ उसी के रूप का प्रसार है तो यह प्रश्न करना कि "सुखदु:खात्मक इस कुत्सित विश्व के निर्माण में उसकी उन्मुखता किस लिए होती है नितान्त अयुक्त है।[26] हाँ, विश्व को शिव रूप से भिन्न समझना वास्तव में गर्हित है। किन्तु यह गर्हितता भी शिव रूप ही है और गर्हित समझने वाला भी शिव ही है। अतः कुत्सित और अकुत्सित की कल्पना ही यहाँ अनुचित है।

वस्तुस्थिति यह है कि इच्छा ज्ञान और क्रिया इन तीनों शक्तियों का उस शिव से वियोग कभी नहीं होता।[27] अत: निस्तरंगमहोदधि जैसी स्थिरता या गतिशून्यता परमेश्वर में सम्भव नहीं है। हाँ, निस्तरंगवृतिता और तरंगायमाणरूपता दोनों उसमें युगपत् रह सकते हैं। परमेश्वर चूंकि पूर्णसवभाव है इसलिए वह यदि स्थिर है तो साथ ही चल भी है। यह पहले कहा जा चुका है कि परमेश्वर की स्पन्दशक्ति एक अगतिमय गति है, एक अचल चलता है। इसलिए वह एक साथ ही विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी। स्वात्मसंकोच भी करता है और स्वात्मविकास भी। यद्यपि त्रिक दर्शन के अनुसार क्षोभ का विलय होने पर ही शिवभाव पर प्रतिष्ठा स्वीकार की गयी है। स्पन्दकारिका में कहा गया है :

निजाशुद्धयासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिण:।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम्॥

अर्थात् अशुद्धिरूप मल के द्वारा असमर्थ बने हुए तथा सांसारिक कर्तव्यों की अभिलाषा करने वाले मितप्रमाता का क्षोभ जब स्वरूप में विलीन हो जाए तब उसको परम पद प्राप्त होता है।

इस कथन का अभिप्राय यही है कि परमपद-प्रतिष्ठा की अवस्था में आत्मा के अन्दर किसी भी प्रकार की स्पुरणा नहीं होती। वह निस्तरंग महोदधि के समान निस्तरंग और शान्त हो जाता है। इस कथन से यह शंका होती है कि परमपदरूप शिव की उक्त नि:स्पन्द और शान्त अवस्था स्वीकार करने पर उसका पूर्वोक्त स्पन्दात्मक स्वरूप कैसे सिद्ध हो सकता है ?

इस आक्षेप का उत्तर यह है कि शैव दर्शन के अनुसार मितप्रमाता

की निस्तरंगवृतिता अथवा क्षोभरहित होने का अर्थ उसका शक्ति रहित और स्पन्दहीत होता नहीं है। अपितु क्षोभ-रहित होने का अर्थ यह है कि परमपद पर प्रतिष्ठित होने की अवस्था में प्रमाता की इच्छा ज्ञान और क्रियाशक्ति की सूक्ष्म सामरस्यावस्था हो जाती है।[28] अर्थात् चिद्रूपता से उसका अभेद हो जाता है। परमेश्वर का अपनी ज्ञान-क्रियारूप स्फुरणा से विछोह किसी भी अवस्था में नहीं होता, न तो विश्वमयता में और न विश्वोत्तीर्णता में। उसके शान्त होने का अर्थ यही है कि वह परम-तत्व शिव विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय दोनों अवस्थाओं में अनन्त वैचित्र्यों का धारण करने पर भी सुख दुःख आदि द्वन्द्वदों से कभी भी अभिभूत नहीं होता तथा क्षण भंगुर देहादि के ममत्व एवं अभिमानरूप क्षोभ से विचलित नहीं होता। इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि परमेश्वर सर्वथा संवेदनरहित हो जाता हैं। शैव दर्शन के अनुसार शांकर वेदान्तियों की शान्त ब्रह्मवादिता वस्तुतः जड़ता तथा पंगुता के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।[29] ज्ञान और चैतन्यरूप होने के नाते परब्रह्म कभी निःस्पन्द अथवा निष्क्रिय हो ही नहीं सकता। यह विमर्श रूप स्पन्द ही है जो विश्व का इदं रूप में द्रावण=अवभासन करता है।

क्रिया शक्ति के दो रूप

परमशिव की स्वातन्त्र्यात्मक विमर्श-शक्ति अथवा क्रियाशक्ति के दो रूप हैं—1. शिवर्वातनी क्रियाशक्ति और 2. पशुर्वातनी क्रियाशक्ति। शिव से सम्बन्ध रखने वाली कर्तृता शिव-वर्तिनी क्रिया-शक्ति कहलाती है और पशु अर्थात् जीवात्मा से सम्बन्ध रखने वाली कर्तृता को पशुर्वातनी क्रिया-शक्ति कहते हैं। परमार्थ में तो पशु भी शिव ही है किन्तु यहाँ शिव से तात्पर्य विशुद्ध-प्रकाशविमर्श-सासरस्यात्मक शिव है जो अभी माया के उपराग से स्पृष्ट नहीं हुआ है।

शिववर्तिनी क्रिया शक्ति : शिव ज्ञाता भी है और कर्ता भी। उसकी स्वतन्त्र इच्छा ही ज्ञातृता है और वही कर्तृता भी है। शिववर्तिनी क्रिया-शक्ति का स्वरूप विमर्शमयी स्पन्दना के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं। दूसरे शब्दों में इसे परमेश्वर की निर्माण शक्ति भी कहा जाता है।[30] यही वह शक्ति है जो मूर्ति वैचित्र्य से उत्पन्न देश क्रम तथा क्रियाभेद से जनित काल-क्रम से उपलक्षित विभिन्न प्रकार के शून्य,-प्राण, पुर्यष्टक आदि प्रमातृ-वर्ग को तथा अनन्त प्रकार के ज्ञेय विषयों को परस्पर भेद रूप में अवभासित करता है। अनन्त वैचित्र्यों से परिपूर्ण भेदात्मक जगत् का अवभासन करना ही परमेश्वर की इस निर्माण-शक्ति या क्रियाशक्ति का स्वरूप है।[31] जगत् के निर्माण के लिए परमेश्वर को किसी बाह्य उपादानसम्भार की अपेक्षा

नहीं होती अपितु यह सब उसकी स्वतन्त्र इच्छा से स्वतः ही यथावत् रूप में अभिव्यक्त हो जाता है। स्तुतिकुसुमान्जलि में शिव की स्तुति करते हुए इसी सिद्धान्त की ओर इंगित किया गया है कि जो शिव प्रिय उपकरणों का संग्रह करने में पूर्ण समर्थ होते हुए भी अप्रिय उपकरणों का ग्रहण स्वेच्छा से करते हुए निखिल भुवनों का अवभासन करता है हम उसकी स्तुति करते हैं।[32] जगद्वभासनरूप क्रिया का वह स्वतन्त्र कर्ता है क्योंकि वह निर्माण करना जानता है। ज्ञान के बिना निर्माण सम्भव ही नहीं। वह ज्ञाता भी है और ज्ञाता के रूप में स्फुरित भी होता है। यही शिववर्तिनी क्रियाशक्ति का स्वरूप है।[33]

शिववर्तिनी क्रियाशक्ति देशकृत और कालकृत क्रम से रहित होती है। यद्यपि क्रम-भेद की जननी यही शक्ति है किन्तु स्वयम् इसका कोई क्रम नहीं। मैं समर्थ हो जाऊ, मैं भासित हो जाऊँ, स्फुरण घूर्णन प्रत्यमर्शन करु, इस प्रकार इच्छारूप अहं विमर्श मात्र ही ईश्वर की क्रियाशक्ति का स्वरूप है। इसमें कहीं कोई क्रम नहीं होता।[34] परमेश्वर की उक्त अहं विमर्शरूप स्फुरणा ही सम्पूर्ण विश्व की स्फुरणा है। अपनी आनन्दरूपता का आस्वादन ही विश्व का विमर्शन है। निजानन्दरस से जो वह घूर्णन करता है वही उसके भावमण्डल का उल्लास है।[35] उस भूमिका पर अ से लेकर क्ष तक जो मातृका-रूप ध्वनि-समुदाय है वह भी अहंविमर्शात्मक ही होता है। यह हम पहले कह आए हैं कि विमर्श जहाँ भी रहेगा वह अभिलापात्मक अर्थात् शब्दात्मक ही होगा। मातृका अथवा मालिनीरूप जो अहंविमर्शात्मक वर्ण- समूह है वह शिव-भूमिका पर अव्यक्त या परा वाणी कहलाती है। यही शिववर्तिनी क्रियाशक्ति का स्वरूप है।

पशुवर्तिनी क्रिया शक्ति

शिववर्तिनी क्रिया शक्ति ही बाह्य प्रसार की भूमिका में स्थूल और क्रम-सहित होकर पशुवर्तिनी क्रियाशक्ति का रूप धारण कर लेती है। शिव की क्रिया शक्ति सूक्ष्म और अक्रम थी। पशु भूमिका में वह स्थूल और सक्रम हो जाती है। ऐसा हो जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही इसमें कारण है। क्रिया की अक्रमता पर सक्रमता का उपराग चढ़ा लेना यही तो उसका सबसे बड़ा स्वातन्त्र्य का चमत्कार है। स्वतन्त्र तो सब कुछ कर सकता है।

यदि विचार कर देखा जाए तो शिववर्तिनी क्रियाशक्ति तथा पशुवर्तिनी क्रिया शक्ति के मूल स्वरूप में कोई अन्तर नहीं है। क्रियाशक्ति का मूलरूप अहंविमर्श या इच्छात्मक स्पन्दना ही है। अन्तर इतना ही है कि शिव भूमिका पर यह क्रिया केवल 'अहम्' इस अभ्यन्तर स्फुरणा के रूप में ही थी।

उसका बाह्य प्रसार नहीं था किन्तु पशु भूमिका पर यह अहं-स्फुरणा देह प्राण और इन्द्रिय के स्तर पर होती है और बाह्य देश में उसका देशक्रम और कालक्रम देखा जा सकता है।

यदि सूक्ष्म दृष्टि से देखा जाए तो हम पाते हैं कि संसार के किसी भी प्राणी के हृदय में जो इच्छात्मक स्पन्दन होता है, बाह्य देश में वही क्रिया कहलाता है। अर्थात् अन्दर जो इच्छा है वही बाहर क्रिया है। जब तक यह इच्छा मन में केवल संवेदना के रूप में रहती है तब तक यह अक्रम रहती है क्योंकि देश और काल का विच्छेद वहाँ नहीं होता। जैसे यदि चैत्र या मैत्र मन में पकाने की इच्छा करता है वही बाह्य देश में "पचामि" ऐसी क्रिया बन जाती है। किन्तु अन्दर अधिश्रयण आदि के स्पन्दन का क्रम नहीं होता।[36] जैसे ही यह इच्छात्मक स्पन्दना भौतिक देह का अवलम्बन करके स्थूल क्रिया के रूप में परिणत होती है त्यों ही इस पर काल और देश के क्रम का उपराग चढ़ जाता है। क्योंकि बाह्य क्रिया काल और देश के बिना हो ही नहीं सकती। परिणाम यह होता है कि सूक्ष्म और क्रमरहित आभ्यन्तर क्रियाशक्ति स्थूल और सक्रम बन जाती है।[37] मैं पढ़ता हूं, मैं पढ़ता था, मैं पढ़ूंगा, इस प्रकार का देहाभियान कालक्रम और देशक्रम से उपरंजित हो जाता है। उस पशुवर्तिनी क्रिया की अभिलापात्मकता भी स्थूल हो जाती है। परावाणी के रूप में जो शब्दना सूक्ष्म अवस्था में शिव में विद्यमान थी, वही शब्दना पशु भूमिका पर अवतीर्ण होकर अ से लेकर क्ष तक मातृका या न से लेकर फ तक मालिनी के रूप में वैश्वरी वाणी के द्वारा अभिव्यक्त हो जाती है। वह स्थूल होकर श्रव्य और व्यवहार के योग्य हो जाती है। क्रम से ही वर्णों का उच्चारण होता है अतः वह वैश्वरी वाणी सक्रम कहलाती है।

यह स्थूल शब्दनामयी सक्रम पशुवर्तिनी क्रियाशक्ति जगत् के पशु प्रमाताओं को निरन्तर शुभाशुभ कर्मों के तथा कर्तव्यकर्तव्य की शंकाओं के पाश में जकड़ती रहती है। मातृका अथवा मालिनी के रूप में स्थूल वर्ण-समुदाय में अधिष्ठित माहेश्वरी ब्राह्मी आदि शक्तियाँ पशुओं में बुद्धिभेद को उत्पन्न कर देती हैं जिससे वह अपनी क्रियाशक्ति के मूलस्वरूप को भूल जाता है। वह उसे अपने देह, इन्द्रिय, प्राण आदि की शक्ति स्वीकार करता है इस प्रकार पशुवर्तिनी क्रियाशक्ति पशुओं को बन्धन में डाले रहती है।

माया शक्ति

त्रिक दर्शन में माया के दो रूप वर्णित हैं : शक्तिरूप तथा तत्वरूप। इनमें से प्रथम रूप का नाम माया शक्ति है तथा दूसरे रूप का नाम माया

तत्व है। एक ही स्वातन्त्र्य शक्ति के ये दो रूप हैं जो दो स्तरों पर अहंता-रूप बोध का तिरोधान करते हैं। शुद्धाध्व स्तर पर और अशुद्धाध्व स्तर पर। माया तत्व का विवेचन अशुद्ध सृष्टि के निरूपण के सन्दर्भ में पंचम अध्याय के अन्तर्गत किया जाएगा। यहाँ शक्ति तत्व के प्रकरण में माया शक्ति का विवेचन करना युक्तियुक्त है।

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का प्रसार सर्वतामुखी है। उसके सामर्थ्य की सीमा को नापना पशु प्रमाताओं के वश की बात नहीं है। वह अचिन्त्य अनन्त सामर्थ्य शालिनी है। वह अपनी इच्छा से अपने ऊपर अपूर्णता का भी आवरण डाल सकती है। अर्थात् वह स्वतन्त्र से अस्वतन्त्र भी बन जाती है। अपने अहंविमर्श के अन्दर अभेदरूप में अवस्थित विश्व-प्रपन्च को अपने से भिन्न रूप में प्रकट करके सृष्टि स्थिति संहार पिधान और अनुग्रह इन पंच कृत्यों की सम्पादन रूपी क्रीड़ा करना उसी का कार्य है। यह कार्य कोई सरल नहीं है वह भी अन्य साधन निरपेक्ष होकर। इस दुर्घट कार्य को लीलावत् सम्पादित करना उसी स्वातन्त्र्य-शक्ति का कार्य है। परमेश्वर की वह असीम सामर्थ्य शालिनी शक्ति जिस समय अपनी संकल्पात्मक स्फुरणा के द्वारा इस विराट् विश्व को अपने से भिन्न रूप में अवभासित करने के दुष्कर कार्य की ओर उन्मुख होती है तो उसका नाम मायाशक्ति या महामाया पड़ जाता है। वह दुर्घट कार्य करती है इसलिए शक्ति है और अभेद को भेद रूप में अवभासित करती है इसलिए माया है।[38] उसका स्वातन्त्र्य भी यही है कि वह स्वेच्छा से ही अपने को अपने में ही भिन्न रूप में दिखा सकती है।[39] वह स्वयं ही आवरण है और स्वयम् ही उससे आवृत भी होती है। पूर्ण होते हुए भी अपूर्ण बन जाती है। मालिनी-विजय में कहा गया है कि वह माया-शक्ति एक है, सर्वव्यापक है, निष्कल अनादि, अनन्त, कल्याणी सर्वेश्वरी और अव्यया है।[40]

शैव दर्शन की इस माया शक्ति को वेदान्त की माया से पृथक् समझना चाहिए। वेदान्त में तो माया परब्रह्म की एक उपाधि है। उसी उपाधि से परब्रह्म ईश्वर बन जाता है। वस्तुतः वह ईश्वर नहीं होता। किन्तु त्रिक दर्शन में माया शक्ति परमेश्वर की परमेश्वरता का नाम है। यह परमशिव की अनिरुद्ध स्वातन्त्र्य शक्ति है। दूसरे शब्दों में स्वातन्त्र्य को ही माया कह दिया जाता है। इसी के बल से वह जैसे चाहता है वैसे प्रकट हो जाता है। प्रकाश और विमर्श के सामरस्य को भंग करने का मुख्य कारण यह माया शक्ति ही है।[41] इसे ही परा माया कहा जाता है।

दुर्ज्ञेय या अज्ञेय होने में कारण भी किसी व्यवहार को या तत्व को

माया कह दिया जाता है। कुछ इस अर्थ में भी परमेश्वर की शक्ति को माया कह दिया जाता है। वह शुद्ध संवित्‌रूप परमेश्वर कब कैसे और क्यों बस्वतन्त्र सा अचेतन सा और भिन्न सा बन जाता है इसे कोई नहीं जानता। इसे तो परमेश्वर ही जाने या वह जाने जो उसी के अनुग्रह से उसकी माया के रहस्य को जान ले। इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि परमेश्वर की स्वभावभूत शक्ति का ही नाम परा माया है।

महामाया

महामाया शुद्ध विद्यातत्व का एक अवान्तर सोपान है। यह मायातत्व से किंचित् ऊपर और शुद्ध विद्या से कुछ नीचे की अवस्था है। इसमें स्थित प्राणी अपने आपको शुद्ध संवित् रूप तो समझता है किन्तु अपने अभेदभाव को भूलकर वह स्वयम् को अन्य प्राणियों से, प्रमेय तत्वों से एवं परमेश्वर से भिन्न समझने लगता है। मायातत्व का थोड़ा सा अंश इसमें बना रहता है किन्तु वह इसमें अपना प्रभाव नहीं जमा पाती। शुद्ध संवित् को तिरोहित करने का सामर्थ्य उसमें नहीं आ पाता। इसलिए न तो यह मायातत्व की अवस्था है और न ही यह शुद्ध विद्या है, अपितु एक मध्य की अवस्था है जिसका विशेष नाम महामाया है।[42] इसमें स्थित प्राणी मन्त्र प्राणी कहलाते हैं।

महामाया शक्ति भी वस्तुतः स्वातन्त्र्य शक्ति की ही अवस्था है, किन्तु दोनों में थोड़ा सा अन्तर यह है कि स्वातन्त्र्य तो पूर्ण अहं विमर्श रूप अभेद की अवस्था है किन्तु महामाया में अहन्ता रूप में अवस्थित इदन्ता को भिन्न रूप में अभिव्यक्त करने की ओर एक प्रारम्भिक उन्मुखता मात्र होती है। अभी तक इसमें इदन्ता का स्पष्टरूप से पृथक् विभाग नहीं हुआ होता है। यह एक भेदावभास का उपक्रम मात्र है। इससे आगे की अवस्था मायातत्व है जिसमें तीनों मलों का प्रारम्भ होने लगता है। महामाया शक्ति के गर्भ में तो सकल भावि विश्व प्रपञ्च उसी प्रकार लीन होकर रहता है जैसे सेम की फली के गर्भ में असंक्य फलियाँ बीज पृथक् पृथक् होते हुए भी एक साथ लीन होकर रहते हैं।[43] महामाया शब्द में कर्मधारय समास है। महती च माया च। माया शब्द भी दो शब्दों से मिलकर बना है-मा—या। मीङ् हिंसायाम् धातु से मा शब्द निष्पन्न हुआ है तथा या प्रापणे से या शब्द बना है, जिसका अर्थ हुआ—मीनाति प्रात्नोति चेति माया। अर्थात् जो शुद्ध संविद् रूप स्परूप की हिंसा करती है तथा अपूर्णता अथवा भेद की अनुभूति को प्राप्त करती है वह माया कहलाती है। चूंकि यह माया तत्व से कुछ ऊपर की अवस्था है क्योंकि भेद-प्रथन अभी तक नहीं हुआ होता,

इसलिए यह महती भी है। इस प्रकार इसका महामाया नाम अन्वर्थता को प्राप्त करता है।[44]

शक्ति चक्र

शक्ति समूह को शक्ति-चक्र कहते हैं। यह पहले कहा जा चुका है कि वास्तविक शक्ति एक स्वातन्त्र्य शक्ति ही है और वह शाश्वत स्पन्दमयी है। उसका अन्तर्मुखी और बहिर्मुखी प्रसार साथ साथ ही चलता रहता है। यह वाचक वाच्यरूप विश्व उसी स्वातन्त्र्य शक्ति का विकसित बहिर्मुख रूप है।

इच्छा ज्ञान क्रिया

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति जब विश्व रूप में प्रसृत होने की ओर उन्मुखता को धारण करती है तो सबसे पहले वह इच्छा का रूप धारण करती है। इसी बात को उपनिषदों में "सोऽकामयत" रूप में कहा गया है। परमेश्वर की सिसृक्षा ही इच्छा है।[45] यह इच्छा शक्ति जब और प्रसार को प्राप्त करती है तो ज्ञान शक्ति और क्रियाशक्ति के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। ये दोनों शक्तियां मानों चिन्तामणि हैं। जिनसे उत्तरोत्तर प्रमेयों की आवश्यकतानुसार अनन्त शक्ति स्रोत फूट पड़ते हैं।[46] इसी शक्ति युगल से शिव से लेकर पृथिवीतत्व पर्यन्त षट्त्रिंशतत् तत्त्वात्मक विश्व वैचित्र्य अभिव्यक्त हो जाता है। ज्ञान शक्ति, वर्ण, पद और मन्त्र इन तीन भागों में तथा क्रिया शक्ति कला तत्व और भुवन इन तीन भागों में विकसित हो जाती है। इसी का नाम विश्व है। वर्ण पद और मन्त्र वाचक-विश्व कहलाता है तथा कला, तत्व और भुवन वाच्य-विश्व कहा जाता है।

उक्त वाचक-वाच्यरूप विश्व का विकास करने के लिए परमेश्वर की ये शक्ति-धाराएं कहीं मातृका के रूप को धारण कर लेती हैं कहीं करणेश्वरी के रूप को, कभी द्वादश काली के रूपों को और कभी दश महाविद्याओं के रूपों को धारण कर लेती हैं। कहने का अभिप्राय यह है कि शिव से लेकर स्तम्ब पर्यन्त जितने भी प्रमेय हैं वे सभी शक्तियों के ही स्रोत हैं। इन्हीं अनन्त शक्ति धाराओं को शक्ति-चक्र कहते हैं। संसार में जितने भी प्राणी हैं और जितने भी प्रमेय पदार्थ हैं उनसे भी कहीं अधिक शक्तियों की संख्या है। शैव शास्त्रों में कहीं इसे दो प्रकार की, कहीं आठ प्रकार की, कहीं नौ, कहीं बारह, और कहीं पचास प्रकार की कहा गया है।[47] घोर अघोर और घोरतर कार्यों के भेद से वस्तुतः शक्ति अनन्त प्रकार की हो जाती है। इन्हीं समस्त शक्तियों का समूह शक्ति-चक्र कहलाता है।

इस अनन्त विश्व में अनन्त शक्तियों का जाल सा बिछा हुआ है। इन्हीं शक्तियों से परमेश्वर निरन्तर सृष्टि आदि पांच कृत्यों का सम्पादन करते रहते हैं। यह शक्ति-चक्र ही परमेश्वर का ऐश्वर्य है। इस ऐश्वर्य का निरोध कोई नहीं कर सकता।[48]

करणेश्वरी शक्ति-चक्र

स्वातन्त्र्य शक्ति की विभिन्न धाराएँ संसार की निचली भूमिकाओं में उतर कर पशु वर्ग के समस्त व्यवहारों को चलाती हैं। पशु भूमिका के स्तर पर जो अन्यान्य शक्ति धारायें प्रवाहित हो रही हैं उन्हीं में से एक शक्ति समूह है करणेश्वरी चक्र। पशु प्रमाता के देह में अवस्थित भोग निष्पत्ति के प्रकृष्टतम साधनों को करण कहते हैं। इन करणों से ही संसार का व्यवहार सम्पन्न होता है। उस व्यवहार में पशु प्रमाता के अन्दर स्थित भावात्मक विश्व का बाह्य जगत् का आभ्यन्तर जगत् के साथ सम्बन्ध चलता रहता है। इस सम्बन्ध रूप व्यवहार में कभी ज्ञान की प्रधानता हो जाती है और कभी क्रिया शक्ति प्रधान हो जाती है। ज्ञान-प्रधान व्यवहार में संकल्प-विकल्प, अध्यवसाय्, अभिमान करना, श्रवण स्पर्शन, दर्शन, आस्वादन और गन्ध ग्रहण ये शक्ति के आठ रूप हैं। क्रिया-प्रधान व्यवहार में वचन, आदान, विहरण, मलोत्सर्जन और आनन्दानुभव ये पाँच रूप हैं। इस प्रकार ये देह-स्थित करणों के तेरह व्यवहार हैं। इन व्यवहारों को चलाने वाले तेरह ही करण हैं—मन, बुद्धि और अहंकार ये तीन अन्त करण हैं। चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, रसन और स्पर्शन ये पाँच ज्ञानकरण या ज्ञानेन्द्रियां हैं। वाक् पाणि, पाद, पायु और उपस्थ ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ हैं।

उक्त तेरह करणों में प्रारम्भ के तीन अन्त करणों का सम्बन्ध आन्तर विश्व के साथ है और शेष दस करणों का सम्बन्ध बाह्य नाम रूपात्मक विश्व के साथ है। उक्त तेरह करणों को करण वर्ग कहा जाता है। ये करण स्वयम् अचेतन हैं। उपर्युक्त कार्यों का सम्पादन इनका अपना धर्म नहीं है। अपितु परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति ही विभिन्न धाराओं में संचरित होकर इनको चेतनधर्मता प्रदान करती है। उसी चेतनता से ये अपने अपने कार्य में व्यापृत रहती हैं। आपात रूप से देखने पर प्रतीत तो यह होता है कि ये इन्द्रियाँ स्वयम् ही सब कार्यों को करती हैं, किन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। कार्य करने वाली शक्ति इनसे भिन्न है किन्तु इनमें व्याप्त होकर रहती है। वही शक्ति समस्त कार्य करती है। यदि ये कार्य इन इन्द्रियों के अपने कार्य ही होते तो मृत्यु के अनन्तर भी ये कार्य करती रहतीं। क्योंकि स्वाभाविक धर्म छूटा नहीं करता। इन्हीं करणों में रहने वाली कार्य शक्तियों का समूह

करणेश्वरी-चक्र कहलाता है। यह करणेश्वरी शक्तियों का समूह पशु-प्रमाता और पति-प्रमाता दोनों को ही समान रूप से प्राप्त है किन्तु दोनों के लिए उक्त शक्तियों का कार्य एक जैसा नहीं है। पशु-प्रमाता के लिए करणेश्वरियाँ बन्धन को दृढ़ करती हैं तो पति प्रमाता के लिए ये ही मुक्ति का मार्ग प्रशस्त करती हैं। इस प्रकार करणेश्वरी-चक्र का कार्य द्विमुखी है।

उपर्युक्त करणेश्वरी शक्तियों के कार्यकलाप को चार भागों में विभाजित किया गया है—खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी। खेचरी शक्ति चक्र प्रमातृ-वर्ग के स्वभाव को प्रभावित करता है। गोचरी का सम्बन्ध अन्तः करणों से है। दिक्चरी शक्ति बाह्य करणों से सम्बन्ध रखती है और भूचरी तन्मात्रों की शक्ति है।[49]

चिद्गगनचरी और वामेश्वरी

परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति की अनन्त धाराएँ जब ज्ञान के अनन्त आकाश में विचरण करती हैं तो ये चिद्गगनचरी कहलाती हैं। यह भूमिका पति प्रमाताओं के लिए ही होती हैं। किन्तु जब वही स्वातन्त्र्य-शक्ति विश्व का बाह्य प्रसार करने की भूमिका पर कार्य करती है तो उसका वह रूप वामेश्वरी का रूप होता है।[50] संसार में भगवती शक्ति के इसी वामेश्वरी रूप का व्यापार निरन्तर चलता रहता है। इसके वामेश्वरी नामकरण के तीन कारण हैं :

प्रथम तो यह कि यह संसार का वमन करती है इसलिए वामेश्वरी कहलाती है। संसारं बमतीति वामा। संसार के वमन का भाव यह है कि जो भावमण्डल पहले स्वरूप में अहंरूप से अवस्थित था उसे यह बाहर की ओर इदंरूप में अवभासित करती है।

दूसरा कारण यह कि यह स्वरूप से वाम अर्थात् विपरीत आचरण करती है। वाम शब्द विपरीतार्थक भी है। शक्ति का स्वरूप तो शुद्ध विमर्शात्मक है जो जनन और मरण एवं आविर्भाव तथा तिरोभाव से सर्वथा रहित है किन्तु इसके विपरीत यह शक्ति संसार की भूमिका में समस्त प्राणियों को अनन्त विपत्तियों, क्लेशों तथा जन्म मरण का विषय बना देती है। यही इसका वाम आचरण है। इस कारण भी यह वामेश्वरी नाम से अभिहित की जाती है।

वामेश्वरी के विपरीत आचरण का एक प्रकार यह भी है कि यह संसार का वमन ही नहीं करती अपितु संसारभाव के विपरीत भी आचरण करती है। संसार-भाव को नष्ट करके उत्कृष्ट प्रमाताओं के हृदय में शिव भाव का भी समावेश करती है। इसलिए भी इसे वामेश्वरी कहा जाता है।

वस्तुत: सांसारिकता है क्या ? यह सांसारिकता और कुछ नहीं, केवल शिव का अपनी शक्तियों से अपरिज्ञान ही है । पंचविध कृत्यकारी शिव जब अपने इस स्वरूप को भूलकर अपनी शक्तियों से व्यामोहित हो जाता है तो यही व्यामोहिता संसार कहलाती है ।[51] इस सांसारिकता में यह चिदानन्दमय परमेश्वर विविध लौकिक एवं शास्त्रीय शंकाओं के शंकु से कीलित होकर परतन्त्र और आनन्दहीन सा हो जाता है ।[52]

परमेश्वरता का स्वरूपगोपन कई प्रकार से होता है । परमेश्वर की अभिन्न परावाक् शक्ति पश्यन्ती मध्यमा आदि के क्रम से ग्राहक-भूमिका का अवभासन करती है । पुनः वही परापर-रूप से स्वरूप का संकोचन करती हुई प्रतिक्षण प्रमाता के अन्तःकरण में नयी नयी विकल्प-क्रियाओं को उल्लसित करती है और इस प्रकार शुद्ध तथा विकल्पहीन भूमिका को विकल्पाच्छादित-रूप में दिखाती है । उसी पराशक्ति की ब्राह्मी आदि देवियों से अधिष्ठित नाना शक्तियों से व्यामोहित प्रमाता अपने देह प्राण आदि परिमित तत्वों को ही अपना स्वरूप समझता है । इस प्रकार वह महेश्वर अपनी ही शक्तियों से उत्पादित भेद-विकल्पों का प्रसार कर उनसे व्यामोहित हो कर पशु-प्रमाता बन जाता है । विकल्पों का यह प्रसार भी वस्तुतः महेश्वर की महेश्वरता ही है ।[53]

परमेश्वर की यह अनपायिनी शक्ति अपने स्वरूप को और अधिक छिपाकर पाशव पद पर प्राणादि शक्तियों से तथा जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति की भूमिकाओं में देह प्राण और पुर्यष्टक आदि कलाओं के द्वारा प्रमाताओं को व्यामोहित करती है । इसी का नाम संसारित्व है ।[54] यह संसारित्व उसी वामेश्वरी का कार्य है ।

उपर्युक्त वामेश्वरी शक्ति की ही विभिन्न धाराएँ खेचरी, गोचरी, दिक्चरी और भूचरी नामक शक्ति वर्ग के रूप में पशु-प्रमाता तथा पति-प्रमाता दोनों के प्रयोजनों को सिद्ध करती हैं । खेचरी आदि शक्ति चक्रों का स्वरूप संक्षेप में इस प्रकार है :

1. **खेचरी चक्र**

चिद्गगनचरी शक्तियों का समुदाय ही संकुचित होकर खेचरी चक्र के रूप में परिवर्तित हो जाता है । विशुद्ध ज्ञान के प्रवाह का ही नाम चिद्गगनचरी शक्ति है । विशुद्ध ज्ञान की तुलना आकाश से की जाती है क्योंकि आकाश ही वह तत्व है जो सबसे अधिक निर्मल है । परमेश्वर के स्वरूप की तुलना भी कभी कभी आकाश से दी जाती है क्योंकि परमेश्वर के सर्वगतत्व तथा नित्यत्व आदि धर्मों की स्पष्ट अभिव्यक्ति आकाश में होती

है।[55] चित् भी एक आकाश ही है। उसी चिदाकाश में विचरण करने वाली शक्ति चिद्गगनचरी है। परमात्मा की सर्वकर्तृता, सर्वज्ञता, पूर्णता, नित्यता तथा व्यापकता ये पाँच विशेषताएं जो कि निस्सीम और संकोच रहित हैं जब संकुचित होकर पशु भूमिका में विद्या, कला, राग. काल और नियति इन पाँच कचुकों का रूप धारण कर लेती है तो खेचरी चक्र के नाम से अभिहित होती है। खेचरी-चक्र के रूप में शक्तियों का चिद्गगनचरी रूप गोपित हो जाता है। उससे पशु-प्रमाताओं का ज्ञान-क्षेत्र संकुचित और सीमित हो जाता है, जिसके कारण वे स्वयम् को अशक्त अज्ञानी असहाय और दरिद्र समझने लगते हैं।[56] किन्तु खेचरी शक्तियों का यह प्रभाव पशु-वर्ग पर ही उक्त प्रकार का होता है। पति-प्रमाताओं के हृदय में तो यह खेचरी-चक्र सर्वकर्तृता आदि शक्तियों के रूप में ही स्पन्दायमान होता है। पतिप्रमाता सर्वकर्ता और सर्वज्ञ आदि ही होता है।

इस प्रकारं पशु वर्ग के लिए ही शक्तियों का रूप खेचरी है। पति भूमिका पर तो उनका चिद्गगनचरी रूप ही होता है।[57]

2. गोचरी-चक्र

बुद्धि, अहंकार और मन इन तीन अन्तःकरणों में निश्चय अभिमान और विकल्पनात्मक भेद प्रधान कार्यों के रूप में विचरण करने वाला शक्ति-वर्ग गोचरी-चक्र कहलाता है। पशु भूमिका के स्तर पर यह गोचरी-चक्र पशुओं के अभेद निश्चयात्मक आदि पारामार्थिक स्वरूप का गोपन कर लेता है जिससे वे प्रत्येक व्यवहार में भेद का निश्चय भेदाभिमान और भेदविकल्पसें का ही चिन्तन करते हैं।[58] पति-प्रमाताओं के लिए गोचरी-चक्र का कार्य अभेद निश्चय आदि ही होता है।[59]

3. दिक्चरी चक्र

पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मन्द्रियों में विचरण करने वाला शक्ति-वर्ग दिक्चरी-चक्र कहलाता है। इन इन्द्रियों के दस विषय ही दस दिशाएँ हैं। दिक्चरी शक्तियाँ ही उन दस इन्द्रियों को उनके अपने अपने विषयों में प्रेरित करती हैं। वे ये दस इन्द्रियाँ दस प्रकार की शक्तियों हैं। पशु-भूमिका में ये इन्द्रियों से विषयों का भेदरूप में आलोचना कराती हैं किन्तु पति भूमिका में अतीन्द्रिय एवं आभ्यन्तर संवेदन के द्वारा प्रत्येक पदार्थ का "अहम्" इस अभेद रूप में ग्रहण कराती हैं।[60]

4. भूचरी चक्र

ये शक्तियाँ अन्तःकरण और बहिष्करण के रूप में केवल विषयों का ग्रहण ही नहीं करती अपितु विषयों केरूप में ग्राह्य भी बनती हैं। रस शब्द

स्पर्श रूप और गन्ध इन पाँच विषयों में विचरण करने वाला शक्तिवर्ग भूचरी-चक्र के नाम से अभिहित होता है। ये भूचरी शक्तियाँ विषयों में सम्मोहन उत्पन्न करती हैं जिससे पशु प्रमाता उन घट पट आदि प्रमेयों के आकर्षण-जाल में फस कर रह जाता है। किन्तु पति-प्रमाता के लिए यह भूचरी-चक्र आकर्षण का कारण नहीं बनता अपितु वह पति-प्रमाता को विषयों का अपने देह के अवयवों के समान अभेद रूप में ग्रहण कराता है। उसके लिए ये सब विषय विशुद्ध चिद्रूप में अनुभूत होते हैं।[61]

इस प्रकार यह करणेश्वरी-चक्र पशु भूमिका और पति भूमिका में एक साथ दो कार्य करता है—पशुओं को बन्धन में डालता है और पतिवर्ग के लिए मुक्ति प्रदान करता है। पशुवर्ग को भेदप्रतीति कराता है और पति-प्रमाताओं को अभेदज्ञान द्वारा स्वरूप लाभ कराता है।[62] इसी वाम=विपरीत आचरण के द्वारा खेचरी आदि शक्तियों का वामेश्वरी-रूप चरितार्थ होता है। जिस प्रकार परमेश्वर परा शक्ति से विश्व की सृष्टि स्थिति और संहारादि का कार्य करता है उसी प्रकार यह संसारी जीव भी इस वामेश्वरी के सामर्थ्य से अपनी परिधि में सृष्टि संहारादि कार्य करता रहता है।[63] जीव जब इन्द्रियों को विषयों की ओर प्रवृत्त करता है तो यही उसकी सृष्टि है। कुछ समय तक उन्हीं विषयों के साथ तन्मय होकर विश्रान्त होना ही जीव का स्थिति-कार्य है। अपने अपने कार्यों से निवृत होना ही इन्द्रियों का संहार-कार्य है।

उक्त करणेश्वरी के द्वारा परमात्मा ही संकुचित-शक्ति होकर मनुष्य-देह का धारण करता है। वही इन्द्रियों के रूप में विषय का ग्रहण करता है और वही विषयरूप में गृहीत भी होता है। इस प्रकार इस षट्त्रिंशत् तत्वमय जगत् को जो शिवरूप में देखता है वस्तुतः वे ही सिद्ध प्रमाता हैं।[64] विचित्र तनु, करण और भुवन-सन्तान उसी शिव के रूप हैं। पशुमात्र को गृहीत करने वाला शिव ही उसका भोक्ता है।[65]

मन्त्र शक्ति

मन्त्र के हृदय में अमोघ एवं अपरिमित दिव्य शक्ति निगूढ रहती है। सिद्ध योगियों की वाणी में एक ऐसा आत्मबल निहित होता है कि उनके द्वारा उच्चारित मन्त्र साधारण वर्णमात्र न रहकर अमोघ वीर्य बन जाते हैं। वे योगी की इच्छा के अनुसार भोगरूप अथवा मोक्षरूप फल प्रदान कराने में पूर्णतया क्षमता रखते हैं। स्पन्दकारिका में कहा गया है :

तदाक्रम्य बलं मन्त्राः बलशालिनः ।
प्रवर्तन्तेऽधिकाराय करणानीव देहिनाम् ॥
स्प० का० 2/26

अर्थात् सभी मन्त्र स्पन्दात्मक आत्मबल को प्राप्त करके सर्वज्ञता आदि छः प्रकार के माहेश्वर बलों को धारण कर लेते हैं। किसी भी अभिलषित कार्य के सम्पादन में वे मन्त्र अधिकार पूर्वक उसी प्रकार सहज रूप में प्रवृत होते हैं जिस प्रकार देहधारियों की इन्द्रियाँ संकल्पमात्र से ही अपने अपने कार्यों में प्रवृत हो जाती हैं।

भाव यह है कि सभी मन्त्र आवरणरहित चित्रूपता के साथ स्वभाव से ही तादात्म्य को प्राप्त किए हुए हैं। इसी कारण वे माहेश्वर बलों को प्राप्त करके शोभित और श्लाघनीय बन जाते हैं। सर्वज्ञता, तृप्ति, अनादि-बोध, स्वातन्त्र्य शक्ति प्रसार और शक्तिजन्य अनन्त ऐश्वर्य, ये छः माहे-श्वर बल कहलाते हैं। ये छः बल मन्त्र में सदा निवास करते हैं किन्तु स्पन्द रूप आत्मबल के अभाव में इनका प्रकाशन नहीं होता। उस समय वे निर्वीय बने रहते हैं। किसी पुस्तकादि में अंकित विशिष्ट आकार अथवा रचनामात्र के द्वारा वे किसी भी कार्य को सिद्ध नहीं कर सकते। किन्तु जैसे ही उनमें आत्मबल का संचार होता है वैसे ही वे योगी की इच्छामात्र से अनुग्रह निग्रह आदि कार्यों को अधिकार पूर्वक करने लगते हैं।

योगी के कार्यों का सम्पादन करना मन्त्रों का एक पहलू है। इनका एक दूसरा पहलू भी है। वह है इनका शान्त और निरन्जन रूप। उस अवस्था में ये आराधक के चित्त के साथ ही चिदाकाश में लीन हो जाते हैं। मन्त्रों का वास्तविक लक्ष्य यही है। जब ये मन्त्र भोग-सिद्धि से निवृत होकर तथा माया के उपराग से रहित होकर शान्त हो जाते हैं तब ये साधक के चित के साथ ही विशुद्ध चिद्रूपता अथवा शाक्त भूमिका के असीम आकाश में लीन हो जाते हैं। तब वे पशुभाव में पड़े हुए आत्मा को शिव के साथ एकाकार बना देते हैं। इसलिए सारे मन्त्रों को शिवधर्मी कहा गया है।[66]

मन्त्र के प्रकार

उपर्युक्त फलभेद के आधार पर मन्त्रों को दो भागों में बाँटा जा सकता है—सान्जन मन्त्र और निरन्जन मन्त्र।

सान्जन मन्त्र वह होता है जिसकी शक्ति को सांसारिक भोगेश्वर्यों की प्राप्ति के उद्देश्य से प्रयोग में लाया जाता है। अवर कोटि के अनेक साधक मन्त्र शक्ति का विकास करके उससे सांसारिक दुष्कर कार्यों को

सिद्ध करना प्रारम्भ कर देते हैं। किसी पर अनुग्रह करना, किसी का निग्रह करना, किसी असाध्यरोग का निवारण, मारण, मोहन, उच्चाटन, वशीकरण, संजीवन आदि कार्य मन्त्रवीर्य से सम्पादित करने लग जाते हैं। ऐसे मन्त्र सान्जन कहलाते हैं क्योंकि वे माया के उपराग से रंजित होते हैं।

निरन्जन मन्त्र वे कहलाते हैं जिनकी शक्ति का उपयोग स्वयम् अपने लिए शिवतत्व में समावेश पाने के उद्देश्य से किया जाता है। माया के उपराग से सर्वथा रहित होने के कारण ऐसे मन्त्र निरन्जन कहलाते हैं। यहाँ यह ध्यातव्य है कि सान्जनता और निरन्जनता मन्त्रों का भेद नहीं है अपितु उपयोग का भेद है।[67]

एक ही मन्त्र सान्जन भी होता है और निरन्जन भी होता है। उदाहरण के लिए ह्रीं मन्त्र को लीजिए। इस मन्त्र की शक्ति का उपयोग यदि हम अपने या किसी दूसरे प्राणी के रोग-निवारण के लिए करते हैं तो यह सान्जन कहलाएगा, किन्तु यदि हम इसकी शक्ति को शिवभाव में समाविष्ट होने के लिए प्रयुक्त करते हैं तो यही मन्त्र निरन्जन कहलाएगा। इस प्रकार मन्त्र-शक्ति के उपयोग का ही भेद समझना चाहिए, मन्त्रों का नहीं। यह बात मन्त्र-शक्ति का अनुभव करने वाले सिद्ध योगियों की रुचि पर निर्भर है कि वे मन्त्र का सान्जन उपयोग करना चाहते हैं या निरन्जन। मन्त्र-शक्ति से तो दोनों ही प्रकार के कार्य हो सकते हैं।

मन्त्र के रहस्य से अनभिज्ञ आजकल के तथाकथित विद्वान् भी मन्त्र-शक्ति को एक पाखण्ड की संज्ञा देते हैं। ऐसे लोग न तो मन्त्र के स्वरूप को जानते हैं और न ही मन्त्र शक्ति का वास्तविक अर्थ समझते हैं। प्रायः साधारण रूप में पुस्तकों में अंकित वर्ण रचना को ही मन्त्र समझ लिया जाता है, किन्तु ऐसा समझना सर्वथा असत्य है। पुस्तकों में अवस्थित मन्त्र निर्वीय होते हैं। उनमें कोई बल नहीं होता। इसलिए उनके उच्चारण से किसी भी कार्य की सिद्धि सम्भव नहीं। मन्त्र ही क्या, पुस्तकाधीन समस्त विद्याएँ ही निर्वीर्य होती हैं।

लिपिबद्ध मन्त्र इसलिए निर्वीर्य होता है, क्योंकि उसमें निहित बल और तेज केवय उच्चारण से प्रथित नहीं होता,[68] अपितु जब वे मन्त्र विधिपूर्वक दीक्षा का ग्रहण करके युक्ति से सिद्ध किए जाते हैं तभी उनसे तेज प्रस्फुरित होता है। अनुभूति से मन्त्रवीर्य को जानकर तो पुस्तक से भी लब्ध मन्त्र से भैरवीय संस्कार जागरित किए जा सकते हैं।[69] सामान्य रूप से मन्त्रों का गोपन ही श्रेयस्कर है। पुस्तकों में लिखकर इनका प्रकाशन नहीं करना चाहिए। गुरुमुख से इनकी प्राप्ती करनी चाहिए। पुस्तकों में मन्त्रों का

प्रकाशन करने में दोष यह है कि दीक्षा से रहित अनधिकारी पुरुष भी केवल पुस्तकों में पढ़कर मन्त्रों का प्रयोग करने लगते हैं और उनसे पर-हिंसा वशीकरण आदि कुत्सित स्वार्थों की सिद्धि करते हैं। उन मन्त्रों से कभी सिद्धि हो जाती है और कभी नहीं होती। वे दूषित अभिप्राय वाले पुरुष स्वयम् तो शास्त्रों में आस्थारहित होते ही हैं, दूसरों के मन में भी अनादर उत्पन्न करते हैं। इसलिए पुस्तकों में अकित मंत्र वास्तविक मन्त्र नहीं हैं।[70]

मन्त्र का वास्तविक स्वरूप

पुनश्च जिज्ञासा यह होती है कि यदि पुस्तक में अंकित मन्त्र वस्तुतः मन्त्र नहीं होते तो फिर मन्त्र का वास्तविक स्वरूप क्या है? इसका रहस्य जान लेना आवश्यक है। अन्यथा स्थान स्थान पर भ्रान्ति और संशय का अवकाश बना रहेगा।

वास्तव में मन्त्र-शक्ति की उस उच्चतर भूमिका पर आरुढ़ वह निर्मल और निर्विकल्प सवेदन है जिसके द्वारा योगि अपने भौतिक देह में ही छिपी हुई अमोध एवं असीम आत्मशक्ति का अनुभव कर लेता है।[71] उसके द्वारा उच्चरित साधारण से साधारण मन्त्र भी महान् प्रभावोत्पादक बन जाता है। आराधक का चित्त ही वास्तव में मन्त्र है किन्तु वही चित्त मन्त्र कहलाता है जो मन्त्र के अधिष्ठातृ-देवता का विमर्शन करके उसका सामरस्य प्राप्त कर चुका है। वर्णरचना से मन्त्र का कोई सम्बन्ध नहीं।[72]

मन् अवबोधने और तृ पालने इन दो धातुओं से मिलकर मन्त्र शब्द निष्पन्न हुआ है।[73] मन्त्र आत्मशक्ति का बोध कराता है और विभिन्न दुःखों से साधक की रक्षा करता है। इस कारण उसका मन्त्र नाम सार्थक होता है। "मनुते अवबोधयति तारयति चेति मन्त्रः" इस व्युत्पति के अधार पर मन्त्र का सीधा सम्बन्ध आन्तरिक संवेदन के साथ जुड़ जाता है, क्योंकि मनुष्य के अन्दर संवेदना ही एक ऐसी शक्ति है जिसके द्वारा वह सामान्य स्पन्दात्मक स्वरूप का आभ्यन्तर मनन करते हुए अपनी आत्मा को पशुता के स्तर से ऊपर उठाकर उसका पालन कर सकता है। त्रिक दर्शन में संवेदन को ही चित्त कहा गया है। चित्त के द्वारा ही मनुष्य लौकिक और आध्यात्मिक समस्त प्रकार के व्यवहारों का विमर्श करता है। चित्त, मन्त्र संवेदन और विमर्श ये सब एक प्रकार की आन्तरिक आत्मस्फुरणा ही है। आत्मस्फुरणा ही मन्त्र का हृदय है।

प्रतिष्ठा स्थान को शैव दर्शन में हृदय कहा गया है। जड़ पदार्थों का हृदय चेतन पदार्थ होता है। चेतन का हृदय प्रकाश होता है क्योंकि प्रकाश

की सत्ता से ही चेतना प्राप्त होती है। प्रकाश का हृदय विमर्श है। यह विमर्शात्मक आत्मस्फुरणा ही परमन्त्र का स्वरूप है। इसी का नाम अहं-विमर्श है। समस्तभाव इसी अहंविमर्श रूप आत्मस्पन्दन से अभिव्यक्त होते हैं और अन्त में जाकर उसी में विलय को प्राप्त करते हैं।[74]

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि आत्म-स्पन्दना या अहं-विमर्श ही मन्त्र का वास्तविक स्वरूप है। किन्तु इतने से ही मन्त्र शक्ति का रहस्य विशद नहीं हो जाता। विचारणीय यह है कि यह मन्त्र किस रूप में अभिव्यक्त होता है और किस प्रकार कार्य करता है ?

यहाँ यह तथ्य जान लेना चाहिए कि विमर्श जहाँ भी रहता है अथवा जिस किसी स्तर पर अवस्थित रहता है वह शब्दना या अभिलाप से रहित नहीं होता। शब्द करना विमर्श का स्वभाव है। शब्द क्रिया के अभाव में विमर्श की कल्पना की ही नहीं जा सकती। विमर्श शब्दात्मक है और शब्द विमर्शात्मक है। जब यह विमर्शात्मक शब्दना सूक्ष्मतम एवं उच्चतम भूमिका पर स्थित होती है तो इसे शास्त्रीय शब्दों में परावाक् कहा जाता है। परावाक् शब्दना की अत्यन्त सूक्ष्म अवस्था का नाम है। इसे सुन सकना कथमपि सम्भव नहीं। वह केवल सिद्ध योगियों के अनुभव का विषय है। इस परावाक् के अन्दर सकल वाचक-वाच्यमय विश्व मयूराण्डरस के न्याय से केवल स्फुरणा के रूप में ही अवस्थिय रहता है। इस अवस्था में वाचक और वाच्य का विभाग नहीं किया जा सकता। अतः यह बीजरूपिणी अवस्था कहलाती है। समस्त मन्त्रों का मूल रूप यह परावाणी ही है।

परावाणी के विषय में त्रिक शास्त्र का यह सिद्धान्त ध्यातव्य है कि यह परावाणी एक ऐसी स्पन्दना अथवा एक ऐसी गति है जो अगतिमय है, एक ऐसी "चलता" है जो अचल है। अगतिमय गति और अचल चलता सुनने में विचित्र सी प्रतीत होती है। परन्तु विचार करने पर इसका रहस्य समझ में आ जाता है। स्थूल पदार्थों को जब हम इधर उधर हिलते डुलते, और आते जाते देखते हैं तो उनकी गति हमारी समझ में आती है, किन्तु जरा विचार कीजिए कि यदि सर्वत्र वही गति विद्यमान हो, उससे भिन्न कुछ भी न हो तो उस अवस्था को आप क्या कहेंगे ? गतिमान् को तो देखा जा सकता है किन्तु गति को नहीं देखा जा सकता। क्योंकि सर्वत्र वही है। इसलिग अगति भी गति ही है। इसे ही सामान्य स्पन्दना कहा जाता है। यही परावाक् का स्वरूप है। यह स्पन्दना ही परमेश्वर की ज्ञान-क्रियात्मक विमर्शना कही जाती है। अभी इसमें बाह्य प्रसार की ओर

उन्मुखता नहीं हुई होती। यह अचल होती हुई भी चल [75] जैसी आभासित होती है।

यही परावाक् जब बहिर्मुख प्रसार की ओर उन्मुख होकर पश्यन्ती और मध्यमा अवस्था को पार करके वैखरी वाणी का रूप धारण करती है तब अ से क्ष तक मातृका और न से फ तक मालिनी के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है जिसका विवेचन पीछे किया जा चुका है। इस दृष्टि ये विचार किया जाए तो प्रत्येक वर्ण शब्द और मात्रा मन्त्र ही है और प्रत्येक मन्त्र शक्त्मात्मक है।[76] यदि शास्त्र वर्णित नियमों का पूर्ण विधि से पालन करते हुए इनका अभ्यास किया जाए तो इनमें निहित दिव्य शक्तियों का प्रकाशन किया जा सकता है और उनसे अभीप्सित मोक्ष एवं मोक्ष की प्राप्ति सहज ही की जा सकती है। मन्त्र की वास्तविक उपयोगिता तो मोक्ष की ही प्राप्ति कराना है। भोगैश्वर्य की प्राप्ति कराना तो उसके लिए साधारण सी बात है। मनन मात्र से ही जो त्राण कर दे वही तो मन्त्र है। महार्थ-मंजरी में कहा गया है कि मन्त्र एक ऐसी त्राणमयी एवं मननमयी दिव्य अनुभूति है जो सकल विश्य को ग्रस लेती है अर्थात वह साधक प्रमाता को सद्यः ही शिव-भाव में प्रतिष्ठित कर देती है।[77]

अनुत्तरा शक्ति

त्रिक शास्त्र में परमेश्वर को अनुत्तर कहा जाता है! अनुत्तर की शक्ति अनुत्तरा कहलाती है। अनुत्तरा शक्ति से सम्पन्न होने के कारण ही शिव का नाम अनुत्तर है। वास्तव में जो अनुत्तर है वही अनुत्तरा है। क्योंकि शैव शास्त्रों में शिव और शक्ति में भेद स्वीकार नहीं किया जाता है।[78] यह अनुत्तर-तत्व ज्ञान और क्रिया का समावेत रूप है।[79] दूसरे शब्दों में यही प्रकाश-विमर्शात्मक सामरस्य है। यदि इस अनुत्तर तत्व का हृदय थोड़ा सा भी उद्घाटित हो जाए तो यह सद्यः कौलिकी सिद्धि प्रदान कर देता है। इसके ज्ञान मात्र को ही साधक खेचरी शक्ति का साम्य प्राप्त कर लेता है।[80]

चिद्धन शिव को अनुत्तर इसलिए कहा जाता है क्योंकि इससे उत्तर=प्रकृष्ट कुछ नहीं हैं। "न विद्यते प्रकृष्टमुत्तरं यतस्तदनुत्तरं चिद्धनं वस्तु" लक्ष्मी राम ने परात्रीशिका की अपनी विवृति नाम की व्याख्या में अनुत्तर शब्द की यही परिभाषा दी है। चूंकि शिव से प्रकृष्ट वस्तु अन्य नहीं हो सकती इसलिए वह अनुत्तर है। उससे उत्कृष्ट होने की सम्भावना तो तब हो सकती है जब चिद्धन शिव से अतिरिक्त कोई वस्तु हो। यहाँ तो शिव से भिन्न कुछ है ही नहीं, फिर उससे उत्तर कोई कैसे हो सकता

है। पर प्रकाशात्मक होने से शिव ही अनुत्तर है।[81]

अनुत्तर शिव की शक्ति अनुत्तरा है क्योंकि उस शक्ति से ही उत्तर —प्रकृष्ट कोई अन्य शक्ति नहीं हो सकती। परमेश्वर की एक ही शक्ति है स्वातन्त्र्य शक्ति। अतः स्वातन्त्र्य शक्ति ही अनुत्तरा है। परात्रींशिका में इसी स्वातन्त्र्य शक्ति को खेचरी शक्ति नाम दिया गया है। वहाँ जब यह कहा गया है कि 'येन विज्ञातमात्रेण खेचरी-समतां व्रजेत्'' अर्थात् अनुत्तर के ज्ञान से प्रमाता खेचरी की समता को प्राप्त कर लेता है तो यह खेचरी शक्ति अनुत्तरारूप स्वातन्त्र्य शक्ति ही हो सकती है, क्योंकि अनुत्तर से अनुत्तरा का ही साम्य सम्भव है।[82] केवल खेचरी की समता ही नहीं अपितु अनुत्तर तत्व की अनुभूति में तो वह दिव्य ऐश्वर्य निहित है कि उससे कौलिकी सिद्धि भी शीघ्र ही अधिगत हो सकती है।

यह कौलिकी सिद्धि क्या है? कुल नाम है देह का। देह में होने वाली सिद्धि ही कौलिकी सिद्धि है। चिदैकात्म्य ही वह सिद्धि है जो अनुत्तर के ज्ञान से देह में ही प्राप्त की जा सकती है। देह जड़ है फिर भी उसमें रहते हुए ही जब चित् के साथ ऐकात्म्य हो जाता है तो यह जीवन्मुक्ति की दशा कहलाती है। यही कौलिकी सिद्धि है।[83]

अभिनव गुप्त ने अनुत्तर के ऐश्वर्य को और अधिक स्पष्ट करते हुए उसे तीन देवियों का ही सम्मिलित रूप माना है। ये तीन देवियाँ हैं— स्वातन्त्र्य शक्ति, क्रमसंसिसृक्षा और क्रमात्मता। स्वातन्त्र्य शक्ति का अर्थ है स्वातन्त्र्यरूपा अनन्त शक्ति से सम्पन्न शिव। क्रमसंसिसृक्षा कहते हैं जगन्निर्माण की इच्छा रूप पामेश्वरी शक्ति को और क्रमात्मता का अर्थ है भेद प्रधान नरत्व। इस प्रकार शिव शक्ति नरात्मक यह त्रिक ही अनुत्तर पद वाच्य है। स्त्रीलिंग की विवक्षा में यही अनुत्तरा है।[84]

यही अनुत्तरा परावाक् है। यही स्थूल होती हुई पश्यन्ती मध्यमा वैखरी वाणी का रूप धारण करती है। तन्त्र शास्त्र में अनुत्तरा शक्ति का बोध "अ" वर्ण से होता है। अनुत्तरा में थोड़ा सा विकास होने पर इच्छा का आविर्भाव होता है। "इ" वर्ण से उस इच्छा शक्ति का द्योतन होता है। इच्छा का विकास होने पर जगत् का उन्मेष होता है। इस प्रकार अनुत्तर इच्छा और उन्मेष का एकीभाव ही अनुत्तरा शक्ति है। सारा वाच्य-वाचक राशिभूत प्रपञ्च "अ इ उ" इन तीन मात्राओं में ही छिपा हुआ है। अनुत्तर और अनुत्तर में उछाल मारता हुआ आनन्द ये दोनों स्वरूपतः एक ही हैं। व्यवहार में दो माने जाते हैं। ये ही दोनों इच्छा और उन्मेष के संघट्ट से अनन्त वैचित्र्य को धारण कर लेते हैं।[85]

अभी पीछे कहा गया है कि अनुत्तर के ज्ञान से कौलिकी सिद्धि सहज ही प्राप्त हो जाती है वस्तुत: मूल रूप में अनुत्तर स्वयम् अकुल है। अकुल परम-धाम शिव है। उस अनुत्तर शिव की शक्ति कौलिकी शक्ति कहलाती है। यह कौलिकी शक्ति ही अनुत्तरा है। इसी का दूसरा नाम विसर्ग-शक्ति है।[86] यही अमृता कला और सप्तदशी कला कहलाती है। लय के क्रम में सर्ग अनुत्तरा में लीन होता है और अनुत्तरा अनुत्तर में लीन हो जाती है।[87]

इस अनुत्तरा शक्ति को कोई नूतन तत्त्व नहीं समझना चाहिए। यह परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही एक विशिष्ट पर्याय है। इसे गोप्य रखने के लिए विभिन्न शब्दों का प्रयोग किया गया है। अनुत्तर तत्त्व महान् गुह्य तत्व है। यह भगवान् शिव के हृदय में स्थित है।[88] वैखरी वाणी से उसका सर्वात्मभावेन प्रकाशन नहीं हो सकता।

अघोर घोर और घोरतर शक्तियां

परमेश्वर अपनी अनन्त शक्तियों से इस विश्व में सृष्टि स्थिति लय पिधान और अनुग्रह इन पंच कृत्यों की लीला निरन्तर करते रहते हैं। यह शक्तिवर्ग भिन्न भिन्न प्रकृति के प्रमाताओं को भिन्न भिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाओं का विषय बनाता है। वैसे तो शिव की शक्तियों का कोई अन्त नहीं है फिर भी पूर्वोक्त रीति से उन्हें चार ही प्रकार की माना गया है—परा, परापरा, अपरा और काल सर्कषिणी। सत्व, रजस् और तमस् इन गुणों के त्रैविघ्य के अधार पर प्रमाता भी तीन ही प्रकार के माने गए हैं—सात्विक, राजस और तामस। इन त्रिविध प्रमाताओं को दृष्टि में रखकर उन शक्तियों को पुन: तीन भागों में बांटा गया है—ज्येष्ठा, वामा और रौद्री।

परमार्थ रूप में तो परमेश्वर की एक ही शक्ति है—परादेवी, जिसे स्वातन्त्र्य नाम दिया गया है। यह बात हम अनेक स्थानों पर कह चुके हैं। यही पराशक्ति तन्त्रशास्त्र में अम्बा कही गयी है। निग्रह लीला और अनुग्रह लीला का कार्य यही शक्ति करती है।निग्रह और अनुग्रह के कार्यों को सुचारु रूप से चलाने के लिए यही पराशक्ति स्वयम् को ज्येष्ठा रौद्री और वामा इन तीन रूपों में अभिव्यक्त करती है।[89] इन्हीं को क्रम से अघोर, घोर और घोरतर शक्तियाँ भी कहते हैं। ज्येष्ठा शक्ति शिव-रूपिणी ही होती है क्योंकि कल्याण करना ही इसका कार्य है। रौद्री प्राणियों को संसार में ही उलझाए रखती है और वामा भयानक कष्टों को देने वाली है। और शुभ कर्मों में प्रवृत्ति को रोकती है। सात्विक प्रमाताओं में ज्येष्ठा

शक्ति कार्य करती है। रौद्री राजस प्रमाताओं का और वामा तामस प्रमाताओं का निग्रह करती है।[90]

ज्येष्ठा शक्ति साधक को शिव भाव के समावेश द्वारा स्वरूप का दर्शन कराकर प्राणियों का कल्याण करती है। यह ज्ञान और कर्म के स्वातन्त्र्य को प्रदान करती है। वामा शक्ति नीचे ही नीचे गिराती है। रौद्री कभी कभी आनन्द भी प्रदान करती है, किन्तु इसका परिणाम भयानक होता है।[91] इस प्रकार ये शक्तियाँ अघोर घोर और घोरतर परिणामों का सृजन करती हैं।

1—अघोर शक्तियां

ज्येष्ठा शक्तियाँ अघोर कहलाती हैं। अघोर का अर्थ है सौम्य शान्त और कल्याणकारिणी शक्ति। संसार में जो जो पुरुष प्रभु-भक्ति में रत दिखाई देते हैं, जिनकी रुचि धर्मकृत्यों में, निदिध्यासन में, शास्त्र चर्चा में और गुरुचरण सेवा आदि सात्विक कार्यों में पायी जाती है तथा जो साधक संसार के बन्धन को काटकर मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रयास करते हैं उन सबके मूल में अघोर शक्ति ही कार्य करती है। यही शक्ति जीवों को परमेश्वरता की प्राप्ति के लिए प्रेरित करती है। अघोर शक्ति की अघोरता यही है कि वह मनुष्यों को संसार के बन्धन-कारक घोर कार्यों से हटाकर मोक्ष की ओर अग्रसर करती है। जीवों को शिवभाव पर पहुँचाना ही इनका कार्य है। ये निरन्तर इसी कार्य में व्यापृत रहती हैं।[92]

2—घोर शक्तियां

परमेश्वर की रौद्री शक्ति घोर शक्ति कहलाती है। राजस् प्रकृति वाले पशु-प्रमाताओं के लिए शक्तियों का रूप घोर अर्थात् भयजनक होता है। यदि संसार में केवल ज्येष्ठा एवं अघोर शक्तियाँ ही काम करती होती तो संसार के समस्त प्राणी कब के मुक्त हो गए होते। किन्तु ज्येष्ठा के साथ साथ रौद्री शक्तियाँ भी कार्य करती रहती हैं। ये जीवों को संसार में ही फंसाये रहती हैं। इनके प्रभाव से जीवों को संसार से अरुचि नहीं होती। वह ऐसे शुभ और अशुभ कार्य करते रहते हैं कि जिनका फल संसार में सुख या दु:ख का भोग करना ही होता है। स्वर्ग-प्राप्ति की कामना से किए गए यज्ञादि कार्य भी घोर शक्तियों की ही प्रेरणा से किए जाते हैं। यज्ञादि कार्यों का फल है तो संसार ही। स्वर्ग नरक सब संसार के ही रूपान्तर हैं। घोर शक्तियों के प्रभाव से मनुष्यों की बन्धन लीला भी साथ साथ चलती रहती। इसलिए सभी जीव मुक्त नहीं हो जाते। जीवों को संसार में ही उलझाए रखने वाली ये शक्तियाँ घोर शक्तियाँ

कहलाती हैं। ये मनुष्यों को विषय सुख सुलभ बनाती हुई उन्हें संसार से मोह उत्पन्न करा देती हैं। काम्य कर्मों में अभिरुचि इन्हीं से होतो है। घोर शक्तियाँ जीवों की मोक्ष में रुचि नहीं होने देती। राष्ट्र में सुख और समृद्धि इन्हीं घोर शक्तियों से होती है। इस प्रकार प्राणियों को सुख भोग की सामग्री सुलभ बनाते हुए उन्हें संसार में ही टिकाए रखने वाली रौद्री शक्तियाँ घोर कहलाली हैं।[93]

घोरतरी शक्तियां

वामा शक्ति जीवों को विषय सुख की ओर तथा काम क्रोध आदि की दिशा में धकेलती हुई उन्हें नीचे ही नीचे गिराती रहती है। सर्प, वृश्चिक, कीट-पतंग आदि योनियों में जीवों को भेजती हुई उन्हें निरन्तर भयानक दुःख देती रहती है। रौद्री शक्तियाँ तो मनुष्यों को कभी कभी सुख भी दे देती हैं किन्तु वामा शक्तियाँ तो दुःख का ही मार्ग प्रशस्त करती हैं। काम-क्रीड़ा के सुख को ही वास्तविक सुख समझते हुए ये प्राणी अधिकाधिक दुःख के ही गर्त में गिरते जाते हैं। संसार से इनका संतरण कभी नहीं होता। मोक्ष की दिशा में ये भूल कर भी नहीं जाते।ये वामा शक्तियाँ ही घोरतरी शक्तियाँ कहलाती हैं।[94]

घोरतरी शक्तियाँ कलिकाल में खुलकर नर्तन करती हैं। सत्ययुग में अघोर शक्तियाँ अधिकाधिक क्रियाशील रहती हैं। अतः कलयुग में बन्धन की लीला अधिक चलती है। इसे वामा कहते ही इसलिए हैं क्योंकि यह संसार का ही वमन करती हैं। वमति संसार मिति वामा। यद्यपि कलिकाल में अघोर शक्तियों का सर्वथा अभाव नहीं होता। मोक्ष का अभिनय भी चलता रहता है, किन्तु यह कहीं कहीं ही होता है। वामा शक्तियाँ ही अनियन्त्रित रूप में कलियुग में खेलती हैं।

उपर्युक्त तीनों शक्तियाँ पराशक्ति के निर्देशानुसार अपना अपना कार्य करती हैं। यह पराशक्ति तो परमेश्वर से अभिन्न ही है। संसार का समस्त व्यवहार चाहे वह शुद्ध हो या मलिन, पाप हो या पुण्य, उत्कृष्ट हो या निम्न कोटि का, सब उसी की इच्छा के अनुसार होता है। उसी की शक्तियाँ सब ओर फैली हुई हैं। घट पट आदि का कर्ता भी वास्तव में वही है। जीव तो अपने आपको व्यर्थ ही कर्ता समझता हुआ कार्मण मल का भागी बनता है। जीवों को जो यह कर्तृत्व का मिथ्या अभिमान होता है यह भी परमेश्वर की घरोतरी शक्तियों का ही कार्य है। जीव के अच्छे बुरे कार्यों का उत्तरदायी उसकी उपर्युक्त शक्तियाँ ही हैं।

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि परमेश्वर की एक ही शक्ति ज्येष्ठा

रौद्री और वामा इस त्रैविध्य को धारण करके संसार में अघोर और घोरतर कार्यों का सम्पादन करती हैं। इन्हीं शक्तियों से युक्त होकर शिव शक्ति (समर्थ) कहलाता है। उसके बिना तो सुक्ष्म शिव में नाम और धाम किसी की भी सत्ता नहीं होगी। उस नाम धाम के अभाव में उसको जानना सम्भव ही नहीं हो सकता। जान भी लिया जाए तो भी उस ज्ञात शिव से न कोई कर्म सिद्ध हो सकेगा और न किसी ऐश्वर्य की प्राप्ति हो सकेगी, क्योंकि सिद्धि और ऐश्वर्य तो उसकी शक्ति में निहित है।[95] इसलिए शिव की शक्तियों को अवश्य ही जान लेना चाहिए।

विद्या शक्ति

त्रिक दर्शन में विद्या को भी एक शक्ति के रूप में स्वीकार किया गया है। वेदान्त में विद्या शब्द से यथार्थ ज्ञान का ग्रहण किया जाता है और अविद्या का अर्थ मिथ्या ज्ञान या अपारमार्थिक ज्ञान किया जाता है। किन्तु शैव दर्शन में अविद्या कोई तत्व नहीं होता। जिसे वेदान्त में अविद्या कहा गया है उसे यहाँ अशुद्ध विद्या कहा जाता है। विद्या के दो भेद हैं—शुद्ध विद्या तथा अशुद्ध विद्या। जब पति प्रमाता इस भेदमय जगत् में भी शिवभाव के समावेश के द्वारा "अहमिदम्" ऐसी अभेद दृष्टि रखते हैं तो यह शुद्ध विद्या है। और जब जीव प्रमेयों को अपने से भिन्न रूप में देखता है तो उसकी यह जानने की संकुचित शक्ति अशुद्ध विद्या कहलाती है।

ये दोनों प्रकार की विद्या जानने का एक सामर्थ्य ही है। अतः यह विद्या एक शक्ति ही है। क्योंकि अशक्ति तो शैव दर्शन में कुछ होती ही नहीं। जिसे हम अशक्ति या परतन्त्रता या असामर्थ्य कहते हैं वस्तुतः वह भी शक्ति का ही एक रूप है। जब हम किसी वस्तु को अपने से भिन्न रूप में या अभिन्न रूप में देखते हैं तो यह हम अकस्मात् ही नहीं देखते, अपितु यहाँ भी परमेश्वर की विद्या शक्ति ही कार्य कर रही होती है।

इस विद्या शक्ति का विवेचन हम शुद्ध विद्या नामक पंच मतत्व मानकर नहीं कर रहे हैं अपितु शक्ति का ही एक प्रकार मानकर कर रहे हैं। यद्यपि शक्ति भी एक तत्व ही है। क्योंकि शक्ति से पृथक् तो कुछ होता ही नहीं। इसी का नाम शाक्त दृष्टि है। फिर भी विद्या को यहाँ एक शक्ति ही रूप में समझना चाहिए, शुद्ध विद्या तत्व के रूप में नहीं। शुद्ध-विद्या तत्व का विवेचन क्रम-प्राप्त अध्याय में किया जाएगा।

यह वह सहज विद्या है जो विकल्प संस्कार का निरन्तर अभ्यास करने से प्रबुद्ध योगियों के हृदय में उदित होती है और जिसके उदित होने

से अहं विमर्शात्मक स्वरूप की यथार्थ अनुभूति होती है। उसे अपने स्वरूप का परिचय हो जाता है। इस प्रकार यहाँ विद्या शब्द से शुद्ध विमर्श-शक्ति अभिप्रेत है। इस विद्या के हृदय में आ जाने पर सर्वज्ञता सर्वकर्तृता आदि धर्म निखर उठते हैं।

शैव दर्शन में विद्या शब्द की व्युत्पति लाभार्थक विद्लृ धातु, विचारार्थक विद्धातु और ज्ञानार्थक विद्धातु इन तीन धातुओं के मिश्रित अर्थ से मानी गयी है। जिसका भावार्थ यह है कि विद्या विमर्श की वह उच्चतम भूमिका है जिसके विकसित हो जाने पर योगी को सर्वज्ञता आदि धर्मों का लाभ होता है, उसमें यह विचार उदित होता है कि "मैं अनादि और अनन्त हूँ, स्वातन्त्र्य शक्ति ही मेरा वास्तविक स्वरूप है।" तथा उसे यह भी ज्ञान होता है कि वास्तव में मैं ही शिव हूँ और यह सम्पूर्ण विश्व मेरे ही शक्ति-स्वरूप का विकास है।

मातृका—मालिनी शक्ति

इच्छा-शक्ति के विकास को प्राप्त करने पर ज्ञान-शक्ति का उदय होता। यह ज्ञान-शक्ति वर्ण पद और मन्त्र शक्ति के रूप में विकसित होती है। यह वर्ण शक्ति मातृका कहलाती है। अ से प्रारम्भ करके क्ष वर्ण तक की शब्दराशि का पारिभाषिक नाम मातृका है। यह शब्दराशि सर्वस्वतन्त्र चित्शक्ति का ही बहिर्मुखीन प्रयास है। भेद भूमिका पर उतरते ही यह शब्दराशि आठ वर्गों में विभक्त हो जाती है—अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग। भट्ट कल्लट ने क्षवर्ग नामक एक नवम वर्ग भी स्वीकार किया है जिसमें एक ही अक्षर है।[96] इस प्रकार इन नौ वर्गों के कुल अक्षर पचास हो जाते हैं।

1— अ वर्ग	अ से अः तक अ, आ, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, लृ, लॄ, ए, ऐ, ओ, औ, अं, अः	16 अक्षर
2 – क वर्ग	क, ख, ग, घ, ङ	5 अक्षर
3— च वर्ग	च, छ, ज, झ, ञ,	5 अक्षर
4— ट वर्ग	ट, ठ, ड, ढ, ण,	5 अक्षर
5— त वर्ग	त, थ, द, ध, न,	5 अक्षर
6— प वर्ग	प, फ, ब, भ, म,	5 अक्षर
7— य वर्ग	य, र, ल, व,	4 अक्षर

8— श वर्ग	श, ष, स, ह,	4 अक्षर
9— क्ष वर्ग		1 अक्षर
		कुल 50 अक्षर

ये पचास अक्षरों वाली शब्दराशि मातृका हैं। एक एक वर्ण शक्ति-रूप हैं। यह मातृका स्थूल वाचक-वाच्यरूप शब्दराशि को अपने अन्दर अभेद रूप में धारण करती है। इसका पूर्ण स्वरूप अहन्तारूप स्वातन्त्र्य ही है। वर्णसमुदाय के रूप में बाहर प्रसृत होकर यह वाचक-वाच्यरूप विश्व को अवभासित कर देती है। अतः यह सकल विश्व की माता है। अशेष वाचक-वाच्य रूप विश्व का पालन करने के कारण ही यह शब्दराशि माता या मातृका कहलाती है।[97] किन्तु यह ऐसी प्रच्छन्न माता है जो निरन्तर प्राणियों के पास सन्निहित होती हुई भी उनसे अज्ञात ही रहती है। तभी तो यह मातृका है, अन्यथा यदि यह ज्ञात होती तब तो माता ही कहलाती, मातृका नहीं। अज्ञात माता ही मातृका कहलाती है।[98]

अभिनव गुप्त ने मातृका शब्द को परिवारवाचक माना है। चूँकि ये शक्तियाँ चित्शक्ति को चारों ओर से घेर कर उसे पशु प्रमाताओं से छिपाए रखती हैं इसलिए इन्हें मातृका कहा जाता है। परिवार वही होता है जो अपने जन्मदाता को घेर कर बैठता हो। मातृका भी चित् शक्ति का परिवार ही है। यह परिवार शुद्ध संविद्रूपता को इस प्रकार परिवृत किए रहता है कि साधारण जीवों को उसका पता नहीं चलता। इसलिए उक्त शब्दराशि रूप-मातृका परिवार कहलाती है।[99]

यह मातृका शक्ति विभाग के स्तर पर कहीं दो प्रकार की मानी जाती है, कहीं आठ प्रकार की, कहीं नौ प्रकार और कहीं पचास प्रकार की स्वीकार की गयी है।[100]

द्विधा शक्ति

उक्त पचास अक्षरों का शक्ति समूह समानरूप से दो नामों से कहा जाता है—बीज शक्ति और योनि शक्ति। बीज का अर्थ है शिव और योनि का अर्थ है शक्ति।[101] अ से लेकर अः पर्यन्त षोडश स्वरों के समूह को बीज शक्ति कहते हैं, क्योंकि शक्तियों का प्रारम्भिक रूप स्वरात्मक ही होता है। क से क्ष तक या ह तक चौंतीस अक्षर योनि कहलाते हैं।[102] योनि में पड़कर ही बीज अंकुरित होता है। ककार आदि व्यंजनों से संयुक्त होकर ही स्वरात्मक बीज स्थूल शक्ति के रूप में अंकुरित होता है। व्यंजनों

से स्वरों को पृथक् नहीं किया जा सकता। दोनों एक दूसरे में अन्तर्निहित होते हैं।

अष्टधा शक्ति

क से लेकर ह पर्यन्त तैंतीस वर्णों को आठ वर्गों बांटा गया है—कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग। ये आठ वर्ग वस्तुतः भेद भूमिका पर अवतीर्ण विमर्श-शक्ति के आठ रूप हैं। प्रत्येक वर्ग की पृथक् पृथक् अधिष्ठात्री देवी है। उनके क्रमशः नाम हैं—माहेश्वरी, ब्राह्मी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगेशी।[103] इन आठ शक्तियों का पारिभाषिक नाम पीठेश्वरी भी है। पीठ का अर्थ है आसन। आसन वह है जिस पर बैठा जाए क्योंकि जगत् का समस्त व्यवहार इन्हीं पर अवलम्बित है, इसलिए इन्हें पीठेश्वरियाँ कहा जाता है। साधारण प्राणियों के लिए ये बन्धनपाश हैं। विकल्पात्मक नाना परम्पराओं को उत्पन्न करके उन्हें संसार में फँसाए रहती हैं। उनके लिए ये पीठेश्वरियाँ बड़ी भयानक हैं। अनेक प्रकार से उन्हें नाच नचाती हैं। निरन्तर घोर यातनाओं को सहता हुआ भी पशु प्रमाता उनसे छूटने की इच्छा नहीं करता, यही इन शक्तियों का घोर कार्य है। ब्रह्मरन्ध्र में विद्यमान चिति-शक्ति को छिपाना इनका सामर्थ्य है।[104]

सबके लिए इन मातृकाओं का कार्य घोर ही हो, ऐसी बात नहीं है। इनका दूसरा पहलू कल्याणकारी भी है। आखिर यदि वाणी मारक है तो तारक भी तो है। ये ही मातृका शक्तियाँ ईश्वर के अनग्रह से प्राप्त विवेक वाले भाग्यशाली पुरुषों को शाक्तबल की अनुभूति कराकर उन्हें शिवभाव में पहुँचाने के लिए सहायता भी करती हैं।

नवधा शक्ति

मुख्य रूप से तो वर्णों के आठ ही वर्ग हैं किन्तु भट्ट कल्लट ने क्ष वर्ण को पृथक् वर्ग माना है। वस्तुतः यह पृथक वर्ण नहीं है अपितु क और श का संयुक्तरूप है। इसको पृथक् वर्ग में रखने का लक्ष्य यह है कि प्रत्येक वर्ण को शिव और शक्ति का संघट्टरूप सिद्ध किया जा सके। क का अर्थ है अनुत्तर शिव और विसर्गवाचक स का अर्थ है शक्ति। इस प्रकार दोनों के संयोग से निर्मित क्ष वर्ण का अर्थ हुआ शिव और शक्ति का संघट्ट। यह एक कूट बीज[105] है जो यह अभिव्यक्त करता है कि प्रत्येक वर्ण में शिव और शक्ति दोनों मिली हुई हैं। प्रत्येक वर्ण के अभ्यास से शिवभाव का समावेश प्राप्त होता है। इसलिए इसे नवम वर्ग में पृथक् रखा गया है। इस प्रकार पूर्वोक्त आठ पीठेश्वरियों और नवम इस कूट

बीज को मिलाकर नवधा शक्ति हो जाती है।

पञ्चाशद्धा शक्ति

पूर्वोक्त नौ वर्गों में कुल पचास अक्षर हैं और प्रत्येक अक्षर शक्ति-रूप है। प्रत्येक वर्ण के अभ्यास से अमित शक्ति का स्रोत फूटने लगता है। इस प्रकार चौंतीस व्यंजन और 16 स्वरों को मिलाकर शक्ति पचास प्रकार की हो जाती है।[106]

मातृका-शक्ति के ये भेद शक्ति के स्वरूप को बोधगम्य बनाने के लिए स्वीकृत किए गए हैं। इसका यह अभिप्राय नहीं है कि शक्ति केवल पचास प्रकार की ही है। शक्ति के तो वास्तव में अनन्त भेद हैं, किन्तु प्रमाताओं की बुद्धि परिमित होती है। विषय को भी परिमति बनाकर ही उनकी बुद्धि में डाला जा सकता है। इसी कारण शक्ति को कई प्रकार से वर्गीकृत कर दिया गया है।

मालिनी

उपर्युक्त मातृका में अ से लेकर क्ष तक वर्णों का क्रम आज भी प्रचलित है किन्तु मालिनी-विजयोत्तर-तन्त्र में वर्णों का क्रम "न" से लेकर फ तक स्वीकार किया गया है। इस क्रम को मालिनी नाम दिया गया है। यह क्रम आज प्राप्त नहीं होता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि त्रिक साधना में इसी क्रम का विशेष चमत्कार रहा होगा। मालिनी-विजयोत्तर शब्द की व्याख्या करते हुए जयरथ कहते हैं कि नादि फान्ता मालिनी की विजय से साधक संसार से पार उतर जाता है, क्योंकि मालिनी समस्त शास्त्रों का सार है।[107] मालिनी का क्रम इस प्रकार है :

न	ऋ	ॠ	ऌ	ॡ
थ	च	ध	ई	ण
उ	ऊ	ब	क	ख
ग	घ	ङ	इ	अ
व	भ	य	ड	ठ
झ	ञ	ज	र	ट	प
छ	ल	आ	स	अः
ह	ष	क्ष	म	श
अं	त	ए	ऐ	ओ
औ	द	फ		

वर्णों का यह मालिनी रूप क्रम अब व्यवहार में नहीं आता। पूर्व वर्णित अष्टवर्ग ही आजकल मान्य है। यह अष्टवर्ग ही तन्त्र शास्त्र में मातृका

कहलाता है। प्रत्येक वर्ग की पृथक् पृथक् शक्ति अधिष्ठात्री है। अ वर्ग की शक्ति का नाम अमा है। क वर्ग की शक्ति कामा कहलाती है। च वर्ग की चार्वगी, ट वर्ग की टङ्कधारिणी, त वर्ग की तारा, प वर्ग की पार्वती, य वर्ग की यक्षिणी और श वर्ग की शक्ति शारिका है। इन्हीं शक्तियों के नाम पर वर्गों का नामकरण हुआ है। वाभकेश्वरी-तन्त्र में इन वर्गों में रहने वाली देवियों को वशिनी, कामेश्वरी, मोदिनी, विमला अरुणा जयिनी, सर्वेश्वरी तथा कौलिनी इन नामों से भी अभिहित किया गया है [108]

मातृका देवता

वर्ग	शक्ति	देवता का नाम
1— अ वर्ग	अमा	वशिनी
2— क वर्ग	कामा	कामेश्वरी
3— च वर्ग	चर्गीं	मादिनी
4— ट वर्ग	टंक धारिणी	विमला
5— त वर्ग	तारा	अरूणा
6 — प वर्ग	पार्वती	जयिनी
7— य वर्ग	यक्षिणह	सर्वेश्वरी
8— श वर्ग	शारिका	कौलिनी

प्रत्येक वर्ण मन्त्र है

उपर्युक्त मातृका एवं मालिनी का प्रत्येक वर्ण शक्तिरूप होने के कारण मन्त्रात्मक है।[109] शिव की स्पन्दमयी विमर्श शक्ति ही वैखरी वाणी के द्वारा उच्चरित होकर स्थूल वर्ण-समुदाय के रूप में प्रकट होती है। चूंकि वर्ण-समुदाय शक्तिरूप है इसलिए यह उच्चरित होते ही एक हलचल सी उत्पन्न कर देता है। इसीलिए तो मधुर शब्दों को वशीकरण मन्त्र कहा गया है और कटु वाणी विनाशकारिणी मानी जाती है। यह वर्ण समूह पदों, वाक्यों और ग्रन्थों का रूप धारण करके लोक में ऐसा जंजाल उत्पन्न कर देता है कि स्वतन्त्र शिव भी परतन्त्र सा पशु-प्रमाता बन जाता है। हलचल उत्पन्न करना गन्त्र का स्वभाव है। क्योंकि शक्ति जहाँ रहेगी हलचल अवश्य करेगी। हलचल का परिणाम कुछ भी ो, पशु उसमें उलझने के लिए विवश होता है। इस प्रकार वर्णों के उच्चारण से विकल्प परम्पराएँ जन्म लेती रहती हैं और पशु संसार में उलझता जाता है।

मन्त्र शब्द अवबोधनार्थक मनु धातु तथा पालनार्थक तृ धातु के संयोग से निष्पन्द हुआ है।[110] अतः यह केवल लिपिरूप या ध्वनिरूप

वर्ण मात्र नहीं होता। अपितु यह मननात्मक और उच्चारण रूप निरन्तर अभ्यास से एक संवेदनात्मक शक्ति को जागरित करके आत्मा को पशुत्व से ऊपर उठाकर उसका पालन भी करता है। तन्त्र शास्त्र के रहस्यवेत्ता गुरुओं का कथन है कि यदि शास्त्रों में वर्णित नियमों का पूर्णतया पालन करते हुए इन वर्णात्मक मन्त्रों का अभ्यास किया जाए तो इनसे मनोभिलषित अर्थों की प्राप्ती निस्सन्देह रूप से होती हैं। बस ध्यान यही रखना चाहिए कि मन्त्र के जप के साथ मन्त्र की जीवभूत शक्ति का स्मरण अवश्य होता रहे। यदि उसमें निहित शक्ति का स्मरण नहीं किया जाएगा तो शरतकाल की मेघमाला के समान उससे कोइ फल प्राप्त नहीं किया जा सकता।[111] जब साधारण से साधारण वर्ग भी कभी कभी उच्चारण मात्र से कल्पनातीत हलचल उत्पन्न कर देते हैं तो मन्त्र का विधिवत् अभ्यास करने से अपरिमित शक्ति प्रादुर्भूत क्यों नहीं हो सकती।

वस्तुतः वर्णों में स्पन्दात्मक बल निसर्ग-सिद्ध है किन्तु चित्त की मालिनता के कारण उनकी शक्तियों का ज्ञान नहीं हो पाता जिससे वे ऊपर में बोये हुए बीज के समान निष्फल होते रहते हैं। इसलिए शाक्ति का अनुसंधान करने के लिए चित्त को निर्मल बनाना अत्यन्त आवश्यक है। चित्त के निर्मल हो जाने पर ही आत्मानुसंधान की क्षमता आती है। आत्मानुसंधान परिपक्व हो जाने पर मन्त्र से अभीष्ट फल प्रदान करने लगते हैं।

कुण्डलिनी शक्ति

तन्त्र शास्त्रों में शक्ति को कुण्डलिनी के रूप में भी देखा जाता है। यह कुण्डलिनी अन्य कुछ नहीं, अपितु परमेश्वर की संविन्मात्र रूपा विसर्ग-शक्ति ही है। चूंकि यह निखिल विश्व को अपने गर्भ में समाविष्ट करके स्थित है, इसलिए यह कुण्डलिनी कहलाती है।[112] यह जगत् की योनि है, यह विश्व का बीज है, परमार्थ रूप में यह चिद्रूपा है, संसार में जीवरूपिणी भी यही है। यह तो परमेश्वर के विपुल देह से टूटकर संसार में गिरा हुआ एक अंश है जिसे जीव नाम दिया गया है।[113] इससे उस शांकर मत का खण्डन समझना चाहिए जो अविद्या को जगत् का बीज मानता है। ध्रुव इच्छा और उन्मेष का त्रिक इसी कुण्डलिनी से प्रादुर्भूत हुआ है।

योगियों के देह में योग साधना से जिस शक्ति का जागरण होता है और जिसके जागरण से योगी सिद्ध कहलाता है उस शक्ति को भी कुण्डलिनी नाम दिया है। सिद्ध योगियों की मान्यता है कि प्रत्येक मानव देह में मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत आज्ञा और सहस्रार में षटचक्र

स्थित है। विभिन्न नाडियों के सम्मिलन स्थल को चक्र कहा जाता है। शिशन के पास मूलाधार चक्र है, नाभि के नीचे स्वाधिष्ठान, नाभि में मणिपूर, हृदयदेश में अनाहत और भृकुटि के ऊपरी भाग में आद्या और शिखा के नीचे सहस्रार चक्र स्थित है। इन चक्रों में अनन्त उर्जा भरी हुई है, किन्तु यह ऊजा चक्रशोधन के उपरान्त ही जागरित होती है।

योगियों का मत है कि मूलाधार से पीछे की ओर जहाँ से रीढ़ की अस्थि प्रारम्भ होती है वहाँ एक शक्तिपुञ्ज छिपा हुआ पड़ा है। उस शक्तिपुञ्ज को कुण्डलिनी कहते हैं। सुषुम्ना नाड़ी का एक छोर कुण्डलिनी से जुड़ा हुआ है और दूसरा भाग सहस्रार में खुलता है। निरन्तर योगाभ्यास जब कुण्डलिनी में हलचल होती है तो एक दिव्य शक्ति विद्युत की चमक लिए हुए उत्पन्न होती है। तब सुषूम्ना के माध्यम से उस शक्ति का मिलन सहस्रार से होता है। उस समय सहस्रार में योगि चित्त का समाहित करता है। उस समाधि से जो सुख प्राप्त होता है उसके सामने सभी सुख फीके लगने लगते हैं। वह दिव्य मदिरा का नशा जैसा सुख होता है जिसका वर्णन नहीं किया जा सकता। इसी साधना को कौल दार्शनिक कुल से अकुल का संयोग कहते हैं। कुल नाम है कुण्डलिनी शक्ति का और अकुल नाम है सहस्रार में स्थित शिव का। इन दोनों का संयोग कराने वाला योगी ही कौल कहलाता है।[114]

यद्यपि यह कुण्डलिनी शक्ति ब्रह्माण्ड की योनि है, तथापि देह में इसकी स्थिति की कल्पना निराधार नहीं है। "यत् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" पारदृश्वा विद्वानों का यह कथन सर्वथा सत्य है। यह देह भी एक छोटा ब्रह्माण्ड ही है। जो कुछ इस असीम ब्रह्माण्ड में घटित हो रहा है वही सब इस देह में भी हो रहा है। इसलिए परमेश्वर की जो शक्ति सकल विश्व में कुण्डलाकार व्याप्त हो रही है वही देह में भी स्थित रहकर इसे धारण किए हुए है। यूँ तो शक्ति का अल्प अंश देह में सदैव सक्रिय रहता है, उसीं से सब दैनान्दिन व्यवहार चलता है, किन्तु यदि इसे मूलाधार में ढूंडा जाए जहाँ इसका मूल स्थान है तो उस शक्ति से सम्पन्न होकर साधक शिवरूप ही हो जाता है।[115]

देह में कुण्डलिनी का प्रमुख स्थान मूलाधार ही है। वैसे तो योगियों के हृदयकमल में यह सदा नर्तन करती रहतीहै।[116] किन्तु इसका प्रादुर्भाव वहीं से होता है। ध्यान के रस से सिक्त होकर योगी जब इसको जागरित करता है तो योगी के देह में करोड़ों विद्युतों की युगपत् चमत्कृति के समान इसका प्रकाश होता है। प्रलयकाल की अग्नि का प्रकाश भी उसके सामने

प्रभाहीन सा लगता है।[117]

मूलाधार में स्थित इस शक्ति-पुन्ज को कुण्डलिनी नाम से अभिहित क्यों किया जाता है ? इसके उत्तर में लक्ष्मणाचार्य देशिकेन्द्र का कहना है कि यह शंखावर्त की रीति का आश्रयण कर कुण्डलाकार सर्प के समान सबको वेष्टित करती हुई देह में स्थित है। अतः यह कुण्डलिनी कहलाती है।[118] जैसे शंख में जो आवर्त होता है वह शंख के मध्यभाग को आवृत करके स्थित रहता है वैसे ही यह शक्ति देह के मध्य में मूलाधार चक्र में समस्त भुतों को आवृत कर उसी प्रकार स्थित है जैसे कुंडल रूप में सर्प पड़ा रहता है। इसलिए इसका कुण्डलिनी नाम सार्थक होता है।

यहाँ प्रायः यह जिज्ञासा होती है कि प्ररमेश्वर के सामर्थ्य को बल वीर्य आदि नामों से भी कहा जा सकता है फिर इसके लिए प्रायः "शक्ति" एवं कुण्डलिनी आदि स्त्रीलिंगवाची शब्द ही क्यों प्रयुक्त किये जाते हैं ? इस प्रश्न पर भी रहस्यवेत्ता ऋषियों ने गम्भीरता से विचार किया है। विद्वानों का विचार है कि यद्यपि पुरुष और नपुंसकों में भी शक्ति समान रूप से रहती है किन्तु स्त्रियों में यह विषेष रूप से शोभा पाती है। इसकी रमणीयता स्त्रियों में ही झलकती है।[119] इसलिए तीनों लिंगों से वाच्य होती हुई भी यह पराशक्ति और कुण्डलिनी आदि स्त्रीवाची शब्दों से ही प्रायः अभिहित की जाती है क्योंकि यह अचल भक्तजनों की समस्त आकांक्षाओं को पूर्ण करने वाली कल्पलतिका है। सर्वत्र अवस्थित होती हुई भी यह कामिनी में ही विशेष रूप से प्रकाशित होती है। इसलिए उन कामनियों का कोई अति क्रमण नहीं कर पाता।[120] बड़े बड़े बलवानों से लोहा लेने वाले योद्धा भी कामिनी के एक भ्रूभंग मात्र से परास्त हो जाते हैं। इसलिए कामनियाँ अनंगदेव का दिग्विजयी अमोघ अस्त्र मानी जाती हैं। यही कारण है कि शक्ति को स्त्रीवाची शब्दों से कहा जाता है।

इस प्रकार देह में स्थित होती हुई भी यह कुण्डलिनी शक्ति वस्तुतः सर्वदेवरूपिणी है। समस्त वर्ण और मन्त्र इसी के स्वरूप है। निखिल तत्वों का प्रादुर्भाव इसी से हुआ है। यह सूक्ष्म से भी सूक्ष्मतर है और साथ ही विभु भी है। शब्द ब्रह्म भी इसी का रूप है जिससे तीनों लोकों का विस्तार हुआ है।[121]

सप्तदशी कला

इस कुण्डलिनी को देह में सत्रहवीं कला माना गया है। यह पुरुष षोडशकल कहलाता है अर्थात् इसमें सोलह कलाएँ निवास करती हैं—एक अन्तःकरण, पंच कर्मेन्द्रियाँ, पंच ज्ञानेन्द्रियाँ तथा पंच तन्मात्र। इन सोलह

कलाओं में जो शक्ति समूह कार्य करता है वह शक्तिचक्र करणेश्वरीचक्र कहलाता है। इस शक्ति को षोड़शी भी कहा गया है। इन सोलह कलाओं से भी ऊपर एक कला है जो अमृताकार रूपिणी है, नित्योदिता है, यह कभी अस्त नहीं होती, चिन्मात्र ही इसका स्वभाव है। इसी शक्ति का नाम कुण्डलिनी है। कौलिकी परा और अमा इसी कुण्डलिनी के अपर नाम हैं। यही कुण्डलिनी सप्तदर्शी कला है।[122] इसी कुण्डलिनी को आत्मा का स्थान माना गया है। यह समस्त अध्वाओं से ऊपर अवस्थित है। षोडश कलाएँ इसी से चेतना प्राप्त करती हैं।[123] प्रमाता प्रमाण प्रमेय आदि सब इसी के रूप हैं। यह उन प्रमातृ प्रमाण और प्रमेय से अतिरिक्त नहीं है फिर भी अतिरिक्त सी दिखाई देती है।[124]

त्रिविधा कुण्डलिनी

आचार्य अभिनव गुप्त ने इस कुण्डलिनी शक्ति के तीन भेद किए हैं— शक्ती कुण्डलिनी, प्राण कुन्डलिनी और परा कुण्डलिनी। वस्तुतः कुन्डलिनी तो एक ही शक्ति है। ये तीन भेद तो उसकी तीन अवस्थाएँ हैं। वह कुण्डलिनी जब विसर्ग से रहित होती है, अर्थात् जब स्वयम् को ब्राह्यरूप में विस्तारित करने की उन्मुखता से उदासीन होकर स्वात्ममात्र में विश्रान्त होती है अतः प्रसुप्त भुजंग के आकार वाली होकर मूलाधार में अवस्थित होती है तब उसका नाम शक्ति कुण्डलिनी होता है।[125] चूँकि उस समय उसका स्वरूप केवल शक्ति ही होता है, सर्जन नहीं, अतः उसका शक्ति-कुण्डलिनी नाम सार्थक होता है।

जब यह शक्ति विसर्ग की इच्छा से बहिर्भाव की ओर उन्मुख होती है, तथ प्रसुप्त भुजगाकार का परित्याग करके विस्तार को धारण करती है तो प्राण-कुन्डलिनी कहलाती है। मनुष्य-देह में स्थित प्राण शक्ति ही प्राण-कुन्डलिनी है।[126]

वही प्राण कुण्डलिनी जब प्रत्यावर्तन के क्रम से पुनः अन्तर्भाव की ओर उन्मुख होती है तो पराकुण्डलिनी के नाम से अभिहित होती है। शिव व्योम पर-ब्रह्म तथा शुद्ध आत्म स्थान इसी पराकुन्डलिनी के ऊपर पर्याय हैं।[127]

निषकर्ष यह हुआ कि जो पराशक्ति इस सकल विश्व को आवृत करके कुण्डाकार रूप में सर्वत्र स्थित है वही वास्तव में कुण्डलिनी कहलाती है। मानव देह में मूलाधार चक्र में जो कुण्डलिनी स्थित है वह उसी कुण्डलिनी का पिण्डीभूत संक्षित्त रूप है।

द्वादश काली

परमेश्वर की अनन्त शक्तियाँ इस असीमित विश्व प्रपञ्च का विधिवत् संचालन कर रही हैं। उन शक्तियों की परिगणना मानव-मस्तिष्क के वश की बात नहीं है। श्री हर्ष ने राजा नल के गुणों की गणना करने के लिए जिस पद्धति की कल्पना की है उस कल्पना से भी कठिन शक्तियों की परिगणना है। श्री हर्ष ने कहा है कि "यदि तीनों लोकों के सारे के सारे प्राणी एक साथ ही नल के गुणों की गिनती प्रारम्भ कर दें और उनकी आयु की समाप्ति कभी न हो, अर्थात् निरन्तर गिनते ही रहें, गिनते ही रहें, गिनते गिनते संख्या परार्ध को भी पार कर जाए तो शायद नल के गुणों की गिनती सम्भव हो सके।"[128] चलो श्री हर्ष की कल्पना गुणों की गिनती सम्भव तो हुई किन्तु हम समझते हैं कि परमेश्वर की शक्तियों का आनंत्य मानकर ही काम चल सकता है। हाँ, इनका वर्गीकरण किया जा सकता है।

संसार के समस्त प्राणी परमेश्वर की दी हुई शक्ति से प्रेरित होकर ही अपने अपने कार्यों में व्यापृत रहते हैं। उनकी इन्द्रियों को, प्राणों को और उनके व्यापारों को चलाने वाली परमेश्वर की शक्तियाँ ही हैं। उन अनन्त शक्तियों को चार भागों में बाँठकर चार प्रकार की मुख्य शक्तियाँ मानी गयी हैं :

1— परा देवी
2— परापरा देवी
3— अपरा देवी, और
4— काल-कर्षिणी देवी।

1. परा देवी

परमेश्वर अभेदमयी भूमिका में शिव से लेकर धरणी पर्यन्त विश्व को जिस शक्ति से धारण करता है वह शक्ति परा देवी कहलाती है।[129] परा का अर्थ है ज्येष्ठा। यह शक्ति परमेश्वर से अभिन्न ही रहती है। इस भूमिका में वह जगत् को 'अहम' इस रूप में धारण करता है। अर्थात् उस अवस्था में परमेश्वर और जगत् में अहन्ता की ही प्रतीति होती है इदन्ता की नहीं। इसलिए अभिनव गुप्त ने परादेवी को भैरवयोगिनी कहा है। तन्त्र शास्त्रों में अभेदावस्था को भैरवी अवस्था कहा गया है। इस अवस्था में परा देवी प्रमाता और प्रमेय के त्रिशूल रूप अम्बुज को अपृथक् रूप से धारण करती है।[130]

2. **परापरा देवी**

परमेश्वर भेदाभेदमयी दशा में विश्व को "अहमिदम्" इस ज्ञान के साथ धारण करते है। जैसे हस्ती दर्पण में स्थित हस्ती से भिन्न भी होता है और अभिन्न भी होता है वैसे ही परमेश्वर जब विश्व को निज शरीरवत् भिन्न तथा अभिन्न दोनों देखता है तो जिस शक्ति से वह ऐसा करता है वह ही परापरा देवी कहलाती है।

इसको परापरा इसलिए भी कहते हैं क्योंकि इसमें यथार्थ ज्ञान-शक्ति होते हुए भी बीच बीच में इच्छा और क्रिया का सूत्रण भी होता है।

3. **अपरा देवी**

पूर्ण भेदमयी अवस्था में परमेश्वर जगत्प्रपञ्च को सर्वथा अपने से भिन्न रूप में धारण करता है। इस अवस्था में उशकी शक्ति अपरा देवी कहलाती है।[131]

4. **काल कर्षिणी**

उपर्युक्त तीनों शक्तियों को अपने अन्दर अनुसन्धानात्मक रूप से धारण करने वाली एक और शक्ति है जिसे काल कर्षिणी या काल-संकर्षिणी देवी कहा जाता है।[132]

उपर्युक्त चारों शक्तियों से परमेश्वर विश्व को सृष्टि में स्थिति में भिन्न भिन्न प्रकार से धारण करता है। इस प्रकार उक्त चारों शक्तियों के तीन तीन रूप हो जाते हैं। कुल मिलाकर शक्ति बारह प्रकार की बन जाती है।[133] इन बारह शक्तियों को काली या महाकाली कहा जाता है। कलयति इति काली—कलन करने के कारण यह काली कहलाती है। कलन का अर्थ है गति, क्षेप, ज्ञान, गणना, भोगीकरण, शब्दन और स्वात्मलयीकरण।[134] इन कालियों के बारह नाम इस प्रकार हैं :

1. सृष्टि काली	2. स्थिति काली
3. संहार काली	4. रक्त काली
5. सुकाली	6. यमकाली
7. मृत्यकाली	8. रुद्रकाली (भद्रकाली)
9. परमार्क काली	10. मार्तन्ड काली
11. कालाग्नि रुद्र काली	12. महाकाली (पराकाली)

कालियों की कलना क्रम से इस प्रकार होती है :

1. संवित् भाव की पहले अन्दर ही कलना करती है।[135]
2. तदनंतर वह बाहर स्पष्ट रूप से उसकी कला करती है।[136]
3. फिर बाहर की शक्तिमयता का ग्रहण करके उस भाव को अपने

अन्दर समेटने की इच्छा से कलना करती है।[137]

4. उसके पश्चात् उपसंहरण की विघ्नभूत शंका का निर्माण करती है और फिर उसे ग्रसती है।[138]
5. तदन्तर उस ग्रस्त शंका के अंश को और उस भाव के अंश को अपने अन्दर संहृत करके कलना करती है।[139]
6. यह जो उपसंहार करने वाला स्वभाव है यह मेरा ही स्वरूप है, इस प्रकार अपने स्वभाव की कलना करती है।[140]
7. इसके अनन्तर उपसंहर्ता के स्वभाव की कलना में किसी भाव को वासना रूप में स्थापित करती है और किसी भाव की संविन्मात्र शेष रूप से कलना करती है।[141]
8. स्वरूप की कलना के अन्तर उत्पन्न हुए करणचक्र की कलना करती है।[142]
9. इसके पश्चात् करणेश्वर की कलना करती है।[143]
10। तदनन्तर कल्पित मायिक प्रमातृ रूप की भी कलना करती है।[144]
11. उसके पश्चात् संकोच त्याग के प्रति उन्मुख और विकास ग्रहण के रसिक प्रमाता की कलना करती है।[145]
12. तदनन्तर प्रमाता के विकसित स्वरूप की भी कलना करती है।[146]

इस प्रकार इन बारह प्रकार की कलना करने के कारण ये शक्तियाँ द्वादश कालियाँ कहलाती हैं। ये काली शक्तियाँ सब प्रमाताओं के प्रति एक साथ या क्रम से उदित होती हैं और चक्र सदृश आवर्तित होती रहती हैं। बाहर मास कला और राशि के क्रम से तथा विश्व के भीतर घट पट आदि के क्रम से आभासित होती रहती हैं और चक्रेश्वर की स्वतन्त्रता का पोषण करती हैं।[147]

तन्त्रालोक में इन द्वादश कालियों को थोड़े से अन्तर से कहा गया है। वहाँ परा परापरा अपरा इन तीन देवियों को सृष्टि स्थिति लय और तुर्य इन चार अवस्थाओं के वैचित्र्य से तीन तीन भेदों में विभाजित किया है। इस प्रकार उसके बारह भेद स्वीकार किए हैं। दोनों कथनों में कोई विशेष अन्तर नहीं है।[148]

समना शक्ति

आचार्य अभिनव गुप्त ने शक्तितत्व के प्रसंग में समना शक्ति का भी उल्लेख किया है और इस समना शक्ति को शिव तत्व से भी ऊर्ध्व भूमिका पर प्रतिष्ठित स्वीकार किया है।[149] यह समना शक्ति क्या है और इसका क्या व्यापार है? इसका विभेचन किया जाना आवश्यक है।

देह स्थित मूलाधार आदि षट् शक्ति चक्रों के विषय में योग शास्त्र के अध्येता अपरिचित नहीं हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत आज्ञा तथा ब्रह्मरन्ध्र इन षट चक्रों में अपरिमित शक्ति निगूढ़ रहती है। इनमें मूलाधार सबसे नीचे स्थित है। तथा ब्रह्मरन्ध्र सबसे ऊपर शिखा स्थान के नीचे बिराजमान है। मूलाधार और ब्रह्मरन्ध्र ये दोनों चक्र परस्पर सुषुम्ना (मध्य नाड़ी) से जुड़े हुए हैं। सुषुम्ना का नीचे का सिरा मूलाधार से जुड़ा हुआ है और ऊपर का सिरा ब्रह्मरन्ध्र से संयुक्त है। मूलाधार में स्थित शक्ति को अध कुण्डली कहा जाता है और ब्रह्मरन्ध से ऊपरी भाग में निहित शक्ति को ऊर्ध्व कुन्डली कहा जाता है।

निरन्तर योग साधना के अभ्यास से जब अधः कुण्डली का जागरण होता है तो सुषुम्ना-द्वार से होती हुई शक्ति ब्रह्मरन्ध्र में पहुँचती है। ब्रह्मरन्ध्र में शिव का वास है जो पहले आवरण में लीन रहते हैं। किन्तु शक्ति के जागरण से उस आवरण का भेदन होने पर शिव का स्वरूप स्फुरित होंने लगता है।[150] शिव के उत्संग में रहने वाली परा शक्ति उद्भूत हो जाती है। वही शक्ति ब्रह्माणी, मोक्ष मार्ग गामिनी, मोक्षदा और मोक्ष रोधनी कहलाती है। उसी का नाम ऊर्ध्व कुण्डली है।[151] यही शक्ति समना कहलाती है।

प्रसुप्त सर्प के समान आकारवाली यह समना शक्ति ही विश्व का आधार है। यही व्यापिनी, व्योमरूपा अनन्ता,अनाथा और अनाश्रिता आदि विशेषणों से अलंकृत की जाती है।[152] उस व्यापिनी शक्ति का स्वामी परमेश्वर व्यापीश या व्यापिनीधर कहलाता है। शिव से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त समस्त प्रपंच उसी से प्रादुर्भूत हुआ है।[153] शिव-तत्व की उत्पत्ति भी उसी से हुई है। तभी तो उस समना शक्ति को शिव-तत्व से ऊर्ध्व-वर्तिनी कहा गया है। निखिय कारणों की कर्त्री यही समना शक्ति है।[154] शिव से अधिष्ठित होकर यही अनेकों ब्रह्माण्डों का धारण करती है। इसी समना पर आरुढ होकर परमशिव पंचकृत्यों का सम्पादन करते हैं। इसी-लिए समना को परमेश्वर का करण माना गया है।[155]

समना शक्ति को शिव-तत्व से उपर अवस्थित जानकर मन में जिज्ञासा होती है कि यह कैसे सम्भव है ? शिव ही प्रथम तत्व है। शक्ति उसके अनन्तर प्रादुर्भूत होने वाला तत्व है। फिर वह शिव से ऊर्ध्व कैसे हो गयी ? यदि ऊर्ध्व-स्थित मान भी लिया जाए तो "षठ् त्रिंशत् तत्व हैं" इस प्रतिज्ञा की हानि होती है। दूसरी बात यह है कि यदि समना शक्ति को पंचकृत्यकारी परमेश्वर का करण मानें तो इससे क्या वह परमुखापेक्षी

होने से अस्वतन्त्र नहीं कहलाने लगेगा ?

उपर्युक्त शंकाओं का समाधान स्वयम् आचार्य अभिनव गुप्त ने किया है। समना-शक्ति को पृथक् मानकर ही षट्त्रिंशज् तत्वों को मानने की प्रतिज्ञा व्याहत नहीं होती। क्योंकि समना को तत्वों का कारण कहा गया है। इससे भी ऊपर उसे तो कारणों का भी कर्ता कहा गया है। पहले दिए हुए तत्व के लक्षण के आधार पर समना को तत्व नहीं माना जा सकता। समना वह शक्ति है जिसमें षट्त्रिंशत् तत्वों का समूह सूक्ष्म रूप में रहता है। यह उस शक्ति-तत्व से पृथक् है जो शिव के अनन्तर उद्भूत होता है। इसीलिए इसे शिव तत्व से ऊपर माना गया है। इससे परमेश्वर का स्वातन्त्र्य भी खण्डित नहीं होता क्योंकि परमेश्वर सृष्टि-व्यापार में अन्य पर अनाश्रित होकर ही हेतु बनता है।[156] वह अपने स्वातन्त्र्य से ही भूवनरूप में प्रथित हो जाता है अपेक्षणीय के अभाव में केवल उसी का पारमार्थिक और शुद्ध कर्तृत्व है।[157]

ऊर्ध्व-कुण्डली अथवा उस पराशक्ति को समना क्यों कहा है, इसे यह नाम क्यों दिया गया ? यह भी एक विचारणीय प्रश्न है। तन्त्र शास्त्र में कहा गया है कि शिवतत्व का शोधन करने के अनन्तर प्रकट हुई पराशक्ति को समना जानना चाहिए।[158] इसका अर्थ यह हुआ कि समना शब्द पराशक्ति का केवल विशेषण है। अतः समना शब्द का कोई विशेष अभिप्राय अवश्य होना चाहिए।

अपनी बुद्धि की क्षमता के अनुसार हमने उक्त प्रश्न पर पर्याप्त विचार किया है। जयरथ ने स्वच्छन्द तन्त्र का उदाहरण देते हुए यह कहा है कि शिवतत्व से ऊपर दो शक्तियाँ विद्यमान हैं, एक समना तथा उससे भी ऊपर उन्मना। उन्मना या उन्मनी शक्ति के उपरान्त परमशिव विराजमान हैं। अर्थात् समना और उन्मना शक्ति के द्वारा परमशिव का स्वातन्त्र्य पूर्ण होता है।[159] समना शब्द का अर्थ है—मन के सहित और उन्मना का अर्थ है मन से रहित—उद्गतं विरहितं मनो यस्याः। समना शक्ति से परमेश्वर की उस अवस्था को समझना चाहिए जब वे षट्त्रिंशतत्यमय जगत् को जो कि उनके अन्दर विलीन था बाह्य देश में अभिव्यक्त करने की ओर उन्मुख होते हैं। उन्मना शक्ति परमेश्वर की महाप्रलकयालीन प्रशान्तावस्था है जिस समय वे निखिल बाह्य जगत् को अपने अन्दर आत्मसात् करके विश्वोत्तीर्ण रूप में अवस्थित हो जाते हैं।

वस्तुतः यह समना शक्ति और उन्मना शक्ति परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के ही दो रूप हैं। परमेश्वर जब अपने स्वातन्त्र्य से विश्वमय रूप में प्रसृत

होने की इच्छा करते हैं तो उनके मन की वह इच्छा शक्ति समना कहलाती है। उस काल में वह सुप्त सर्प के समान षड्त्रिंशत् तत्यों को अपने अन्दर सूक्ष्मरूप में धारण करके अवस्थित रहती है। यह जगत् की अभिव्यक्ति से पहले की अवस्था है। यह अभिव्यक्ति की केवल उन्मुखता अथवा स्पन्दात्मकता जैसी नितान्त सूक्ष्म हलचल होती है। विश्वोत्तीर्णता की दशा में परमेश्व· की शक्ति उन्मना या उन्मनी कहलाती है। उस समय न काल होता है और न कल्पादि की कल्पना होती है। परमेश्वर उस समय निष्कल और कालरहित होकर विराजमान रहते हैं।[160] इस प्रकार केवल प्रक्रिया-भेद से स्वातन्त्र्य शक्ति ही समना और उन्मना नाम को धारण करती है।[161]

समना शब्द समान अर्थ का भी द्योतक है। समन और समान शब्द तुल्यार्थक हैं। यह समना शक्ति परमेश्वर के स्वातन्त्र्य की साम्यावस्था जैसी ही है। जैसे सांख्य दर्शन की साम्यावस्थाक प्रक्रित से कुछ भी प्रादुर्भूत नहीं होता वैसे ही समना शक्ति भी तत्वों का अनाश्रित रूप है। इसीलिए तो इसे व्यापिनी व्योमरूपिणी अनाथा अनन्ता और अनाश्रिता कहा गया है।[162] यद्यपि सांख्य दर्शन के अनुसार समस्त बुद्धि आदि 23 तत्वो की अभिव्यक्ति प्रकृति से ही होती है क्योंकि सत्कार्यवाद के अनुसार बुद्धि आदि तत्त्व प्रकृति में पहले से ही अव्यक्तावस्था में रहते हैं, किन्तु सत्त्व रजस् और तमस् इस तीनों गुणों की साम्यावस्था वाली प्रकृति से तत्वों की उत्पति नहीं होती। इसी प्रकार समना शक्ति की स्वातन्त्र्य के विभिन्न ऐश्वर्यों की साम्यावस्था ही है। आचार्य अभिनव गुप्त ने भी सामनस पद को साम्य की संज्ञा दी है।[163] क्योंकि यह 36 तत्वों के तय की अवस्था है।

स्पन्द शक्ति का त्रिविध प्रसार

स्पन्द-शक्ति का अन्तर्मुखी प्रसार तो एक ही प्रकार का है, और वह है अहंविमर्श। "अहम् अहम्" इस प्रकार के ज्ञान की धारा ही अकल प्रमाताओं अनवरत प्रवाहित होती रहती है। किन्तु विमर्शरूपा स्पन्दशक्ति का बहिर्मुखीन प्रसार तीन रूपों में होता है। शक्ति का यह प्रसार तीन रूपों में अभिव्यक्त होकर स्वतन्त्र पशु बना देता है। ये तीन रूप हैं :

1— प्रत्ययोद्भव

2— स्वरूपावरण

3— स्थूल क्रिया का ग्रहण

प्रत्ययोद्भव

विकल्प-परम्परा के उदय को शास्त्रीय शब्दों में प्रत्ययोद्भव कहा

जाता है। माया से लेकर पृथिवीपर्यन्त शक्ति का प्रसार प्रत्ययोद्भव है। विकल्प-परम्परा का उदय होते ही प्रकाश-विमर्शात्मक शिव अपने परामृत-रस की पदवी से नीचे गिर जाता है।[164] परिणाम यह होता है कि स्वतन्त्र शिव अस्वतन्त्र बन जाता है।

भाव यह है कि शिव की स्वातन्त्र्य शक्ति आपने बाह्य प्रसार की ओर उन्मुख होते ही जैसे माया शक्ति का रूप धारण करती है त्यों ही उसे अपनी पूर्णता और स्वातन्त्र्ता पर सन्देह हो जाता है। परिपूर्ण और स्वतन्त्र शिव स्वयम् को अपूर्ण और अस्वतन्त्र समझने लगता है। इससे उसके स्वतन्त्र ज्ञातृत्व और स्वतन्त्र कर्त्तृता की हानि होती है। यह सबसे पहला प्रत्ययोद्भव है।

स्वातन्त्र्य की हानि होने पर प्रत्ययोद्भव का दूसरा चरण प्रारम्भ होता है। इस दूसरे चरण में आत्मा की अवरोहण क्रिया का उद्भव होता है। संविद्रूप शिव जड़ बन जाता है। परावाक् स्थूल वैखरी वाणी का रूप धारण कर लेती है। स्वतन्त्र ज्ञातृता और स्वतन्त्र कर्तृता संकुचित ज्ञान और संकुचित क्रिया बन जाती है। और क्रमशः छत्तीस तत्वों का उदय हो जाता है। इसी प्रत्ययोद्भव को अणव मल भी कहा जाता है।

स्वरूपावरण

शक्ति का दूसरा प्रसार स्वरूपावरण के रूप में अभिव्यक्त होता है। शिव के यर्थाथ स्वरूप पर आवरण डालना शक्ति का स्वभाव है। शिव भूमिका पर तो शक्ति का कार्य स्वरूपगोपन हो ही नहीं सकता, क्योंकि उस भूमिका में तो शक्ति का स्वरूप अहं-विमर्श रूप होता है।किन्तु ज्यों ही यह शक्ति माया की मूमिका पर अवतीर्ण होती है त्यों ही यह आत्मा के स्वरूप-गोपन का कार्य प्रारम्भ कर देती है। आत्मा पर माया का मल चढ़ाकर यह उसे संकुचित, भेद-बुद्धियुक्त परवश अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् बना देती है। इसीलिए स्वरूपावरण का ही दूसरा नाम मायीय मल है। मायीय मल से आवृत होकर शिव अपने से अभिन्न ज्ञेय पदार्थों को भिन्न समझने के लिए विवश हो जाता है। शब्द-शक्ति-रूश मातृका के आठ वर्गों में निहित ब्राह्मी, माहेशी, कौमारी, वैष्णवी, ऐन्द्री, याम्या, चामुण्डा और योगेशी ये आठ शक्तियाँ आत्मा के स्वरूप को आवृत करने के लिए सदैव उद्यत रहती हैं। क्योंकि शब्द की सहायता के बिना किसी भी प्रत्यय का उद्भव नहीं हो सकता।[165] ये सभी शक्तियाँ माया की ही शक्तियाँ हैं। मायारूप होने के कारण ही ये शिव का स्वरूपगोपन करती हैं।

स्थूल क्रिया का ग्रहण

स्थूल क्रिया का ग्रहण शक्ति का तीसरा रूप है। शिव की शक्ति ही पशुवर्तिनी होकर स्थूल क्रिया का रूप ग्रहण कर लेती है। अभी जिन ब्राह्मी आदि मातृका शक्तियों का उल्लेख किया गया है, वस्तुतः वही शिव की क्रियाशक्ति है। किन्तु शिव भूमिका पर यह अत्यन्त सूक्ष्म परावाक् कहलाती है। उस अवस्था में यह अभिलाप्य नहीं होती, क्योंकि तब अहं-विमर्श ही इसका स्वरूप होता है। वही मातृकारूप परावाक् पशु भूमिका पर वैखरी वाणी कहलाती है। तब यह स्थूल क्रिया का रूप धारण कर लेती है। इसका विशद् विवेचन आगे किया जाएगा। यह पशुवर्तिनी स्थूल क्रियाशक्ति अज्ञात होकर बन्धन का कारण बनती है और ज्ञात होकर पर तथा अपर सिद्धियाँ प्रदान करती है।[166]

दश महाविद्याओं का रहस्य

शक्ति को विद्या या महाविद्या शब्द से भी कहा जाता है। देवी भागवत में महाविद्या को सृष्टि स्थिती और संहार करने वाली तथा सर्वाधारभूता कहा गया हैं।[167] तन्त्र शास्त्रों में महाविद्याओं की संख्या दस मानी गयी है—काली, तारा, छिन्नमस्ता, बगलामुखी, मातंगी, धूमावती भुवनेश्वरी षोडशी कमला और भैरवी। वस्तुतः शक्तिमान् शिव की शक्तियों के ही वे विभिन्न रूप हैं जो उसके कार्यों का निरन्तर सम्पादन करती रहती हैं। परमेश्वर की पराशक्ति ही वैष्णव तन्त्रों में त्रिपुरा या त्रिपुर-सुन्दरी अथवा महाविद्या कही गयी है। इसी का नाम श्री विद्या है जो कादि और हादि भेद से दो प्रकार की है। इसी श्री विद्या या त्रिपुरा के दशावतार ये दस महाविद्याएं हैं। इनमें से एक भी विद्या की उपासना से साधक अभीष्ट की प्राप्ति कर सकता है।[168]

पौराणिक कथा के अनुसार सती ने शिव से अपने पिता दक्ष के यज्ञ में जाने की अनुमति मांगी। शिव के मना करने पर सती ने उन्हें दस रूपों में प्रकट होकर मनाने का प्रयास किया। सती के इस रूप को देखकर शिव डर कर भागने लगे। अन्त में उन रूपों से सती ने शिव को अपने वश में कर लिया। सती के ये दस रूप काली, तारा, लोकेशी, कमला, भुवनेशी, छिन्नमस्ता, षोडशी, बगला-मुखी धूमावती और मातंगी नाम से दश महाविद्याएँ कहलाती हैं।[169]

एक अन्य कथा के अनुसार जब दुर्गम नामक महान् असुर ने वेदों को चुरा लिया तो लोक में वैदिक क्रियाएँ यज्ञादि सर्वथा लुप्त हो गयीं। तब ब्राह्मणों ने देवी की स्तुति की। प्रसन्न होकर देवी प्रकट हुई और तब

देवी के शरीर से अस्त्र शस्त्रादि से युक्त तीव्र शक्तियाँ प्रकट हुईं। ये शक्तियाँ ही दस महाविद्याएँ कहलायीं जो इस प्रकार हैं—कालिका, तारिणी, बाला, त्रिपुरा, भैरवी, रमा, बगला, मातंगी, त्रिपुर-सुन्दरी और छिन्नमस्ता। इन शक्तियों ने दुर्गम की सेना को मार कर वेदों का उद्धार किया और उन्हें ब्राह्मणों को समर्पित कर दिया।[170]

उक्त दश महाविद्याओं की उत्पति का रहस्य जानना परम आवश्यक है, अन्वथा अर्थ का अनर्थ हो सकता है। वस्तुतः रुद्र और सती का यह उपाख्यान, सृष्टि-प्रक्रिया का प्रतीक है। यह सृष्टि के निर्माण में शिव और शक्ति-रूप दो तत्वों का संकेत करता है। रुद्र परमशिव ही है। सती पदार्थों के समूह का वाचक है। रुद्र के भागने का तात्पर्य है शिव का स्पन्दात्मक होना। जब शिव में स्पन्दन होता है तो सतीरूप शक्ति पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य, दिशा, काल तथा जीवात्मा इन दस रूपों में प्रकट हो जाती है। इन दस तत्वों में निहित शक्तियाँ ही दश महाविद्याएँ कहलाती हैं।

दुर्गम के द्वारा वेदों के चुराये जाने का रहस्य यह है कि वेद ईश्वरीय ज्ञान है जो सबके कल्याण के लिए प्रादुर्भूत हुआ है। दुर्गम काम क्रोध, मद, मोह आदि आसुरी प्रवृत्तियों का प्रतीक है। ये आसुरी प्रवृत्तियाँ वेदज्ञान को ग्रहण करने की शक्ति को चुरा लेती हैं। वेदज्ञान के अभाव में लोक में शुभ कर्मों का लुप्त हो जाना स्वभाविक ही है। ब्राह्मणों का यह दायित्व है कि वे इस वेदज्ञान की रक्षा करें। कालिका तारिणी आदि शक्तियों से आसुरी प्रवृत्तियों का नाश करके ब्राह्मण वेदज्ञान को सुरक्षित रखते हैं। यही इस आख्यायिका का रहस्य है।

दक्ष-यज्ञ का विध्वंस भी एक प्रतीक है। दक्ष नाम है प्राण-शक्ति अथवा क्रियाशक्ति का। सती है इच्छाशक्ति और शिव है ज्ञान-शक्ति। जब प्राणरूप दक्ष केवल इच्छा शक्ति को तो अपना समझता है किन्तु ज्ञानरूप शिव का तिरस्कार करता है तो सृष्टि रूप यज्ञ का विध्वंस होता है। इच्छा ज्ञान और क्रिया के सन्तुलित व्यवहार से ही सृष्टि सफल होती है।

सती के दस रूपों ने पहले तो शिव को डराया और फिर सम्मोहित किया, इसका भाव यह है कि शक्ति के दो रूप हैं। घोर और सौम्य। काली, तारा, भैरवीं यदि घोर रूपा शक्तियाँ हैं तो कमला, षोड़शी, रमा आदि सौम्य शक्तियां हैं।

शक्तिा का त्रिपुरा या त्रिपुर-सुन्दरी नाम त्रिकोण योनि का प्रतीक

है ।[171] त्रिपुरा के पश्यन्ती मध्यमा और वैखरी ये तीन शब्द रूपी कोण हैं । सृष्टि स्थिति और संहार ये तीन व्यापार रूपी कोण हैं । वामा ज्येष्ठा और रौद्री ये तीन क्रियात्मक कोण हैं । ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र शिवांश है, इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्त्यंश हैं ।

परमेश्वर की मूल शक्ति का नाम काली है, क्योंकि सृष्टि स्थिति और संहार की कलना का यही मूल कारण है । घोर रूप तम की दशा को भी काली कह दिया जाता है ।

यही काली जब संसार को कुछ स्पष्ट रूप में अभिव्यक्त करने की ओर उन्मुख होती है तो यही धूमावती कहलाती है । यह शिवरूप अग्नि का धूमदृश प्रथम उद्गार है । जब यह धूमसदृश शक्ति प्रचण्ड होकर सूर्य का रूप धारण करके तम को विदीर्ण करती है तो यही तारा या उग्रतारा कहलाती है । इसके ध्यान से साधक संसार का सन्तरण करके सहज ही शिव-समावेश रूप निःश्रेयस को प्राप्त कर लेता है । इसलिए इसे तारा कहा जाता है ।

सूर्य के पश्चात् सोम की उत्पति हुई । क्योंकि केवल अग्नि से और सूर्य से पृथ्वी अन्तरिक्ष आदि का निर्माण नहीं हो सकता । ये दोनों उग्र पदार्थ हैं । इनकी शान्ति भी आवश्यक है । अतः सोमरूप शान्त शक्ति की उत्पति हुई । सोम षोडष कलात्मक होने के कारण षोडषी कहलाता है । सोम की कलाओं में अग्नि और सूर्य का भी अंश है । अतः अग्नि सूर्य और सोम इन तीनों की एकत्र स्थिति षोडषी कहलाता है । ये ही तीनों सम्पूर्ण भुवनों का रूप धारण किए हुए हैं । यजुर्वेद में भी इन तीनों ज्योतियों को षोडषी कहा गया है ।[172]

अग्नि सूर्य और सोम रूप षोडषी से उत्पन्न सकल ब्रह्माण्ड के प्राणियों की रक्षा करने वाली शक्ति भुवनेश्वरी है । भुवनेश्वरी ही वृक्ष वनस्पति अन्नादि में रसों का सृजन कर प्राणियों को पुष्टि प्रदान करती है।

सुर्य से निरन्तर असीम ऊर्जा निकलती रहती है । जिससे चराचर जगत जीवनोपयोगी शक्ति प्राप्त करता है । सुर्य की यह पृथक् हुई शक्ति छिन्नमस्ता कहलाती है । ऊर्जा ही सुर्य का मस्तक है । वह ऊर्जा सुर्य से निकल कर जब अन्तरिक्ष और पृथ्वी में फैल गयी तो सूर्य उस समय मस्तक रहित होकर कबन्ध मात्र रह गया । सूर्य की वह ऊर्जा सदैव सूर्य से पृथक् ही नहीं रहती अपितु उससे पुनः जाकर मिल जाती है । बिछुडने और मिलने की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती रहती है। इस प्रक्रिया को छिन्नमस्ता कहा जाता है ।

सृष्टि में सदैव परिवर्तन होता रहता है। स्थिति कभी गतिहीन नहीं होती। गति और स्थिति परिवर्तन के दो पहलू हैं। यह परिवर्तन शक्ति की भैरवी अवस्था है। इस परिवर्तन से शिव के स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता। परिवर्तन भी उसके स्वभाव का एक भाग है।

परिवर्तन का विपर्यय स्तम्भन होता है। यह स्तम्भन बगलामुखी देवी के नियन्त्रण में रहता है। यह बगलामुखी इस संसार में मोह का जाल फेंककर सबको बांधे रहती है। बन्धन गमन और लय इन तीन कार्यों का सम्पादन करने के कारण इस शक्ति को बगलामुखी कहा जाता है।[178] ममता और सुख भोग की मदिरा पिलाकर यह शक्ति जगत् के जीवों को मदोन्मत किए रहती है। इसीलिए यह मातंगी कहलाती है। सुख समृद्धि उन्नति तथा आनन्द की क्रिया का सम्पादन करने वाली शक्ति कमला कहलाती है। कमला ही लोक में प्राणियों को स्वर्गादि शुभ लोकों की दिशा में आकृष्ट करती है। इस प्रकार सृष्टि से लेकर स्वरूप-स्थिति तक समस्त कार्य करने वाली शिव की ये विभिन्न शक्तियाँ महाविद्या कहलाती हैं। महता रूपेण विद्यन्ते इति महा विद्याः। अर्थात् अपने विराट् रूपों में चराचर जगत् में विद्यमान रहने के कारण शिव की शक्तियों को ही तान्त्रिक शब्दावली में महाविद्या कहा जाता है। महद्भिर्वेद्यन्ते इति महाविद्याः यह परिभाषा भी की जा सकती है क्योंकि महान् उच्चकोटि के साधक ही इन काली तारा आदि देवियों के रहस्यों को जान सकते हैं इस लिए भी उन्हें महाविद्या कहा जाता है। साधारण पुरुषों की बुद्धियाँ इन महाविद्याओं के यथार्थ स्वरूप को नहीं जान सकतीं। दस प्रकार की ब्रह्माण्ड व्यापिनी शक्तियाँ ही दस महाविद्याएँ हैं। साधकों ने अपनी उपासना-विषयक सुविधा की दृष्टि से इनके वर्ण, आकृति, अस्त्रादि की कल्पना कर ली है। उन्हें आभूषणों से भी अलंकृत किया है। इनकी पृथक् पृथक् मूर्ति की उपासना का फल भी पृथक् पृथक् बताया गया है। इसके विशेष ज्ञान के लिए जिज्ञासुओं को देवी भागवत का अध्ययन करना चाहिए।

शक्तिपात

शक्ति-तत्व के प्रसंग में शक्तिपात की चर्चा करना आवश्यक है। साधना के मार्ग में परमेश्वर के द्वारा साधक के हृदय में की गयी अहैतुकी अन्तः प्रेरणा का नाम शक्तिपात है। समर्थ सिद्ध गुरु भी कभी कभी अपने शिष्य के हृदय में शक्तिपात द्वारा शक्ति का संक्रमण करते हैं जिससे वह अनायास ही समस्त रहस्यों को सहसा जान लेता है। इसे परमेश्वर की

अहैतुकी कृपा ही समझिए। परमेश्वर जब किसी का उन्नयन करना चाहते हैं तो वह किसी सिद्ध पुरुष के माध्यम से उसके हृदय में ऐसी दिव्य प्रेरणा और अदम्य उत्साह भर देते हैं जिससे वह शीघ्र ही साधना के मार्ग पर उत्तरोत्तर सोपानों को पार करता हुआ आगे बढ़ता जाता है। यही बात तो उपनिषदें भी कहती हैं कि इस आत्मा का ज्ञान ना तो प्रवचन से सम्भव है, न प्रतिभा का ऊँचा उत्कर्ष ही उसकी प्राप्ति में कुछ सहायता कर सकता है और न शास्त्रों के अध्ययन से ही कुछ मिलने वाला है। परमात्मा स्वयम् ही जिसका वरण कर लेते हैं अर्थात् जब ईश्वर ही यह चाहता है कि यह साधक मुझे जाने तभी वह पुरुष उसे जान सकता है।[174]

भाव यह है कि शक्तिपात सहज ही साधक को सुकर बना देता है। यह परमात्मा का सीधा अनुग्रह जिस पर हो जाए, फिर उसके लिए भला दुष्कर क्या हो सकता है। कौण पुरुष किस काल में, किस अवस्था में और किस प्रकार साधना में प्रवृत होवे, कितने तीव्र संवेग के साथ इस मार्ग पर वह चले और कौन साधक कब चरम लक्ष्य पर पहुँच जाये, यह सब परमात्मा की इच्छा पर निर्भर है। यह उसी के वश की बात है। सब कुछ उसी की अन्त: प्रेरणा से होता हैं। वह जिसे जैसी अन्त: प्रेरणा करता है वह वैसा ही करता है। इसी का नाम शक्तिपात है। वह किस पर शक्तिपात करे इस विषय में परमेश्वर किसी नियम के आधीन नहीं है। वह ठहरा स्वतन्त्र और अनिरुद्ध इच्छा का स्वामी। उसे किसी की क्या अपेक्षा? अत: उसका शक्तिपात निरपेक्ष होता है।[175] उसी की कृपा से पुरुषों के हृदय में भक्ति का उदय होता है।[176]

शक्तिपात का कोई कारण नहीं हुआ करता। यह परमेश्वर का अपना विषय है। वह कभी भी किसी भी समय, किसी पर भी शक्तिपात कर सकता है। भक्ति, पूजा, धन, ज्ञान, वैराग्य, निदिध्यासन आदि से प्रसन्न होकर परमेश्वर साधक पर शक्तिपात कर दे, यह कोई आवश्यक नहीं है। कभी कभी निपट मूर्ख या दुर्व्यसनी अथवा घोर पापी पर भी परमेश्वर कृपा कर देते हैं। रत्नाकर जैसा क्रूर-कर्मा चाण्डाल भी वाल्मीकि ऋषि बन सकता है। यदि भक्ति आदि के वश में होकर परमेश्वर शक्तिपात कर दें तो वह स्वतन्त्र कहाँ रहा ?[177] उनकी दृष्टि में तो भक्त और अभक्त सभी समान हैं। कोई भी उनसे भिन्न नहीं। सब कुछ वही तो है। उनके लिए न तो कोई स्व है और न पर है। इस प्रकार शैव दर्शन के अनुसार शक्तिपात करने में परमेश्वर पूर्णतया स्वतन्त्र है।

अन्य शास्त्रों में शक्तिपात के भी अनेक कारण माने गए हैं। उनकी

मान्तया है कि साधक के सद्गुणों से प्रसन्न होकर ही परमेश्वर उस पर अपनी शक्ति का पात करते हैं, जिससे वह अपनी साधना के लक्ष्य पर निरापद पहुँच जाता है। दूसरे शास्त्र कहते हैं कि राग का क्षय होने पर, कर्मों की समानता से, सुकृत कर्मों के गौरव से, मल के परिपाक से, सत्पुरुषों की संगति से, भक्तिभाव से, अभ्यास की दृढ़ता से, वासना के विनाश से, संस्कारों की परिपक्वता होने पर, मिथ्या ज्ञान के क्षय से, कर्म सन्यास से, काम्य कर्मों के त्याग से अथवा चित्तसाम्य की दशा होने पर परमेश्वर की शक्ति का पात होता हैं।[178] किन्तु त्रिक शास्त्र के आचार्य उक्त मत का खण्डन करके परमेश्वर के स्वतन्त्र्य को ही शक्तिपात का कारण कहते हैं। परमेश्वर की इच्छा ही उसमें एक हेतु है। उक्त कारणों को शक्तिपात में निमित्त मानने पर अनवस्था अति प्रसक्ति असम्भव अन्योन्याश्रय चक्रक आदि दोषों की आपत्ति होगी।[179]

उदाहरण के लिए यदि यह कहा जाए कि "ज्ञान के अभाव के कारण अज्ञानमूलक संसार का उदय होता है अज्ञान के तिरोहित होने पर ज्ञान का उदय होता है तब उसी ज्ञान से शक्तिपात होता है। तो यह मान लेने पर जिज्ञासा होती है कि यथार्थ ज्ञान का उदय किस कारण से होता है?यदि कर्म से उसका उदय मानें तब तो उसे कर्मफल के समान भोग्य भी मानना पड़ेगा, और भोग करने वालों में शक्तिपात मानने पर अतिप्रसक्ति होती है। अर्थात् शक्तिपात भी भोग के लिए होगा मोक्ष के लिए नहीं। ईश्वर की इच्छा को यदि ज्ञानोदय में निमित्त माना जाए तो अन्योन्याश्रय दोष आ पड़ेगा। अर्थात् ईश्वरेच्छा से ज्ञान का उदय होगा और ज्ञान का उदय होने पर ही ईश्वरेच्छा-रूप शक्तिपात होगा। यही अन्योन्याश्रता है।[180]

कर्म-साम्य को शक्तिपात को हेतु मानने पर भी अनेक दोष आते हैं। जब दो विरुद्ध तुल्यबल कर्म एक दूसरे को फलोन्मुख होने से रोकते हैं तो यह अवस्था कर्मसाम्य कहलाती है। इस कर्मसाम्य को भी शक्तिपात में निमित्त नहीं माना जा सकता। क्योंकि कर्म क्रमभावी होता है। क्रम-भावी दो कर्मों का सहावस्थान सम्भव नहीं। अतः दोनों में विरोध नहीं हो सकता। युगपत् उत्पन्न पदार्थों में ही विरोध होता है। यदि दो कर्मों में विरोध मान भी लिया जाए तो भीअविरोधी कर्म से तो फल की उत्पत्ति माननी ही पड़ेगी। उससे यदि फल की उत्पति न मानी जाये तब तो उसी क्षण में देहपात का प्रसंग आ जायेगा।[181]

अब यदि इस आपत्ति से बचने के लिए यह कहा जाये कि कर्मसाम्य से जन्म और आयु प्रदान करने वाले कर्मों का प्रतिरोध नहीं होता, अपितु

इनसे अतिरिक्त भोगप्रद कर्मों का प्रतिरोध होता है तो यह कहना भी हास्यास्पद है। क्योंकि इसका अर्थ यह हुआ कि भोगप्रद कर्मों के रहते हुए भी शक्तिपात होता है। तो विचारणीय यह है कि यदि भोग प्रदान करने वाले कर्मों की वर्तमानता के काल में शक्तिपात हो सकता है तो भोग-सम्पादक कर्मों से शक्तिपात क्यों नहीं हो सकता। अतः कर्मसाम्य शक्तिपात का कारण नहीं है।[182]

मल का परिपाक होने पर शक्तिपात होता है यह कहो तो यह भी उचित नहीं क्योंकि तब यह प्रश्न उठेगा कि उस मल-परिपाक का क्या स्वरूप है, तथा उसका निमित्त क्या है? यदि उसका निमित्त भी शक्तिपात है तो फिर वही अन्योन्याश्रयता का दोष आता है।[183]

इसी प्रकार वैराग्य, धर्म विशेष, विवेक, सत्संग, सत्प्राप्ति, देवपूजा आदि भी शक्तिपात के कारण नहीं हो सकते।[184] स्वातन्त्र्य के अतिरिक्त शक्तिपात का अन्य कारण मानने वाले भेदवादियों का कथन युक्तियुक्त नहीं हो सकता। त्रिक दर्शन के स्वतन्त्र पराद्वयवाद में तो सभी कुछ युक्तियुक्त है। क्योंकि इस मत के अनुसार स्वतन्त्र परमेश्वर स्वरूपगोपन की क्रीडा के द्वारा स्वयम् पशु जीव पुद्गल अणु आदि बन जाता है। देश और काल उसके स्वरूप में भेदरूपी विरोध उत्पन्न नहीं करते। जब यह स्वरूपगोपन की क्रीड़ा निवृत होती है तो वह अणु (जीव) क्रम से अथवा अक्रम से स्वरूपापत्ति का समाश्रयण करता हुआ शक्तिपात का पात्र बन जाता है।[185]

जो जीव भोग के प्रति उत्सुक है उनमें तो शक्पिात कर्म की अपेक्षा रखता है किन्तु मोक्ष के प्रति अभिलाषा में कर्म की अपेक्षा नहीं होती। उसमें तो स्वातन्त्र्य स्वरूप परमेश्वर ही शक्तिपात करने वाले हैं। अतः शक्तिपात सब प्रकार से निरपेक्ष है स्वरूप प्रथन ही शक्तिपात का फल है। भोग्य पदार्थों की इच्छा करने वाले प्राणियों पर परमेश्वर जो अनुग्रह करते हैं वह वास्तविक शक्तिपात नहीं होता। शक्तिपात तो स्वरूप-प्रकाशन-रूप मोक्ष में ही प्रतिफलित होता है। यह भी नहीं समझना चाहिए कि किसी जीव-विशेष पर ही शक्तिपात होता है। परमेश्वर ही तो स्वयम् उस रूप में प्रकट होते हैं। उससे अतिरिक्त तो कोई जीव-विशेष होता ही नहीं।[186]

शक्पिात के भेद

प्रमुख रूप से शक्तिपात तीन प्रकार का होता है—तीव्र, मध्य और मन्द। फिर इन तीनों के उत्कृष्ट, मध्य और निकृष्ट भेद से तीन तीन भेद

हो जाते हैं। इस प्रकार कुल मिलाकर शक्तिपात के नौ भेद हो जाते हैं। इन नौ में से प्रत्येक की गति त्वरित मध्यम और मन्द होती है। फिर इसमें से एक एक के अनन्त अनन्त वैचित्र्य होते हैं। इस प्रकार शक्तिपात अनेक प्रकार का है। उसी के वैचित्र्य से संसार की विचित्र लीलाएं चलती हैं। किन्तु मुख्तयता शक्तिपात नौ ही प्रकार का है :[187]

1— उत्कृष्ट तीव्र शक्तिपात
2— उत्कृष्ट मध्य शक्पिात
3— उत्कृष्ट मन्द शक्तिपात
4— मध्य तीव्र शक्तिपात
5— मध्य मध्य शक्तिपात
6— मध्य मन्द शक्तिपात
7— निकृष्ट तीव्र शक्तिपात
8— निकृष्ट मध्य शक्तिपात
9 निकृष्ट मन्द शक्तिपात

इन नौ प्रकारों का क्रम निम्न प्रकार से भी दिया जा सकता है :

1— उत्कृष्ट तीव्र
2— मध्य तीव्र
3— मन्द तीव्र
4— उत्कृष्ट मध्य
5— मध्य मध्य
6— मन्द मध्य
7— उत्कृष्ट मन्द
8 — मध्य मन्द
9— मन्द मन्द

शक्तिपात का फल

इन सभी शक्तियों में जो परस्पर भेद है वह गति के कारण ही है। गतिभेद के कारण प्रत्येक प्रकार के शक्तिपात का फल भी पृथक पृथक् है। उत्कृष्ट तीव्र शक्तिपात होने पर तत्काल ही देहपात हो जाता है और साधक को परमेश्वरता की प्राप्ति होती है।[188] मध्य तीव्र शक्तिपात होने पर शास्त्र और आचार्य की अपेक्षा के बिना ही प्रातिभज्ञान का उदय होता है, जिसके उदय होने पर साधक किसी बाह्य संस्कार के अभाव में भी भोग एवं मोक्ष देने वाला प्रातिभ गुरु कहलाने लगता है।[189]

मन्द तीव्र शक्तिपात के प्रभाव से सद्‌गुरु के लाभ की इच्छा होती

है और असद्गुरु के पास जाने की इच्छा दूर हो जाती है। परमेश्वर से साक्षात ज्ञान प्राप्त करके जिन्होंने उसके साथ तादत्म्य प्राप्त कर लिया है वे सद्गुरु कहलाते हैं, और जो केवल तत्व का उपदेश करने वाले आचार्य हैं उन्हें असद्गुरु कहा जाता है। असद्गुरु के पास से सद्गुरु के पास आना शक्तिपात से ही हो सकता है। सद्गुरु के द्वारा शिष्य को दीक्षा प्राप्त होती है। साक्षात् भैरव भट्टारक को ही सद्गुरु समझना चाहिए।[190]

उत्कृष्ट-मध्य शक्तिपात होने पर साधक दीक्षा की प्राप्ति सरलता से कर लेता है किन्तु उसके हृदय में शिव भाव के प्रति दृढ निष्ठा उत्पन्न नहीं होती। क्रम से जब निष्ठा उत्पन्न हो जाती है तो उसका देहपात हो जाता है और उसमें शिवता का समावेश हो जाता है।[191]

मध्य-मध्य शक्तिपात के प्रभाव से शिष्य में शिव भाव के प्रति उत्सुकता आ जाने पर भी भोग की आकांक्षा बनी रहती है। उस अवस्था में दीक्षा मिलने पर ही उसे ज्ञान की प्राप्ति होती है। पुनः योगाभ्यास से वह शिष्य प्राप्तव्य भोगों का देह से भोग करके देहावसान होने पर शिव ही हो जाता है।[192]

निकृष्ट-मध्य शक्तिपात होने पर शिष्य को नवीन देहान्तर की प्राप्ति होती है। उस नवीन देह से वह भोगों को भोग कर पश्चात् शिवत्व का लाभ करता है।[193]

इसी प्रकार तीव्र-मन्द, मध्य मन्द और निकृष्ट-मन्द शक्तिपातों का फल भी तारतम्य से जानना चाहिए। सभी शक्तिपात शिव शक्ति के अधिष्ठान होते हैं।[194]

त्रिक दर्शन की यह मान्यता है कि पारमार्थिक और परिपूर्ण मुक्ति सैद्धदर्शन के अद्वैत सिद्धान्त के यथार्थ ज्ञान से तथा सैद्धयोग की सफल उपासना से होती है। अन्य शास्त्रों के अभ्यास से जो मुक्ति प्राप्त होती है वह त्रिक दर्शन की दृष्टि में पारमार्थिक मुक्ति नहीं होती। वह तो अल्प कालीन व्यावहारिक मुक्ति ही होती है। सभी मलों से छुटकारा उससे नहीं होता। वैसे पुरुष अमोक्ष को ही मोक्ष समझकर भ्रमित रहते हैं। यदि उन पर परमेश्वर का शक्तिपात हो जाय तो वे उस भूमिका से ऊपर संक्रमण कर जाते हैं, अन्यथा पुनः मृत्युलोक में लौट आते हैं।

यहाँ यह बात विशेष ध्यातव्य है कि उक्त शक्तिपात पूर्ण ज्ञानवान् गुरुओं से दीक्षा ग्रहण करने के पश्चात् ही होता है। दीक्षा प्राप्त होने पर जिन अधिकारों की प्राप्ति होती है उनकी प्राप्ति निम्न कोटि के आचार्यों को नहीं होती। अतः दीक्षा के लिए गुरु का अनुग्रह प्राप्त करने का प्रयास

करना चाहिए। उनकी उपासना में शिष्य को प्रयत्नशील रहना चाहिए। उनका अनुग्रह ही शक्तिपात का कारण है जो निरपेक्ष है।[195]

शक्ति तत्व के प्राणी

शिव तत्व के समान शक्ति-तत्व में ठहरे हुए प्राणी भी अकल प्राणी कहलाते हैं। अकल प्राणी सबसे उत्तम कोटि के प्राणी कहलाते है। अकल शब्द का अर्थ है कलाओं से रहित। जीव के परिमति क्रिया-सामर्थ्य को कला कहा जाता है। कला तत्व से ही अन्य मायीय तत्वों की उत्पत्ति होती है। शरीर इन्द्रिय अन्त करण आदि कला के ही विकार हैं। अकल प्राणी इन सबसे रहित होते हैं। ये पूर्ण अभेद की भूमिका में स्थित होते हैं। शुद्ध अहम् ही इनका स्वरूप होता है। इन्हें अपनी असीम, अद्वैत, परिपूर्ण एवं शुद्ध संविद्रूपता का आभास भी होता रहता है और अपने परिपूर्ण परमेश्वर्य का विमर्श भी होता रहता है। इनमें आनन्द की असंख्य लहरें अन्तर्मूख उभयतः सतत प्रवाहित रहती हैं।

शिव-तत्व में ठहरे हुए अकल प्राणियों को शाम्भव प्राणी और शक्तितत्व के अकल प्राणियों को शाक्त प्राणी कहा जाता है। दोनों ही अभेद-भूमिका में अवस्थित होते हैं। दोनों में अन्तर इतना है कि शाम्भव प्राणियों को अपनी प्रकाशरूपता का चमत्तकार अधिक प्रधानता से होता रहता है और शाक्त प्राणियों को विमर्शरूपना का चमत्कार प्रधानता से होता है। इन दोनों प्रकार के प्राणियों को सदैव अपने परिपूर्ण अहं का ही आभास हुआ करता है। "इदम्" का अंश 'अहम्' के भीतर अहम् के रूप में ही विलीन होकर रहता है जैसे दूध में दही दूध के रूप में रहता है और बीज में अंकुर बीज के रूप में रहता है। इदमंश थोड़ा सा भी प्रस्फुटित नहीं होता। इन्हें अकल नाम इदमंश के न होने से ही दिया गया है। इदंरुप प्रमेय भी तो कला का ही विकार है। सभी प्रकार के कला-विकारों से और त्रिविध मल से सर्वथा रहित ये अकल प्राणी अत्यन्त शुद्ध और निर्मल प्राणी माने गए है। इन्हें अपने परिपूर्ण और अपरिमित आनन्द की प्रतीति अपनेही द्वारा होती है। शुद्ध संवित् को ही अहम् समझते हैं।

संदर्भ सूची

1. न वन्हेर्दाहिका शक्ति र्व्यतिरिक्ता विभाव्यते।

केवलं ज्ञानसत्तायां प्रारम्भोऽयं प्रवेशने ।। वि० भ० 19

2. यथालोकेन दीपस्य किरणैर्भास्करस्य च ।
ज्ञायते दिग्विभागादि तद्वच्छक्त्या शिव: प्रिये ।। तदैव 21

3. या श्री: स्वयं सुकृतिनां भवनेष्व लक्ष्मी:
पापात्मनां कृतधियां हृदयेणु बुद्धिः ।
श्रद्धा सतां कुल जन प्रभवस्य लज्जा ।
तां त्वां नता: स्म परिपालय देवि विश्वम् ।। दु० स०

4. शक्ति: सामर्थ्यं विश्वनिर्माणकारि—विज्ञान भैरव की व्याख्या—18

5. यथा न्यग्रोध बीजस्थः शक्तिरूपो महाद्रुमः ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।। परात्रींशिका

6. चिदात्मैव हि देवोऽन्तः स्थितमिच्छावशाद् बहिः ।
योगीव निपादान मर्थजातं प्रकाशयेत् ।। ईश्वर प्रत्यभिज्ञा 1/5/7

7. आदर्शकुक्षौ प्रतिबिम्बकारि समर्पकं स्याद् यदि मानभिन्नम् ।
सुस्वच्छ संविन्मु कुरान्तराले भावेषु हे त्वन्तरमस्ति नान्यत् ।।
परमार्थ चर्चा 5

8. (क) एक एवास्य धर्मोऽसौ सर्वाक्षेपेण वर्तते ।
तेन स्वातन्त्र्यशक्त्यैय युक्त इत्यान्जसो विधिः ।।
बहुशक्तित्वमप्यस्य तच्छाक्त्यैवा वियुक्तता ।।
तं० 1/67-68

(ख) एकाऽपि सत्येनेकत्वं यथा गच्छति तच्छृणु । विवेक 1/68

9. शक्तिश्च नाम भावस्य स्वं रूपं परिकल्पितम् ।
तेनाद्वयः स एवापि शक्तिमत्परि कल्पने ।। तं० 1/69

10. मातृक्लृप्ते हि देवस्य तत्र तत्र वपुष्यलम् ।
को भेदो वस्तुतो वन्हे र्दग्धृपक्तृत्वयोरिव ।। तं० 1/70

11. स्वशक्त्युद्रेक जनकं तादात्म्याद् वस्तुनो हियत् ।
शक्तिस्तदपि देव्येवं भान्त्यप्यन्य स्वरूपिणी ।।

12. (क) शिवश्चालुप्त विभवस्तथा सृष्टोऽवभासते ।
स्वसंविन्मातृमुकुरे स्वातन्त्रयाद् भावनादिषु । तदैव 1/73

(ख) स्वातन्त्रयाद् द्वयात्मानं स्वातन्त्र्याद् भावनादिषु ।
प्रभुरीशादि संकल्पै निर्माय व्यवहारयेत् ।। ई० प्र० 1/5/16

13. चितिः स्वतन्त्रा विश्वसिद्धि हेतुः —प्र० हृ० सूत्र

14. अन्यस्य तु माया प्रकृत्यादेः चित्प्रकाशभिन्नस्य अप्रकाशमानत्वेनासत्वात् न क्वचिदपि हेतुत्वम् । प्रकाशमानत्वे तु प्रकाशैकात्म्यात् प्रकाशरूपा

चितिरेव हेतुः न त्वसौ कश्चित्……इति व्यापक नित्योदित परिपूर्णरूपा इयम् । प्र० ह० सू० 1

15. चिदेव भगवती स्वच्छ स्वतन्त्ररूपा तत्तदनन्त जगदात्मना स्फुरति इत्येतावत् परमार्थोऽयं कार्यकारण भावः । यतश्च इयमेव प्रमातृ-प्रमाण प्रेमेयमयस्य विश्वस्य सिद्धौ प्रकाशने हेतु ॥ तदैव

16. स्वपदा स्वशिरश्छायां यद्वल्लंघितुमीहते ।
पादोद्देशे शिरो न स्यात् तथेयं बैन्दवी कला ॥ तदैव

17. चितिः इति एकवचनं देशकालाद्यनवच्छिन्नतामभिदधत् समस्तभेद वादानाम् अवास्तवतां व्यनक्ति । स्वतन्त्र शब्दो ब्रह्मवादवैलक्षण्य-माचक्षाणः चितो माहेश्वर्यसारतां ब्रूते —तदेव

18. स्वेच्छया स्वभित्तौ विश्वमुन्मीलयति —प्र० हृ० सूत्र 2

19. स्वेच्छया, न तु ब्रह्मादिवत् अन्येच्छया, तयैव, च न तु उपादानाद्य-पेक्षया एवं हि प्रागुक्त स्वातन्त्र्यहान्या चित्वमेव न घटेत —तदैव

20. भित्तौ न तु अन्यत्र क्वापि, प्राक् निर्णीतं विश्वं दर्पणे नगरवत् अभिन्नमपि भिन्नमिव उन्मीलयति —तदैव

21. सर्वेषां चार्वादिदर्शनानाँ स्थितयः सिद्धान्ताः तस्य एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छागहीताः कृत्रिमा भूमिकाः । प्र० हृ० सूत्र 3

22. आत्मा प्रकाशवपुरेष शिवः स्वतन्त्रः
स्वातन्त्र्यनर्मं रभसेन निजं स्वरूपम् ।
संच्छाद्य यत्पुनरपि प्रथयेत पूर्णं तच्च क्रमा क्रमवशादथवा त्रिभेदात् ॥
तंत्रसार आन्हिक एक का उपोद्धात

23. तस्य च स्वातन्त्र्यमानन्दशक्तिः । तच्चमत्कार इच्छाशक्तिः ।
प्रकाशरूपता चिच्छाक्तिः । आमर्शात्मकता ज्ञान शक्तिः ।
सर्वाकार योगित्वं क्रियाशक्तिः —तदैव

24. शिव शक्ति सदाशिवतामीश्वर विद्यामयीं च तत्वदशाम ।
शक्तीनां पञ्चानां विभक्त भावेन भासयति ॥ परमार्थ सार 14

25. तदास्याकृत्रिमो धर्मा ज्ञत्वकर्तृत्व लक्षणः ।
यतस्तदीप्सितं सर्वं जानाति च करोति च ॥
स्प० का० 1/10

26. कुत्सितेऽकुत्सितस्य स्यात् कथमुन्मुखतेति चेत् ।
रूप प्रसाररसतों गर्हितत्वमयुक्तिमत् ।
पञ्च प्रकार कृत्योक्ति शिवत्वान्निजकर्मणे ।
प्रवृत्तस्य निमित्तानामपरेषां क्व मार्गणम् ॥ शिवदृष्टि 1/11-12

27. एवं न जातुचित्तस्य वियोगस्त्रितयात्मना ।
शक्तया निर्वृत चित्तस्य तदभाग विभागयोः ॥ शि० दृ० 1/6

28. सुसूक्ष्मशक्ति त्रितय सामरस्येन वर्तते ।
चिद्रूपाल्हादपरमो निर्विभागः परस्तदा ॥ शि० दृ० 1/4

29. प्रकृत्यादीश्वरत्वेन सर्वदैव तदात्मता ।
संवित्तिशुन्य बह्यत्ववदिनां जडतैव सा ॥
शि० दृ० 6/29

30. किन्तु निर्माणशक्तिः साप्येवं विदुष ईशितुः ।
तथा विज्ञातृविज्ञेयभेदो यदवभासते ॥ ई० प्र० 2/1/8

31. स्वरूपभेदेन देशक्रमकारिणा क्रियाभेदेन च कालक्रमसम्पाद केनोपलक्षितो यो विज्ञातुः शून्यादेः प्रमातुः भेदोऽन्योन्यं ज्ञेयाच्च, एवं घटादेः परस्परं ज्ञातुश्च स भगवताऽवभास्यते यत् तदवभासनं सा ईशितुरपि निर्माणशक्तिः क्रियाशक्तिः ॥
ई० प्र० वि० 2/1/8

32. इच्छयैव भुवनानि भासयन् यः प्रियोपकरणग्रहोऽपि सन् ।
अप्रियोपकरणग्रहोऽभवत् तं स्वशक्ति सचिवं शिवं स्तुमः ॥
स्तुति कुसुमान्जली 1/15

33. यतश्च तन्निमितं ज्ञातृज्ञेयक्रियावैचित्र्य भेदं असौ विद्वान् वेत्ति, अविरतं तत्रैव हि तत् स्फुरितं ततोऽपि तस्य सा क्रियाशक्तिः
ई० प्र० वि० 2/1/8

34. ईश्वरस्यापि ईशे, भासे, स्फुरामि, घूर्णे, प्रत्यवमर्शामि इत्येवंरूपं यदिच्छात्मकं विमर्शनम् अहमित्येतावन्मात्रम्, न तत्र कश्चित् क्रमः
तदैव

35, स्फारयस्यखिल मात्मना स्फुरन् विश्वमामृशसि रूपामामृशन् ।
यत्स्वयं निजरसेन घूर्णसे तत्समुल्लति भावमन्डलम् ॥
शिवस्तोत्रावली 13/15

36. चैत्रमैत्रादेरपि "पंचामि" इति यैव अन्तरिच्छा सैव क्रिया । तथा चाधिश्रयणादि बहुतर स्पन्दन सम्बन्धे अपि "पचामि" इति नास्य विच्छिद्यते । यत्तु इच्छारूपं तदैव तथा स्पन्दनात्मतया भाति । तत्र तु न कोऽपि क्रमः तत्वतः । ई० प्र० वि० 21/8

37. इच्छारूपं पचामि इति स्पन्दनात्मकतां कार्यपर्यन्तां गतं क्रमारूषितम् आभाति —तदैव

38. परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घट संपादनं महेशस्य ।
देयी माया-शक्तिः स्वात्मावरणं शिवस्यैकेत् ॥ परमार्थसार 15

39. मामा नाम च देवस्य शक्तिखयतिरेकिणी ।

भेदावभास स्वतन्त्र्यं तथाहि स तया कृतः ।। तं० 9/149-150

40. सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधिः ।
अनाद्यनन्ता शिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ।। मा० वि० 1/26

41. स्वरूप परामर्शत्यागेनैव तु यदा भिन्तयाऽपि विमर्शनं स्वरूप परामर्श एव विश्रान्तम्, अहमिति सदायिवेश्वर परमार्थं सा भगवती मायाशक्तिः ई० प्र० वि० 4/1/4

42. (क) अत एवेयं प्ररोहासहिष्णु यत इदन्तां भासयति ततः शुद्धा । भासनाच्च विद्येति । तत एवाप्ररुढमाया कल्पत्वान्महामायेयं श्री भैरवादि गुरुभिरूपदिष्टा । ई० प्र० वि० 3/1/6

(ख) भेदधीरेव भावेषु कर्तुर्बोधात्मनोऽपि या ।
मायाशक्त्यैव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा ।।
ई० प्र० 3/1/6

43. (क) आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भीकृतान्त भावि विभागा सापरा निशा ।। तं० 9/150

(ख) बहिर्मुखतायां भाविनो विभागस्य शिम्बिकाफलवदस्यां गर्भिकारोऽस्ति —तं० वि० 9/151

44. अपूर्णता—प्रथनेन मीनाति हिनस्ति इति माया शक्तिरुच्यते
—तं० वि० 9/150

45. या सा शक्तिर्जगद्धातुः कथिता समवायिनी ।
इच्छात्वं तस्य सा देवी सिसृक्षोः प्रतिपद्यते ।। मालिनी विजय 3/5

46, एव सैषा द्विरूपाऽपि पुनर्भेदैरनेकताम् ।
अर्थोपाधिवशाद्याति चिन्तामणिरिवेश्वरी ।। मा० वि० 3/8

47. तत्र तावत् समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ।
द्विधा च नवधा चैव पंचाशद्धा च मालिनी ।।
वर्गाष्टकमिह ज्ञेयमघोराद्यमनुक्रमात् ।। मा० वि० 3/29

48. यत्र स्थितमिदं सर्वं कार्यं यस्माच्च निर्गतम् ।
तस्यानावृत रूपत्वान्न निरोधोऽस्ति कुत्रचित् ।। स्पन्द कारिका 2

49. खेचरी—गोचरीं—दिक्चरी—भूचरी रूपैः अशेषैः प्रमातृ—अन्तः-करण बहिष्करण—भाव स्वभावैः परिस्फुरन्ति
—प्र० हृ० वृत्ति सूत्र 12

50. किंच चितिशक्तिरेव भगवती विश्ववमनात् संसार वामाचारत्वाच्च वामेश्वर्याख्या सती —तदैव

51. तदपरिज्ञाने स्वशक्तिभिर्व्यामाहितता संसाररित्वम्
—प्र० हृ० सूत्र 12

52- विविध लौकिक शास्त्रीय शंका शंकुकीलितत्वं
यत् इदमेव संसाररित्वम् —तदैव

53. सर्वो ममायं विभव इत्येवं परिजानतः।
विश्वात्मनो विकल्पनां प्रसारेऽपि महेशता॥

54. सा यदा स्वरूपं गोपयित्वा पाशवे पदे प्राणापानसमानशक्तिदशाभिः जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तभूमिभिः देह प्राण पुर्यष्टककलाभिश्च व्यामोहयति, तदा तद्व्यामोहितता संसारित्वम् तदैव

55. आकाशवत् सर्वगतश्च नित्यः —श्वेताश्वतर 3

56. पशुभूमिकायां शून्यपदविश्रान्ता किंचित्कर्तृत्वाद्यात्मक कलादि शक्त्यात्मना खेचरीचक्रेण गोपितपारमार्थिक चिद् गगनचरीत्व-स्वरूपेण चकास्ति —तदैव

57. पति भूमिकायां तु सर्वकर्तृत्वादिशक्त्यात्मक चिद्गगनचरी त्वेन।
तदैव

58. भेदनिश्चयाभिमान विकल्पनं प्रधानान्तः करण देवो रूपेण गोचरीचक्रेण गोपिताभेद निश्चयाद्यात्मक पारमार्थिक स्वरूपेण प्रकाशते। तदैव

59. अभेद निश्चयाद्यात्मना गोचरीत्वेन —तदैव

60. भेदा लोचनादि प्रधान बहिष्करण देवतात्मना च दिकचरी-चक्रेण गोपिता भेद प्रथात्मक पारमार्थिक स्वरूपेण स्फुरति''' ''अभेदालोच नाद्यात्मना दिक्चरीत्वेन —तदैव

61. (क) सर्वतो व्यवच्छिन्नाभास स्वभाव प्रमेयात्मना च भूचरी-चक्रेण गोपित सार्वात्म्यस्करूपेण पशुहृदयव्यामोहिना भाति—तदैव
(ख) स्वांग कल्पाद्वय प्रथासार प्रमेयात्मना च भूचरी त्वेन —तदैव

62. पूर्णावच्छिन्न मात्रन्त र्बहिष्करण भावगाः।
वामेशाद्याः परिज्ञानाज्ञानात्स्यु र्मुक्तिबन्धदाः॥ प्र० हृ० पृ० 30

63. यतः करणवर्गोऽयं विमूढ़ो मूढवत् स्वयम्।
सहान्तरेण चक्रेण प्रवृति स्थिति संहृतिः॥ स्प० का० 1/6

64. (क) मनुष्यदेहमास्थाय छन्नास्ते परमेश्वराः। तदैव
(ख) शरीरमेव घटाद्यपि वा ये षट्त्रिंशतत्वमयं शिवरूपतया पश्यन्ति तेऽपि सिध्यन्ति —तदैव

65. तन्त्रान्तर्विश्वमिदं विचित्र तनु करण भुवन सन्तानम्।

भोक्ता च पत्र देही शिव एव गृहीत पशुभाव: ।।
परमार्थं सार 5

66. तत्रैव सम्प्रलीयन्ते शान्तरूपा निरन्जनाः ।
सहाराधकच्त्तिेन तेन ते शिवधर्मिण: ।।
स्पन्दकारिका 2/227

67. पुस्तकावस्थिता हि मन्त्रा निर्वीर्या इति ततो गृहीतानां तेषां न स्वसिद्धिसाधनाय निजं तेजः प्रस्फुरेत् —तन्त्रालोक विवेक 4/66

68. लिपि—स्थितस्तु यो मन्त्रो निर्वीर्यः सोऽत्र कल्पितः ।
संकेत बलतो नास्य पुस्तकात् प्रथते महः ।। तदैव

69. ये तु पुस्तक लब्धेऽपि मन्त्रे वीर्यं प्रजानते ।
ते भैरवीय संस्काराः प्रोक्ता सांसिद्धिका इति ।। तदैव

70. (क) कथितं गोपित तेभ्यस्तस्माल्लेख्यं न पुस्तके ।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत अन्यथा न कदाचन ।।
तन्त्रालोक विवेक 4/68

(ख) मन्त्र द्रव्यादिगुप्तत्वे फलं किमित चोदिते ।
पुस्तकाधीतविद्या ये दीक्षासमयवर्जिताः ।।
तामसा· परहिंसादि वश्यादि च चरन्त्यलम् ।
न च तत्त्वं विदु स्तेन दोषभाज इति स्फुटम् ।। तदैव

(ग) शास्त्रे स्वयं शिथिलतास्थाः सन्तःपरेषामपि तत्र अनादर- मुत्पादयन्ति —तदैव

71. स्पन्दकारिका—नीलकण्ठ गुरटू—पृ० 113

72. मन्त्र देवता विमर्श परत्वेन प्राप्त तत्सामरस्य मारधकचित्तमेव मन्त्रः न तु विचित्रवर्णसंघटनामात्रम्—शिवसुत्र विमर्शिनी—2/1

73. मनु अवबोधने तृ पालने इत्ये ताभ्यां निरुक्ततया निर्वचनीयत्वेन निर्णीततयोच्यते —तदैव

74. हृदयं च नाम प्रतिष्ठास्थानमुच्यते, तच्चोक्तनीत्या जडानां चेतनम्, तरूयापि प्रकाशात्मकत्वम्. तस्यापि विमर्शशक्ति रिति विश्वस्य परमे पदे तिष्ठतो विश्रान्तस्य इदमेव हृदयं विमर्शरूपं परमन्त्रात्मकं यत्र तत्र अभिधीयते —ई० प्र० वि० 1/5/14

75. एषैव च किंचिद्रूपता यत् अचलमपि चल माभसते
—ई० प्र० वि० 1/5/14

76. सर्वे वर्णात्मकामन्त्रास्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये —शिव सूत्र 2/3

77. मननमये निजविभवे निजसंकोमये त्राणमयी ।
कवलित विश्वविकल्पा अनुभूतिः कापि मन्त्रशब्दार्थः ।।
परात्रींशिका 8 में उद्धृत

78. शक्ति शक्तिमतोर्भेदः शैवे जातु न विद्यते । शि० दृ० 3/3

79. अनुत्तराख्य ज्ञान-क्रियात्मकम् —परात्रींशिका विवृति लक्ष्मीराम कृत पृ० 2

80. अनुत्तरं कथं देव सद्यः कौलिक सिद्धिदः ।
येन विज्ञातमात्रेण खेचरीसमतां व्रजेत् ।। प० त्री० 1

81. (क) अविद्यमान मुत्तरं अन्यत् यस्मात् —तं० वि० 1/1
(ख) पर प्रकाशांत्मकत्वात् अनुत्तरम् —तं० वि० 1/5

82. येन उपायेन अनुभूतमात्रेण अयं नरः खेचरीसमतां खेचरीणां तव
चिदेकरूपस्य शक्तीनां साम्यं स्वातन्त्र्यरूपमाप्नोनि ।
प० त्री० वि० 1

83. कुले देहे भवा कौलिकी सिद्धिः चिदैकात्म्यं तां ददातीति तादृशम्,
कौलिकीसिद्धि जडस्यापि देहादेश्चिदै कात्म्य प्रतिपत्ति दार्ढ्यं
जीवन्मुक्तिः तदेव

84. (क) स्वातन्त्र्यशक्तिः क्रमसंसिसृक्षा क्रमात्मता चेति विभोर्विभूतिः ।
तदैव देवीत्रमन्तरास्ता मनुत्तरं मे प्रथयत्स्वरूपम् ।। तं० 1/5
(ख) क्रमस्य विश्ववैचित्र्यस्य सर्गस्य सिसृक्षा जगनसृष्टि निमित्तं
पारमेश्वरी इच्छारूपा शक्तिः । क्रमात्मता······भेद प्रधानं
नरत्वम् —तं० वि० 1/25

85. योऽनुत्तरः परः स्पन्द यश्चानन्दः समुच्छलन् ।
ताविच्छोन्मेषसंघट्टात् गच्छतोऽति विचित्रताम् ।। तं० 3/93

86. अनुत्तरं परं धाम तदेवाकुलमुच्यते ।
विसर्गस्तस्य नाथस्य कौलिकी शक्तिरुच्यते ।। तं० 3/143

87. अनुत्तराद्या प्रसृतिर्हान्ता शक्तिस्वरूपिणी ।
प्रत्याहृताशेषविश्वाऽनुत्तरे सा निलीयते ।। तं० 3/204

88. एतद्गुह्यं महागुह्यं कथयस्व मम प्रभो ।
हृदयस्था तु या शक्तिः कौलिकी कुलनायिका ।।
परमार्थसार 2

89, प्रभोः शिवस्य या शक्ति र्वामा ज्येष्ठा च रौद्रिका । तं० 6/52

90. वामा संसारवमना ज्येष्ठा शिवमवी यतः ।
द्रावयित्री रुंजा रौद्री रोध्री चाखिल कर्मणाम् ।। तं० 6/57

91. अणु स्वरूपदृश्वानं वामाधो विनिपातयेत् ।
रौद्री सांसारिकानन्द कदाचिद् वितरेदपि ॥
ज्येष्ठा स्वातन्त्र्यलेशं तु तनुते ज्ञानकर्मणोः ॥ तदैव

92. पूर्ववज्जन्तु जातस्य शिवधामफल प्रदाः ।
पराः प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोराः शिवशक्तयः ॥ मा० वि० तं० 3/33

93. मिश्र कर्मफला सक्तिं पूर्वज्जनयन्ति याः ।
मुक्तिमार्ग निरोधिन्यस्ताः स्युर्घोराः परापराः ॥ तदैव 3/32

94. विषयेष्वेव सलीनानधोऽधः पातयन्त्यणुन् ।
रुद्राणून् याः समालिग्य घोरतर्योऽपराः स्मृताः ॥ तदैव 3/31

95. शक्तस्तु हरमेशानि शक्त्या युक्तो यदा भवेत् ।
शक्त्या विना शिवे सूक्ष्मे नाम धाम न विद्यते ॥
ज्ञातेनापि महेशानि कर्म शर्म न किंचन ।
....
एवं सा परमा शक्तिरेकैव परमेश्वरी ॥
वामाकेश्वरीमतम् 4/6-10

96. शब्दराशि रकादि क्षेकारान्तः तत्समुद्भूतस्य कादि वर्गात्मकस्य······
पशुरुच्यते —स्पन्दकारिकावृत्ति— /45

97. सा हि भगवती अशेष वाच्य वाचकात्मक जगदभेदचमत्कारात्मक
शब्दराशि विमर्श परमार्था —स्वच्छन्द तंत्र 11/199

98. अज्ञाता माता मातृका विश्वजननी —शि० सू० वि० 1/4

99. एतदेव च ब्रह्मयादि मातृणां मातृत्वं तत्तस्य परिवारभावेन तिष्ठन्ति,
विकल्पा हि चिद्रूपस्य जीवस्य परितो वारणात् परिवार एव, मातृ-
शब्दो ह्यत्र परिवारवाच्येव न जननीवाचकः ।
ई० प्र० वि० 2/1/1

100. तत्र तावत्समापन्ना मातृभावं विभिद्यते ।
द्विधा च नवधा चैव पंचाशद्धा च मालिनी ॥ मा० वि० 3/9/10

101. (क) बीजयोन्यात्मकाद् भेदाद् द्विधा बीजं स्वरा मताः ।
कादिभिश्च स्मृता योनिः । मा० वि० 3/10-11
(ख) बीजमन्त्रः शिवः शक्तिर्योनिरित्यभिधीयते ॥ तदैव

102. कादिहान्तमिदं प्राहः क्षोभाधारतया बुधाः ।
योनिरुपेन तस्यापि योगे क्षोभान्तरे व्रजेत ॥ तं० 3/180

103. तदेव शक्तिभेदेन माहेश्वर्यादि चाष्टकम् ।
माहेशी ब्राह्मणी चैव कौमारी वैष्णवी तथा ।

ऐन्द्री याम्या च चामुण्डा योगीशी चेति ता मताः ॥

मा० वि० 3/9/14

104. करन्ध्र चितिमध्यस्था ब्रह्मपाशवलम्बिका ।
पीठेश्वर्यो महाघोरा नर्तयप्ति मुहुर्मुहुः ॥ —स्फुट

105. तदियत्पर्यन्तं यज्मातृकायास्तत्वं तदैव ककारसकारः प्रत्याहार अनुत्तर विसर्ग संघट्ट सारेण कूटबीजेन प्रदर्शितमन्ते

—शिव सूत्र विमर्श 2/7

106. प्रतिवर्णं विभेदेन शतार्धं किरणोज्जवला —मा० वि० 3/11

107. नादि—फान्तताया मालिन्या विजयेन सर्वोत्कर्षेण उत्तरति सर्वं स्रोतोभ्यः प्लवते सारभूतत्वात् सर्वाशास्त्राणाम् ॥

तं० वि० 1/17

108. अवर्गं प्रथमो देवि वशिनी तत्र देवता ।
तत्परस्तु कवगो यस्तत्र कामेश्वरी स्थिथा ॥
मोदिनी तु चवर्गस्था टवर्गे विमला स्मृता ।
अरूणा तु तवर्गस्था पचर्गे जयिनी तथा ।
सर्वेश्वरी यवर्गे तु शवर्गे कौलिनी ति च ॥

वामेकेश्वरी मतम् 1/60-62

109. सर्वे मन्त्रात्मका वर्णा—
स्ते च शक्त्यात्मकाः प्रिये । स्प० का० पृ० 115

110. "मनु अवबोधने" तृ पालने" इत्येताभ्यां निरुकततया निर्वचनीय त्वेन निर्णीततया उच्यते —स्प० का० पृ० 113

111. मन्त्राणां जीवभूता तु या स्मृता शक्तिरव्या ।
तया हीना वरारोहे निष्फलाः शरदभ्रवत् ॥ स्प० का० पृ 116

112. (क) साऽत्र कुण्डलिनी बीजं जीवभूता जगत्यपि ।
तज्जं ध्रवेच्छोन्मेषारव्यं त्रिकं वर्णास्ततः पुनः तं० 3/220

(ख) सा पारमेश्वरी सविन्मात्ररूपा विसर्ग शक्ति रेव गर्भीकृत-निखिल विश्वत्वात् कुण्डलिनी शब्दव्य पदेश्या—तं० वि० 3/220

113. या सा कुण्डलिनी साऽत्र जगद्योनिः प्रकीर्तिता ।
तुटिरूपा तु सा ज्ञेया जीवभूता जगत्यपि ॥
बीजरूपा समाख्याता चित्रूपापि प्रकीर्तिता ॥ तदैव

114. अकुलं शिव इत्युक्तं कुलं शक्ति प्रकीर्तिता ।
कुलाकुलानुसन्धानान्निपुणाः कौलिका प्रिये ॥ कुलार्णव तन्त्र 17/27

115. योगिनां हृदयाम्भोजे नृत्यन्ती नित्यमन्जसा ।

आधारे सर्वभूतानां स्पुरन्ती विद्युदाकृतिः ॥ शारदा तिलक 1/53

116. वही ।

117. तडित्कोटिप्रख्यां स्वरुचि जित कालानकरुचिम् की —शारदा तिलक पदर्थादर्श नाम की टीका से उद्धृत

118. शंखावर्त क्रमाद्देवी सर्वमावृत्य तिषठति ।
कुण्डलीभूत सर्पाणामंगश्रियमुपेयुषी ॥ —शारदा तिलक 1/54

119. यद्यपि लिंगत्रयवाच्या तथापि तूर्णमेवाचलभक्तजन समस्ताकांक्षा कल्पवल्ली परशक्ति शब्द वाच्येति । अतएव शुभ रमणीया । यदाहुराचार्याः पुन्नपुंसकयोस्तुलयाऽप्यंगनासु विशिष्वते इति । तदैव

120. सर्वत्रावस्थिता ह्येषा कामिनीषु विशेषतः ।
प्रकाशते ततस्तासामिति वृति न कारयेत् ॥ तदैव

121. सर्व देवमयी देवी सर्वमन्त्रमयी शिवा ।
सर्वतत्वमयी साक्षात् सूक्ष्मात् सूक्ष्मतरा विभुः ॥
त्रिधामजननी देवी शब्दब्रह्मस्वरूपिणी ॥ शा० ति० 1/55-56

122. (क) कलासप्तदशी तस्मादमृताकाररूपिणी ।
परापरा स्वरूपरूप बिन्दु गत्या विसर्पिता ॥ तं० 3/138

(ख) अन्तःकरण प्रभृतीनां षोडशानामपि कलानामाप्यायकारित्वात् नित्योदितत्वेन च अनस्तमित रूप त्वात् अमृताकाररूपिणी येयं चिन्मात्रस्वभावा कौलिकीति, परेति एवमादि शब्दव्यय-देश्या······अमाख्या सप्तदशी कला —तं० वि० 3/138

123. आत्मस्थानं किमाख्यातम्, इति भगवत्या पृष्टे "कुण्डल्याख्या तु सा ज्ञेया सर्वाध्वोपरिवर्तिनी······भगवतोक्तम् —तदैव

124. प्रमातृ प्रमाण प्रमेयात्मनां वस्तूनां अनतिरेकेऽपि अतिरिक्तत्वेन प्रकाश्यम् —तदैव

125. सैव पुनर्विसर्गेण बहिर्भावोन्मुख्येन विरहिता सती, प्रसुप्त भुजगाकारत्वात् स्वात्ममात्र विश्रान्ता शक्ति कुण्डलिनी —तं० वि० तदैव

126. प्रकाश्यं सर्ववस्तूनां विसर्गरहिता तु सा ।
शक्तिकुण्डलिका चैव प्राण कुण्डलिका तथा ॥ तं० 3/139

127. विसर्ग प्रान्त देशे तु परा कुण्डलिनीति च ।
शिव व्योमेति परमं ब्रह्मात्मस्थानमुच्यते ॥ तं० 3/140

128. यदि त्रिलोकी गणनापरा स्यात् तस्याः समाप्तिर्यदि नायुषः स्यात् ।
पारेपराध्यं गणना यदि स्यात् गणेय निश्शेष गुणोऽपि स स्यात् ॥

129. ययेदं शिवादि धरण्यन्तम्, अविकल्पय संविन्मात्ररूपतया बिभर्ति च पश्यति भासयति च परमेश्वरः सास्य श्री पराशक्तिः
तंत्रसार आ० 4

130. नौमि चित्प्रतिभां देवीं परां भैरवयोगिनीम् ।
मातृमान प्रमेयांशशूलाम्बुज कृतास्पदाम् ॥ तं० 1/2

131. यया परस्पर विविक्तात्मना भेदेनैव सास्य श्री मदपराशक्ति —तदैव

132. एतत् त्रिविधं यया धारणमात्मन्येव क्रोडी कारेण अनुसन्धानात्मना ग्रसते सास्य भगवती श्री परैव श्रीमन्मातृसद्भाव काल कर्षिण्यादि शब्दान्तर-निरुक्ता —तदैव

133. सृष्टो स्थितौ संहारे च इति द्वादश भवन्ति --तदैव

134. (क) कलनं च गतिः क्षेपो ज्ञानं गणनं भोगीकरण शब्दनं स्वात्मलयी करणं च —तदैव
(ख) कल शब्दे कल किल बिल क्षेपे कल संख्याते कल गतौ इति धात्वर्था नुगमात् क्रमणे कलयन्ति, परामृशन्ति, क्षिपन्ति, सृजन्ति, संहरन्ति च गणयन्ति जानते चेति काव्यः
—तंन्त्रालोक विवेक 3/252

135. संवित पूर्वं अन्तरेव भावं कलयति तंत्रसार आ० 4

136. ततो बहिरपि स्फुटतया कलयति —तदैव

137. तत्रैव शक्तिमयतां गृहीत्वा ततस्तमेव भावं अन्तरूपसंजिहीर्षया कलपति —तदैव

138. ततश्च तदुपसंहारविघ्नभूतां शंकां निर्मिनाति च ग्रसते च —तदैव

139. ग्रस्तशंकाशं भावभाग आत्मनि उपसंहारेण कलपति —तदैव

140. तत् उपसंहर्तृत्वं ममेदं रूपमित्यपि स्वभावमेव कलपति —तदैव

141. तत उपसंहर्तृस्वभावकलने कस्यचिद्भावस्य वासनात्मना अवस्थिति कस्यचित्तु संविन्मात्रावशेषतां कलयति —तदैव

142. ततः स्वरूपकलनानान्तरीयत्वेनैव करणचक्रं कलपति —तदैव

143. तत करणेश्वरमपि कलपति —तदैव

144. ततः कलिपतं मायीयं प्रमातृरूपमपि प्रमातृरूपमपि कलपति —तदैव

145. संकोचत्यागोन्मुख विकास ग्रहणरसिकमपि प्रमातारं कलपति —तदैव

146. ततो विकसितमपि रूपं कलपति । —तदैव

147. बहिरपि मास कलाराश्यादि क्रमेण अन्नतो वा घटपटादि क्रमेणापि भासमानाः चक्रेश्वरस्य स्वातन्त्र्यं पुष्णत्यः श्री काली शब्द वाच्याः ।
तदैव

148. (क) तस्य शक्तय एवेतास्तिस्रो भान्ति परादिकाः ।
सृष्टौ, स्थितौ, लये, तुर्ये तेनैता द्वादशोदिताः ॥
तन्त्रालोक 1/107

(ख) सृष्टौ, स्थितौ, लये, संहारे, तुर्ये अनाख्ये च भान्ति—सर्वे सर्वात्मकेन रूपेय स्फरन्ति इत्येकैकस्याः चापूरूपयेण श्री सृष्टिकाल्या वात्मकतया द्वादश धोदयः तं० वि० 1/107

149. शिवतत्वोर्ध्वतः शक्तिः परा सा समनाहूया । तं० 8/400

150. सुषुम्नोर्ध्वे ब्रह्मबिल संज्ञया वरणं त्रिहक् ।
तत्र ब्रह्मा सितः शलो पन्चास्य शशिशेखरः ॥ तं० 8/394

151, तस्योत्सगे परा देवी ब्राह्माणी मोक्षमार्गगा ।
रोध्री दात्री च मोक्ष्स्य तां भित्वा चोर्ध्वकुण्डली ॥ तं० 8/395

152. शक्तिः सुषाहिसदृशी सा विश्वाधार उच्चते । तं० 8/396

153. मध्यतो व्यापिनी तस्यां व्यापीशो व्यापिनी धरः ।
शक्तितत्वमिदं यस्य प्रपन्चो यं धरान्तकः ॥ तं० 8/397

154. शिवतत्वोर्ध्वतः शक्ति परा सा समनाह्वया ।
सर्वेषां कारणानां सा कर्तृभूता व्यवस्थिता ॥ तं० 9/400

155. बिभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समाधिष्ठिता ।
तदारुढः शिवः कृत्यपन्चकं कुरुते प्रभः ॥
समना करणं तस्य हेतुकर्तुर्महेशितुः ॥ 8/401-402

156. अनाश्रितं तु व्यापारे निमित्तं हेतुरुच्यते —तं० 8/402

157. अपेक्षणीयस्यैवाभावान् अस्यैव तावत् पारमार्थिकं शुद्ध कर्तृत्वम्
—विवेक 8/402

158. एवं वै शिवतत्वं तु कथितं तव सुव्रतु ।
शोधयित्वा ततश्चोर्ध्वं शक्तिश्चैव परा स्मृता ॥
समना नाम सा ज्ञेया······विवेक 8/399 में उद्धृत

159. हेयाध्वानमधः कुर्वन् रेचयेतं वरानने ।
यावत्मा समना शक्तिस्तदूर्ध्वं चोन्मना स्मृता ॥
उन्मन्यन्ते परः शिवः —तदैव

160. उर्ध्वमुन्मनसो यश्च तत्र कालो न विद्यते ।
न कल्पः कल्पते काश्चिन्निष्कलः कालवर्जितः ॥ तदैव

161. समना उन्मना चैव प्रक्रियाण्डैर्युता प्रिये ॥ तदैव

162. व्यापिनी व्योमरूपा चाऽनन्ताऽनाथा त्वनाश्रिता —तदैव

163, शक्ति स्वकालविलये व्यापिन्यां लीयते पुनः

व्यापिन्यां तदि्दवारात्रं लीयते साऽप्यानाश्रिते ।

....

सोऽपि याति लयं साम्यंसञ्ज्ञे सामनसे पदे ॥ तंत्रालोक 6/169

164. परामृतरसापायस्तस्य यः प्रत्ययोद्भवः ।
तेनास्वतन्त्रतामेति स च तन्मात्रगोचरः ॥ स्पन्दकारिका 3/46

165. स्वरूपावरणे चास्य शक्तयः सततोत्थिताः ।
यतः शब्दानुवेधेन न विना प्रत्ययोद्भवः ॥ स्प० का० 3/47

166. सेयं क्रियात्मिका शक्तिः शिवस्य पशुवर्तिनी ।
बन्धयित्री स्वमार्गस्था ज्ञाता सिद्ध्युपपादिका ॥
स्प० का० 3/48

167. नमो देवि महाविद्ये सृष्टि स्थित्यन्तकारिणी ।
नमः कमलपत्राप्सि सर्वाधारे नमोऽस्तु ते ॥
देवी भागवत 10/13/87

168. तासामेकपि ज्ञात्वा सिद्धिमाप्नाति साधकः—
दश महाविद्या मीमांसा, पृ० 17

169. काली तारा च लोकेशी कमला भुवनेश्वरी ।
छिन्नमस्ता षोडशी च सुन्दरी बगलामुखी ।
धूमावती मातंगी नामान्यासामिमानि वै ॥
देवी भागवत् 8/62-63

170. ततो देवी शरीरात्त निर्गतास्तीव्र शक्तयः ।
कालिका तारिणी बाला त्रिपुरा भैरवी रमा ॥
बगला चैव मातंगी तथा त्रिपुर सुन्दरी ।
सिन्नमस्ता गुह्यकाली दशसहस्र बाहुका ॥
देवी भागवत् 7/28/15-16

171. तिस्रः पुरस्त्रिपथा विश्वचर्षणी अत्राकथा अक्षराः सन्निविष्टाः ।
अधिष्ठायैना अजरा पुराणी महत्तरा महिमा देवतानाम् ॥
त्रिपुरोपनिषद्

172. यस्मादन्यो न परोऽस्ति जातो य आवभूव भुवनानि विश्वा ।
प्रजापतिः प्रजया संविदानः त्रीणि ज्योतींषि स च ते स षोड़शी ॥
यजुर्वेद

173. बन्धनाद् गमनाच्चैव लापनाच्चेति के त्रिधा ।
साम्मुख्यं भजते देवी तेनोक्ता बगतामुखी । स्फुट

174. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुजा श्रुतेन ।

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्याम ॥

श्वेताश्वतर

175. स्वातन्त्र्यसारश्चासौ परमशिवः शक्तेःपातयिता इति निरपेक्ष एव शक्तिपातो यः स्वरूप प्रथाफलः —तन्त्रसार आ० 11

176. तस्यैव हि प्रसादेन भक्तिरुत्पद्यते नृणाम् ॥

मा० वि० वा० 1/698

177. इत्थं पुराणशास्त्रादौ शक्तिः सा पारमेश्वरी ।
निरपेक्षैव कथिता सापेक्षत्वे ह्यनीशता ॥

मालिनी विजयवार्तिक 1/698

178. अनिमित्तस्तथा चायं शक्तिपातो महेशितुः ।
तेन रागक्षवात् कर्मसाम्यात् सुकृतगौरवात ॥
मलपाकात् सुहृद्योगात् भक्ते भर्गाच्च सेवनात् ।
अभ्यासाद वासनोद्भेदात् संस्कार पारिपाकतः ॥
मिथ्याज्ञानक्षयात् कर्मसन्न्यासात् काम्यविच्युतेः ।
साम्याच्चितस्य सा शक्तिःपततीति यदुच्यते ॥

मा० वि० वा० 1/688-692

179. तदसन्नतु तत्रापि निमित्तान्तर मार्गणात् ।
अनवस्थाऽति प्रसंगसम्भवाभाव योगतः ।
अन्योन्याश्रय नि श्रेणि चक्रकाद्युपपाततः ॥ तदैव

180. तत्र केचिदाहुः ज्ञानाभावात् अज्ञानमूलः संसारः तदपगमे ज्ञानोदयात् शक्तिपात इति तेषां सम्यक् ज्ञानोदय एवं किंकृत इति वाच्यम् कर्मजन्यत्वे कर्मफलवत् भोग्यत्व प्रसंगे भोगिनी च शक्तिपाताभ्युगतौ अतिप्रसंगः ।
ईश्वरेच्छा निमित्तत्वे तु ज्ञानोदयस्य अन्योन्याश्रयता वैयर्थ्य च ।

तंत्रसार आ० 11

181. विरुद्धयोः कर्मणोः समबलयोः अन्योन्य प्रतिबन्धे कर्मसाम्यम् ततः शक्तिपात इति चेत्, न क्रमिकत्वे विरोधायोगात् विरोधेऽपि अन्यस्य अविरुद्धस्य कर्मणो भोगदातप्रसंगात्, अविरुद्ध कर्माप्रवृत्तौ तदैव देहपातप्रसंगात् —तदैव

182. जात्यायुष्प्रदं कर्म न प्रतिबध्यते भोगप्रदमेव तु प्रतिबध्यते इति चेत, कुतः तत्कर्म सद्भावे यदि शक्तिःपतेत् तर्हि सा भोग प्रदात् किं विभियात् —तदैव

183. अथ मलपरिपाके शक्तिपातः सेऽपि किंस्वरूपः ?

किं च तस्य निमित्तम ? तदैव

184. एतेन वैराग्यं धर्मविशेषो विवेकः सत्सेवा सत्प्राप्ति देवपूजा
इत्यादि हेतुः प्रत्युक्तः तदैव

185. परमेश्वरः स्वात्मप्रच्छादनक्रीडया पशु पुदगलोऽणुः सम्पन्न······
झटिति वा क्रमेण वा समाश्रयन् शक्तिपातपात्रं अणुरुच्यते —तदैव

186. न च वाक्यं कस्मात् कस्मिंश्चिदेव पुंसि शक्तिपात इति,
स एव परमेश्वरः तथा भाति, इति सतत्ले कोऽसौ पुमान्
ताम यदुद्देशेन विषयकृता चोदनेयम् —तदैव

187. स चायं शक्तिपातो नवधा—तीव्र-मध्य-मन्दस्य
उत्कर्षं माध्यस्थ्य निकर्षैः पुनस्त्रैविध्यात् ।। तदैव

188. उत्कृष्ट तीव्रात् तदैव देहपाते परमेशता —तदैव

189. मध्यतीव्रात् शास्त्राचार्यानपेक्षिणः स्व प्रत्ययस्य प्रातिभज्ञानोदयः,
यदुदये बाह्यसंस्कारं विनैव भोगापवर्गदः प्रातिभो गुरुरित्युच्यते ।।
तदैव

190. मन्दतीव्रात् शक्तिपातात् सद्गुरु विषया पिपासा भवति, असदगुरु-
विषयायां तु तिरोभाव एव । असदगुनेतस्तु सद्गुरुगमनं शक्तिपातादेव
—तदैव

191. उत्कृष्टमध्यात् शक्तिपातात् कृतदीक्षाकोऽपि स्वात्मनः शिवतायां न
तथा दृढप्रतिपत्तिः भवति, प्रतिपत्तिपरिपाकक्रमेण तु देहान्ते शिव एव ।
तदैव

192. मध्यमध्यात्तु शिवतोत्सुकोऽपि भोगप्रेप्सुर्भवति । इति, तथैव दीक्षायां
ज्ञानभाजनम् स च योगाभ्यासलब्धं अनेनैव देहेन भोगं भुक्त्वा
देहान्ते शिव एव —तैदैव

193. निकृष्टमध्यात्तु देहान्तरेण भोगं भुक्तव शिवत्वमिति —तदैव

194. शिवशक्त्यधिष्ठानं तु सर्वत्र इत्युक्तम् —तदैव

195. तदुपासने यतनीयं शिष्येण न तस्यागे । एवं अनुग्रहनिमित्तं
शक्तिपातो निरपेक्ष एव·······तदैव

4

शुद्ध-सृष्टि--निरूपण

शुद्ध-अध्वा

शुद्ध-विद्या-तत्व के विवेचन के प्रसंग में शुद्ध-अध्वा तथा अशुद्ध अध्वा शब्दों का उल्लेख हुआ है। त्रिक-शास्त्र में इन शब्दों का एक विशिष्ट अभिप्राय है। अध्वा शब्द क्रम का वाचक है। शुद्ध का अर्थ है—माया के संस्पर्श से सर्वथा रहित और अशुद्ध का अर्थ है=माया संसृष्ट। शुद्ध अध्वा से तात्पर्य यह हुआ कि जिन तत्वों की सृष्टि में माया का अत्यल्प भी उपयोग नही होता वे तत्व शुद्ध अध्वा या शुद्ध-सृष्टि कहलाते हैं और जिन तत्वों की उत्पत्ति में माया कारण है वे अशुद्ध अध्वा या अशुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत माने जाते हैं। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या इन पाँच तत्वों को शुद्ध अध्वा या शुद्ध सृष्टि कहा जाता है।[1] तथा माया से लेकर पृथिवी-पर्यन्त इकत्तीस तत्व अशुद्ध-अध्वा या अशुद्ध सृष्टि मानी जाती है।

शिव से लेकर शुद्ध-विद्या-तत्व तक की सृष्टि का कार्य परमेश्वर किसी अन्य को नहीं सौंपते। वे स्वयम् इस सृष्टि के कर्त्ता हैं। परमेश्वर की साक्षात् इच्छा ही इन पंच तत्यों की कर्त्री है। परमेश्वर की साक्षात् स्वातन्त्र्यात्मक इच्छा से प्रसूत होने के कारण ही वास्तव में यह सृष्टि शुद्ध अध्वा नाम से परिभाषित की जाती है। दूसरी और माया से लेकर क्षिति-पर्यन्त चौंतीस तत्वों की सृष्टि महामाया में अवतीर्ण भगवान् अनन्तनाथ करते हैं। इन तत्वों में भोगलोकिका समाविष्ट रहती है इस कारण यह सृष्टि अशुद्ध-अध्वा या अशुद्ध सृष्टि कहलाती है।[2] परमशिव चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और इन पाँच शक्तियों के कारण पंचतनु या पंचानन कहलाते

हैं। अपनी एक एक शक्ति से क्रमशः पूर्वोक्त पाँच तत्वों का विकास पर-मेश्वर स्वयम् करते हैं।अर्थात् चित् शक्ति से शिव का, आनन्द से शक्ति का, इच्छा से सदाशिव तत्व का, ज्ञान से ईश्वर का और क्रियाशक्ति से शुद्ध विद्या तत्त्र का विकास होता है। उक्त पाँच शक्तियाँ परमशिव की स्व-रूपभुता हैं। इनसे निर्मित होने के कारण ही शुद्ध अध्वा अन्वर्थता को प्राप्त करता है।[3] यद्यिप शुद्ध और अशुद्ध दोनों सृष्टियों के कर्ता शिव ही हैं किन्तु शुद्ध अध्वा में उसकी इच्छा साक्षात् हेतु है और अशुद्ध अध्वा में वह परम्परया कारण है। प्रथम पाँच तत्वों में तो परमेश्वर का शुद्ध स्वातन्त्र्य ही उस वैचित्र्य से प्रस्फुरित होता है। इसलिए यह शुद्ध अध्वा (Pure order) कहलाता है।[4] भाव यह है कि चित् आदि पंच शक्तियाँ परमशिव में तो एकीभूत होकर स्थित थी, किन्तु परमेश्वर जब अपने स्वातन्त्र्य के वश होकर उन शक्तियों को विभक्तभाव में स्थापित करना चाहता है वे शक्तियाँ शिवतत्व, शक्तितत्व, सदाशिव तत्त्र, ईश्वर तत्व और शुद्ध विद्या तत्व के रूप में स्फुरित हो जाती हैं।

त्रिक शास्त्र के अनुसार वास्तव में शिव ही सर्वत्र कर्ता हैं। जीव में जो थोड़ा बहुत कर्तृत्व और स्वातन्त्र्य लोकव्यवहार में दृष्टिगत होता है वह भी उसकी इच्छा की प्रेरणा से और उसी की नियति-शक्ति के नियम के अनुसार उसे मिला हुआ है। आखिर जीव भी तो उसी का रूप है। इस-लिए जहाँ जहाँ स्वातन्त्र्य और कर्तृत्व है वह भी उसी का अंश है। इस लिए जीव-भाव में भी वस्तुतः शिव ही कर्ता है। शिव ने अपनी स्वतन्त्र कर्तृत्वकशक्ति का किंचित् अंश जीव को भी दे रखा है। इसी कारण उसे अपनी परिमित स्वतन्त्रता और कर्तृत्व का अभिमान बना रहता है। इसी प्रकार परमेश्वर ने कुछ अन्य अधिकारी शरीरों को भी अपनी परमेश्वरता पर्याप्त अंश दे रखे हैं जिनके अभिमान से वे अधिकारी शरीर भी पारमेश्वरी लीला के कार्यों को निभाते रहते हैं। इन्द्रादि विभिन्न देवता तथा ब्रह्मा, विष्णु और महेश भी उसी की परमेश्वरता के अंश से ईश्वर कहलाते हैं।

उक्त सिद्धान्त के अनुसार माया से लेकर पृथ्वी पर्यन्त इकत्तीस अशुद्ध तत्वों की सृष्टि भगवान् अनन्तनाथ करते हैं। शिव ही शुद्ध-विद्या-तत्व में अवतीर्ण होकर भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं। किन्तु शिव-तत्व से लेकर शुद्ध-विद्या तत्व की सृष्टि का कार्य स्वयम् परमेश्वर ही करते हैं। यहाँ तक उनका शुद्ध स्वातन्त्र्य ही साक्षात रूप में विजृम्भमाण होता है। यहाँ तक की सृष्टि तुर्या दशा में ही ठहरी होती है। शुद्ध-अध्वा में रहने वाले प्राणी अपने को शरीर आदि धर्म वाला नहीं समझते अपितु शुद्ध

संवित् रूप ही समझते हैं। इस कारण यह सृष्टि शुद्ध अध्वा कहलाती है। इस शुद्ध अध्वा के कार्य को तथा इसके संहार को परमेश्वर अपने परिपूर्ण स्वातन्त्र्य की लीला के विलास से, अपने स्वभावभूत इच्छा-स्पन्दन ही के द्वारा स्वयमेव करते रहते हैं। उनके अन्दर चित् आनन्द, इच्छा और क्रिया के स्पन्दन की जो लहरें सतत नृत्य करती रहती हैं, उन्हीं के प्रभाव से शुद्ध-अध्वा के पाँच तत्वों का, पांच तत्वेश्वरों का और उनमें रहने वाले पाँच प्राणियों का उदय और लय सदैव होता रहता है। इन पाँच तत्वों की सृष्टि एक बार होकर ही समाप्त हो जाती हो ऐसी बात नहीं अपितु क्षण क्षण में अन्नत अन्नत रूपों में ऐसा होता रहता है। परमेश्वर की आनन्दमय चिद्पता के भीतर उसी के स्वातन्त्र्य-विलास से एक साथ ही सृष्टि और प्रलय निरन्तर चलता ही रहता है, कभी रुकता नहीं।

परमेश्वर के ऐश्वर्य की उक्त अनुभूति सिद्ध पुरुषों को जब कभी होती हैं तब उन्हें परमशिव के साथ अपने अभेधभाव का साक्षात्कार होता है और साथ ही परमेश्वरता के परिपूर्ण आनन्द का चमत्कार अंशतः अनुभव में आ जाता है।[5] परमेश्वरता की यह अनुभूति एक अत्युत्कृष्ट भूमिका की अनुभूति है। त्रिक दर्शन के अनुसार परमेश्वरता की अनुभूति ही यह भूमिका अद्वैत-वेदान्त की निरोध-समाधि से कहीं अधिक उच्चकोटि की भूमिका है। अद्वैत-वेदान्त की निरोध-समाधि तो दुःखाभावरूप आनन्द से युक्त होती है। उसमें तो केवल शून्यप्राय, सर्वंशा शान्त प्रकाशरूपता के अद्वैतभाव का साक्षात्कार हुआ करता है। किन्तु त्रिक दर्शन की इस परमेश्वरता की अनुभूति की दशा में परमशिव के असीम और परिपूर्ण भावात्मक आनन्द के अलौकिक चम्तकार का साक्षात्कार हुआ करता है। इसमें परमेश्वर की केवल प्रकाशरूपता का नहीं अपितु प्रकाश और विमर्श के सामरस्य के पराद्वैतभाव का साक्षात्कार हुआ करता है। उस समय वह साक्षात् चक्रेश्वर हो जाता है।[6] शिव-तुल्य हो जाता है।[7] अतः यह भूमिका आचार्य गौडपाद द्वार वर्णित निरोध-समाधि की अवस्था से उत्कृष्ट है।[8] अद्वैत वेदान्त और त्रिक दर्शन में यह भी एक बड़ा भेद है।

निष्कर्ष यह हुआ कि साक्षात् परमेश्वर की इच्छा[9] से प्रादुर्भूत होने के कारण उक्त तत्व-पञ्चक शुद्धध्वा कहलाता है तथा भगवान् अनन्तनाथ के द्वारा माया की सहायता से सृष्ट शेष तत्व-समूह अशुद्धाध्वा कहलाता है।

सदाशिव तत्व

परम शिवरूपी चैतन्य समुद्र में उन्हीं की इच्छा से होने वाले उच्छलनात्मक स्पन्दन से प्रादुर्भूत तीसरे तत्व का नाम सदाशिव तत्व है। सदाशिव

तत्व का स्वरूप क्या है ? इसे समझ लेना आवश्यक है। अन्यथा शिवतत्व और सदाशिव तत्व में समानता की भ्रान्ति बनी रहेगी। सदाशिवता परमेश्वर की भेदाभेद वाली भूमिका की अवस्था का नाम है। भेदाभेद दशा का अभिप्राय यह है कि इस अवस्था में प्रमातृ-अंश में प्रमेयता का धीमा सा आभास होने लगता है। अर्थात् अहन्ता में इदन्ता की प्रतीति अत्यन्त सूक्ष्म और स्पष्ट रूप में होने लगती है। सदाशिव दशा में जगत् की सद्रूप में अवस्थिति का पता चलता है। अर्थात् यह पता चल जाता है कि शिव में जगत् की सत्ता है। शिव-तत्व में जगत् की प्रतीति नहीं होती, यह प्रतीति तो सदाशिव अवस्था में ही होती है। शिव तत्व तो एक बीज की दशा है। बीज में सम्पूर्ण वृक्ष रहता अवश्य है किन्तु वह बीजरूप में ही रहता है, वृक्षरूप में नहीं। वृक्ष की सत्ता का ज्ञान तो उसमें तब होता है जब बीज में स्पन्दन होकर उसका रूप बदलना प्रारम्भ होता है। इसी प्रकार जगत् की सत्ता का ज्ञान शिव के सदाशिव अवस्था पर अवतरित होने पर ही होता है। इसलिए यह शिव न कहलाकर सदाशिव तत्व की अवस्था कहलाती है। अपने अन्दर जगत् को सदात्मना आच्छादित कर स्थित रहने के कारण ही यह सदाशिव कहलाता है। इस में इदमंश अस्फुट रहता है। केवल इदंमश को बाहर अवभासित करने की इच्छा ही प्रधान रहती है।[10] प्रमेयता की बड़ी हलकी सी कल्पना वैसी ही हुआ करती है जैसी मनोराज्य में हुआ करती है।

यदि हम "सदाशिव" शब्द की व्युत्पति पर ध्यान दें तो इस तत्व का रहस्य बड़ी सरलता से हमारी समझ में आ सकता है। सद् शब्द की तृतीया विभक्ति के एक वचन में "सदा" रूप बनता है। तो सदा-शिव का अर्थ हुआ कि परमेश्वर का जो रूप सद जगत् के कारण शिव कल्याणकारी हो वह सदाशिव कहलाता है। इस अवस्था में चुंकि जगत् का ज्ञान और उसे बाहर अभिव्यक्त करने की इच्छा प्रस्फुटित होने लगती है अतः उसका सदाशिव नाम सार्थक होता है। सत् शब्द के तृतीयान्त "सदा" रूप में शंका नहीं करनी चाहिए। सत् की तृतीया विभक्ति में "सता" रूप बनता है किन्तु वहाँ "सत्" शब्द विशेषण के रूप में स्वीकार किया गया है, जैसे सन्नाम सन् शब्द सज्जनः आदि। किन्तु "सदाशिव" में सत् शब्द विशेषणवाची नहीं है अपितु जगत् के पर्यायरूप विशेष्यवाचक के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अतः तृतीया विभक्ति में "सता" और "सदा" दोनों शब्द निष्पन्न हो सकते हैं।

यदि "सदाशिव" शब्द की इस व्युत्पति में मनीषियों की अरुचि हो

तो मैं उनकी मान्यता का आदर करते हुए दूसरी व्युत्पति देता हूँ। सत्-आ—शिव, ऐसा विग्रह करके जो सत् हो और समन्तात् शिव भी हो ऐसा अर्थ किया जा सकता है। चूंकि जगत् की सत्ता का ज्ञान और उसकी वहिः अवभासन की इच्छा सदाशिव अवस्था में अंकुरित हो चुकी होती है, इसलिए वह सत् और चूंकि इस दशा में वह अनुग्रह की क्रिया सुचारु रूप से करता है इसलिए शिव भी है। इन्हीं दोनों तथ्यों को षट्त्रिंशतत्व सन्दोह की इस कारिका में उपनिबद्ध किया गया है :—

स्वेच्छाशक्तयद्‌गीर्णं जगदात्मतया समाच्छाद्य ।
निवसन् स एव निखिलानुग्रहनिरतः सदाशिवोऽभिहितः ॥

अर्थात् वह परमशिव जब अपनी स्वातन्त्र्यरूपा इच्छा शक्ति से, स्वयम् अपने ही स्वरूप वाले जगत् को, अपते ही अन्दर सत् नामक स्थिति से आच्छादित करके रहता है तब वह सदाशिव कहलाता है। बाहर प्रकाशित होने वाले चराचर जगत् पर अनुग्रह (Divine Grace) करने की इच्छा भी इसी अवस्था में जन्म लेती है। इस कारण ही वह सदाशिव (Always Shiva) कहलाता है।

इस कारिका में "जगदात्मतया समाच्छाद्य" और निखिलानुग्रह-निरत" ये दो पद विशेषरूप से ध्यान देने योग्य हैं। इन्हीं में इस तत्व का रहस्य निहित है। यहाँ "आत्मतया" का अर्थ है—सद्‌रूपेण। यह पद सदाशिव तत्व के प्रथम अर्धभाग को सार्थकता प्रदान करता है। "निखिलानुग्रह निरतः" पद द्वितीय भाग की व्याख्या प्रस्तुत करता है।

परमशिव के पञ्चविध कृत्यों का उल्लेख अनेक स्थानों पर किया जा चुका है। सदाशिव तत्व के स्वरूप को जानने के लिए उन्हें पुनः स्मरण कर लेना आवश्यक है। ये पाँच कृत्य इस प्रकार हैं :

1—सृष्टि (Creation)
2—स्थिति (Sustenance)
3—संहार (Absorption)
4—निग्रह (Self limitation)
5—अनुग्रह (Divin Grace)

परमेश्वर इन कृत्यों को सदैव करता रहता है इनसे कभी विरत नहीं रहता।[11] किन्तु वह इन कृत्यों का सम्पादन अपने विश्वोत्तीर्ण रूप स्तर से नहीं करता। भिन्न भिन्न भूमिकाओं में अवत्तीर्ण होकर ही वह पृथक् पृथक स्तर से पृथक् पृथक् कार्य करता है। त्रिक दर्शन की मान्यता के अनुसार परमेश्वर शुद्ध अन्तःकरण वाले चिद्‌णुओं पर ऐसा अनुग्रह कर

देते हैं कि उनके हृदय में अनायास ही शिवता का समावेश हो जाता है। किन्तु यह समावेश सबको सुलभ्य नहीं है। विज्ञानाकल प्रमाता (Pure Sujects) ही कभी कभी अनुग्रह का पात्र बनते हैं।

उक्त अनुग्रह परमशिव से साक्षात् प्राप्त नहीं किया जाता अपितु सदाशिव के माध्यम से यह प्राप्ति किया जाता है। अनुग्रहकर्ता सदाशिव ही हैं या फिर लोक में सिद्ध पुरुषों के द्वारा भी सदाशिव की प्रेरणा से अनुग्रहक्रिया सम्पादित की जाती है। इसीलिए उक्त कारिका में सदाशिव को निखिलानुग्रनिरत कहा गया है। उक्त कारिका की टिप्पणी में डा० देवव्रत सेन ने भी इसी सत्य को स्वीकार किया।[12]

सदाशिवता एक आन्तरी ज्ञानरूपा दशा है जिसका स्वरूप है—अहमिदम्। अर्थात् मैं ही यह हूँ। यह अभेद में भेद का अवभासन है। प्रधानता अभेद की है। भेद का तो अस्फुट आभास ही होता है। इसी प्रकार इस अवस्था में शक्ति के ज्ञानांश की ही प्रधानता होती है। पूर्णा—हान्तामय चमत्कार ही उस ज्ञान का स्वरूप है। शक्ति का क्रिया-इंश अहन्ता में विश्राम लिया हुआ होता है।

सदाशिव दशा में परमेश्त्रर की लीला का कार्य अधिक नहीं किया जाता है। इनमें तो केवल यह संकेत मिलता हैं कि सृष्टि का बीज विद्य-मान है और उसका बहिर्देश में अवभासन किया जाना है। भगान् सदाशिव तो सदा अपने अहन्ता के प्रकाश में इदम् की धीमी सी झलक का अनुभव करते हुए उसी के चमत्कार में लीन रहते हैं। सृष्टि कार्य से अभी उन्हें कुछ लेना देना नही है। सृष्टि की सदावस्था या सादावस्था का ही इससे संकेत मिलता है।[13] उसका विकास नहीं होता। इसे भेदाभेद की दशा भी इसीलिए कहा जाता है क्योंकि इसमें अहन्ता के प्रवाह में बीच बीच में इदन्ता की भी अस्फुट झलक मिलती रहती है।[14]

शिव, शक्ति और सदाशिव इन तीनों तत्वों में बहुत सूक्ष्म स्वरूप-भेद है। समस्त प्रमाताओं के अन्तर में पुर्णाहन्ता-चमत्कारमय, महाप्रकाश-वयु जो चैतन्य है वह शिवतत्व है।

उस चिद् रूप भगवान् शिव की आनन्दरूपा संवित् ही जब "विश्वं भवामि" इस परामर्श के साथ किंचित् उच्छूनता को प्राप्त होकर समस्त भावों की बीज भूमि बनती है तो यह उसकी शक्त्यवस्था कहलाती है। उसी महाशून्यातिशून्य नाम की शक्तिरूपिण बीजभूमि में परमेंश्वर का जो "अहमिदम्" इस अभेदाभाव के साथ पूर्णाहन्तामय चमत्कार है वह उसकी सदाशिव अवस्था है। इसके आगे के दो तत्व ईश्वर और शुद्ध-विद्या है।

"इदमहम्" की अनुभूति की अवस्था का नाम ईश्वर है तथा "अहम् अहम्" और इदम् इदम्" ऐसा चमत्तकार शुद्ध-विद्या है। इनका स्वरूप आगे बताया जाएगा। इस प्रकार शिव, शक्ति सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध-विद्या यह जगत् के विकास को दिशा में परमेश्वर की शुद्ध आभ्यन्तर क्रमिकता है।[15]

प्रोन्मीलित मात्र चित्रकल्पता

आचार्य राजानक आनन्द ने सदाशिव को प्रोन्मीलित-मात्र-चित्रकल्प-जगत् कहा है।[16] प्रोन्मीलित-मात्र-चित्र-कल्प का अर्थ है कि सदाशिव अवस्था में सदवस्थाक जगत् अकस्मात् दिखाई दिए हुए चित्र के समान होता है। वहाँ उसे "इदम्" से संकेतित तो किया जा सकता है किन्तु उसे "इदम् इदम" या "इदमित्थम्" रूप से अभिहित नहीं किया जा सकता। जैसे गहन अन्धकार में क्षण भर के लिए कोई चित्र उभरे और तुरन्त पुनः विलीन हो जाए तो उसे वहाँ कोई नाम या वैशिष्ट्य नहीं दिया जा सकता। वहाँ उसे केवल "इदम्" ही कहा जा सकता है। चूँकि सदाशिव अवस्था विशुद्ध अवस्था है, कलाओं का मल अभी तक उद्भूत नहीं होता। इसलिए "इदम्" भी अहम्" के रूप में ही वहाँ आभसित होता है। अर्थात् ऐसी प्रतीति होती है कि यह जो प्रमेय सा कुछ चमत्कृत हो रहा है वह शुद्ध-प्रकाशरूप में ही हूँ। "अहमिदम्"=अर्थात् मैं ही यह प्रमेय हूँ, यही प्रोन्मीलित मात्र चित्रकल्प का अभिप्राय है।

अहंरूप जो शुद्ध प्रकाश (Self experience) है वही 'इदम्' के रूप में चमत्कृत होता है, प्रोन्मीलित होता है। इसे प्रन्मीलित न कह कर प्रोन्मीलित-मात्र कहना अधिक सार्थक है, क्योंकि प्रान्मीलन के अतिरिक्त और कुछ तो वहाँ होता ही नहीं। यदि और कुछ भी होता तब तो उसे सदाशिव न कह कर कुछ अन्य नाम दिया जाता। वहाँ सन्मात्र शिव है। इसलिए सत् का केवल "इदम्" से उन्मीलन मात्र होता है। इदम् की स्फुट छवि उभर कर नहीं आती। विश्व की केवल एक धूंधली दृष्टि (hazy view of the universe) ही उस अवस्था में बनती है। उस समय वह शुद्ध जगत् या शुद्ध प्रमातृभाव (Pure Subjective experience) कहलाता है। इसी कारण यह तत्व शुद्ध अध्वा में परिगणित किया गया है। यदि उस सभय "इदम्" अपनी कला के साथ चमत्कृत होता तब तो यह अशुद्ध अध्वा की कोटि में आ जाता।

यहाँ यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सदाशिव तत्व की दशा में जो "अहम्" प्रकाश के भीतर "इदम्" रूप प्रमेय की जो चमत्कृति होती है

वह उसकी कोई विवशता या पराधीनता नहीं है। ऐसा शिव की स्वतन्त्र इच्छा (Divine free will) का स्वभाव है। "अहम्" के अन्दर से ही वह "इदम्" को प्रकट कर देता है और "इदम्" में "अहम्" का रूप देखता है। फिर इदम् को इदम् रूप में और इदम् को तत् रूप में देखना चाहता है। यह सब उसके स्वातन्त्र्य का या इच्छा का ही विलास है।

क्रीडा रसिक : अपनी स्वतन्त्र इच्छा से सदाशिव ऐसा क्यों करते हैं? ऐसा करने में उनका क्या प्रयोजन है? इसका उत्तर देने के लिए आचार्य ने "क्रीडा रसिक" विशेषण स्थापित किया है। सदाशिव क्रीडारसिक (Fond of Divine sport) है। अपनी स्वतन्त्र इच्छा से अपने को अपने से भिन्न देखने में और स्वयम् ही स्वयम् पर अनुग्रह करने में उसे रस आता है। रसिक तो वही हो सकता है जो स्वतन्त्र हो। अस्वतन्त्र को रस की प्राप्ति कहाँ। शिव ठहरा स्वतन्त्र इच्छा का अधिपति। इसलिए वह स्वयम् को ही दुःखों में डालता है और फिर स्वयम् ही स्वयम् पर अनुग्रह करता है। बहिः अवभासन में अथवा स्वयम् को बहुरूप में प्रकाशित (Manifested) करने में उसका स्वातन्त्र्य (Divine freedom) ही एक मात्र कारण है।

सदाशिव तत्व के प्राणी मन्त्र-महेश्वर

सदाशिव तत्व में अनेक प्राणी स्थित होते हैं। उनके अधिष्ठाता भगवान् सदापिव ही हैं। जैसे जीव-तत्व में अनेक जीवत्माएँ स्थित हैं किन्तु उसके अधिष्ठाता हिरण्यगर्भ अद्वैत वेदान्त में स्वीकार किए गए हैं। भगवान् सदाशिव को अपने परिपूर्ण एवं शुद्ध प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप के भीतर ज्ञेयता का क्षीण सा संवेदन होता रहता है।

सदाशिव-तत्व में स्थित प्राणियों को मन्त्र-महेश्वर कहा जाता है।[17] इनका दृष्टि कोण भी भगवान् सदाशिव जैसा ही होता है। ये भी "अहम्" के प्रकाश में "इदम्" की धीमी सी झलक का संवेदन करते हैं। भगवान् सदाशिव और उस तत्व में ठहरे हुए मन्त्र-महेश्वर प्राणी अभेद के आनन्द में ही भेद-प्रतीति को तिरोहित करते हुए आत्मानन्द के अलौकिक चम्तकार की अनुभूति में ही खोये रहते हैं। जगत् की बाह्य लीला का निर्बाह इनके द्वारा नहीं किया जाता। इनकी अभेद-दृष्टि भेद की धीमी सी छाया से युक्त होती है। ये अपने आपको शुद्ध संविद् रूप ही समझते हैं। अपने स्वरूप के विषव में इनको विपरीत ज्ञान नहीं होता, किन्तु ये अपने शुद्ध प्रमातृभाव के प्रकाश के अन्दर प्रमेयभाव की भी धीमी सी झलक धारण करते हैं। प्रमेयता की यह संवेदना शुद्ध-प्रमातृभाव "अहम्" के भीतर

निष्प्रभाव होकर खोयी सी रहती है। उसका आभास नहीं होने पाता।

मन्त्र महेश्वर प्राणी अकल प्राणिवों से निचली कोटि के प्राणी होते हैं। शिवतत्व तथा शक्ति-तत्व में स्थित प्राणी अकल प्राणी होते हैं। अकल का अर्थ है माया-जन्य समस्त कलाओं से रहित। इनका स्वरूप शुद्ध-संवित् ही होता है। ये सदा अभेग-भाव में ही ठहरे रहते हैं और स्वयम् को असीम एवं परिपूर्ण एक संविद् रूप अहम् रूप में ही देखते है। इन्हें भेद की तनिक सी भी प्रतीति नहीं होती। इदन्ता या प्रमेयता का प्ररोह इनमें नहीं हुआ होता। समस्त विश्वप्रपञ्च इनके शुद्ध संविद् रूप प्रमातृभाव में सुतरां लीन होकर रहता है। सदाशिय तत्व में स्थित मन्त्र महेश्वर प्राणियों में प्रमेयभाव का संकेत मिलने लगता हैं।[18] इसलिए ये अकल प्राणियों से अवर माने जाते हैं।

मन्त्र महेश्वर प्राणी निरन्तर शिवभाव में ही समाविष्ट रहते हैं। इनमें प्रमातृभाव अहम् की प्रधानता और प्रमेयभाव इदमंश की अप्रधानता रहती है। अहमंश उद्देशरूप में इदमंश विधेय रूप में आभासित होता है। यहां यह ध्यान रखना चाहिए कि मन्त्र महेश्वर प्राणियों के शरीर और इन्द्रिय आदि नहीं होते। इनका स्वरूप तो केवल शुद्ध संवित् ही होता है। अतः कोई भी बाह्य क्रिया अथवा व्यवहार स्फुटतया इनके द्वारा नहीं किया जाता। इनका व्यवहार केवल इच्छा से चलता है। केवल अन्तःकरण ही इनके पास होता है। समस्त भावचक्र इनके अन्तःकरण से ही वेद्य हो जाता है।[19] इनकी इच्छा अमोध होती है। निचली भूमिकाओं के प्राणी इनकी इच्छा को सफल बनाते हैं। वैसे मन्त्र महेश्वर प्राणी किसी प्रमेय की इच्छा नहीं करते। किन्तु इच्छा जब कभी हो तो वह अनिरुद्ध ही होती है।

निष्कर्ष : निष्कर्ष यह हुआ कि सदाशिव तत्व पूर्ण अभेद की भूमिका न होकर भेदाभेद की भूमिका है। किन्तु भेद की अतेक्षा अभेद की ही इसमें प्रधानता है। शिव बीज है, शक्ति उस बीज का स्पन्दन है और बीज के स्पन्दन का ज्ञान सदाशिव है। सदाशिव तत्व के तत्वेश्वर भगवान् सदाशिव हैं। सदाशिव तत्व में प्रतिष्ठित प्राणी मन्त्रमहेश्वर कहलाते हैं। मन्त्र महेश्वर प्राणियों के अधिष्ठाता भी भगवान् सदाशिव हैं। सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या के प्राणी क्रमशः मन्त्र-महेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्र प्राणी कहलाते हैं। इनको ये नाम दिए जाने का क्या कारण है इस रहस्य पर आगे प्रकाश डाला जाएगा। यहाँ इतना ही जान लेना आवश्यक है कि इन प्राणियों के उत्कृष्टतम, उत्कृष्तर, उत्कृष्ट और निकृष्ट कोटि में रखने के लिए इनको यह नाम दिया गया है। अकल प्राणी सर्वोत्कृष्ट हैं। मन्त्र-

महेश्वर उनसे अवर कोटि के प्राणी हैं। मन्त्रेश्वर उनसे भी भिम्न हैं और मन्त्र प्राणी शुद्ध अध्वा में सबसे नीचे की कोटि के प्राणी हैं। इसके पश्चात् सकल प्राणी सबसे अधम कोटि के प्राणी होते हैं।

ईश्वर तत्व निरूपण

विकास के क्रम में सदाशिव तत्व के एक चरण आगे की गति ईश्वरावस्था है। त्रिक दर्शन का ईश्वरतत्व अन्य दर्शनों के ईश्वर से सर्वथा विलक्षण स्वरूप वाला है। सदाशिव अवस्था में इदमंश की चमत्कृति अस्फुट थी। वह शुद्ध संविद्रूप परमेश्वर जब इदंरूप प्रमेय को स्फुट रूप में देखने लगता है तब वह ईश्वर कहलाता है।[20] सदाशिव-तत्व में तो अहम् को इदम् रूप में देखा गया था किन्तु ईश्वरावस्था में "इदम्" को "अहम्" के रूप में देखा जाता है। "इदमहम्" यह प्रमेय मैं हूँ ऐसी संवेदना ईश्वरतत्व की दशा है।[21] इस दशा में इदमंश स्पष्ट रूप से अहम् के प्रकाश में चमकने लगता है और अहंमश को फीक सा करने लगता है। यही ईश्वर की दशा है।

ईश्वरतत्व भी भेदाभेद की भूमिका में ही अवस्थित है। सदाशिव के समान प्रधानता यहाँ भी अभेद की ही होती है। यद्यपि ईश्वरतत्व में इदमंश स्फुटतया परामृष्ट होने लगता है किन्तु यह स्फुट भेददशा भी अहम् के प्रकाश में ही होती है। उसका उल्लंघन यह नहीं करती। प्रधानता भी अहंविमर्श को ही होती है। अहमंश को फीका करने का अर्थ यह नहीं है कि भेददशा का स्पष्ट आभास हो गया। इसका अर्थ इतना ही है कि इदम् का ज्ञान सदाशिव की तुलना में कुछ अधिक रूप में स्पष्ट हो गया। सदाशिव-दशा में अहंविमर्श की तुलना में इदंविमर्श कुछ अस्फुट था। ईश्वरदशा में वह समधृततुलापुटन्यातेन[22] कुछ और अधिक विशद होकर अहम् के समान ही आभासित होने लगा। भेदादशा अभेददशा को प्रभावित नहीं करती और अभेद दशा भी भेद को सर्वथा निगीर्ण नहीं करती। इसलिए वह भेदाभेद की दशा कहलाती है। यह स्फुटभेद युक्त अभेददशा कहना अधिक उचित होगा। सदाशिव-तत्व में अभेद में भेद का आभास था तो यहाँ भेद में अभेद का आभास है।

सदाशिव और ईश्वर में भेद

सदाशिव और ईश्वर-तत्व में आन्तरभाव तथा बहिर्भाव के उद्रेक का ही भेद है। अहंविमर्श आन्तरभाव है और इदंविमर्श बहिर्भाव है। आन्तरभाव का उद्रेक होने पर सदाशिव की अवस्था होती है और बहिर्भावपरता का उद्रेक होने पर ईश्वरावस्था कहलाती है।[23] यही इन दोनों

में मुख्य भेद हैं।

ज्ञानशक्ति की स्फुटावभासता को लेकर भी दोनों में भेद है। ज्ञान-शक्ति सदाशिव दशा में भी स्फुट थी किन्तु ईश्वरदशा में उसका और अधिक उद्रेक हो गया।[24] यह उद्रेक क्रिया-सामर्थ्य के बिना नहीं हो सकता। अतः ईश्वरतत्व में क्रिया-शक्ति का उद्रेक माना गया है। सदा-शिव दशा में इस क्रियाशक्ति का स्फुट अवभास नहीं था। ईश्वर-दशा में आकर ही इस क्रियाशक्ति का विकास होता है। यही ईश्वर का ईश्वरत्व है। अन्यथा सदाशिव और ईश्वर में कोई स्पष्ट भेद दृष्टिगत न होता। क्रियाशक्ति का उद्रेक ही उसे ईश्वरता प्रदान करना है।[25] क्रिया-शक्ति का स्वभाव है बाहर की ओर निकलना। इसलिए ईश्वर में बहिर्भावपरता का उद्रेक होना स्वभावसिद्ध है।

सदाशिव तत्व में संवित् का प्रकाश "अहमिदम्" के रूप में प्रस्फुरित होता है जब कि ईश्वरतत्व में वह "इदमहम्" के आकार में आभासित होता है। दोनों में अन्तर यह है कि प्रथम में अहमंश प्रधान है और दूसरे में इदमंश की प्रधानता है। सदाशिव-दशा में प्रमेयता का आभास कुछ इस प्रकार का होता है जैसे मन में कभी कभी कोई बहुत पुरानी स्मृति क्षण भर के लिए कौंध कर शान्त हो जाती है। ईश्वर-दशा में प्रमेयता का ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से प्रादुर्भूत प्रत्यक्ष ज्ञान के समान स्पष्ट होता है। सदाशिव दशा में प्रमेयता का केवल आभास मात्र हुआ करता है किन्तु ईश्वरतावस्था में उसका अन्तःनिर्माण भी हो चुका होता है। यही कारण है कि सदाशिव तत्व में ज्ञानशक्ति की और ईश्वरतत्व में क्रियाशक्ति की विशदता मानी गयी है क्योंकि निर्माण का सामर्थ्य क्रियाशक्ति के प्रादुर्भाव से ही आता है। वास्तव में "अहम्" और "इदन्" का ज्ञान तो दोनों तत्वों में समान होता है उनकी ध्यामलता और अध्यामलता को लेकर ही दोनो का स्पष्ट भेद किया जाता है। सदाशिव दशा में इदंभाव ध्यामल (क्षीण) है और ईश्वर में वह अध्यामल (विशद) हो जाता है।[26]

ईश्वर-दशा में जगत् का अन्तःनिर्माण कुछ उसी प्रकार हो गया होता है जैसे कोई भवननिर्माता भवन-निर्माण से पूर्व उसका रेखाचित्र अपने मन में अंकित करता है। सदाशिव-दशा में तो विश्वभवन की सत्ता ही आभा-सित होती है, उसका विशद आकार निर्मित नहीं होता। इससे किसी तत्व का महत्व कम नहीं समझना चाहिए। सत्ता और उसका ज्ञान तथा उसकी निर्मिति तीनों ही पूर्णता के लिए अपेक्षित हैं। अब इस प्रकार के क्रमिक विकास में तो परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ही हेतु है। उसमें कुछ कहना या

करना निरर्थक है। उसका स्वातन्त्र्य अव्याहत और अतवर्य है।

ईश्वर-तत्व के प्राणी—मन्त्रेश्वर

ईश्वर तत्व के अधिष्ठाता भगवान् ईश्वर हैं। परमेश्वर की बहिर्मुखी लीला का कार्य सुचारू रूप से चलाने के लिए ईश्वरतत्व का आविर्भाव हुआ है। क्रियाशक्ति की स्फुट अभिव्यक्ति के कारण ईश्वर ही सृष्टि के कार्य को सदाशिव की अतेक्षा अधि अच्छी तरह से चला सकते हैं। इसलिए ईश्वरतत्व के अधिष्ठाता नाम ईश्वर भट्टारक है। बहिर्मुखी सृष्टि के विकास में ईश्वर-भट्टारक का ही अधिक योगदान है।

ईश्वरतत्व में स्थित प्राणियों को त्रिक शास्त्र में मन्त्रेश्वर कहा जाता है। महामन्त्रेश्वर तथा विद्येश्वर शब्दों में ईश्वर शब्द का अर्थ सामर्थ्यवान् अधिपति समझना चाहिए, ईश्वरतत्व नहीं ? मन्त्रेश्वर प्राणियों का दृष्टिकोण भी ईश्वर भट्टारक जैसा ही होता है। ये भी भेद की छाया से युक्त अभेद के दृष्टिकोण से देखते हैं।प्रमेय के विषय में उनका दृष्टिकोण मन्त्रमहेश्वर प्राणियों की अपेक्षा अधिक स्फुट होता है। उन्हें "इदमहम्" अर्थात् "यह प्रमेय पदार्थ मैं हूँ" ऐसा आभास हुआ करता है। इस अभास की अहमिदम आभास से विलक्षणता यह है कि "अहमिदम्" में तो प्रमातृ-भाव स्फुट है और प्रमेयभाव अप्रधान हो गया है, किन्तु "इदमहम्" इस प्रतीति में प्रमेयभाव का आभास स्फुटतया हो रहा है और प्रमातृभाव अर्थात् "अहम" का अंश अप्रधान होकर विधेय के रूप में प्रतिभासित हो रहा है। मन्त्रेश्वर प्राणियों में "इदम्" का अंश प्रधान हो जाता है जिससे विषयता विशदरूप में चमकने लगती है। सृष्टि के विकास की दशा में बढ़ते हुए शिवभाव की यही विशेषता होती है कि उसकी ज्ञेयता बड़ती जाती है और ज्ञातृता अल्प होती जाती है।

मन्त्र-महेश्वर तथा मन्त्रेश्वरों में समानता तथा असमानता

स्वरूप की दृष्टि से मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर प्राणियों में कुछ बातें एक जैसी हैं और कुछ बातें असमानता की हैं। दोनों ही प्रकार के प्राणी भेदाभेद भूमिका के प्राणी हैं। दोनों को ही प्रमातृता तथा प्रमेयता से विशिष्ट आभास हुआ करता है। किन्तु इस भूमिका में इनकी प्रमातृता तथा प्रमेयता में परस्पर अभेद का ही आभास हुआ करता है। वैसे प्रमातृता और प्रमेयता का आभास होने के कारण इस भूमिका को भेद की भूमिका कहा जाना चाहिए किन्तु इसे भेदाभेद की भूमिका इसलिए कहा जाता है क्योंकि इस भूमिका में प्रमातृभाव तथा प्रमेयभाव परस्पर विशेषण-विशेष्य-भाव सम्बन्ध के समान अभिन्न जैसे ही प्रतीत हुआ करते हैं। मन्त्रमहेश्वर

और मन्त्रेश्वर दोनों ही प्राणियों को ऐसा आभास होता है कि "अहम्" और "इदम्" में कोई विशेष भेद नहीं है।[27] जो "अहम्" है वही "इदम्" है, और जो "इदम्" है वह "अहम" ही है। इस कारण ये दोनों प्राणी भेदाभेद-भूमिका के ही प्राणी होते हैं। इन्हें शुद्धाशुद्ध प्राणी भी कहा जाता है।[28] अभेदभाव में अवस्थिति ही इनकी शुद्धता है और भेदभाव का अवभास ही अशुद्धता है। वैसे आणव, कार्मण और मायीय मलों में से कोई भी इसमें नहीं होता, किन्तु शिवभाव का थोड़ा सा संकोच तो इनमें हो ही जाता है तथा भेद-दृष्टि का बीज भी इनमें अंकुरित होमे लगता है। बस इसी भेद दृष्टी के कारण इन्हें अशुद्ध भी कहा जाता है। वैसे अन्य मलों से ये सर्वथा रहित हैं। अतः इनकी शुद्धता में तो कोई सन्देह है ही नहीं।

मन्त्र-महेश्वर तथा मन्त्रेश्वर दोनों ही प्रकार के प्राणी शिवभाव के समावेश के आनन्द में निरन्तर निमग्न रहते हैं। मन्त्रेश्वर प्राणियों में निग्रह एवं अनुग्रह के व्यवहार के प्रति औन्मुख्य मन्त्रमहेश्वरों की तुलना में किंचित् अधिक होता है। किन्तु मन्त्रमहेश्वर के समान मन्त्रेश्वर प्राणी भी देह और इन्द्रिय से रहित होते हैं। इनका स्वरूप शुद्ध-संवित् ही होता है। केवल इच्छा से ही इनके समस्त व्यवहार सम्पन्न हो जाते हैं। मन्त्रेश्वर-प्राणी इश्वररूप होने के कारण कभी कभी महामाया के स्तर पर उतर कर अवतार रूप में भी प्रकट हो जाते हैं और परमेश्वर के निग्रह तथा अनुग्रह कार्यों को निभाते हैं। मन्त्रमहेश्वर प्राणियों में यह व्यवहार के प्रति औन्मुख्य अत्यल्प होता है। अतः वे अवतार ग्रहण नहीं करते। मन्त्रेश्वर प्राणियों में व्यवहारौन्मुख्य चूंकि अधिक होता है अतः उस व्यवहार को चलाने के लिए वे कभी कभी सूक्ष्म शरीरों को भी धारण कर लेते हैं। अतः वास्तव में तो ये अशरीर हैं किन्तु विशिष्ट उद्देश्य के लिए सशरीर भी बन जाते हैं। सूक्ष्म शरीरों की सृष्टि और लय करने में इनका सामर्थ्य अप्रतिहत होता है।

अन्य दर्शनों में ईश्वर

भारतीय दर्शनों में ईश्वर की अवधारणा पृथक् पृथक् दृष्टिकोण से, पृथक् पृथक् उद्देश्य से निर्णीत की गयी है। वैशेषिक, योग और वेदान्त ये तीन दर्शन ही ईश्वर के अस्तित्व को स्वीकार करते हैं और विभिन्न प्रमाणों और युक्तियों से उसकी सिद्धि करते हैं। मुख्य रूप से ईश्वरास्तित्ववादी भारतीय दार्शनिक तीन रूपों में ईश्वर की सत्ता का अंगीकार करते हैं—1—सृष्टिकर्ता के रूप में, 2— कर्मपल प्रदाता के रूप में तथा 3— वेदों के रचयिता के रूप में। ईश्वरवादियों का कहना है कि सृष्टि-

रचना, कर्मपल-प्रदान तथा वेदों का निर्माण ये तीन कार्य इतने कठिन हैं कि कोई महान् से महान् सिद्ध पुरुष भी इन्हें नहीं कर सकता। इन्हें तो वही कर सकता है जो अनन्त सामर्थ्ययान् अनन्त ज्ञानवान्, सर्वव्यापक, स्वतन्त्र, नित्य और चेतन हो ये सब विभूतियाँ जिसमें हैं वही ईश्वर है।

त्रिक शास्त्र में स्वीकृत ईश्वरतत्व, भारतीय दर्शनों के ईश्वर से सर्वथा भिन्न स्वरूप वाला है। इसमें क्या भिन्नता है इसे जानने से पहले न्याय योग और वेदान्त के ईश्वर से परिचित होना उचित होगा।

न्याय दर्शन में ईश्वर

न्याय दर्शन के अनुसार इस चराचर जगत् की उत्पति पालन एवं संहार का निमित्त कारण एक चेतन तत्व ईश्वर कहलाता है। ईश्वर अणुओं से जगत् की रक्षा करता है। इसलिए जगद् रचना का वह केवल निमित्त-कारण ही है उपासनाकारण नहीं। वह साक्षात् देह-व्यापार से रचना नहीं करता अपितु केवल रचना की इच्छा करता है। उसकी इच्छा अमाघ होती है। उसकी इच्छा से परमाणुओं में गति होती है और संसार का निर्माण प्रारम्भ हो जाता है। जगत् की रचना और उसके पालन में ईश्वर का एक नैतिक और आध्यात्मिक उद्देश्य है।[29] इसलिए जब वह देखता है कि इस उददेश्य की पूर्ति नहीं हो रही है अर्थात् पाप जब अधिक बढ़ जाता है तो वह इसका संहार कर डालता है।

ईश्वर प्राणियों के कर्मफलों का प्रदाता भी है। मनुष्यादि प्राणी कर्म करने में पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है। कर्म के सम्पादन में मनुष्य निमित्त-कारण ही है। उसके प्रयोजन का निर्धारण ईश्यर ही करता है। मनुष्य ईश्वर के आदेश से उसके संरक्षण में रहकर ही अपना कार्य करता है। जैसे एक पिता अपने अनेक पुत्रों को उनकी योग्यता अभिरुचि और स्वभाव के अनुसार भिन्न भिन्न कार्यों में आयोजित करता है वैसे ही ईश्वर समस्त प्राणियों को उनकी योग्यता के अनुसार भिन्न भिन्न कायों में लगाता है। इस प्रकार ईश्वर प्राणिमात्र का नैतिक अध्यक्ष है, उनके कर्मों के अनुरूप न्यायपूर्वक फल-प्रदान करता है और सुख-दुःख का नियमन करता है। उसी के अनुशासन में रहकर समस्त जीव अपने कार्यों का सम्पादन करते हैं और परमेश्वर के द्वारा निर्धारित किए हुए जीवन के उच्च उददेश्यों को प्राप्त कर कृतकृत्य होते हैं।

ईश्वर-सिद्धि में प्रमाण

नैयामिकों ने ईश्वर की सिद्धि बड़े प्रबल तर्कों से की है जो बुद्धि और हृदव दोनों को ही सन्तुष्ट करती है। न्याय-दर्शन के प्रसिद्ध तार्किक

आर्चाय उदयन ने न्याय-कुसुमाञ्जली में ऐसे आठ तर्क खोज निकाले हैं जो दर्शन में जगत् में अधृष्य और अजेय माने जाते हैं। ये तर्क इस प्रकार हैं—कार्य, आयोजन, धृति एवं संहार, पद, प्रत्यय, श्रुति, वाक्य तथा संख्या विशेष।[80]

1. **कार्यत** : संसार एक कार्य है। सूर्य, चन्द्र, सरित्, सागर, वृक्ष, पर्वत एवं मनुष्य, पशु, घट पट आदि का देह ये सब द्रव्य कार्य हैं, क्योंकि यह समस्त पदार्थ सावयव हैं तथा सीमित परिमाण वाले हैं। कार्य वही होता है जो सावयव हो और परिमित हो। इस कार्य का कोई कर्ता भी अवश्य होना चाहिए। हमारा प्रतिदिन का अनुभव यही बताता है कि कर्ता के बिना कार्य की रचना हो ही नहो सकती। घट की रचना कुलाल के बिना और रथ के चक्र आदि का निर्माण वास कि (बढ़ई) के बिना कभी नहीं देखा गया। इसी प्रकार जगतरूप कार्य की रचना करने वाला भी कोइ कर्ता अवश्य होना चाहिए। जो इस जगत की रचना करता है वही ईश्वर है।

2. **आयोजनात्** : जगत की रचना परमाणुओं के बुद्धिपूर्वक आयोजन से होती है। परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुकादि-क्रम से समस्त स्थूल कार्य उत्पन्न होते हैं। परमाणु जड़ हैं। उनका आयोजन स्वयम् नहीं हो सकता। सर्वज्ञ एवं चेतन ईश्वर की इच्छा से ही परमाणुओं का आयोजन होता है।

3. **धृति एवं संहार** : सृष्ट जगत का धारण और संहरण का सामर्थ्य ईश्वर के अतिरिक्त किसी अन्य का नहीं हो सकता। यदि ईश्वर न होता तो इतने विपुल एवं व्यवस्थित जगत् को भला कौन सम्भालता। सृष्टि का नाश प्रलयकाल में होता है। अतः नाश करने के लिए भी ईश्वर की आवश्यकता है।

4. **पदात्** : पद् का अर्थ है ज्ञान। पद्यते ज्ञायते अनेन इति पदम्। किसी भी कार्य की रचना ज्ञान के बिना नहीं हो सकती। कुलाल यदि घट को बनाने का ज्ञान न रखता तो कभी भी घट को नहीं बना सकता था। इतने बड़े विचित्र एवं कला कौशल से सम्पन्न संसार का निर्माण क्या किसी ज्ञानवान् चेतनकर्ता के बिना हो सकता है? इसलिए इस जगत की रचना करने वाले कर्ता के रूप में सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान ईश्वर की सत्ता को बलात् मानना पड़ता है।

5. **प्रत्ययत** : वेद की प्रमाणिकता का नाम प्रत्यय है। हमारे लिए वेद परम प्रमाण हैं। सभी प्रत्यक्षादि प्रमाण इसके सम्मुख तुच्छ हैं। धर्म और अधर्म की परीक्षा वेद के निष्कर्ष पर ही होती है। धर्म वही जिसे वेद

आचरणीय कहता है और अधर्म वही है जिसका निषेध वेद में है। बड़े से बड़ा आस्तित्ववादी तार्किक भी उसी समय निरुत्तर हो जाता है जब उसे यह कहा जाता है कि उसका वचन वेद विरुद्ध है।

प्रश्न यह उठता है कि वेद के इस अपरमित आदरभाव का आधार क्या है ? क्यों है वेद की यह अप्रतिम प्रामाणिकता ? इसका उत्तर है— ईश्वर। चूंकि ईश्वर ने वेद को बनाया है इसलिए उस पर इतना प्रत्यय= विश्वास किया जाता है। वेदों में जो अतुलित ज्ञान भरा हुआ है वह ज्ञान ईश्वर के अतिरिक्त अन्य किसी में नहीं हो सकता। अत. वेदों के कर्ता के रूप में ईश्वर की सत्ता को मानना पड़ता है।

6. **श्रुति** : कृति अर्थात वेद के वचनों से भी ईश्वर की सिद्धि होती है। श्वेताश्वतर उपनिषद में कहा गया है :

एको देवः सर्वभतेषु गुढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा: ।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च ॥
6/11

अर्थात् वह परमेश्वर समस्त प्राणियों में छिपा हुआ है। वह सर्व व्यापक है, समस्त प्राणियों का अन्तरात्मा है। वही प्राणिमात्र के कर्मों का अध्यक्ष है और सबका नियामक है।

भगवान् कृष्ण स्वयम् अपने मुख से गीता में कहते है :

गतिर्भर्ता प्रभु: साक्षी निवासः शरणं सुहृत् ।
प्रभवः प्रलय: स्थानं निधानं बीजम व्ययम् ॥ 9/17

अर्थात् मैं ही इस संसार की गति हूँ, मैं ही रक्षक, स्वामी और सबका निवास-स्थान हूँ। मैं शरणागत-रक्षक, सबका सुहृत, उत्पत्तिस्थान, लयस्थान, सबका निधान और सबका बीज हूँ।

इन सब श्रुति और स्मृति-वाक्यों से ईश्वर की सिद्धि होती है। श्रुति-प्रमाण को तर्क भी खण्डित नहीं कर सकता। तर्क की कोई सीमा तो होती नहीं। प्रबल तर्क के द्वारा दुर्बल तर्क बाधित किया जा सकता है। वह प्रर्बल तर्क भी अन्य प्रबलतर तर्क से खण्डित हो जाता है। इस-लिए केवल तर्क के बल पर ईश्वर की सिद्धि निर्बाध रूप में नहीं की जा सकती। तर्कों से तो ईश्वर की असत्ता भी नास्तिकों के द्वारा सिद्ध की ही जाती है। अतः श्रुति ही ईश्वर सिद्धि में अन्तिम और अधृष्य प्रमाण है।

7. **वाक्य** : वाक्य का कोई रचयिता अथवा उच्चरयिता अवश्य होता है। जैसे महाभारतादि वाक्यों का रचयिता व्यासादि ऋषियों को माना

जाता है वैसे ही वेदवाक्यों का कर्ता ईश्वर को माना जाता है।

8. **संख्या विशेष** : परमाणु का कोई परिमाण नहीं होता। किन्तु द्वयणुकादि में परिमाण की उत्पत्ति अवश्य होती है। तो वह परमाणुगत परिमाण की उत्पत्ति किससे हुई ? परमाणु से तो हो नहीं सकती क्योंकि उसमें तो परिमाण है ही नहीं। इसलिए परमाणुगत परिमाण की उत्पत्ति नैयायिक परमाणु-संख्याद्वय से ही मानते हैं। यह द्वित्व-संख्या अपेक्षा-बुद्धि से उत्पन्न होती है। यह अतेक्षाबुद्धि चेतन व्यक्ति के ही द्वारा निष्पन्न हो सकती है। सृष्टि के प्रारम्भ में वह चेतन व्यक्ति ईश्वर ही हो सकता है। इस प्रकार संख्या-विशेष से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

9. **अदृष्ट** : संसार में सुख दु:ख का कारण प्राणियों के अपने कर्म ही हैं। जैसा कर्म, वैसा फल, यह अव्यभिचरित एवं अखण्डनीय सिद्धान्त है। धर्म से पुन्य होता है और अधर्म से पाप उत्पन्न होता है। पुन्य का फल सुख है और पाप का फल दु:ख है। यह पाप औ· पुन्य न्याय दर्शन में अदृष्ट ही है। इसी अदृष्ट के द्वारा कर्म के फल का उदय होता है। किन्तु अदृष्ट भी स्वयम् जड़ है। उसमें फल देने की योग्यता नहीं हो सकती उसको प्रेरित तथा नियमित करने के लिए किसी सर्वज्ञ चेतन शक्ति की आवश्यकता है। वह ईश्वर ही उस अदृष्ट का नियामक है। इस प्रकार अदृष्ट से ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है।

न्याय और त्रिक दर्शन के ईश्वर में अन्तर

न्याय शास्त्र के पूर्वोक्त ईश्वर और त्रिक दर्शन के ईश्वरतत्व में बहुत भेद है। वस्तुतः न्यायदर्शन जिसे ईश्वर कहता है वह त्रिक दर्शन का परम-तत्व परमशिव ही है, ईश्वरतत्व नहीं। त्रिक दर्शन का परमशिव और ईश्वर दोनों ही न्यायसम्मत ईश्वर से भिन्न स्वरूप वाले हैं। त्रिक शास्त्र का परमशिव तो तत्वातीत सैंतीसवाँ तत्व है। ईश्वरतत्व तो यहाँ चतुर्थ तत्व माना जाता है।

प्रकाश और विमर्श का सामरस्य ही परमशिव है। प्रकाश का अर्थ है—आलोक और आलोक की प्रतीति का नाम है—विमर्श। प्रकाश और विमर्श का सामरस्य होने पर परमशिव का पूर्ण स्वरूप उल्लसित होता है। मधु के माधुर्य का ज्ञान मधु को नहीं होता। किसी आस्वादक की अन्त:-शक्ति से ही उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार विमर्शात्मक शक्ति के द्वारा ही शिव को अपने शिवत्व का परिचय मिलता है। शिव की परिपूर्ण स्वातन्त्र्य शक्ति ही विमर्शपदवाच्य है। यह स्वातन्त्र्यात्मक विमर्श शक्ति परमेष्ठी की ईश्वरता है।[31] इसी शक्ति के परावाक् पराशक्ति, एश्वर्य

हृदय स्पन्द आदि नामों से त्रिक शास्त्र में कहा गया है। इसी शक्ति का आन्तर निमेष सदाशिव कहलाता है तथा बाह्य उन्मेष ईश्वर कहलाता है।[32] यह विकासोन्मुख ज्ञान की अवस्था है। इसमें "अहम्" को इदम्" की स्पष्ट प्रतीति तो होती है किन्तु इदम् वहाँ आत्मा के अंशरूप में ही प्रतीत होता है।

न्याय-दर्शन का ईश्वर इससे भिन्न है। वहाँ जगत् की ईश्वर से सर्वथा पृथक सत्ता है। ईश्वर अपने से सर्वथा भिन्न जगत् की सृष्टि करता है। अपने अंशरूप में उसे नहीं देखता। वहाँ प्रकाश और विमर्श ईश्वर का स्वरूप नहीं अपितु गुण के रूप में देखे जाते हैं। ज्ञान चिकीर्षा और कृतिमत्ता ईश्वर के उपकरण माने गए हैं स्वरूप नहीं।

दूसरा बड़ा अन्तर यह है कि शैव दर्शन का परमशिव सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र है। सृष्टि के उन्मेष के लिए उसे परमाणु अथवा अदृष्ट जैसे किसी बाह्य उपकरण की आवश्कता नहीं होती। जबकि न्याय का ईश्वर परमाणुओं के बिना तथा जीवों के कर्मों के अदृष्ट के अभाव में सृष्टि-रचना कर ही नहीं सकता। क्योंकि न्यायमत में तो ईश्वर जगत् का निर्माण अपने लिए करता ही नहीं। वह तो जीवों को उनके कर्मों का फल देने के लिए ही सृष्टि की रचना करता है। त्रिक दर्शन के अनुसार तो जगत् परमशिव से भिन्न है ही नहीं। वह उसका अपनी इच्छा से परिगृहीत अपना ही दूसरा रूप है। जिसे त्रिक दर्शन में चौथा तत्व ईश्वरतत्व कहा गया है वह तो न्याय के ईश्वर से सर्वथा ही भिन्न है। त्रिक शास्त्र का ईश्वरतत्व तो जगत् की स्पष्ट प्रतीति का ही अपर नाम है। इसे एक प्रकार का जगत् का मानसिक रेखाचित्र ही समझिए।

इस प्रकार आलोचक महानुभाव स्वयम् ही समझ सकते हैं कि त्रिकदर्शन के परमशिव तथा ईश्वरतत्व से न्याय का ईश्वर कितने भिन्न स्वरूप वाला है। न्याय का ईश्वर केवल निमित्त कारण है, क्योंकि वह केवल सृष्टि-रचना की इच्छा करता है और उसी की इच्छा से अदृष्ट तथा परमाणुओं में हलचल होती है। परमाणु ही न्यायमत में सृष्टि के उपादान हैं और वे ईश्वर से सर्वथा पृथक् अस्तित्व रखते हैं। इसी प्रकार जीवों की भी ईश्वर से भिन्न सत्ता है। त्रिकशास्त्र का ईश्वर परमतत्व का बाह्य उन्मेष है तथा परमतत्व से पूर्णरूप से अभिन्न है। वह सृष्टि के विकास का साक्षात् कारण नहीं है। ईश्वर-भट्टारक जब अनन्तनाथ श्रीकण्ठनाथ आदि अवतारों में उतरते हैं तभी सृष्टि-प्रक्रिया को सुचारू रूप से चला पाते हैं। ईश्वररूप में तो प्रकृति अथवा परमाणुओं से उनका दूर का भी

सम्बन्ध नहीं। अवताररूपों में ही प्रकृति आदि का स्पर्श उनसे होता है।

शांकरमत में ईश्वर

वेदान्त में निर्विशेषाद्वैतमत के प्रवर्तक आचार्य शकर की दृष्टि में ईश्वर का स्वरूप न्याय से भिन्न है। वह केवल निमित्तकारण ही नहीं अपितु उपादान कारण भी है। स्वरूप से परमतत्व निर्गुण और निर्विशेष है, जिसे परब्रह्म कहा जाता है। किन्तु वही निर्विशेष ब्रह्म माया से आवृत होकर जब सगुण या सविशेष हो जाता है तब वह ईश्वर कहलाने लगता है। जगत् के जन्मादि का कारण यही ईश्वर है।[33] शंकर की दृष्टि में ईश्वर की ईश्वरता नैसर्गिक नहीं है। वह ईश्वर वास्तव में नहीं है। माया की उपाधि के संसर्ग से वह ईश्वर मान लिया जाता है। यदि इस अविद्या-रूप माया को हटा दिया जाए तो भला कौन किसका ईश्वर।[34]

वेदान्त और त्रिक-दर्शन के ईश्वर में भेद

त्रिकदर्शन का ईश्वर वेदान्त के पूर्वोक्त ईश्वर से भी पृथक् स्वरूप रखता है। शांकर वेदान्त का ईश्वर काल्पनिक है। माया की उपाधि ही उसे अस्तित्व प्रदान करती है। वह तभी तक ईश्वर कहलाता है जब तक जगत् के जन्मादि कार्य होते हैं। जब वह इन कार्यों को कर चुका होता है तब वह ईश्वर-पदवी से रहित होकर केवल शूद्ध ब्रह्म रह जाता है। जन्मादि के अभाव में उसकी उपयोगिता ही नहीं रह जाती। किन्तु त्रिक-दर्शन की मान्यता के अनुसार ईश्वर सदैव ईश्वर है, वह सदैव परमशिव है। माया का सम्पर्क तो दूर तक भी उसे छू नहीं पाता। वह तो अपने स्वातन्त्र्य के विलास से स्वयम् ही स्फुट भेदयुक्त अभेदावस्था पर उतर कर ईश्वर शब्द वाच्य बन गया है। वेदान्त का ईश्वर प्रकृति से सम्बन्ध रखता है तथा सगुण रूप में ब्रह्मा विष्णु और रूद्र बन कर प्रकट होता है। किन्तु त्रिकदर्शन के ईश्वर को तो माया भी स्पर्श नहीं करती, प्रकृति की बात तो बहुत दूर रही। यहाँ यह ध्यातव्य है कि त्रिकदर्शन के अनुसार माया और प्रकृति में नितान्त भेद है। आचार्य शंकर को ही प्रकृति कहते हैं। त्रिकदर्शन के अनुसार ईश्वर भट्टारक प्रकृति से नौ सोपान ऊपर है तथा माया से दो सोपान ऊपर स्थित है। जगत् के बहिर्मुखी व्यवहार से ईश्वर का सीधा सम्बन्ध नहीं होता। क्योंकि इस दशा में शुद्ध संवित् ही उनका स्वरूप होता है। महामाया की दशा में उतर कर वे अनन्तनाथ कहलाते हैं। तथा गुणतत्व की अवस्था में उतर कर श्रीकण्ठनाथ और उमापतिनाथ कहलाते हैं। इनके शरीरों को ही प्रकृति आदि का स्पर्श होता है। ईश्वर दशा में तो उनका स्वरूप अशरीर होता है।[35]

योगदर्शन तथा त्रिकदर्शन के ईश्वर में भेद

योगदर्शन के ईश्वर का स्वरूप भी त्रिकदर्शन के ईश्वर से मेल नहीं खाता। योगदर्शन के अनुसार अविद्यादि क्लेश, कर्मविपाक तथा कर्मशय से रहित, नित्य, सर्वज्ञ एवं सर्वव्यापी चेतन पुरुष विशेष ईश्वर कहलाता है।[36] वह संसार के समस्त जीवों से भिन्न तथा सबसे श्रेष्ठ है। जीव कर्मकरता है, कर्मोंका फल भोगता है और कर्मजन्य कर्माशयों से प्रभावित होता है। किन्तु ईश्वर ऐसा नहीं है। जीव तीन प्रकार के होते हैं बद्ध, मुक्त और प्रकृति-लीन। क्लेश कर्मफल और कर्मसंस्कारों से प्रभावित होने वाला जीव बद्ध है। ईश्वर ऐसे जोवों से भिन्न है। वह मुक्त जीवों से भी भिन्न है, क्योंकि मुक्त जीव पूर्वकाल में बन्धन में था। ईश्वर तो सदा ही मुक्त है। प्रकृति-लीन पुरुष यद्यपि मुक्त कहलाता है किन्तु उसके बन्धन में पड़ने की सम्भावना रहती है, किन्तु ईश्वर के बन्धन की सम्भावना नहीं है। वह सर्वदा ईश्वर ही रहता है।[37] वह अखण्ड ज्ञान का भण्डार है, ऐश्वर्य की अन्तिम सीमा का अधिपति है।

यदि हम विचार करें तो त्रिकशास्त्र के ईश्वर की तुलना योगदर्शन के ईश्वर से कथमपि नहीं की जा सकती। योगदर्शन ने ईश्वर की जो स्वरूपगत विशेषताएँ बतायी हैं वे तो सर्वथा सत्य हैं किन्तु पुरुष-विशेष विशेषण से यह बात पूर्णतया सिद्ध हो जाती है कि योगदर्शन पूर्णरूप से द्वैतवादी दर्शन है। वह जीवों से सदा ही भिन्न रहा है और भिन्न रहेगा। ईश्वर न कभी जीव था, न कभी होगा। जीव भी न कभी ईश्वर था और न कभी होगा। दोनों में पूर्ण वैषम्य है, पूर्ण भेद है। जगत् से साम्य और अभेद का तो प्रश्न ही नहीं उठता। अब जरा त्रिक दर्शन के ईश्वर-स्वरूप पर दृष्टिपात कीजिए। इसके अनुसार जीव और जगत् प्रपन्च सभी कुछ परमेश्वर का ही विकसित रूप है। सभी छत्तीस तत्व उसी के रूप हैं। प्रकाश और विमर्श का सद्भाव सभी तत्वों में है। प्रकाश और विमर्श की न्यूनता और अधिकता का अन्तर हो सकता है। उसका अभाव नहीं हो सकता। जहाँ प्रकाश और विमर्श का पूर्ण सामरस्य है उसका नाम तो परम-शिव है। वह ही परमतत्व है। जब इस समरसता में विषमता आती है तभी उसी क्रम से छत्तीस तत्वों का आविर्भाव होता जाता है। ईश्वर भी उसी का एक रूप है। "अहमंश" की तुलना में इदमंश की स्फुटता के कारण परमतत्व के इस रूप को ईश्वर कह दिया जाता है। योगदर्शन के समान वह पुरुष विशेष नहीं है अपितु सर्वत्र सामान्यरूप से वह शिव ही है।

ईश्वर की नित्यता और अनित्यता के प्रश्न की चिन्ता भी यहाँ

व्यर्थ है। शिव तो नित्य ही है। उसके इस रूप में तो किसी प्रकार के परिवर्तन अथवा सत्ता तथा असत्ता के विचार का अवकाश ही नहीं है।शिव के जो सदाशिव से लेकर पृथ्वी-पर्यन्त विभिन्न रूप है उनमें संकोच विस्तार होता रहता है। संकोच के क्रम में पृथ्वी भी एक दिन परमशिव में लय होकर परमशिव ही हो जाएगी और विकास के क्रम में परमशिव में भी चैतन्य का संकोच होकर पृथ्वी-तत्व की अवस्था आयेगी। अत: ईश्वर के नित्यत्व और अनित्यत्व का प्रश्न यहाँ अकिंचित्कर है।

योगदर्शन में ईश्वर की जो उपयोगिता बतायी गयी है उसमें किसी का वैमत्य नहीं हो सकता। महर्षि पतन्जलि ने समाधि की सद्य. सिद्धि के लिए ईश्वर-प्राणिधान को सबसे अधिक शक्तिशाली, शीघ्र फलप्रद और अव्यभिचरित साधन बताया है।[38] ईश्वर प्राणिधान का अर्थ है चित्त् को पूर्णरूप से ईश्वर में लगाना अथवा समस्त कर्मफलों को ईश्वर को समर्पित कर देना। ईश्वर-प्राणिधान से क्लेश क्षीण हो जाते हैं। जो समाधि अभ्यास और वैराग्य के निरन्तर दीर्घकाल पर्यन्त सेवन से बड़ी कठिनता से सिद्ध होती है। वह समाधि ईश्वर-प्राणिधान से बड़ी सरलता से शीघ्र ही सिद्ध हो जाती है। ईश्वर भक्तवत्सल हैं। वे साधक की भक्ति से प्रसन्न होकर उसे शीघ्र ही समाधि प्रदान कर देते हैं। इस प्रकार ईश्वर की उपयोगिता मुख्य रूप से समाधि की सिद्धि के लिए है।

योगदर्शन में ईश्वर की एक अन्य भी उपयोगिता है। वह यह है कि परमेश्वर तारक-ज्ञान का प्रदाता है। भवसागर से पार उतारने वाले अध्यात्मिक गुह्य ज्ञान को तारक-ज्ञान कहते हैं। "स तु पूर्वेषामपि गुरु: कालेनानवच्छेदात्" (1-25) इस योग सूत्र का यही अभिप्राय है कि परमेश्वर पूर्वज्ञानियों का भी गुरू है। ज्ञानदाता को गुरू कहते हैं। इस प्रकार तारक ज्ञान का दाता होने के कारण ईश्वर की उपयोगिता योगदर्शन में स्वीकृत की गयी है।

परमेश्वर के इस अनुग्रह-स्वभाव को प्राय: सभी दर्शन ग्रन्थ स्वीकार करते हैं। शैवदर्शन में भी ईश्वर को अनुग्रहकर्ता कहा गया है। सृष्टि स्थिति संहार निग्रह और अनुग्रह इन पंचकृत्यों का सम्पादन शिव ही करते हैं।[39] यह उनकी इच्छा पर निर्भर करता है कि पाँचों कृत्यों को वे अपने किस रूप से सम्पादित करें, कब करें और कैसे करें। शतरत्न-संग्रह नामक ग्रन्थ में ईश्वर के ज्ञान-क्रियात्मक ऐश्वर्य को दात्रपूर्वक (अनुग्रह पूर्वक) कहा गया है।[40] इस प्रकार त्रिक दर्शन में योगदर्शन के भेदवादी दृष्टिकोण के अतिरिक्त ईश्वर के स्वरूप को अंशत: स्वीकार किया गया है।

समीक्षा

न्याय योग तथा शांकर वेदान्त के ईश्वरतत्व के स्वरूप को दृष्टि में रखकर जब हम त्रिकदर्शन के ईश्वरतत्व पर विचार करते हैं तो हम यह पाते हैं कि जहाँ इनमें कुछ विलक्षणता है वहाँ एक बहुत बड़ी समानता भी है। वह समानता यह है कि पूर्वोक्त चारों ही दार्शनिक किसी न किसी रूप में ईश्वर का सम्बन्ध जगत् की रचना से अवश्य ही मानते हैं। यह बात अलग है कि वह कहीं केवल निमित्त है और कहीं निमित्तोपादान दोनों ही है। नैयायिक उसे विश्वकृत् कहते हैं—(विश्वकृदव्यय—न्या० कु० 5/1) शांकर वेदान्ती भी "जन्माद्यस्य तत:" कहकर उसे जगत् के जन्म-स्थिति-प्रलय का कर्ता स्वीकार करते है। योगदर्शन के विद्वान् भी उसे प्रकृति अथवा माया का प्रेरयिता मान कर सांख्य दर्शन की अपूर्ण सृष्टि प्रक्रिया को पूर्ण करते हैं।[41] त्रिक दर्शन भी शिव को जगत् का निमित्त और उपादान दोनों ही स्वीकार करता है।[42]

इस प्रकार यह तो सत्य है कि त्रिक दर्शन के ईश्वर का सम्बन्ध भी जगत् से ही है, फिर भी अद्वयवादी शास्त्र के ईश्वरतत्व में एक अनन्य साधारण विशेषता है। यदि ऐसा न होता तो परमेश्वर के इन अवान्तर तत्वों को शिव, शक्ति, सदाशिव और ईश्वर ये चार नाम न दिए जाते। इन चारों तत्त्वों का अपना अपना पृथक् स्वरूप है, पृथक् वैशिष्ट्य है। यह वैशिष्ट्य उनके नाम से ही व्यक्त होता है। जब परमेश्वर अपनी इच्छा से जगत् को अभिव्यक्त करने के लिए प्रथम बार स्पन्दित होते हैं तो शिव कहलाते हैं।[43] यह स्पन्द, इच्छा और उसका उन्मेष ये तीनों चीजें "शिव" शब्द में शकार इकार और वकार इन तीनों वर्णों से द्योतित होती हैं। शकार उष्म (Meat) वर्ण है, यह स्पन्द का प्रतीक है। "शिव" में जो इकार है वह उसकी इच्छा की द्योतिका है। उकार जगत् के उन्मेष का सूचक है। उकार का गुण होकर वकार बनता है। इस प्रकार शिव-तत्व का सम्पूर्ण स्वरूप "शिव" शब्द में ही छिपा हुआ है। यह शब्द अनुत्तर इच्छा और उन्मेष रूप त्रिक का आधार है।

शिव में रहने वाली उसकी आत्मभूता इच्छा को जब पृथक् रूप से कहने की विवक्षा होती है तो उसे पृथक् तत्त्व मानकर शक्ति शब्द से अभिहित करते हैं।[44] शक्ति-तत्व का स्वरूप भी शक्ति शब्द में ही निहित है। शक मर्षणे धातु में क्तिन् प्रत्यय लगाकर शक्ति शब्द निस्पन्न होता है जो कि सामर्थ्य का अभिव्यंजक है। परमेश्वर की इच्छा ही उसका सामर्थ्य है जो कि उससे सर्वथा अभिन्न है। इसलिए शिव और शक्ति में पूर्ण अभेद

त्रिक दर्शन को मान्य है :

शक्ति जगत् की बीज है। वह बीज जब स्पन्दित होकर अंकुरित होने लगता है तब जगत् की सत्ता का आभास होने लगता है। उस समय शिव सद्रूप जगत् का बधिष्ठान होने के कारण सदाशिव कहलाने लगते हैं।[45] यह तीसरा तत्व है।

ईश्वर शब्द भी अपने में पूर्ण है। यह भी अपने वर्णों में अपना सम्पूर्ण स्वरूप छुपाये हुए है। वस्तुत: यह ईश्वर ई+स्वर है। शिव में रहने वाली इच्छाशक्ति का द्योतक जो "ई" स्वर है वह जब दीर्घ ई हो जाता है तो ईश्वर बन जाता है। इस रहस्य को गुप्त रखने के लिए स् को श कर दिया गया है। इसलिए ईस्वर को ईश्वर कहा जाता है। वास्तव में ईश्वर है क्या ? जगत् को अभिव्यक्त करने की इच्छा जब कुछ और अधिक दीर्घ हो जाती है तब वही तो ईश्वर कहलाती है।[46] शिव में इच्छा-शक्ति अत्यन्त निगूढ़ थी, ठीक वैसे ही जैसे बीज में वृक्ष रहता है। इच्छा-शक्ति-रूप बीज की उच्छूनावस्था सदाशिवतत्व है। वह बीज कुछ और उच्छून होकर जब अंकुरित होने की तैयारी करने लगता है तो वहीं ईश्वर तत्व की अवस्था है। इस अवस्था में क्रिया की अपेक्षा ज्ञान-शक्ति की स्फुटता अधिक रहती है। इसी शक्ति की स्फुटता के कारण तो इ स्वर को ई स्वर होता है। यह ईश्वर माया से सर्वथा अस्पृष्ट है, क्योंकि अभी तक तो माया का प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ होता। शांकर वेदान्त के समान यह काल्पनिक भी नहीं है अपितु तत्वों के आविर्भाव के क्रम में सर्वथा यथार्थ अवस्था है। आगे विकसित होने वाले विश्व-प्रपञ्च का समस्त रेखाचित्र ईश्वर तत्व में बन जाता है। सदाशिव की अवस्था में तो वह सदस्य ही था किन्तु ईश्वर-तत्व में तो उसकी आभ्यान्तर सृष्टि भी हो चुकी होती है।

शांकर-मत में तो ईश्वर भी माया का पुत्र होने के कारण कल्पित है और उसके द्वारा सृष्ट जगत् भी मिथ्या है। यह भी बड़ी विडम्बना है कि एक ओर तो शंकर ब्रह्म को सर्वात्मक कहते हैं और दूसरी तरफ ब्रह्माति-रिक्त सबको मिथ्या कहते हैं।[48] भला यह कैसे सम्भव है कि ब्रह्म तो सत्य हो और तज्जन्य जगत् अलीक हो। त्रिक दर्शन में ऐसी कोई विसंगति नहीं आती। परमशिव यदि परम सत्य हैं तो उससे प्रादुभूत छत्तीस तत्वों का समूह भी उतना ही सत्य है। अत: त्रिक शास्त्र का ईश्वर अपने स्वरूप में पूर्णतया सत्य है। "पूर्णमद: पूर्णमिदम्" इस श्रुति का यही अभिप्राय है।

विश्वरूप में ईश्वर की ईश्वरता व्याहत क्यों नहीं होती ? अथवा अचेतन जगत् में ईश्वर के गुण दृष्टिगत क्यों नहीं होते ऐसी शंका अवि-

चारित-रमणीय है। अपने प्रकाश-विमर्श रूप सामरस्य से नीचे के स्तर पर उत्तर कर भी शिव का शिवत्व अक्षुण्ण ही रहता है। दूध गाय के स्तन में रहे या पात्र में। दूध दूध ही रहता है। यद्यपि गाय के स्तन से नीचे गिर कर तुरन्त ही दूध में विकार प्रारम्भ हो जाता है फिर भी उसे दूध न कहा जाए, ऐसा नहीं होता। दूध को फिर भी दूध ही कहा जाता है। यही अवस्था शिव की भी है। तत्वान्तरों के विकास के समय भी शिव ही रहता है। अतः त्रिकशास्त्र में छत्तीस तत्व शिवमय ही माने गए हैं।[49]

यह शंका भी निराधार है पृथ्वी घट आदि में ईश्वर के गुण क्यों दृष्टिगत नहीं होते ? ईश्वर के गुण सर्वत्र समभाव से प्रकाशित हो रहे हैं। प्रकाश और विमर्श का सामरस्य भी सर्वदा प्रकाशमान है। बस देखने वाली दृष्टि चाहिए। प्रत्येक कार्य के उत्पत्ति के समय ज्ञान-शक्ति क्रिया-शक्ति और दर्शन-शक्ति का उपयोग होता है। इस शक्ति-त्रितय से कभी भी किसी पदार्थ का वियोग नहीं होता।[50] यदि इन तीनों में से एक भी शक्ति क ाअभाव हो तो कार्य कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकता। चुंकि कार्य सदैव उत्पन्न होते रहते हैं, इसलिए पदार्थों का शक्ति-सामरस्य सदैव अक्षुण्ण रहता है।[51] घट की रचना के समय कुम्भकार भी शिव ही है। केवल अज्ञान से कुम्भकार कहा जाता है।[52] इन हेतुओं से न्याय और शांकर वेदान्त की यह मान्यता परास्त हो जाती है कि ईश्वर और जगत में महान वैषम्य है। ईश्वर और जगत् में कोई विषमता नहीं। प्रकाश और विमर्श सर्वत्र समानरूप से व्याप्त है। इससे यह शंका भी खण्डित समझनी चाहिए कि अमूर्त शिव में कार्य की इच्छा कैसे है और वह कार्य कैसे कर सकता है काल अमूर्त है फिर भी सबको जीर्ण कर देता है। वैसे ही अमूर्त शिव भी सब कुछ कर सकता है।[53]

शुद्ध-विद्या : (Pure knowledge)

सृष्टि के विकास के क्रम में पाँचवां तत्व शुद्ध-विद्या है इस शुद्ध विद्या को विद्यातत्व से पृथक् समझना चाहिए। शुद्ध-विद्या वास्तव में शुद्ध-तत्व है। इसलिए शुद्ध अध्वा के अन्तर्गत है। विद्धातत्व अशुद्ध अध्वा का तत्व है तथा जीवों का विशेष गुण है। शुद्ध-विद्या जीवों से अप्रात्य है। यह तो सदाशिव और ईश्वर इन दो तत्वों के जो अधिष्ठाता, सदाशिव और ईश्वर हैं उनके ज्ञान का साधन है। शांकर वेदान्त में विद्या शब्द का जो ज्ञान अर्थ लिया गया है उससे कुछ विशिष्ट अर्थ त्रिक दर्शन में लिया गया है। अतः इस शास्त्र का अध्ययन करते समय सदैव इस अन्तर को ध्यान में रखना चाहिए। आगे के विवेचन से यह अन्तर स्पष्ट हो जाएगा।

शुद्ध-विद्या का स्वरूप

शुद्ध-विद्या क्या है ? वस्तुतः यह एक दृष्टिकोण है जो सदाशिव और ईश्वर तथा ईश्वर के अवतारों के संवेदन का कारण है। यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि करण की आवश्यकता भेद का प्ररोह होने पर ही होती है। अभेद की अवस्था में तो करण की कोई उपयोगिता ही नहीं। शिव और शक्ति तत्व पूर्ण अभेद की अवस्था है। इन्हें अपने स्वरूप के विषय में पूर्ण अहं का ही परामर्श होता है। शुद्ध संवित् ही इनका स्वरूप होता है। अतः उस अवस्था में करण की आवश्यकता ही नहीं होती। उससे नीचे की भूमिका में 'अहम्'' के साथ ''इदम्' का भी क्षीण सा अभास होने लगता है। उस समय संवित् ''अहम् इदम्''=मैं ही हूँ'' इस रूप में चमकने लगती है। यह सदाशिव तत्व की अवस्था है। अगली भुमिका में इदमंश थोड़ा और स्फुट हो जाता है तो यह ईश्वरतत्व की दशा कहलाती है। जिसमें संवित् का स्वरूप ''इदम् अहम्'' ऐसा होता है। यह दोनों अवस्थाएँ न तो पूर्ण भेद की अवस्थाएँ हैं और न पूर्ण अभेद की। अतः यह भेदाभेदमय भुमिका कहलाती है। इस भुमिका में किसी बाह्यकरण या अन्तःकरण की रचना तो हुई ही नहीं होती। तो फिर उस भुमिका में सदाशिव और ईश्वर भट्टारक के संवेदन का साधन क्या है ? केवल भेदाभेदमय जो दष्टिकोण है वही उनके संवेदन का साधन है। वह भेदाभेदमय दृष्टिकोण ही शुद्ध विद्या कहलाती है।

भाव यह है कि शुद्ध-विद्या सदाशिव-भट्टारक और ईश्वर-भट्टारक का करण-स्थानीय साधन-तत्व है।[54] इदन्ता और अहन्ता की अभेद-बुद्धि ही इस शुद्ध-विद्या का स्वरूप है।[55] इस अवस्था में इदन्ता और अहन्ता समधृत तुला पुट न्याय[56] से समान स्तर पर आ जाती है। ''अहम् अहम्'' और ''इदम् इदम्'' ऐसा बोधरूप चत्कार ही शुद्ध-विद्या है। सदाशिवावस्था में अहमंश का प्राधन्य था। ईश्वरावस्था में अहमंश के अन्दर से इदमंश का थोड़ा और अधिक स्फुट अभास होने लगता है। अर्थात अहंरूप प्रमातृता को इदंरूप प्रमेयता फीका सा करने लगती है किन्तु इन दोनों अवस्थाओं में न तो प्रमातृता (Subjectivity) प्रमेयता को दबा सकती है और न ही प्रमेयता (objectivity) प्रमातृता को प्रभावित करती है। यही समधृत तुलापुटावस्था है। अर्थात् जैसे किसी तराजु को ठीक बराबर बीच में पकड़ने पर उसका कोई पलड़ा न तो ऊँचा होता है और न नीचा, अपितु दोनों समान स्तर पर होते हैं, वैसे ही इदन्ता और अहन्ता जब अभेद-भाव में स्थित होती हैं तो यही शुद्ध-विद्या की अवस्था है। तराजु की अवस्था

भी भेद में अभेद की अवस्था ही है। भेद यही है कि उसके दो पलड़े हैं और अभेद यह है कि वे दोनों पलड़े समान स्तर पर हैं। शुद्ध-विद्या की भी यही स्थिती है। इदन्ता और अहन्ता में भेद तो स्पष्ट ही है। "अहम्" अहम् ही होता है और "इदम्" भी "इदम्" ही होता है, किन्तु दोनों तुल्य-परिमाण वाले हैं और तुल्य-बल हैं इसलिए अभिन्न कहलाते हैं। डाक्टर देवव्रत सेन ने समधृत तुलपुटन्याय की बड़ी सुन्दर व्याख्या प्रस्तुत की है।[57] तथा उसके मध्यम से शुद्ध-विद्या के स्वरूप को बड़े विशद रूप में समझाया है।

आचार्य योगराज ने परमार्थसार की टीका में शुद्ध-विद्या तत्व के स्वरूप को सद्योजात बालक के शिर के दृष्टान्त से विशद करने का प्रयास किया है। वे कहते हैं: "इदन्ता प्रधान्येन अहन्ताऽगुणीकारेण यः" अहम् अहम् इदम् इदम्, इत्येवंरूपः चमत्कार सद्योजात-बालस्येव शिरोऽगुंलीनिर्देश्यः एतदेव बोधसारत्वाद् भगवतः शुद्धविद्यातत्वम्"।[58]

अर्थात् अहमंश को गौण बनाकर जब इदमंश का प्राधान्य होता है तब यह बोध होता है कि अहम् अहम् ही है और इदम् इदम् ही है। यह बोध कुछ वैसा ही है जैसे किसी सद्योजात बालक के सिर को अंगुली के संकेत से निर्दिष्ट किया जाता है कि "इदं शिरः"। "इदं" शिरः इस वाक्य में केवल इदमंश का बोध ही शुद्ध विद्या है, शिर के अंश में नहीं। बोध का विषय तो अभी उत्पन्न ही नहीं हुआ होता। अभी तो केवल शुद्ध-विद्या का उदय हुआ है। इसलिए इदम् का कोई वाच्य अभी तक नहीं है। यदि इदम् का कोई विषय है भी तो वह इदम् ही है। जैसे अहम् का विषय अहम् ही होता है। अहम् और इदम् में गुण-प्रधानभाव अधिक विशदता प्राप्त नहीं करता, बल्कि अहम् ही इदम् रूप में चमत्कृत होता है। इसी का नाम समधृतन्तुला-पुट-न्याय है। जब अहमंश इदं के रूप में चमत्कृत होगा तो पौर्वापर्यभाव की दृष्टि से कुछ तो गौणता अहमंश में आयेगी ही और उसी दृष्टि से इदमंश में भी प्राधान्य का आभास होगा। वैसे इनमें गुणप्रधानभाव नहीं है। इसलिए तो यह शुद्ध-विद्या भेद में अभेद की अवस्था है। भेद की भूमिका इसके पश्चात् प्रारम्भ होती है।

इस प्रकार शुद्ध-विद्या एक निर्मल बोधस्वरूपा दृष्टि है। यह केवल सदाशिव भट्टारक, ईश्वर भट्टारक तथा सदाशिव ईश्वरतत्व के प्राणियों के ज्ञान का कारण है। यद्यपि वह वास्तव में करण नहीं है, किन्तु उपदेश-सौकर्य तथा समझने की सुविधा की दृष्टि से इस भेदाभेदमय दृष्टिकोण को उनका करण-स्थानीय मान लिया जाता है।

इस पंचम तत्व को शुद्ध विद्या नाम यूं ही नहीं दे दिया गया। अपितु यह सर्वथा सहेतुक और अन्वर्थ नाम है। आचार्य गुप्त का कथन है[59] कि इसे शुद्ध इसलिए कहा जाता है क्योंकि यह विश्व-प्ररोह की कारणस्वरूपा माया से सर्वथा अस्पृष्ट इदन्ता को भासित करती है। अर्थात् शुद्ध विद्या केवल इदमंश का ही बोधरूप है, इदंपद वाच्य विश्व का बोधरूप नहीं है। इसीलिए यह शुद्ध कहलाती है। अशुद्धता तो माया का प्ररोह होने पर ही आती है। अभी उसका अविर्भाव हुआ ही नहीं है। यह शुद्ध-विद्या अन्य की अपेक्षा के बिना स्वयम् भासित होती है, इसलिए यह विद्या कहलाती है। "विद्यते ज्ञायते इति विद्या"। यहाँ यह विशेषरूप से ध्यान दिया जाना चाहिए कि शुद्ध विद्या का भासन किसी अन्य से नहीं होता, अपितु वह स्ववम् ही भासित होती है। वेत्ति विद्यते चेति विद्या—अर्थात् जो इदन्ता को जानती है तथा स्वयम् भी जानी जाती है, इसलिए विद्या कहलाती है। विद्या तत्व की उत्पति माया के अनन्तर होने वाली है। उस विद्या से सदाशिव और ईश्वर भट्टारक की करणस्थानीय इस विद्या को पृथक् करने के लिए ही इसमें "शुद्ध" विशेषण लगाया गया है। विद्यातत्व तो माया का कार्य साधक एक कन्चुक तत्व होने के कारण अशुद्ध तत्व है। इसीलिए वह अशुद्ध तत्व है। इसीलिए वह अशुद्ध अध्वा के अन्तर्गत आता है।

शुद्ध-विद्या आगे प्रादुर्भूत होने वाले विश्व का परामर्शन ईश्वर की अपेक्षा अधिक स्फुटरूप में करती है, इसलिए इस तत्व में क्रियाशक्ति की प्रधानता रहती है।[60] ईश्वरावस्था में ज्ञानशक्ति का उद्रेक था। इसमें क्रिया शक्ति का उद्रेक है। क्रियाशक्ति के द्वारा ही विश्व का अवभासन विशद रूप में सम्भव है। केवल इदमंश की प्रधानता से ही विश्व का परामर्शन सम्भव नहीं होता, और न ही केवल अहमंश (Self experience) की स्फुटता से ही विश्व का प्रकाशन बेहतर रूप में हो सकता है। विश्व के लिए तो इन दोनों का समधृत तुलापूट (equipoised) की स्थिति में होना अनिवार्य है। ईश्वरावस्था में उतर कर परमशिव (Suprcme Lord) का जो अहमंश पृष्टभूमि में चला गया था, वह शुद्ध विद्या की दशा में कुछ और चमत्कृति (Prominence) प्राप्त कर लेता है। इस प्रकार अहमंश और इदमंश (Pure Subject & Pure Object) समान स्थिति पर आ जाते हैं।[61] इसका परिणाम यह होता है कि दोनों की समान स्थिति से क्रियाशक्ति और उद्बुद्ध हो उठती है जिससे विश्व का परामर्शन अधिक स्फुटरूप में होने लगता है। विश्व का यह स्फुटतर मरामर्श बाह्य विश्व के नर्माण में सहायक सिद्ध होता है।

शुद्ध-विद्या का अवान्तर सोपान महामाया

शुद्ध विद्यातत्व के कुछ अवान्तर सोपान भी त्रिक शास्त्र में स्वीकृत किए गए हैं। यह कहा जा चुका है कि शुद्ध विद्या एक दृष्टिकोण—विशेष है। भेद में अभेद प्रथा ही वह दृष्टिकोण है। "अहम् अहम् और इदम् इदम् तथा अहम् इदम् या इदम् अहम्" ये सभी दृष्टिकोण भेदाभेदमय भूमिका को दर्शाते हैं। शुद्ध-विद्या के भीतर ही एक अन्य दृष्टिकोण भी है जिसे महामाया कहा जाता है। इस महामाया के दो रूप हैं—उत्कृष्ट महामाया और अपर महामाया।

क—उत्कृष्ट महामाया

यह वह दृष्टिकोण है जिसमें स्थित रहकर प्राणी अपने आपको शुद्ध संवित्‌रूप को समझता रहता है, इस विषय में उसे कोई विपरीत ज्ञान नहीं होता, किन्तु वह स्वयम् को परमेश्वर से, अन्य प्राणियों से तथा इदंपद वाच्य विश्व से भिन्न समझता रहता है। इस दृष्टिकोण में माया का जैसा दृष्टिकोण अंशत: मिला रहता है। किन्तु माया का जो विशेष प्रभाव होता है, तिरोधान या आवरण आदि, वह इस दृष्टिकोण में नहीं होता।

अत: इस दृष्टिकोण कोण को शुद्ध विद्या से कुछ नीचे और तिरोधान करने वाली माया से कुछ ऊपर का स्थान दिया गया है। क्योंकि न तो इसे शुद्ध-विद्या ही कहा जा सकता है न माया ही। इसका विशेष नाम है महामाया। इसे शुद्धविद्या इसलिए नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इसमें थोड़ी सी भेद बुद्धि विद्यमान है। स्वयम् को बोधात्मक समझते हुए भी अन्यों से भेदबुद्धि रखना यही बात उसे शुद्ध-विद्या के स्तर से नीचे गिरा देती है। इसे माया इसलिए नहीं कह सकते क्योंकि तिरोधान करने वाले समस्त प्रभाव इसमें नहीं रहते। माया तो पूर्ण भेदबुद्धि की अवस्था है। अत: इसे रौरव आदि शास्त्रों में "महामाया" संज्ञा दी गयी है।[62] यह उत्कृष्ट कोटि की म ामाया है। उत्कृष्ट इसलिए कहा गया क्योंकि इसकी एक निम्न कोटि भी है जिसका विवेचन आगे किया जा रहा है।

इस महामाया के अधिकारी प्राणी मन्त्रप्राणी कहलाते हैं। इसी महामाया में अवतीर्ण होकर ईश्वर भट्टारक भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं। भगवान् अन्तनाथ ही महामाया क्षेत्र के शासक हैं और इसके आगे की जो सृष्टि होने वाली है उसका संचालन भी यही करते हैं।

ख—अपर महामाया

पूर्वोक्त महामाया का एक थोड़ा सा अविकसित रूप भी है। इस अविकसित रूप वाली अपर महामाया के दृष्टिकोण के अनुसार प्राणी अपने

आपको शुद्ध संविद् रूप तो समझता रहता है किन्तु उसे अपनी क्रियाशक्ति का ज्ञान नहीं होता। परमेश्वर तो प्रकाश और विमर्श अर्थात् ज्ञान-शक्ति और क्रियाशक्ति दोनों सामर्थ्यों से युक्त है। किन्तु इस महामाया के दृष्टि-कोण में प्राणी को अपनी क्रियाशक्ति का चमत्कार अज्ञात रहता है। यही अपर महामाया है। इस दृष्टिकोण के प्राणियों को विज्ञानाकल कहा गया हैं।[63]

यह दोनों प्रकार की महामाया वस्तुतः महामाया ही है। समझने और समझाने के लिए इसके दो दृष्टिकोण कर दिए गए हैं। वस्तुतः वह एक ही महामाया है। इस महामाया को अप्रामणिक नहीं समझना चाहिए। परात्रिशिका की व्याख्या में आचार्य अभिनव गुप्त ने तर्क पूर्वक "महामाया" की सिद्धि की है। वे कहते हैं कि माया तत्व से ऊपर और शुद्ध विद्या से नीचे कोई तत्वान्तर अवश्य ही होना चाहिए। जहाँ विज्ञानाकल प्राणियों की स्थिति हो सके।[64] अन्यथा विज्ञानाकल प्राणियों की अवस्थित असम्भव हो जाएगी। माया तत्व में प्रलयाकल प्राणी रहते हैं और शुद्ध विद्या के प्राणी विद्येश्वर हैं, फिर विज्ञानाकल कहाँ रहेंगे।[65] अतः महामाया तत्व शुद्ध-विद्या का अयान्तर तत्व है।

महामाया पृधक् तत्व नहीं

पूर्वोक्त दोनों प्रकार की महामाया को पृथक तत्व के रूप नहीं गिना जाता। अन्यथा तत्वों की संख्या छत्तीस से अधिक हो जाएगी। जब कि त्रिक शास्त्र में अनेकत्र छत्तीस तत्यों की प्रतिज्ञा की गयी है।[66] इस महा-माया को शुद्ध-विद्या के भीतर ही परिगणित किया जाता है। वास्तव में तो यह तत्वसंख्या कोई अटल नियम नहीं रखती है। तत्वों का विवेचन करना त्रिक शास्त्र का प्रधान लक्ष्य नहीं है, अपितु यह तो परमशिव के यथार्थ—स्वरूप को समझने के लिए एक उपक्रम है। इस तत्व विवेचन का दूसरा लक्ष्य त्रिक-आचार के आणवोपाय की तत्वाध्वा नामक धारणा में उपयोग को सिद्ध करना है। तत्वों का अधिकाधिक विश्लेषण किया जाए तो तत्वों की संख्या को बढ़ाया भी जा सकता है और संश्लेषण किया जाए तो उनकी संख्या को घटाया भी जा सकता है। इसलिए त्रिकागमों में तत्वों की संख्या कहीं छत्तीस या अड़तीस है, कहीं नियति और काल को पृथक् निरूपति न करके चौतीस ही तत्व माने गए हैं[67] और कहीं अधिक संश्लेषित करके शिव शक्ति और नर ये तीन ही तत्व स्वीकार किए गए हैं।[68] वस्तुतः तत्व तो परमार्थरूप में एक परमशिव ही है। उसी के विश्वमय रूप की व्याख्या के लिए तत्वों का प्रविभाग किया गया है। सामान्य रूप

से तत्व संख्या छत्तीस ही है। अतः महामाया भेदरूपी मल से रहित होने के कारण शुद्ध विद्या का ही एक अंग माना गया है। कहीं कहीं इसमें अज्ञान मलाश का सद्भाव होने से माया तत्व के पुच्छ के रूप में भी गृहीत किया गया है।[69]

शुद्ध-विद्या तत्व के अधिष्ठाता—भगवान् अनन्तनाथ

शुद्ध विद्या अथवा महामाया में अवतीर्ण होकर ईश्वर भट्टारक भगवान् अनन्तनाथ कहलाते हैं। ये भगवान् अनन्तनाथ शुद्ध विद्या तत्व के शासक भी है और यहाँ से आगे की अशुद्ध सृष्टि का भी संचालन करते हैं। भगवान् अनन्तनाथ को अघोरेश भी कहा जाता है। अघोर शक्तियों का स्वामी होने के कारण इन्हें अघोरेश की संज्ञा दी गयी है। सकल सृष्टि-चक्र में घोर घोरतर और अघोर ये तीन शक्तियाँ काम करती हैं। घोर शक्तियाँ प्राणियों को संसार में बाँधे रखती हैं और उनसे शुभाशुभ कार्य कराती हैं। घोरतर शक्तियाँ रौरव आदि नरकों में गिराती हैं और अघोर शक्तियाँ प्राणियों को उत्थान की ओर ले जाती हैं। अघोर शक्तियों के स्वामी भगवान् अनन्तनाथ ही हैं। अशुद्ध अध्वा का सृजन भी ये ही करते हैं।[70]

इन्हें अनन्तनाथ क्यों कहा जाता है यह भी विचारणीय है। त्रिक दर्शन अध्येताओं को यह बात सदैव दृष्टि में रखनी चाहिए कि यहाँ कोई भी संज्ञा अर्थशून्य या अभिप्राय रहित नहीं है। प्रत्येक नाम का एक गूढ़ अर्थ है। गुण और क्रिया के आधार पर ही उसे यह वह नाम दिया गया है। पिछले अध्ययन से शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या तत्वों के नामकरण का रहस्य पाठक जान चुके हैं। अनन्तनाथ या अनन्त भट्टारक भी अन्वर्थ संज्ञा है।

ये अनन्त भट्टारक कौण हैं? वस्तुतः यह ईश्वर भट्टारक का ही कुछ विकसित दृष्टिकोण है। भावी संसार के रेखाचित्र जैसी अवस्था का नाम ईश्वर-तत्व था। भगवान् ईश्वर भट्टारक उस ईश्वरतत्व के अधिष्ठाता थे। वे ही ईश्वर भट्टारक जब उस विश्व को और अधिक स्पष्ट और विकसित रूप में देखने की ईच्छा करते हैं तो वे अपने स्वरूप को अनन्तानन्त रूपों में विस्तारित कर लेते हैं। तब उन्हीं का नाम अनन्तनाथ हो जाता है। वस्तुत: अशुद्ध अध्वा के रूप में चतुर्दिक फैला हुआ यह विराट् विश्व अनन्त-भट्टारक का ही भूमारूप है। ईश्वर की ईच्छा के कारण क्षुब्ध हुए भोगवाञ्छा से मन्डित जीवों का विभाग करने के लिए ही भगवान् अघोरेश अनन्त-भट्टारक अशुद्ध-अध्वा का सृजन करते हैं।[71]

शिव, शक्ति, सदाशिव-भट्टारक, ईश्वर भट्टारक तथा भगवान् अनन्त-नाथ पाँच तत्वेश्वरों के स्वरूप को समझने में प्राय: प्रमाद हो जाया करता है। प्राय: इन्हें अध्येता कोई शरीरधारी प्राणी समझ लेते हैं। वस्तुत: ऐसा नहीं है। उक्त पाँचों तत्वेश्वर कोई शरीरधारी अवतार नहीं है, न ही ये कोई विग्रहधारी देवविशेष हैं। ये तो परमेश्वर के पाँच दृष्टिकोण हैं। शुद्ध संवित् ही इनका वास्तविक स्वरूप हैं। दृष्टिकोण के भेद से ही परमेश्वर का भिन्न भिन्न स्वरूप वाला होना और पृथक् पृथक् नामों को धारण करना कोई अनुचित बात नहीं है। लोक में भी प्राय: ऐसा होता है। एक ही पुरुष दृष्टिभेद से अन्यों के द्वारा मातुल भागिनेय पिता पितृव्य पितामह मातामह आदि नामों से पुकारा जाता है और तदनुकूल ही वह व्यवहार भी करता है। पिता पितृव्य और पितामह आदि शब्द एक दृष्टि-कोण विशेष के ही तो सूचक हैं। इसी प्रकार परमेश्वर भी चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया इन पाँच दृष्टिकोणों की विशदता से क्रमश: शिव शक्ति सदाशिव ईश्वर और शुद्धविद्या इन पाँच तत्वों के अधिष्ठाता के रूप में शिव शक्ति, सदाशिव-भट्टारक, ईश्वर भट्टारक तथा अनन्तनाथ कहलाते हैं।[72]

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि परमेश्वर के उक्त नामों का आधार क्या है? उसे ये नाम किसने दिए? और इनकी प्रामाणिकता में क्या हेतु है? तो इन प्रश्नों का कुछ समाधान पिछले प्रकरण में किया जा चुका है। वर्णार्थ और धात्वर्थ ही इन नामों का आधार है। त्रिक शास्त्र के रहस्यवेता सिद्ध पुरुषों ने ही इन तत्वों और तत्वेश्वरों का उक्त नाम-करण किया है। मालिनी विजयोत्तर, स्वच्छन्द तन्त्र, परात्रिंशिका, शिवसूत्र आदि आगमग्रन्थ ही इनके नामकरण में प्रमाण हैं।

निष्कर्ष यह हुआ कि भगवान् अनन्त-भट्टारक शुद्ध विद्या के अधिष्-ठाता हैं। ये अनन्त भट्टारक ही शुद्ध-विद्या तत्व के विद्येश्वर या मन्त्र प्राणियों पर शासन करते हैं और ये ही आगे की पारमेश्वरी लीला का संचालन करते हैं। माया के द्वारा फैलाया हुआ यह विश्व प्रपञ्च तथा विभिन्न लोक लोकान्तरों का समूह कितना विशाल है, उसकी कल्पना करना भी मनुष्य के वश की बात नहीं है। सृष्टि की सीमा न किसी ने आज तक पायी है और न ही कोई पा सकता है। सृष्टि अनन्त है असीम है। जब सृष्टि असन्त है तो उसके निर्माता अनन्त नहीं होगें तो फिर क्या होगें? यह सकल विश्व तो परमात्मा का एक चरण है। परमात्मा तो चतुष्पात् है।[73] फिर उसकी अनन्तता भला बुद्धि में कैसे समा सकती है।

ईश्वर की लीला का विस्तार भगवान् अनन्तनाथ के अतिरिक्त भला अन्य कौन कर सकता है। ईश्वर-भट्टारक ने अनन्तनाथ को ही यह उत्तरदायित्व सौंपा है कि वे शुद्ध सृष्टि के अनन्तर अशुद्ध सृष्टि का अनन्तानन्त रूपों में विस्तार करें।[74]

भगवान् अनन्तनाथ कभी कभी इच्छानुसार सूक्ष्म शरीरों को भी धारण कर लेते हैं। वे उन शरीरों की सृष्टि भी कर लेते हैं और उनका लय भी कर डालते हैं। परमात्मा के व्यवहारों को चलाने के लिए वे सशरीर भी प्रकट हो जाते हैं और अशरीर भी। वैसे इनका स्वरूप शुद्ध संवित् ही होता है।

शुद्ध-विद्या तत्व के प्राणी—मन्त्र और विज्ञानाकल

पूर्व पंक्तियों में हमने शुद्ध-विद्या के अवान्तर रूपों की चर्चा की थी जो महामाया कहलाते हैं। उत्कृष्ट कोटि की महामाया में स्थित प्राणी मन्त्रप्राणी या विद्येश्वर प्राणी कहे जाते हैं। सदाशिव तत्व के प्राणी मन्त्र-महेश्वर और ईश्वर-तत्व के प्राणी मन्त्रेश्वर हैं। इन दोनों प्राणियों का सम्बन्ध मन्त्र प्राणियों से है। इसलिए इनके स्वरूप को समझना आवश्यक है।

मन्त्र-प्राणी

मन्त्र-महेश्वर और मन्त्रेश्वर प्राणियों से अवर कोटि के प्राणी मन्त्र-प्राणी हैं। मन्त्र-महेश्वर और मन्त्रेश्वर प्राणी तो शुद्ध संवित् को ही अपना स्वरूप समझते थे किन्तु मन्त्रप्राणी शुद्ध-प्रकाश को अपना स्वरूप और शुद्ध विमर्श के ऐश्वर्य को अपना स्वभाव समझते हैं। स्वरूप और स्वभाव में अन्तर हुआ करता है। स्वरूप तो उसका आत्मा ही होता है। स्वरूप पदार्थ से पृथक् नहीं होता। स्वभाव पदार्थ का गुण या धर्म होता है। यद्यपि स्वभाव भी पदार्थ से अपृथक् करके जाना जाता है। जैसे उष्णता अग्नि का स्वरूप है किन्तु जलाना उसका स्वभाव है। इसी प्रकार शुद्ध प्रकाश मन्त्रप्राणियों का स्वरूप है किन्तु विमर्श को वे अपना स्वरूप न समझ कर अपना स्वभाव समझते हैं। यही बात उन्हें मन्त्रेश्वरों से निम्न कोटि में ला खड़ा करती हैं। अपने "अहम्" के विषय में तो किसी प्रकार का संकोच उन्हें नहीं होता, इसलिए ये आणवमल से सर्वथा रहित होते हैं, किन्तु वे दूसरे प्राणियों को, परमेश्वर को तथा जगत् को अपने से भिन्न रूप में देखते हैं।[75] इनकी दृष्टि में अहम् और इदम् भिन्न रूप में गृहीत किए जाते हैं। ये ऐसा सोचते हैं कि "अहम् अहम् और इदम् इदम्" हैं। अर्थात् मैं तो मैं ही हूँ और यह यह ही है। मैं अन्य हूँ और यह प्रमेय

जगत् मुझसे भिन्न है। इस भेद-प्रथा के कारण इनमें मायीयमल का अंश माना गया है।[76] एकमात्र मायीय मल ही इनमें आणवमल रहता है और न कार्ममल रहता है। किन्तु माया का पूर्ण प्रभाव इनमें नहीं रहता है। माया तो स्वरूप का आवरण करती है। स्वरूप का आवरण मन्त्र प्राणियों को नहीं होता। अत: इस प्रकार की माया को महामाया कहा जाता है। भेददृटि का नाम ही मायीय मल है। ये मन्त्रप्राणी अन्य प्राणियों से, परमेश्वर से तथा इदमंश को भेददृष्टि से देखते हैं। अत: मायीय मल का किंचित् अंश तो इनमें स्वीकार करना ही पड़ता है। हाँ आणव मल और कार्ममल इनमें बिलकुल नहीं होता। यदि यह मल भी इनमें होते तो ये पशुप्रमाता कहलाते।

मलों का विवेचन आगे किया जाएगा। यहाँ इतना ही समझ लेना चाहिए कि त्रिक दर्शन में संसाररूपी अंकुर के कारण रूप अज्ञान को मल कहा जाता है।[77] यह तीन प्रकार का है—आणव मल, मायीय मल और कार्ममल। अणु अर्थात् संकुचित वस्तु को अपना स्वरूप समझना आणव मल है। भेद दृष्टि का नास मायीय मल है और परमेश्वर के द्वारा किए गए कर्मों में अपनी कर्तृत्य-बुद्धि रखना कार्ममल है। मन्त्र प्राणियों में अहम् के विषय में किसी प्रकार का सकोच नहीं होता। ये शुद्ध प्रकाश को ही "अहम्" समझते हैं : अत: इनमें आणव मल नहीं होता। मायीय मल भी इनमें नहीं होता। क्योंकि ये स्वयम् को कर्ता नहीं समझते।

मन्त्र प्राणियों को विद्येश्वर भी कहा जाता है। शुद्ध-विद्या तत्व में अधिष्ठित होने के कारण इन्हें विद्येश्वर संज्ञा दी गयी है। यद्यपि शुद्ध-विद्या तत्व के अधिष्ठाता भगवान् अनन्तनाथ हैं तथापि विद्येश्वर भी अधिष्ठाता कहलाते हैं क्योंकि विद्येश्वरों का स्वरूप भी अतन्त-भट्टारक जैसा ही होता है।

शुद्ध-विद्या के प्राणियों को मन्त्र क्यों कहा जाता है? इन्हें कोई अन्य नाम भी दिया जा सकता था, किन्तु इन्हें मन्त्र नाम ही क्यों दिया गया? यह एक महत्वपूर्ण विचारणीय प्रश्न है। इस पर किंचित् विचार किया जाता है।

यह पहले बताया गया जा चुका है कि शुद्ध विद्या या महामाया एक दृष्टिकोण-विशेष हैं। उस दृष्टिकोण का कोई आधार तो अवश्य ही होना चाहिए। बिना आधार के दृष्टिकोण रहेगा कहाँ? उस दृष्टिकोण का आधार मन्त्र ही हो सकता है। विद्या का आधार तो अन्य पशु-प्रमाता भी हो सकते हैं किन्तु शुद्ध-विद्या का आधार तो मन्त्र ही हो सकता है।

जिसे मन्त्रप्राणी कहा गया है वह भी एक दृष्टिकोण ही है। चूंकि यह दृष्टिकोण अत्यन्त निगुढ अदृश्य और अव्यवहार्य है इसलिए मन्त्र कहलाता है। ऐं ह्रीं क्लीं आदि मन्त्र भी इसलिए मन्त्र कहलाते हैं क्योंकि इनमें एक उत्कृष्ट शक्ति छिपी हुई है। ये मन्त्रप्राणी वाचकता के द्वारा पशुओं का उद्धार करने के लिए उन पर अनुग्रह करते हैं। वाचक सदैव वाच्य की अपेक्षा करता है। इसी कारण ये वाचक मन्त्र वाच्यरूप मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वरों की अपेक्षा करते हैं। मन्त्रप्राणियों के साथ ऐसे सात करोड़ वाचक मन्त्र त्रिक शास्त्र में माने गये हैं।[78] पशुओं का उद्धार करना इनका स्वभाव है। पारमेश्वरी लीला के विकास में मन्त्रप्राणियों का ही अधिक योगदान होता है। इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि निगूढ स्वभाव वाला होने के कारण ही विद्येश्वर प्राणियों को मन्त्र प्राणी की संज्ञा दी गयी है। मन्त्र-प्राणियों में अंशतः मायीय मल होने के कारण इन्हें शुद्धाशुद्ध कोटि में ही रखा गया है। स्वरूपत ये शुद्ध होते हैं। केवल किंचित् भेद दृष्टि ही इन्हें अशुद्ध बनाती है। मन्त्र-प्राणियों को भेददृष्टि परमेश्वर के कृत्यों को स्फुटरूप से बचाने के लिए होती है। पूर्वप्राणियों की अपेक्षा इनमें भेद-दृष्टि अधिक होती है, इसी कारण सृष्टि के विकास में इनका योगदान अधिक होता है।

परमेश्वर का साक्षात् कर्तृत्व

अभी तक शिवतत्व से लेकर शुद्ध-विद्यातत्व के प्राणियों का विवेचन किया गया। शिव और शक्ति तत्व के प्राणी अकल कहलाते हैं। सदाशिव तत्व के प्राणी मन्त्रमहेश्वर, ईश्वर तत्व के मन्त्रेश्वर और शुद्ध विद्या तत्व के प्राणी मन्त्र या विद्येश्वर नाम से जाने जाते हैं। उक्त पाँच तत्वों की, पाँच तत्वेश्वरों की और स्वभावभूत स्वातन्त्र्य के विलास से अपनी ही अनरुद्ध इच्छा के द्वारा करते रहते हैं।[79] उनके स्वातन्त्र्य रूपी समुद्र में प्रतिक्षण उक्त तत्वों, तत्वेश्वरों और प्राणियों का उदय और लय सदैव होता रहता है। यही उदय और लय उनकी स्पन्दशीलता है और यही उनकी परमेश्वरता है। इनके अतिरिक्त परमेश्वरता कुछ नहीं। यदि स्पन्द-शीलता उसमें नहीं होती तो वे एक निःस्पन्द शून्य ही होते, परमेश्वर बिल-कुल नहीं होते। किन्तु वे परमेश्वर हैं तो उनकी स्वभावभूत परमेश्रता भी है और परमेश्वरता को सिद्ध करने वाले अन्य सभी कुछ भी हैं। अपनी परमेश्वरता की महिमा से वे अपने आप ही अपने ही भीतर, अपनी ही शक्ति से और प्राणियों की सृष्टि और संहार करते ही रहते हैं। सृष्टि और संहार की यह प्रक्रिया निरन्तर चलती ही रहती है। एक क्षण के

लिए भी रुकती नहीं। जिस प्रकार समुद्र में तरंगों का उदय और विलय कभी नहीं रुकता, होता ही रहता है वैसे ही पूर्वोक्त शुद्ध सृष्टि का उदय और संहार परमेश्वर रूपी समुद्र में सदैव होता रहता है, कभी विश्राम नहीं लेता। इस शुद्ध सृष्टि के उदय और विलय के कर्ता साक्षात् परमशिव ही हैं। यहाँ तक के कार्य को वे किसी अन्य अधिकारी को नहीं सौंपते। स्वयम् अपनी ही इच्छा से करते रहते हैं।

शुद्ध सृष्टि के उक्त शाम्भव, शाक्त, मन्त्रमहेश्वर मन्त्रेश्वर और मन्त्रप्राणियों का स्वरूप केवल शुद्ध चैतन्य ही होता है। ये शुद्ध चैतन्य के ही बने होते हैं। इस विषय में किसी प्रकार की भ्रान्ति नहीं रखनी चाहिए। इन्हें शरीरधारी और श्वास प्रश्वास तथा इन्द्रियों से युक्त प्राणी नहीं समझना चाहिए। उपर्युक्त पाँचों प्राणी स्थूल देह,बाह्य इन्द्रियों और प्राण से कार्य नहीं करते। इनका समस्त व्यवहार तो मात्र चैतन्य के ही द्वारा सम्पन्न होता है। प्रकाश और विमर्श ही इनका स्वरूप होता है। अत: ये विशुद्ध ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति से सम्पन्न होते हैं। इन्हें सदैव अपने भीतर "अहम्" अथवा "अहमिदम्" अथवा इदमहम्" या "अहम् इदम् इदम्" इस प्रकार का प्रकाश या अवभास हुआ करता है। इसी प्रकार का विमर्श भी होता है। प्रकाश ही इनका ज्ञान है और विमर्श ही इनकी क्रिया है। जीवन-शक्ति के दो ही तो रूप होते हैं—ज्ञान और क्रिया। ज्ञानक्रिया-रूप जीवन-शक्ति का ही नाम प्राण।[80] ऐसे ही प्राणों से युक्त होने के कारण उक्त प्रामाताओं को प्राणी कहा जाता है।

जीवन दो प्रकार का होता है—स्वगत और परप्रमातृगत। इन दोनों ही जीवनों में ज्ञान और क्रिया का ही तादात्मय है। ज्ञान तो स्वत: सिद्ध ही होता है चाहे वह स्वगत हो या परप्रमातृगत हो। क्रिया की स्थिति कुछ भिन्न है। परप्रमाताओं में तो क्रिया देह के सम्पर्क से अभिव्यक्त होती है।[81] किन्तु जो आन्तरी क्रिया होती है वह तो संवेदन से अभिन्न ही होती है। उसी का नाम विमर्श है। वह विमर्शरूपा क्रिया ही मन्त्रप्राणियों का प्राण है।[82] ऐसे प्राणियों में क्षुधा पिपासा श्वास, प्रश्वास, निद्रा, जागरण आदि नहीं होते। ये तो स्थूल प्राणधारियों के धर्म है। पूर्वोक्त पाँचों प्रकार के प्राणियों का जीवन तो शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रियात्मक चैतन्य-रूप होता है। अत: ये जरा-मरण से रहित होते हैं। इनका उदय और विलय तो पपमेश्वर के भीतर ही उन्हीं की इच्छा से क्षण क्षण में निरन्तर होता रहता है।

विज्ञानाकल प्राणी

शुद्ध-विद्या और माया के बीच में एक अवान्तर भूमिका महामाया के एक अविकसित रूप की चर्चा पीछे की गयी थी। उसमें स्थित प्राणी विज्ञानाकल या विज्ञानकेवली कहलाते है।[83] विज्ञानाकल प्राणी विद्येश्वर प्राणियों से अवरकोटि के प्राणी हैं। विज्ञानाकल प्राणियों को प्रमेयरूप जगत् की कोई प्रतीति नहीं होती। ये अपने आपको शुद्ध प्रकाशात्मक ही समझते हैं। अपनी विमर्शरूपता की प्रतीति इन्हें नहीं होती। इन्हें केवल अपनी ज्ञानरूपता का ही अनुभव होता है। अपनी क्रियारूपता का अनुभव इन्हें नहीं होता। परमेश्वर ने अपना विमर्शात्मक स्वभाव इनसे छिपाकर रखा होता है। इन प्राणियों में परस्पर किंचित भेद का भी अवभास होता है। अत: इसमें थोड़ा सा मायीय मल का अंश भी रहता है, किन्तु स्फुट मायीय मल का इनमें अभाव होता है। केवल ज्ञानात्मकता का ही अनुभव होने के कारण इन्हें विज्ञानाकल या विज्ञानकेवल कहा जाता है।[84]

विज्ञान-केवल प्राणियों में केवल एक ही मल होता है—आणव मल।[85] स्वरूप-संकोच को आणव मल कहा जाता है। आणव मल दो प्रकार का है—स्वातन्त्र्यात्मक स्वरूप की हानि और दूसरा स्वातन्त्र्य का अबोध (ज्ञान न होना)[86] विज्ञानाकल प्राणी अपने स्वातन्त्र्य से अपरिचित रहते हैं अत: ये अपने को परमेश्वर से भिन्न समझते हैं। इसी स्वरूप-संकोच के कारण इन्हें आणव मल से युक्त माना जाता है।[87] इन्हें अपने विज्ञानरूप का ज्ञान होता है। किन्तु अपने विमर्शरूप स्वातन्त्र्य का बोध इन्हें नहीं होता। वह सुषुप्तावस्था में पड़ा होता है। विद्येश्वर तथा विज्ञानाकलों में यही अन्तर है कि विद्येश्वरों में किसी प्रकार का स्वरूप-संकोच न होने से आणवमल का अभाव रहता है। विज्ञानकलों में एक प्रकार का संकोच विद्यमान होने से आणवमल की सत्ता होती है। ये एक दूसरे को परस्पर भिन्न ही समझते हैं।[88] यह भेद इनमें ईश्वर की इच्छा से ही उत्पन्न हुआ है। आणवमल की विद्यमानता ही इन्हें विद्येश्वर प्राणियों से निम्न कोटि में ला खड़ा करती है।

विज्ञानाकल प्राणी कार्ममल से मुक्त रहते हैं। इस कारण से ये संसृति के चक्कर में नहीं पड़ते। माया-निर्मित संसार में इनका लौटना नहीं होता। परमेश्वर की अनुग्रह लीला के विलास से कभी किसी मन्त्रेश्वर या मन्त्रमहेश्वर की कृपा से ये अपनी शुन्यवस्था से उभर कर शुद्ध विद्या के क्षेत्र में प्रवेश कर जाते हैं।[89] जब तक इन पर परमेश्वर का अनुग्रह नहीं होता तब तक वे इसी क्रिया-शक्ति से रहित शुन्य प्रकाशरूपता पर

ही चिरकाल तक ठहरे रहते हैं। संसार में आने के लिए कार्मफल की अपेक्षा है। कार्मफल इनमें होता ही नहीं। अद्वैत वेदान्ती सम्भवत. इसी शुन्यात्मक विज्ञानाकलों की स्थिति को ही निरोधसमाधि या परमपद की अवस्था कहते हैं और इसी भूमि में पहुँच कर चिरकाल तक वहीं विश्राम करते रहते हैं।[90]

विज्ञानाकल प्राणी अपने विमर्शात्मक ऐश्वर्य से अनभिज्ञ होने के कारण किसी भी प्रकार के भावात्मक आनन्द के आस्वाद से रहित ही होते हैं भावात्मक आनन्द तो विमर्शात्मक ऐश्वर्य में ही निहित होता है। विज्ञान-कल प्राणियों का आनन्द नैयायिकों के आनन्द के समान दुःखाभावरूप होता है। इन्हें क्लेश कर्म विपाक और कर्माशयों से होने वाले दु ख नहीं होते। उसी दु खाभाव को नैयायिक कहते हैं। वे किसी भावरूप आनन्द को स्वीकार नहीं करते। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में आनन्द भावात्मक भी होता है जो विमर्शरूप ऐश्वर्य के बोध से उत्पन्न होता है। विज्ञानाकल प्राणियों को उस भावात्मक आनन्द का आस्वाद नहीं मिलता। उस आनन्द का आस्वाद तो पूर्वोक्त अकल, मन्त्रमहेश्वर मन्त्रेश्वर और मन्त्र इन चार प्रकार के प्राणियों को ही होता है। ये तो शून्यप्राय प्रकाश-स्वरूप विज्ञान के ही माहात्मय से अकल बने रहते हैं। अकल अर्थात कलातत्व से तथा तत्व के शरीर इन्द्रिय और अन्त.करण आदि विकारों से रहित रहते हैं। इसीलिए इन्हें विज्ञानाकल कहा जाता है।[91] इन्हें विज्ञानकेवल भी कहा जाता है क्योंकि स्वातन्त्र्य से रहित केवल विज्ञान ही इनका स्वरूप होता है।[92] इस प्रकार महामाया क्षेत्र के उक्त दोनों प्राणियों में कला का अंकुरण प्रारम्भ हो जाता है। किन्तु मल के होते हुए भी ये शुद्ध होते हैं क्योंकि कोई भी मल पूर्णरूप से अपना प्रभाव नहीं जमाने पाता है। इसी कारण ये शुद्धाशुद्ध प्राणी कहलाते हैं। इसके आगे को सृष्टि भी अशुद्ध होती है और उसके प्राणी भी अशुद्ध कहलाते हैं।

शुद्ध-विद्यातत्व पर एक समीक्षात्मक दृष्टि

त्रिक दर्शन में प्रतिपादित शुद्धविद्या तत्व की आवश्यकता और उसके स्वरूप पर यदि समीक्षात्मक दृष्टि से विचार किया जाए तो इसकी समीचीनता हमारी समझ में आ जाती है। परमेश्वर की विश्वमयता के प्रसार में इसकी उपयोगिता भी है और इसका स्वरूप भी उचित ही परिभाषित किया गया है। सृष्टि के विकास के लिए इच्छा ज्ञान और क्रिया में से क्रियाशक्ति ही अहम् और इदम् को अर्थात् प्रमातृता तथा प्रमेयता को गतिमत्ता प्रदान करके समान स्तर पर लाकर खड़ा करती है। प्रमातृता और

प्रमेयता की समान स्थिति ही विश्व के प्रकाशन में समर्थ हो सकती है। इन दोनों में यदि थोड़ा सा भी वैषम्य आया तो संसार की रचना की प्रक्रिया गड़बड़ाने लगती है। लोक में दैनन्दिन रचना कार्यों में इस सत्यता को हम स्वीकार करते हैं।

शुद्ध विद्या तत्व में जो सर्वाधिक बात हमारा ध्यान आकृष्ट करती है वह यह है कि इस तत्व में शुद्ध शब्द का संयोजन विशेषण रूप में क्यों किया गया। वस्तुतः यहाँ शुद्ध शब्द लगाना सार्थक है। इसे विद्यातत्व से पृथक् करने के लिए शुद्ध शब्द से विशेशित करना पड़ा। विद्यातत्व तो हम पशू-प्रमाताओं में भी विद्यमान है। विद्या एक दृष्टिकोण ही तो है। इसी विद्या से हम पदार्थों को देखते हैं। किन्तु हमारी विद्या माया से कलुषित रहती है। माया-कलुषित विद्या से पदार्थों का स्वरूप हम यथार्थरूप में नहीं देख पाते। इस विद्या में थोड़ी अशुद्धता या संकोच और मिल जाता है तो वही अविद्या, मिथ्या ज्ञान या भ्रान्ति कहलाने लगती है। अविद्या विद्या का अभाव नहीं है अपितु ईषद् विद्या या विद्याविरोध ही अविद्या का अर्थ है। यहाँ नञ् समास ईषदर्थ और विरोधार्थ में प्रयुक्त है।नञ के छःअर्थ वैयाकरणों ने स्वीकार किए हैं।[93] इसलिए अविद्या भी विद्या का ही एक रूपान्तर है। कहने का भाव यह है कि हम पशु-प्रमाताओं की विद्या शुद्ध नहीं है अपितु अशुद्ध है। हमारी विद्या से पतिप्रमाता की विद्या में अन्तर तो होना ही चाहिए। विद्या हम पशु प्रमाताओं का कारण है तो पतिप्रमाताओं का भी कोई करण स्थानीय तत्व होना ही चाहिए। वह तत्व शुद्ध ही हो सकता है। अशुद्धता का तो अभी प्रादुर्भाव ही नहीं हुआ।

कहने का भाव यह हैं कि पति प्रमाता शुद्ध ही होते हैं। शाम्भव शाक्त, मन्त्रमहेश्वर, मन्त्रेश्वर और मन्त्रप्राणी इन सभी प्रमाताओं को इसी कारण से शुद्ध सृष्टि में परिभाषित किया गया है क्योंकि इन सभी में माया का संस्पर्श नहीं हुआ होता। इन सभी का दृष्टिकोण भेद में अभेदमय होता है। अभेदता सदैव शुद्धता से ही आती है। भेदबुद्धि मायाजन्य होती है। उक्त पाँचों प्रमाताओं का अभेदयन दृष्टिकोण ही शुद्ध-विद्या कहलाती है।

उक्त पाँचों तत्वों तत्वेश्वरों और प्रमाताओं की अभेदमति का अर्थ यह है कि ये सब परमशिव के ही विभिन्न दृष्टिकोण हैं। इसीलिए शिव को पञ्चानन कहा गया है। शिव के पाँच मुख हैं — चित् आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया। चित् और आनन्द तो शिव के साथ ही घुले मिले रहते हैं। इनके पार्थक्य की कल्पना भी नही की जा सकती। इच्छा यद्यपि चित् और आनन्द का ही स्थूल रूप है तो भी शिव-भूमिका पर इच्छा का

वैसा स्थूल रूप नहीं होता जैसे पशुभूमिका पर होता है। पशुभूमिका पर तो हम खाने पीने घूमने, सोने आदि की इच्छा करते हैं। किन्तु शिव को ऐसी इच्छा नहीं होती। शिव की इच्छा तो चिद्रूपता की स्वीकृति-मात्र है। वह स्वीकृति भी बहिर्मुखीन नहीं होती। अत: शिव की इच्छा भी शिवरूप ही होती है।

ज्ञान और क्रिया के रूप में शिव की शाक्त स्पन्दना अधिक स्फुट रूप में चमकने लगती है। ज्ञातृता और कर्तृता इन्हीं से आती है। परमेश्वर का स्वातन्त्र्य ज्ञान और क्रियाशक्ति पर अवतरित होकर हो स्फुरित होता है। शिव के ये पाँच मुख पाँच पृथक् पृथक् शक्तियाँ नहीं हैं। शक्ति एक ही है – स्वातण्त्र्य। यह स्वातन्त्र्य शक्ति शक्मिान् से सर्वथा अभिन्न है। चित् का ही स्थूल रूप आनन्द का ही विकसित रूप इच्छा है। इच्छा का ही विशद रूप ज्ञान है और ज्ञान का ही स्थूल रूप क्रिया-शक्ति से परम-शिव सुष्टि स्थिति पिधान अनुग्रह और निग्रह ये पाँच कृत्य करता है। वह करता इसलिए है क्योंकि उसमें ज्ञान है। ज्ञान इसलिए है क्योंकि उसमें जानने की इच्छा है। वह चाहता है क्योंकि चाहने में उसे आनन्द आता है। आनन्द उसे इसलिए आता है क्योंकि वह चैतन्यरूप है। जड़ को आनन्द की अनुभूति नहीं हुआ करती।

परमशिव के उक्त पाँच दृष्टिकोणों से ही शिवतत्व आदि पाँच तत्वों का विकास होता है। चित् से शिवतत्व आनन्द से शक्ति तत्व, इच्छा से सदाशिव, ज्ञान से ईश्वर और क्रिया-शक्ति से शुद्ध विद्या का अविर्भाव होता है। इन पाँच तत्वों से ही पाँच प्रकार के पूर्वोक्त प्राणी या प्रमाता उत्पन्न होते हैं।

इस विवेचन का इतना ही अभिप्राय है कि उक्त पाँच तत्व, पाँच तत्वेश्वर और पाँच प्रमाता सभी शिवरूप होने से अत्यन्त शुद्ध हैं, क्योंकि ये सब शिवरूपी अभेदभाव में स्थित हैं। अहंविमर्श में ही इनकी विश्रान्ति होती है। इदम् रूप प्रमेयता भी अन्तत: अहंरूप होकर ही स्फुरित होती है। इनके दृष्टिकोण को शुद्धविद्या कहा जाना नितान्त युक्तियुक्त है।

शुद्ध विद्या पतिप्रमाता का दृष्टिकोण है, पशु प्रमाता का नहीं। अकलादि पाँच प्राणियों के रूप में वस्तुत: शिव अकेला ही अकल आदि के रूप में अहम्, अहमिदम्, इदमहम्, अहम् अहम् और इदमिदम् इन पाँच दृष्टियों को अपनाता है। निष्कर्ष यह है कि त्रिक दर्शन में शुद्ध विद्या तत्व का स्वरूप उसके नाम के साथ अन्वर्थता को धारण कर रहा है। वास्तव में यह तत्व त्रिकशास्त्र की अपनी सर्वतो—वियक्षण निधि है।

अन्य सिद्धान्तों की समीक्षा

उपर्युक्त पाँच प्रकार के तत्वों, तत्वेश्वरों और प्राणियों के रूप में परमेश्वर का प्रकाश विमर्शात्मक अथवा ज्ञान-क्रियात्मक स्वरूप ही तारतम्य भाव से सदा स्फुरित होता रहता है। उनके बोध पारावार में निरन्तर विमर्शात्मक स्पन्द की तरंगे उठती रहती हैं। इसका कारण यह है कि ज्ञान चैतन्यात्मक होने के कारण कभी भी निस्तरंग नहीं रह सकता। परमेश्वर का यह विमर्शात्मक स्वरूप ही है जो विश्व को इदंरूप में बाहर अवभासित करने की ओर पुन: उसे आन्तर अहंरूपता में विलयन करने की क्रिया में सतत निरत रहता है। वह एक साथ ही बहिर्मुख प्रसरणशील होकर विश्वमय भी है और अन्तर्मुख-प्रसरण-शील होकर विश्वोत्तीर्ण भी है। स्वात्म-संकोच और स्वात्म-विस्तार की यह द्विमुखी क्रियाशीलता कभी विश्राम नहीं लेती। निरन्तर चलती ही रहती है।

परमशिव का उक्त स्पन्दात्मक स्वभाव दो प्रकार का है—सामान्य स्पन्दात्मक और विशेष स्पन्दात्मक। सामान्य-स्पन्दात्मक अवस्था में परमेश्वर में किसी प्रकार के घट पट आदि विशेष-विकल्पात्मकता का विभाग नहीं होता। विशेष स्पन्दात्मक स्वभाव विश्व के स्थिति-काल में अपनी सामान्यात्मकता को छोड़कर देह प्राण नील, सुख आदि विशेष विकल्पात्मक रूपों में प्रवहमान होता हुआ विश्व-वैचित्र्य का अवभासन कर देता है। यह द्विमुखी स्पन्दना ही चैतन्य का शाश्वत स्वभाव है। प्रमातृभाव और संविद्रूपता इस स्वभाव को छोड़कर कभी रह ही नहीं सकती।

शैव दर्शन में समस्त तत्वों के निश्चित कारण समूह के संयोजन और वियोजन करने में परमशिव को ही एक मात्र स्वतन्त्र कर्ता के रूप में अंगीकार किया गया है।[94] क्योंकि परमेश्वर संविदात्मक है और विश्वात्मक ज्ञातृता तथा कर्तृता की अहंविमर्शमयी स्फुरणा ही संवित् का यथार्थ और अकृत्रिम स्वभाव है। यही कारण है कि अशुद्ध सृष्टि की भेद भूमिका पर भी संसार के समस्त पशुप्रमाता दैनिक व्यवहारों में अपनी अपनी आवश्यकतानुसार निश्चित कार्यों का उत्पादन करने के लिए जिस सामग्री का संयोजन और वियोजन करते रहते हैं उनके मूल में भी संवित् ही क्रियाशील है। सूक्ष्म दृष्टि से विचार करें तो सांसारिक अणुओं में पाया जाने वाला देहादिकों में ममत्व तथा कर्तृत्वाभिमान भी संविदात्मक परमेश्वर की स्पन्दात्मक स्फुरणा ही है।[95]

त्रिक दर्शन का अध्ययन करते समय परमशिव के स्वरूप में आपात रूप से कुछ विरोध और विसंगतियाँ सी प्रतीत होने लगती हैं। परमेश्वर

का कुछ स्वरूप ही इस प्रकार का है कि उसकी व्याख्या एक रूप से की ही नहीं जा सकती। अतः विरोध की प्रतीति होना स्वाभाविक ही है। त्रिक शास्त्रों में कहीं उसे विश्वोत्तीर्ण रूप में निस्तरंग-महोदधि-कल्प के रूप में चित्रित किया गया है जिससे अद्वैतवेदान्तियों के अभाव ब्रह्मवाद की भ्रान्ति होती है तो कहीं बौद्धों के सर्वशून्यवाद का संशय उत्पन्न होता है। वैसे तो परमशिव प्रकाशविमर्शात्मक हैं। ज्ञान और क्रिया की तरंगे उनमें प्रतिक्षण उदित और अस्त होती रहती हैं किन्तु अनेक ग्रन्थों में ऐसा भी वर्णन किया गया है कि परमपद को अवस्था में न सुख होता है, न दुःख होता है, न ग्राह्य की सत्ता होती है और न कोई ग्राहक होता है, न मूढ़ता है और न अमूढ़ता है।[96]

इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि जैसे बौद्धों का शुन्यवाद शैव दार्शनिकों को मान्य रहा हो। फिर दूसरे स्थान पर समस्त क्षेत्रों से रहित बताया गया है जिससे वेदान्तियों के अभावब्रह्मवाद की झलक मिलती है।[97]

इसी प्रकार पूर्व पंक्तियों में विज्ञानाकल प्राणियों का जैसा स्वरूप बताया गया है कि वे विज्ञान को ही अपना स्वरूप समझते हैं, इससे बौद्धों के विज्ञानवाद की झलक मिलती है। इससे संशय होता है कि क्या त्रिक दर्शन में ये सभी सिदान्त मान्य हैं या नहीं। इसके उत्तर में त्रिक दार्शनिकों का यह कहना है कि संसार के सभी दर्शन-शास्त्रों की स्थिति परमशिव के स्वरूप में निहित है। दार्शनिकों ने आत्मा का जैसा स्वरूप अपनी दृष्टि के आधार पर निर्धारित किया है, वे सभी स्वरूप सत्य है और उनका स्वरूप परमशिव के स्वरूप से ही निर्गत हुआ है। "प्रत्यभिज्ञाहृदम्" में कहा गया है कि "तद्भूमिकाः सर्वदर्शनिस्थितयः"।[98] अर्थात् चार्वाक, बौद्ध, जैन, नैयायिक, सांख्य, वेदान्त और वैष्णवादि समस्त दर्शन शास्त्र उसी परमेश्वर की नट के समान स्वेच्छा से गृहीत की हुई कृत्रिम भूमिकाएँ हैं।[99] इसलिए यदि त्रिक दर्शन के प्रसंग में परमशिव के स्वरूप में अभावब्रह्मवाद सर्वशून्यवाद और बौद्धों के विज्ञानवाद की भ्रान्ति उत्पन्न होती है तो यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। जब सभी भूमिकाएँ परमेश्वर की ही भूमिकाएँ हैं तो शून्यवाद आदि भी सत्य सिद्धान्त ही हैं। किन्तु त्रिक दर्शन को अन्तिम सत्य के रूप में जैसा स्वरूप मान्य है, उसे अभावब्रह्मवाद अथवा शून्यवाद अथवा विज्ञानवाद की संज्ञा नहीं दी जा सकती। इसलिए इस प्रकरण में इस भ्रान्ति का निवारण अत्यन्तावश्यक है। अतः हम यहां संक्षेप में उनके स्वरूप का विवेचन प्रस्तुत कर रहे हैं और पुनः उसकी परीक्षा भी करेंगे।

अभावब्रह्मवाद

अभावब्रह्मवादी अथवा शान्तब्रह्मवादी वेदान्तियों का मत है कि परब्रह्म का स्वरूप शान्त और निस्पन्द है। उसमें प्रकाशरूपता हो चाहे न हो किन्तु उसमें विमर्श अर्थात् क्रियाशीलता का सर्वथा अभाव है। वह तरंगहीन समुद्र के समान है। अतः उसमें ज्ञान और क्रिया हो ही नहीं सकती। वह पूर्ण शान्त है और प्रत्येक प्रकार के झंझट से दूर है। संसार है या नहीं ? उसकी सृष्टि, स्थिति और पालन नियमित रूप से होता है या नहीं? उसका ज्ञाता और कर्ता कौन है ? इस बात की उसे कोई चिन्ता नहीं।

इस सिद्धान्त के अनुसार अभावरूप अथवा असत् रूप कारण से भावरूप या सद्रूप कार्य की उत्पति मानी गई है। इसका अभिप्राय यह है कि भावरूप में दिखाई देने वाले इस स्थूल जगत् की रचना से पहले किसी भावरूप पदार्थ की सत्ता नहीं थी। चारों ओर अभाव का ही साम्राज्य था। इस अभाव से ही भावरूप में दिखाई देने वाले जगत् की सृष्टि हो गई है। "असदेवेदमग्र आसीत्"[100] इस श्रुति के आधार पर अभावब्रह्मवादी यह मानते हैं कि सृष्टि से पहले असत् ही असत् था। प्रलय के पश्चात् भी यह सम्पूर्ण जगत् अभाव में ही लीन हो जाएगा। अतः वास्तव में अभाव ही यथार्थ सत्ता है। ब्रह्म का वास्तविक स्वरूप भी अभाव ही है। इस अभाव की भावना करने से सांसारिक उथल पुथल का उच्छेद हो जाता है। वेदक और वेद्य दोनों अभाव में लीन हो जाते हैं। यही जीवात्मा की वास्तविक मुक्ति है। अभावसमाधि की परिपक्वता प्राप्त करके आत्मा का अभावरूप परब्रह्म में लीन होना ही सारी साधना का चरमलक्ष्य है। उस अभाव का नाम ही सत् है।[101] "न निरोधो न चोत्पतिर्नबद्धो न च साधकः...इत्येषा परमार्थता।[102] इत्यादि वचनों से भी अभावब्रह्मवाद की सिद्धि होती है।

शून्यवाद

माध्यमिक बौद्धों का सिद्धान्त सर्वशून्यवाद तथा सर्ववैनाशिकवाद कहा जाता है। आचार्य नागार्जुन ने इसकी युक्तियुक्त स्थापना की थी। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस शून्यवादी बौद्धों को सर्त्रापिहनव हेणक-धर्मा कहकर पुकारा है। इनके अनुसार ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय इन तीनों का नितान्त अनस्तित्व है।[103]

शून्यवादियों के मत का सार यह है कि यह सम्पूर्ण दृश्यमान प्रपञ्च वास्तव में शुन्य का विवर्तमात्र है। शून्य के अतिरिक्त न कोई ज्ञातृरूप आत्मा है, न ज्ञेयरूप कोई बाह्य पदार्थ है और न ज्ञानरूप इन्द्रिय अन्त.-

करण आदि की सत्ता है। यह शून्य बड़ा विलक्षण तत्व है। यह अभाव-मात्र नहीं है अपितु सत्, असत्, सदसत् और सद्सद् भिन्न इन चारों कोटियों से भिन्न एक अनिर्वचनीय तत्व है।[104] अर्थात् शून्य वही है जो न सत् है और न असत् है न उभयात्मक है और न अनुभयात्मक है। यह शुन्य ही पारमार्थिक सत्य है और यह बाह्य जगत् सांवृतिक अर्थात् व्यावहारिक सत्य है। इसी शुन्यवस्था पर पहुँचना सारी साधनाओं का लक्ष्य है : सर्वशून्यवादी इसी अवस्वथा को निर्वाण कहते हैं। अश्वघोष ने इस निर्वाण अथवा शून्य की अवस्था को शान्ति की संज्ञा दी है। उनका कहना है कि जब दीपक का निर्वाण होता है तो न तो उसकी शिखा भूमि की ओर जाती है और न अन्तरिक्ष में जाती है अपितु तेल समाप्प होने पर केवल शान्त हो जाती है। यही अवस्था साधक की भी है। जब योगी निर्वाण प्राप्त करता है तो न वह भूमि में लीन होता है, न अन्तरिक्ष में होता है और न किसी दिशा अथवा विदिशा में जाता है। बस क्लेशों का क्षय हो जाने पर शान्ति को प्राप्त हो जाता है।[105]

अभाव-ब्रह्मवाद की आलोचना

त्रिक दर्शन के परिप्रेक्ष्य में अभावब्रह्मवाद की समीक्षा करने पर उसमें अनेक प्रकार की विसगतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। अभावब्रह्मवाद को स्वीकार करके यदि आत्मा का स्वरूप "अभाव" मान लिया जाए और उसकी किसी प्रकार की सत्ता का अंगीकार ना किया जाए तो सबसे बड़ा दोष यह उपस्थित होता है कि उस दशा में उस अभाव का अनुभव किसको होगा ? अभाव दशा में तो ज्ञानक्रिया रूप अनुभविता का भी अभाव ही होगा। फिर उस अभावरूप ब्रह्म से भावरूप जगत की उत्पति किस प्रकार हो सकती है ? क्योंकि अभाव से भाव की उत्पति का निषेध गीता में किया गया है।[106] अभाव से भाव की उत्पति का सिद्धान्त तर्क की कसौटी पर भी शुद्ध नहीं उतरता। यदि यह कहा जाए कि अभाव का स्वभाव ही इस प्रकार का है कि वह पहले भावरूप जगत् को उत्पन्न करता है और फिर अभावरूपता में उसका लय करता है, तो ऐसी अवस्था में सर्वाभाव का सिद्धान्त सिद्ध नहीं होता, क्योंकि वह स्वभाव तो स्थिर ही रहा। इस प्रकार अभाव का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है।

अभाव-ब्रह्मवादी कहते हैं कि अभाव की भावना तब तक करते रहना चाहिए जब तक वह अभावमय ही न हो जाए।[107] इसका नाम अभाव-समाधि है। यह बात पूर्णतया युक्ति विरुद्ध है कि अभाव की भावना करते रहना चाहिए। भावना का विषय वही वस्तु बन सकती है जिसकी सत्ता

हो । जब किसी भाव्य वस्तु का अभाव ही है तो वह भावना का विषय कैसे बन सकती है । दूसरी बात यह है कि यदि वास्तव में अभाव कोई भाव्य वस्तु ही है तो वह भी अभाय का अभावरूप ही हुई । तब तो उसकी भावरूपता सुतराम् सिद्ध हो जाती है, क्योंकि अभाव का अभाव भाव रूप ही तो होता है ।[108] वास्तविक बात यह है कि अभाव-भावना का उपदेश देने वाला गुरु और अभाव की भावना की समाधि का अभ्यास करने वाला शिष्य दोनों को इस बात का पूर्ण ज्ञान होता है कि हम सद्‌रूप चेतन पुरुष हैं । अर्थात् अपनी सत्ता को वे पहले से जाने होते हैं । अपनी ज्ञानक्रियात्मक वेदकता की अनुभूति उन्हें पहले ही होती है । फिर भी यदि वे "मैं नहीं हूँ" इस प्रकार के अभाव की भावना करते हैं तो स्वयम् की सत्ता का अपलाप करके अपने को ही देते हैं । अपनी सत्ता का अपलाप वे कर नहीं सकते और सिद्धान्त के उच्छेद के भय से उसे स्वीकार भी नहीं कर सकते । इस प्रकार त्रिशंकु न्याय से वे किसी लक्ष्य पर नहीं पहुँचते ।

अभाववादियों का कहना यह है कि अभावसमाधि में सर्वाभावरूप विश्वोच्छेद की भावना की जाती है यहाँ विश्वोच्छेद का अर्थ चिन्तनीय है । यदि विश्वोच्छेद का अर्थ प्रत्येक सत्ता का अभाव है तब तो उस सर्व में अनुभविता का भी अभाव आ गया । ऐसी स्थिति में उस विश्वोच्छेद अनुभव कौन करेगा ? अब यदि यह कहा जाए कि विश्व का उच्छेद होने पर भी अनुभावित- का उच्छेद नहीं होगा, तब तो यह विश्वोच्छेद की कल्पना शशविषाण के समान ही होगी ।[109] दूसरी बात यह है कि विश्वो-च्छेद स्वीकार करने पर तो भावना का भी उच्छेद मानना पड़गा । भावना का अभाव मानने पर भावना का विषय जो विश्वोच्छेद है वह भी सिद्ध नहीं होगा । भावना का उच्छेद यदि मान लिया जाए तो भी विश्वोच्छेद की कल्पना का मनोरथ पूर्ण नहीं होगा, क्योंकि तब भी यह कल्पना तो अवशिष्ट ही रहेगी कि मेरा ही उच्छेद हो गया । अर्थात् उच्छेद की कल्पना का तो उच्छेद नहीं होगा । यदि उच्छेद की कल्पना का भी उच्छेद मानो तो उस उच्छेद की पुन: कल्पना करनी पड़ेगी और पुन: उसका उच्छेद मानना पड़ेगा । इस प्रकार इस उच्छेद-परम्परा का कभी उच्छेद न होगा । परिणाम यह होगा कि सर्वाभाव कभी सिद्ध न हो सकेगा । क्योंकि किसी न किसी रूप में उस सर्वाभाव का अनुभव करने वाला तो अवशिष्ट ही रहेगा । इस प्रकार अभाववादियों का आत्म-स्वरूप युक्तियुक्त नहीं है ।

इसीलिए आचार्य वसुगूप्त स्पन्द कारिका में कहते हैं :

नभावो भाव्यतामेति न च तत्रास्त्यमूढ़ता ।

यतोऽभियोग संस्पर्शात् तदासीदिति निश्चयः ।।

स्पन्दकारिका 1/12

अर्थात् अभाव कभी भावना का विषय नहीं बन सकता है। यह तो एक मूढता की सी अवस्था है। इसका कारण यह है कि अभावसमाधि से उठने के बाद योगी को भाषण के साथ सम्बन्ध हो जाने पर "यह मेरी शून्य अवस्था थी" ऐसा निश्चय हो जाता है।[110]

भाव यह है कि जिस समाधि में ज्ञानक्रियात्मक अपने चैतन्य का भी आभास न रहे वह भला कैसी समाधि ? यह तो मादक द्रव्यों का सेवन करने वाले व्यक्ति की तामसिक अचेतनात्मक मूढावस्था ही कही जाएगी। फिर तो योगी की समाधि में और तामसिक मोहावस्था में कोई अन्तर ही नहीं रह जाएगा।

उपर्युक्त का अभिप्राय यही है कि त्रिक दर्शन में परमपदरूप जो परमशिव की अवस्था है वह सर्वाभावरूप नहीं है। अतः अभावब्रह्मवाद की आशंका इसमें नहीं करनी चाहिए।

शून्यवाद की समीक्षा

त्रिक दर्शन की परमावस्था को बौद्धों के शून्यवाद से भी परिभाषित नहीं किया जा सकता। शून्यवाद और त्रिक दर्शन के परमेश्वर के स्वरूप में बहुत अन्तर है। माध्यमिकों के "शुन्य" नामक तत्व का स्वरूप स्पष्ट नहीं है। एक ओर तो शून्यवादी किसी चेतन सत्ता को स्वीकार नहीं करते, किन्तु दूसरी ओर वे निर्वाण-प्राप्ति की बात करते हैं। यदि कोई आत्म-तत्व है ही नहीं तो फिर निर्वाण किसका ? अचेतन देह, इन्द्रियों और मन का निर्वाण तो माना नहीं जा सकता। चेतन आत्मा का ही निर्वाण हो सकता है। वही क्लेशों का वेदक है। उसी के क्लेशों का क्षय मानना युक्तियुक्त है। जब शून्यवादी किसी वेदकरूप आत्मा का अस्तित्व ही स्वीकार नहीं करते तो भला क्लेशों का अनुभव किसको होगा और किसके क्लेशों का क्षय होगा ? दूसरी बात यह है कि यह शून्य आखिर है क्या ? क्या किसी ऐसे तत्व की कल्पना की जा सकती है जो चतुष्कोटि विनिर्मुक्त हो ? या यह अभाव-ब्रह्मवादियों के सर्वाभावरूप जैसा ही है ? यदि यह सर्वाभाव रूप है तब तो किसी निर्वाण जैसे परमपद की कल्पना की ही नदीं जा सकती।

शून्यवादियों के निर्वाण का स्वरूप भी कुछ स्पष्ट नहीं है। ये कहते हैं कि निर्वाण पूर्ण शान्ति की अवस्था है। (क्लेशक्षयात् केवलमेति शान्तिम्) किन्तु इनके मत में शान्ति भी शून्य की ही अवस्था है। "सर्व"

शून्यम्'' का अर्थ ही यह है कि सभी कुछ शून्य है। तब तो निर्वाण भी शुन्य ही हुआ। शून्यवादियों के मत में यदि निर्वाण कोई ऐसी अवस्था का नाम हैं जिसमें ज्ञातृता, कर्तृता और ज्ञान का सर्वथा अभाव हो जाता है तो यह स्थिति त्रिक दर्शन को मान्य नहीं है। त्रिक दार्शनिक ऐसी ज्ञातृ-कर्तृशून्य दशा को जड़ता की स्थिति के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। यह मोक्ष की अवस्था नहीं है। मोक्ष तो पूर्ण चैतन्य की अवस्था है।

त्रिक दर्शन की मान्यता के अनुसार मोक्ष किसी अन्य अवस्था का नाम नहीं है अपितु स्वरूपख्याति का ही नाम मोक्ष है [111] आत्मा का स्वरूप ज्ञान-क्रियात्मक पूर्ण चैतत्य है। इसी को त्रिकशास्त्र में संवित् नाम दिया गया है। यह संवित् अज्ञानरूप मल से आवृत होकर तिरोहित सी हो जाती है। यही उसकी अख्याति है। जब आत्मा मलोच्छेदपूर्वक अख्याति को पार लेता है तब अपनी पूर्ण ज्ञातृता और पूर्ण कर्तृतारूप स्वरूप को पहचान लेता है। यही उसकी मुक्तवस्था है। इससे यह स्पष्ट है कि मोक्षा-वस्था जड़ता की अवस्था नहीं है अपितु पूर्ण चैतन्य ही मोक्ष है। शून्यवादी ज्ञातृकर्तृरूप पूर्ण चैतन्य को भी शून्य कहते हैं।[112] अत: इनके मत में निर्वाण भी शून्यरूप ही है।

त्रिक दार्शनिक संवित् के विशय में भिन्न दृष्टिकोण से विचार करते हैं। उनका मत है कि संवित् एक स्पन्द या एक स्फुरणा है जिसका स्वरूप है पूर्णज्ञातृता और पूर्णकर्तृता। उसी स्पन्द से समस्त नील पीत आदि पदार्थों का अवभासन और स्थिति सम्भव है। यदि यह स्पन्द न हो तो यह सम्पूर्ण विश्व संज्ञाहीन हो जाए। किन्तु यह विश्व तो संज्ञाहीन नहीं है। इसमें तो अन्दर बाहर सब ओर चैतन्य की तरंगे हिलोरें मार रहीं हैं। अत: इस स्पन्दात्मक संवित् का अपलाप कभी भी किया नहीं जा सकता।[113]

शून्यवादी कहते हैं कि हमारे शून्य का स्वरूप सर्वाभाव नहीं है अपितु हमारा शून्य एक ऐसा तत्व है जिसमें कल्पित समस्त आलम्बन धर्म न हों, जो समस्त तत्वों से शून्य हो और जिसमें समस्त क्लेशात्मक वास-नाओं का अभाव हो।[114]

बौद्धों के उक्त कथन पर विचार किया जाए तो यह निष्कर्ष सामने आता है कि शून्यवाद में कल्पित ग्राह्य ग्राहक आदि भावों का ही निषेध किया गया है, ज्ञानरूपता का नहीं। इसका अर्थ यह हुआ कि शून्यवाद का ही दूसरा नाम विज्ञानवाद है। विज्ञानवादी बौद्ध यही तो कहते हैं कि यह समस्त कल्पित जगत्प्रपञ्च अन्त:करण के धर्मरूप ज्ञान का अथवा विज्ञप्ति का विकास मात्र है। यह ज्ञान ही विचित्र बाह्य रूपों का अवभासन करता

है।[115] किन्तु स्वयम् कल्पित तत्वों का धारण नहीं करता है। इसे ही चित्त की दशा कहा जाता है क्योंकि यह चेतन जैसी क्रियाएँ करता है। चेतन आत्मा की सभी चेष्टाओं का साधन यह चित्त ही है। बोद्ध दार्शनिक तो आत्मा जैसी किसी स्थिर तत्व को स्वीकार नहीं करते। उसके स्थान पर वे चित्त को ही प्रतिष्ठित करते हैं। इस प्रकार शून्य और विज्ञान एक ही तत्व हुए। केवल नाम का ही अन्तर रहा। शून्यवादी प्रकान्तर से विज्ञानवाद का ही अभ्युगम करते हैं।[116]

काश्मीर शैव दर्शन में भी परमशिव को ज्ञानरूप या संविद्‌रूप कहा गया है। किन्तु वहाँ वह ज्ञान चित्‌रूप या अन्तःकरण-रूप नहीं है अपितु वह एक पूर्ण स्वतन्त्र और चैतन्यरूप तत्व है। चित्त तो इन्द्रियरूप होने के कारण जड़ है। ज्ञान उसका धर्म कैसे बन सकता है?

त्रिक दर्शन में शून्य का अर्थ

काश्मीर शैव दर्शन में भी परमशिव के लिए शून्य शब्द का प्रयोग हुआ है। काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य भी परमतत्व को शून्य कहते हैं, किन्तु वहाँ शून्य का वैसा स्वरूप अंगीकृत नहीं किया गया जैसा कि शून्य-वादी वौद्ध स्वीकार करते हैं। यहाँ शून्य का अर्थ वास्तव में अशून्य है।[117] अशून्य अर्थात् चिदानन्दस्वरूप निरन्तर स्पन्दनशील परमशिव। उसे शून्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि विश्वोतीर्ण रूप में माया का अविषय होने के कारण वह माया-जनित सुख दु ख परिणामित्व आदि धर्मों से नितान्त शून्य है।[118] विश्वोतीर्ण-रूप में इदम्पद-वाच्य यह निखिल जगत् उससे पृथक् रूप में अवभासित न होकर उसी में अभिन्न रूप से विश्रान्त होता है। केवल अहंरूप में ही उसकी अवस्थिति होती है। यद्यपि शून्य शब्द का अर्थ यहाँ भी अभाव ही लिया गया है, किन्तु सर्वाभाव नहीं। अपितु अभाव से अभिप्राय यह है कि परमेश्वर में विश्वोतीर्णरूप में नामरूपात्मक इदंपदवाच्य जगत् का पृथक से भाव नहीं होता। इसी का नाम अभाव है और यही शून्य का अर्थ है। यह परमशिव शून्य ही एक समग्र सत्ता है जिसे प्रकाशविमर्श का सामरस्य या पूर्ण-ज्ञान-क्रियात्मक स्वातन्त्र्य आदि विशेषणों से परिभाषित किया जाता है। यही भाव भी है और यही अभाव भी है। यही शून्यतत्व है और विज्ञानतत्व भी यही है। समस्त भेदकल्पनाएँ इसी में विश्राम लेती हैं, इसलिए यह शान्त और निस्तरंग भी कहलाता है।

महान् विलक्षण एवं अद्‌भुत तत्व है यह त्रिक दर्शन का शून्य। यह शून्य होकर भी अशून्य है और अशून्य होकर भी शून्य कहलाता है। विश्वो-तीर्ण-दशा में तो यह शून्य है ही, विश्वमयता में भी यह पुष्प में सौरभ की

तरह नादबिन्दु भुवन भाव आदि सबको व्याप्त करके अवस्थित है।[119] इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि यह शुन्य माध्यमिकों का सर्वाभावरूप न होकर पूर्ण भावात्मक प्रमातृसत्ता है जो पूर्ण वेदक, ज्ञानक्रियात्मक स्वातन्त्र्य का अभिव्यन्जक है। यह शून्य कोई जड़सत्ता नहीं है अपितु विश्वोतीर्ण तथा विश्वमय रूप में, व्युत्थान और समाधि में भाव में और शून्य में सभी अवस्थाओं में एक स्वतन्त्र ज्ञान-क्रियात्मक स्फुरणा है। सर्याभाव, सर्वशून्यता और मूढ़ता आदि अवस्थाओं के लिए यहाँ तनिक भी अवकाश नहीं है।

बौद्धों के विज्ञानवाद की समीक्षा

त्रिक दर्शन में जिस परमतत्व को संवित् कहते हैं क्षणिक विज्ञानवादी-बौद्ध उसे विज्ञान कहते हैं। संवित् का अर्थ भी ज्ञान ही है। इससे संवित् और विज्ञान में कभी एकता की भ्रान्ति हो जाती है। इसी अधार पर त्रिक दर्शन पर कभी कभी बौद्ध विज्ञानवाद का आरोप लाद दिया जाता है। वस्तुत: संवित् और विज्ञान में बहुत भेद है। ये दो विरोधी दर्शनों के पृथक् पृथक् दो तत्व हैं। इनके अन्तर को समझने के लिए बौद्ध विज्ञानवाद को जानना आत्यावश्यक है।

विज्ञानवाद

विज्ञानवादियों की मान्यता है कि सुख दु.ख आदि आन्तर व्यवहार और नील पीत आदि बाह्य पदार्थ सब चित्त की ही अभिव्यक्तियाँ हैं। चित्त ही एक मात्र सत्ता है, और यह चित्त विज्ञान के प्रवाह का ही दूसरा नाम है। समस्त व्यवहारों में भिन्न भिन्न आकार वाले ज्ञानक्षण ही प्रकाशमान हैं।[120] इसके अतिरिक्त और किसी स्पन्दात्मक चैतन्य की सत्ता को स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं है। बाह्य पदार्थ मिथ्या हैं। जैसे स्वप्न के पदार्थ मिथ्या हैं। जागरित दशा के पदार्थों में और स्वप्न के पदार्थों में कोई अन्तर नहीं है। घट और घटज्ञान में कोई भेद नहीं होता। यह केवल दृष्टि-विकार है। दृष्टि-विकार से यदि कोई व्यक्ति दो चन्द्रमा देखता है तो चन्द्रमा दो नहीं हो जाते।

बौद्धों की मान्यता है कि बुद्धि से जिस जिस पदार्थ का विवेचन किया जाता है त्यों त्यों उनका कोई भी स्वरूप निर्धारित नहीं हो पाता। इसलिए वे अभिलाप-रहित हैं और स्वभाव-रहित हैं।[121] किन्तु चित्त या विज्ञान का तो अपलाप किया ही नहीं जा सकता। अत: ज्ञान-क्षण ही एक परमार्थ तत्व है। उनको किसी दूसरे पदार्थ के द्वारा प्रकाशित होने की आवश्यकता नहीं है। वे स्वप्रकाश हैं।

ज्ञान-क्षण परस्पर नितान्त भिन्न हैं और क्षणावस्थायी हैं, किन्तु

प्रमाता के हृदय में निरन्तर ज्ञानक्षणों की धारा प्रवाहित होती रहती है जिसे ज्ञानसन्तान कहते हैं। पूर्व ज्ञानक्षण उत्तर उत्तर ज्ञानक्षणों को जन्म देते रहते हैं। पूर्वज्ञान क्षण विनष्ट होने से पहले उत्तर क्षण को एक संस्कार दे जाता है। वह संस्कार ही समस्त क्षणों में एकरूपता बनाए रखता है। नितान्त भिन्न क्षणों में एकता की प्रतीति कराना ही उक्त संस्कारों का स्वभाव है।

ये ज्ञानक्षण निर्विकल्पक और सविकल्पक भेद से दो प्रकार के हैं। किसी वस्तु का जब पहली बार प्रत्यक्ष होता है तो उसका आभास नामरूपात्मक विकल्प से सर्वथा रहित होता है। वह ज्ञानक्षण निर्विकल्पक कहलाता है। इसे ही शास्त्रीय भाषा में स्वलक्षणाभास कहा गया है।[122] आचार्य धर्मकीर्ति ने स्वलक्षण की परिभाषा दी है कि जिसके सन्निधान और असन्निधान से ज्ञान के प्रतिभास में भेद होता है वह वस्तु स्वलक्षण है।[123] निर्पिकल्पक ज्ञानक्षण सविकल्प ज्ञानक्षण को उत्पन्न करता है। इस अवस्था में उसका नाम-रूपात्मक विकल्पों से सम्बन्ध हो जाता है। उस समय वे अभिलाप-संसर्ग के योग्य हो जाते हैं। नामरूप सदैव कल्पना से ही उत्पन्न होते हैं। कल्पना कहते ही उस प्रतीति को हैं जो अभिलाप अर्थात् शब्द के संसर्ग योग्य होती है।[124]

स्थान घेरने वाली वस्तु को रूप कहते हैं और स्थान न घेरने वाली वस्तु को नाम कहा जाता है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु ये पञ्च महाभूत तथा इनसे उत्पन्न शरीर रूप के अन्तर्गत आते हैं और विकल्पात्मक मानसिक प्रवृतियाँ नाम अन्तभूत हो जाती हैं।रूप एक ही प्रकार का है किन्तु नाम चार प्रकार का है—विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार। बौद्धों के अनुसार यही पंच स्कन्धरूप ज्ञान-सन्तान सभी स्मरण उपलब्धि भोग और निर्वाण को सिद्ध कर देता है। इस पंच स्कन्धरूप विज्ञानधारा से भिन्न किसी नित्य और चेतन आत्मा की कल्पना करके उसके साथ इन ज्ञानों का सम्बन्ध जोड़ना उचित नहीं है। क्योंकि इन ज्ञानों से भिन्न किसी नित्य चेतन आत्मा की सत्ता अनुभव में नहीं आती। "अहं सुखी" इत्यादि अनभवों में जो "अहम्" की प्रतीति हो रही है उसका आधार शरीर और ज्ञान- सन्तानरूप नाम ही है।[125] अतः आत्मा की कल्पना व्यर्थ है।

आलोचना

त्रिक दर्शन के आचर्यों को बौद्धों का यह विज्ञानवाद तर्क और अनुभव दोनों से विपरीत जान पड़ता है। ज्ञानधारा कभी स्वप्रकाश हो नहीं सकती, क्योंकि यह त्रिगुणात्मक प्रकृति के विकारभूत बुद्धि का ही रूप है।

प्रकृति और प्रकृति के विकार अन्तत: जड़ हैं। अत: ज्ञान भी जड़ ही हुआ। जड़ होने से वह किसी प्रतीति को भला कैसे प्रकाशित कर सकता है? यदि ज्ञान चेतन है तो चेतन से भिन्न कोई जड़ तत्व अवश्य मानना पड़ेगा। किन्तु विज्ञानवादी बौद्ध विज्ञान के अतिरिक्त किसी सत्ता को मानते ही नहीं। चेतन सत्ता का ही यह सामर्थ्य हो सकता हैं कि जो अपना ही प्रकाश करे तो अपने से भिन्न विषयों को भी प्रकाशित करे। अचेतन ज्ञान भला स्वप्रकाश कैसे हो सकता है? अत: बौद्धों के द्वारा स्वीकार किए गए भिन्नाकार और अनन्त ज्ञानक्षण वेद्य ही बन सकते हैं वेदक नहीं। वेद्य विषयों में पर-प्रकाशता आ अभाव होने से वे जड़ ही होते है।

दूसरी बात यह है कि विज्ञानवादी बौद्ध साथ ही क्षणिकवाद को भी स्वीकार करते हैं। क्षणिकवाद और विज्ञानवाद साथ साथ नहीं चल सकते। ज्ञान का पूर्वक्षण अनुभवकाल होता है और उत्तरक्षण स्मृतिकाल होता है। अनुभव और स्मृति से ही संसार के समस्य व्यवहार चलते हैं। अनुभवकाल में विषय का जैसा प्रकाश होता है, स्मृति काल में उनकी वैसी ही उपस्थिति होती है। अब यदि क्षणभंगवाद-सिद्धान्त के अनुसार पूर्व-ज्ञानक्षन का अनुभव उत्तरक्षन में नष्ट हो गया हो तो स्मृति किसकी होगी और किस प्रकार होगी। स्मृति के अभाव में संसार का व्यवहार कैसे चलेगा? अत: क्षणकि विज्ञानवाद का सिद्धान्त व्यवहारिक स्तर पर कथमपि दोष रहित नहीं कहा जा सकता।

स्मरण की उपपत्ति के लिए विज्ञानवादी संस्कार-सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं। संस्कारों के द्वारा अनुभव-काल के अकार-प्रकार वाले विषयों का प्रकाशन हो जाता है। इस प्रकार स्मृति की सिद्धी हो जाती है किन्तु ऐसा मानकर भी समस्या का समाधान पूर्वरूपेण नहीं होता। साधारण नियम यह है कि अनुभवकाल में जैसा ज्ञान होगा, उसको संस्कार उसी रूप वाले ज्ञानों को स्मृतिकाल में उत्पन्न करेंगे। विज्ञानवादियों के अतुसार अनुभवकाल में विषय का अनुभव निर्विकल्परूप में होता है अत: स्मरणकाल में भी विषय की स्मृति निर्विकल्प रूप में ही होनी चाहिए। नामरूपादि की कल्पना का उदय नहीं होना चाहिए, किन्तु विज्ञानवादी एसा नहीं मानते। वे पूर्वकाल के निर्विकल्प ज्ञानक्षणों को उत्तरकाल में सविकल्प रूप में म नते हैं। यह एक बड़ा भारी दोष है।

इन्हीं सब विसंगतियों को दृष्टी में रखकर त्रिक दार्शनिक यह स्वीकार करते हैं कि पूर्व ज्ञान-क्षण और उत्तर-ज्ञान क्षणों के बीच में एक चेतन और स्वप्रकाश नित्व सत्ता माला के पुष्पों में सूत्र की तरह अनुस्पूत

है जिसमें अनुभव, स्मृति और अन्य ज्ञान तथा समस्त प्रपञ्च बीज में वृक्ष के समान-अवस्थित हैं। वही सत्ता निर्विकल्पक और सविकल्पक सभी प्रकार के ज्ञानों को उत्पन्न कर संसार का व्यवहार चलाती है। वही चेतन स्व-प्रकाश-सत्ता त्रिक शास्त्र में संवित्, स्पान्दात्मक स्वतन्त्र्य और परमशिव नाम से व्यवहृत होती है।

मीमांसकों का आत्मतत्व

भाट्ट मीमांसक आत्मा को सुखिता, दुखिता आदि उपाधियों से विशिष्ट मानते हैं जिसकी प्रतीति अहंप्रत्यय से होती है। उसके मतानुसार सभी प्रकार के ज्ञानों में कोई न कोई विशेषता अवश्य ही उपाधि बनकर रहती है। रजत का ज्ञान रजतत्व-विशिष्ट और शुक्ति का ज्ञान शुक्तित्व विशिष्ट होता है। किसी विशेषता या उपाधि के द्वारा ही किसी वस्तु का यथार्थ ज्ञान हो सकता है। सुख दुःख की अनुभूति भी स्वतन्त्र रूप से नही होती। वह भी अहंप्रत्यय के साथ ही होती है। "मैं सुखी हूं, मैं दुःखी हूं" इत्यादि परामर्शी में सुखिता और दुखिता आदि विशेषताओं से विशिष्ट किसी सुखवान और दुःखवान चेतन आत्मतत्व की प्रतीति अनुमान से होती है।[126] "मैं सुखी हूं" इस परामर्श में दो प्रकार की प्रतीतियाँ अनुभव में आती हैं। एक सुखिता की और दूसरी "मैं" की। सुखिता एक गुण है। गुण कभी गुणी के बिना नहीं रह सकता। 'मैं" ही उसका आधार है। वही गुणी है। "मैं" से जिस तत्व की प्रतीति हो रही है, यही आत्मा है। ऐसा भाट्ट मतानुयायी मीमांसकों का मत है।

भाट्ट मीमांसक का अभिप्राय यह है कि सुख दुःख आदि उपाधियों को घट पट आदि की तरह इंगित करके नहीं दिखाया जा सकता। कि "यह सुख है या "यह ज्ञान है।[127] "मैं सुखी हूं" इत्यादि परामर्शी में सुखिता इत्यादि उपाधि का ज्ञान "मैं" के साथ हो होता है। इस "मैं" के द्वारा ही आत्मभूत वस्तु की प्रतीति उपाधि-विशिष्ट के रूप में ही अनुमान के द्वारा होती है।उपाधि समवाय सम्बन्ध से गुणी के साथ रहती है इसी आत्म-रूप गुणी की प्रतीति सुखिता आदि गण या उपाधिरूप हेतु से हो जाती है।

मीमांसको के अनुसार इस आत्मा के दो अंश हैं—चित् तथा अचित्। चित् अंश से वह ज्ञान का अनुभव करने वाला द्रष्टा कहलाता है और अचित् अंश से सुंखिता आदि उपाधियों की विशिष्टता को प्राप्त करता है। इस प्रकार आत्मा सुखादिरूप न होकर सुखादि-विशिष्ट है। ज्ञान सुखादि-रूप से परिणाम को प्राप्त करता है।[128]

कहने का भाव यह है कि आत्मा सुखादिरूप या चैतन्य रूप न होकर

तद्विशिष्ट ही है। वह अहं प्रतीति से ही वेद्य है। न्याय दर्शन के समान भाट्ट मीमांसक भी आत्मा को स्वभाव से चेतन न मानकर चैतन्य-विशिष्ट मानते हैं। देह के सम्पर्क से ही आत्मा में चैतन्य की विशेषता आदि आती है। विशिष्टरूप में ही उसका "अहम्" से ज्ञान होता है।

मीमांसकों के मत की आलोचना

त्रिक शास्त्र के आचार्यों की दृष्टि में मीमासकों का यह उपाधि-विशिष्ट आत्मवाद का सिद्धान्त भी समीचीन नहीं है। सुख दुःख आदि विशेषताएँ बुद्धि की होती हैं आत्मा की नहीं। इसलिए जिस प्रकार ज्ञान-सन्तान को तत्व मानने वाले विज्ञानवादी बौद्ध बुद्धि-वृत्ति में ही अन्ततः पर्यवसित होते हैं वैसे ही अहं प्रत्यय से वेद्य तथा सुखादि उपाधियों से विशिष्ट को आत्मा मानने वाले मीमांसक भी बुद्धि में ही निविष्ट हैं।[129] फिर आत्मा को स्वरूप से चेतन न मानना भी एक बहुत बड़ा दोष है। यदि चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है तो वह जड़ ही हुआ। जड़ आत्मा को सुखिता आदि उपाधियों से विभुषित करना और उसे चेतन बनाना तो उधार के धन से धनवान् होने के तुल्य उपहासास्पद है। फिर इसी दशा में आत्मा की स्वतन्त्रता तो और भी संकट में पड़ जाती है। ऐसा आत्मा परमतत्व तो कथमपि नहीं कहा जा सकता। परमतत्व वही कहला सकता है जो गुण-विशिष्ट होने के साथ साथ गुणातीत भी हो, विश्वमयता के साथ विश्वातीत भी हो। इस प्रकार मीमांसकों का उपाधि-विशिष्ट आत्मवाद श्रद्धेय नहीं हैं।

निष्कर्ष

उपर्युक्त समस्त सिद्धान्तों की आलोचना का इतना ही सार है कि न तो परमतत्व अद्वैतवादियों के अनुसार अभावरूप ही है, न माध्यमिकों का शून्य है, न विज्ञानवादियों का ज्ञान-सन्तान रूप है और न पूर्व-मीमांसकों के अनुसार उपाधि-विशिष्ट ही है। वह तो विशुद्ध संविद्रूप स्वतन्त्र सत्ता है। संसार-भूमिका पर ही वह प्रमातृ-विशेष और वस्तु-विशेष में आदि से लेकर अन्त तक संविदरूप में ही विद्यमान रहता है। विश्व के जड़ या चेतन कहे जाने वाले पदार्थों में वह एक ही तत्व अनुस्यूत है। वही कर्ता है, वही कार्य हैं और वही ज्ञाता भी है। विश्वोतीर्ण रूप में वह विशुद्ध स्पन्दरूप में रहता है। वह शक्तिमान् होने के कारण अपनी शाक्त विजृम्भणा के द्वारा स्वयम् ही कर्तृता और कार्यता दोनों अवस्थाओं में अवभासमान होकर विश्व के उत्थान और पतन की क्रीड़ाएँ करता रहता है। कर्तृता अवस्था उसकी स्वरूप—विश्रान्ति है और कार्यत अवस्था स्वरूप-

विकास है ।

त्रिक शास्त्र के अनुसार उस परम तत्व परम-शिव को किसी एक ही अवस्था-विशेष में सीमित करना महती भ्रान्ति है। वह अभेदवस्था है तो वही भेदवस्था भी है। भेददृष्टि के बिना संसार की भूमिका का निर्वाह सम्भव नहीं है । अत: भेददृष्टि भी उसी का स्वरूप-विकास है। इस दृष्टि से शून्यवाद, विज्ञानवाद, देहात्मवाद, अभावब्रह्मवाद और उपाधिविशिष्ट आत्मवाद के सिद्धान्त भी भेदभूमिका पर परमेश्वर के स्वरूप का ही विकास करते हैं । अत: सर्वथा मिथ्या वे भो ही नहीं हैं । किन्तु एकांश रूप में ही वे सत्य हैं सर्वांशरूप में नहीं । इस दृष्टि से "तद्भूमिका: सर्वदर्शन स्थितय:" यह प्रत्यभिज्ञा-हृदय का वचन सर्वथा सत्य ही है ।

संदर्भ सूची

1. तदेवं पन्चकमिदं शुद्धोऽध्वा परिभाष्यते ।
   तत्र साक्षात् शिवेच्छैव कर्त्र्याभा सितभेदिका ।। तंत्रलोक 9/60
2. इश्वरेच्छावश-क्षुब्ध-भोगलालिक-चिद्गणान् ।
   संविभक्तुमघोरेश: सृजतीह सितेतरम् ।। तं० 9/61
3. (क) शिव शक्ति सदाशिवतामीश्वर विद्यामयी च तत्वदशाम् ।
   शक्तीनां पञ्चानां विभक्तभावेन भावयति ।।
   परमार्थसार पृ० 40
   (ख) चिदानन्देषणा ज्ञान क्रियाणां सुस्फुटत्वत: ।
   शिव शक्ति सदेशान विद्याख्यं तत्वपञ्चकम् ।। तं० 9/50
4. इयति च शुद्धस्वातन्त्र्यमेव तत्वैचित्र्येण प्रस्फुरति इति शद्धोऽध्वा ।
   त्रि० त० स०—कारिका 4 की व्याख्या
5. यद्यदिच्छति ततज्जानाति करोति च समावेशाभ्यासं
   परोऽनेनैव शरीरेण ।
   अतत्परस्तु सति देहे जीवन्मुक्त: तत्पाते परमेश्वर एव ।
   ई० प्र० वि० 4/1/15
6. यदात्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ ।
   नियच्छन् भोक्तृतामेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ।। स्प० 9 का० 51
7. शिवतुल्यो जायते । शिवसूत्र 3/25
8. सर्वाभिलाप विगत: सर्वचिन्ता समुत्थित: ।

सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽव्यय ।।
ग्रहो न यत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ।।

माण्डूक्यकारिका 3/37-38

9. तत्र साक्षात् शिवेच्छैव कर्त्र्याभासित भेदिका—तन्त्रालोक 9/60

10. तस्यैव परमेश्वरस्य स्वतातन्त्र्योद्भासितस्य चिश्वस्य विशुद्ध संविन्यात्रा—धिकरण्येन स्वात्मन्येव समुल्लासनात् सदित्याख्यानात् सदाशिवत्वावस्था ।
तत्र प्रोन्मीलितमात्र चित्रकल्पतया इदमंशस्य अस्पुटत्वात इच्छाप्राधान्यम्—षटत्रिंशतत्वसन्दोह की विवरणनाम की टीका राजानक आनन्द कवि निर्मित ।

11. तदारूढ़: शिव: कृत्य पन्चकं कुरुते प्रभु: —तं० 8/401

12. The Divine grace is generally not available to Chidann directly from the Supreme Lord, it always flows through a medium who is either a Divine being Such as Sadashiva, or human being such as embodied Guru —satfrinshat tatwa sandoh—by

Dr. D. B. Sen Sharma, Page 12

13. ततश्चान्तरी ज्ञानरूपा या दशा तस्या उद्रेकावभासने सादाख्याया भवम् । यत. प्रभृति सदिति प्रख्या । सादाख्यायाश्च सदाशिव-रूपाया इदं वाच्यं तत्वम् —ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी 3/1/2

14. तत्र यदा अहमित्यस्य यदधिकरणं चिन्मात्ररूपं तत्रैवेद मंशमुल्लासयति, तदा तस्यस्फुटत्वात् सदाशिवता अहमिदमिति —तदैव 3/1/3

15. सर्वप्रमातृणामन्त: पूर्णाहन्ता चमत्कारमयं सर्वतत्वोतीर्ण महाप्रकाश वयु: यत् चैतन्यम् एतदेव शिवतत्वम् । तस्यैव भगवत: चिदरूपस्य आनन्दरूपा "विश्वं भवामि" इति परामृशतो विश्वभावस्वभावमयी संविदेव किंचिदुच्छुनता।रूपा सर्वभावानां बीजभूमि: इयं शक्त्यवस्था । ......महेशस्य अहमिति अभेदेन पूर्णा हन्तामयो य: चमत्कारो ज्ञानप्रधान्यात् क्रियाभागस्य अहन्ता विश्रान्ते: सेयं सदाशिवदशा । ......अहन्तेदन्तयो: समधृत तुलापुट न्यायेन य: स्वात्म चमत्कार: सैषा तस्य ईश्वरावस्था । अहम्, अहम्, इदम् इदम् इत्येवंरूप: चमत्कार......भगवत: शुद्ध-विद्या तत्वम् —परमार्थसार वितृति

16. प्रोन्मीलित मात्र चित्र कल्पतया......ष०त० स० विवृति—3

17. अत्र च तत्वेश्वरा: शिव-शक्ति-सदाशिवेश्वरानन्ता:......तद्यथा शाम्भवा: शाक्ता: मन्त्रमहेश्वरा: मन्त्रेश्वरा: मन्त्रा: इति शुद्धोऽध्वा । तंत्रसार
18. ततश्च शुद्धचैतवर्गो यो मन्त्रमहेश्वराख्यं......तस्य चैतन्यवर्ग तादृशि भाव राशौ तथा प्रथनं नाम पच्चिद् विशेषत्वं तत् सदाशिवतत्वम् —ई० प्र० वि० 1/1/1
19. अन्त: करर्णकवेद्यमिण श्यामलप्राय मुन्मीलित मात्र चित्रकल्पं यद्भावचक्रम —तदैव
20. विश्वं पश्चात्पश्यन् इदन्तया निखिलमीश्वरो जात: —षटत्रिशंत् तत्व सन्दोह—4
21, इदमहमिति तु इदमित्यंशे स्फुटीभूतेऽधिकरणे यदाहमंशविमर्शं निषिन्चति तदेश्वरता —ई० प्र० वि० 3/1/3
22. अभेदेन अहन्तेदन्तयो. समधृत तुलापुटन्यायेन य: स्वात्मचमत्कार: सैषा तस्य ईश्वरावस्था । परमार्थसार विवरण पृ० 42
23. आन्तरदशाया उद्रिक्तत्वात् सदाशिवावस्था बहिर्भावपरतोदेकातु ईश्वरावस्था इत्यनयोर्विशेष: । ष० त्रि० त० स० वि० 4
24. अत्र वेद्यजातस्य स्फुटावभासनात् ज्ञानशक्त्युद्रेक: तदैव
25. बहिर्भावस्य क्रिया शक्तिमयस्य परतत्वे उद्रेकाभासने सति पारमेश्वरं परमेश्वर शब्द वाच्य मीश्वर तत्वं नाम —ई० प्र० वि० 3/1/2
26. मध्ये तु रूपे अहमिदमिति समधृत तुलापुट न्यायेन यो विमर्शं स सदाशिव नाथ ईश्वरभट्टारके च । इदंभावस्य ध्यामलाध्यामलता कृतो विशेष: तदैव
27. मन्त्रेश्वरादिरूपस्य तु चैतन्यराशे: स्फुटीभूतमस्मद्बहिष्करण सरणि सम्प्राप्त भाव वर्ग प्रतिमं विश्वं प्रतिमिबम्बकल्पतया भाति । तस्य तु तत् तथा प्रथनमीश्वरतत्वन् । ई० प्र० वि० 3/1/2
28. सम्भवन्ति हि मायागर्भाधिकारिणी विष्णु विरिन्च्याद्या: तदुत्तीर्णा अपि महामायाधिकृता शुद्धाशुद्धा मन्त्रतदीश तन्महेशात्मान: —ई० प्र० वि० 1/1/1
29. करूणया प्रवृतिरस्त्येव—अद्यपाद दर्शन—सर्वदर्शन संग्रह
30. कार्यायोजनधृत्यादे: पदात् प्रत्ययत: श्रुते: ।
वाक्यात् संख्याविशेषाच्च साध्यो विश्वकृदव्यय: ॥
न्याय कुसुमान्जलि: 5/1
31. चिति: प्रत्यवमर्शात्मा परा वाक् स्वरसोदिता ।

स्वातन्त्र्यमेतन्मुख्यं तदैश्वर्यं परमेष्ठिन: ।।

प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी 1/204

32. ईश्वरो बहिरुन्मेषी निमेषोऽन्त: सदाशिव: ।

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा 1/1/3

33. जन्माद्यस्य यत: —ब्र० सू० 1/1/2

34. तदेवम विद्यात्मकोपाधि परिच्छेदापेक्षमेवेश्वस्येश्वरत्वम् ।।

ब्र० सू० शांभा० 2/1/14

35. श्री श्रीकण्ठनाथश्चाधिगततत्व: श्रीमदनन्तनाथात् सोऽपि श्री भगवच्छक्तित: इत्याद्याणमेषु निरूपितम्

ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी पृ० 45

36. क्लेश कर्म विपाकाशयैरपरामृष्ट; पुरुष विशेष ईश्वर:

पातन्जल योग सूत्र 1/24

37. यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटि: प्रज्ञायते नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृति—लीनस्य उत्तरा बन्धकोटि: सम्भाव्यते,, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैवेश्वर: व्यासभाष्य 1/24

38. समाधिसिद्धिरीश्वर: प्राणिधानात् —योगसूत्र 2/45

39. सृष्टि संहारकर्तारं विललस्थिति कारकम् ।
अनुग्रहकरं देवं प्रणतार्ति विनाशनम् ।। स्वच्छन्दतन्त्र 1/3

40. दृक्क्रियात्मकमैश्वर्यं यस्य तद् दात्रपूर्वकम् ।
ईश्वर: सोऽत्र मन्तव्य: शक्तिद्वययुत: प्रभु: ।।

शतरत्न संग्रह: लेखक उमापति शिवाचार्य

41. अचेतनस्य मायादे: प्रवर्तकतया पति: ।
सिद्ध: सर्वार्थवित् कर्ता व्यापक: सततोदित: ।। शतरत्न संग्रह: 6

42. निमित्तमीश्वराख्यं तद् यद् दृष्टं सहकारणम् ।
उपादानं च यत् सूक्ष्मं सर्वकार्येषु संहितम् ।। तदैव 15

43. यद्यमनुत्तरमूर्ति निजेच्छयाऽखिलमिदं जगत्स्रष्टुम् ।
पस्पन्दे स स्पन्द: प्रथम: शिवतत्वमुच्यते तज्ज्ञै: ।।

ष० त्रि० त० स० 1

44. इच्छा सैव स्वच्छा सतत् समवायिनी सती शक्ति: ।
स चराचरस्य जगतो बीजं निखिलस्य निजनिलीनस्य ।। तदैव 1

45. विश्वस्य......स्वात्मन्येव समुल्लासनात् सदित्याख्यानात् सदाशिवत्वावस्था ष० त्रि० त० स० की टीका

—राजानक आनन्द कृत 3

46. किंचिदुच्छूनता सैव महाद्भिः कैश्चिदुच्यते ।
तस्येच्छा कार्यतां याता यया सेच्छा स जायते ॥
शिव दृष्टि 1/16

47. सर्वो पि व्यवहारस्तु ब्रह्मणः क्रियते जनैः ।
अज्ञानान्न विजानन्ति मृदेव हि घटादिकम् ॥
अपरोक्षानुभूति श्लोक 65

48. अनुभतो प्ययं लोको व्यवहारक्षमो पि सन् ।
असदरूपो यथा स्वप्न उत्तरक्षणबाधतः ॥ तदैव श्लोक 56

49. गोः स्तनात् पाततः क्षीरे विकारस्तत एव हि ।
न च न क्षीरमित्येष व्यपदेशो स्ति तत्क्षणम् ॥ शिवदृष्टि 1/18

50. एवं सर्वसमुत्पत्तिकाले शक्तित्रयात्मता ।
न निवृता न चौन्मुख्यं निवृत्त नावि निवृतिः ॥ —तदैव 1/22

51. यदेकतर निर्याणे कार्यं जातु न जायते ।
तस्मात सर्वपदार्थानां सामरस्यमवस्थितम् ॥ तदैव 1/23

52. कुम्भकारस्यापि घटकरणे सर्वशक्ति शिवात्मता । तदपरिज्ञानातु
कुम्भकारता—शिवदृष्टि की उत्पल देव कृत वृत्ति 1/23

53. यथा कालो ह्यमर्तोऽपि दृश्यते फलसाधकः ।
एवं शिवो ह्यमर्तोऽपि कुरुते कार्यमिच्छया ॥
शतरत्न संग्रह—उमापति शिवाचार्य

54. अथ तदधिष्ठातृद्वयगतं करणं विद्यातत्वमाह —ई० प्र० वि० 3/1/3

55. सा भवति शुद्धविद्या येदन्ताहन्तयो रभेद मतिः
—प० त्रि० त० स० 4

56. प्ररूढ़भेदस्य इदन्ताशस्य समधृत तुलापुट न्यायेन अहमंश
स्फुरणायां शुद्धविद्या तत्वम्—राजानक आनन्द कवि कृत
षर्टात्रशत् तत्व सन्दोह की टीका 4

57. "when the "Idanta is clearly manifested as different rom the 'Ahanta' and the Ahanta is also manifested in such a manner that there is such cquilibrium as between the two pans of evenly held scale, than is (manifested) the Shudhvidya Tatwa" Sattrinshat tatwa Sandoh—by
D.B. Sen Sharma Page—14-15

58. परमार्थसार—पृ० 43

59. अत एवेयं प्ररोहासहिष्णुं यत इदन्तां भासयति ततः शुद्धा ।

भासनाच्च विद्येति । —ई० प्र० वि० 3/1/6

60. अत्र विश्वस्य स्फुटतरं परामर्शनात् क्रियाशक्ति: प्रधाना
—प० त्रि० त० स० पृ 14

61. The Aham aspect of the self experience of the Supreme Lord which was in the back ground on the level of Ishwar Tatwa, also gains prominence to such an extent that both Aham and Idam symbolising pure subject and pure object become equipoised. This results in better experience of the universe (Vishva) by the Supreme Lord.—Ibid

62. (क) तत एवाप्ररूढमाया कल्पत्वात् महामायेयं श्री
रौरवादिगुरुभिरूपदिष्टा —ई० प्र० वि० 3/1/6

(ख) भेदधीरेव भावेषु कर्तुबोधात्मनोऽपि या ।
मायाशक्त्येव सा विद्येत्यन्ये विद्येश्वरा यथा ।।
ई० प्र० 3/1/6

63. शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तम कर्तृता ।
निर्मिता स्वात्मनो भिन्ना मर्त्रा ते कर्तृतात्ययात् ।।
बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योन्यभिन्नता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवला: ।। ई० प्र० 3/2/6

64. माया तत्वस्योपरि विद्यातत्वाधश्च अवश्यं तत्वान्तरेण भवितव्यम्
यत्र विज्ञानकेवलानां स्थिति: । यथोक्तम् मायोर्ध्वं शुद्धविद्याध:
सन्ति विज्ञानकेवला: । प० त्री० पृ 118

65. तथाहि महामायाभावे मायांपदे प्रलवकेवलानामवस्थिति: विद्यायदे
च विद्येश्वरादीनाम् । इति किमिव तत् विद्यानकेवला स्पदं स्यात्
—तदैव

66. सर्वविकल्पविहीनं शुद्धं शान्तं लयोदयविहीनम् ।
यत् परतत्वं तस्मिन् विभाति षटत्रिंशदात्म जगत् ।
परमार्थसार पृ० 31

67. यथा वा इहैव श्री त्रिकागमेषु नियति कालौ न पृथक् निरूपतौ......
एवमेतानि चतुस्त्रिंशत् तत्वानि प्रक्रियात्मना स्थितानि
—परात्रींशिका पृ० 119

68. नरशक्ति शिवात्मकं त्रिकं हृदये या विनिधाय भासयेत् ।
प्रणमामि परामनुत्तरां निजभासा प्रतिभा चतत्कृतिम् ।।
परात्रींशिका पृ० 2

69. केषुचित् शास्त्रेषु सा महामाया भेदमलाभावोपचारात् विद्यातत्व शेषतयैव निर्णीयते क्वचित् पुनरज्ञानमल सद्भावो परोधात् मायातत्वपुच्छतया —प० वि० पृ० 119
70. अशुद्धं पुनरध्वानमनन्तापर नामाघोरेश: सृजति —तं सार, पृ० 75
71. संविभक्तुमघोरेश: सृजतीह सितेतरम् —तं 9/61
72. शिवशक्ति सदाशिवतामीश्वर विद्यामयीं च तत्वदशाम् ।
शक्तीनां पन्चानां विभक्तभावेन भावयति ॥ परमार्थसार पृ० 40
(ख) चिदानन्देषणाज्ञान क्रियाणां सुस्फुटत्वत: ।
शिव शक्ति सदेशान विद्याख्यं तत्वपञ्चकम् ॥ तं० 9/50
73. सोऽयमात्मा चतुष्पात्—माण्डूक्योपनिषत्—1
74. अनन्तभट्टारकादिभ्यश्च विद्येशेभ्यो मन्त्र चक्रवर्तिभ्य: ईश्वरेर्णव तन्त्र दत्तम् । स्वच्छन्दोद्योत 8-35
75. येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्तोऽनन्ताद्या वर्तते ।
ते हि शुद्ध चैतन्यमात्र गृहीतात्मभावा: स्वतस्तु भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति, यथा द्वैतवादिनामीश्वर: ई० प्र० वि० 3/1/6
76. अत्र विद्यातत्वे विद्येश्वर प्रमातृणां बोधरूपत्वाविशेषेऽपि या भेद-प्रथा सा मायाशक्तिकृतैव—इत्यागमेषु गीयते मायोपरि महामाया...।
परमार्थसार पृ० 43
77. मलमज्ञानमिच्छन्ति संसारांकुरकारणम् तं० 9/98
78. अत्र विद्येश्वरै: सह सप्तकोट्यस्तु मन्त्राणां वाचकतया अनुग्रह स्वभावात् पशून् उद्धर्तु वाच्यान् मन्त्रमहेश्वर मन्त्रेश्वरान् प्रति अवतिष्ठन्ते । परमार्थसार पृ० 43
79. अत्र च तत्वेश्वरा: शिव शक्ति-सदाशिवेश्वसनन्ता:... ...
एषां सामान्य रुमाणां विशेषा अनुमति विषया: पञ्च,
तद्यथा—शाम्भवा: शाक्ता: मन्त्रमहेश्वरा:, मन्त्रेश्वरा:
मन्त्रा इति शुद्धोऽध्वा । इयति साक्षात् शिव: कर्ता...
तन्त्रसार आ 8
80. ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम्—ई० प्र० 1/1/5
81. तत्र ज्ञानं स्वत: सिद्धं क्रिया कायाश्रिता सती ।
परैरप्युपलक्ष्येत तया न्यज्ञानमूह्यते ॥ तदैव
82. तयोर्मध्ये स्वात्मनि ज्ञानं स्वप्रकाश, क्रियाऽहि आन्तरी संवेदनानव्यतिरिक्ता विमर्शरूपा स्वप्रकाशा । सैव शरीरपर्यन्तीभूता तु बाह्यदर्शन स्पर्शनादिगम्याऽपि पर प्रमातरि तु कायपर्यंन्तीभूता

व्यापारव्यवहाररूपा दर्शनादि प्रमाणगम्या तादात्म्यात्
तत्कार्यत्वात्......आन्तर संवेदन निर्भासमपि करोति —तदैव

83. मायातत्वस्योपरि विद्यातत्वाधश्चावश्यं तत्वांन्तरेण भवितव्यम् यत्र विज्ञानकेवलानां स्थिति: यथोक्तम्—मायोर्ध्वे शुद्ध विद्याध: सन्ति विज्ञान केवला: । प० त्र० वि० पृ 118

84. विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्य विरहितमेषामिति —ई० प्र० वि० 3/2/7

85. तत्र विज्ञानकेवलो मत्रैकयुक्त इति अज्ञानात्मकाणव मलावलम्बित्वं श्री पूर्वशास्त्रे कथितम्—प० त्रि०—पृ० 118

86, स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्य बोधता ।
द्विधाऽणव मलमिदं स्वस्वरूपापहासित: ।। तं० 9/62

87, मायातत्वोपरि शुद्धविद्या-धश्च विज्ञानाकला: प्रमातार: आणवमल-भाजनम्—परमार्थसार पृ० 43

88. शुद्धबोधात्मकत्वेऽपि येषां नोत्तमकर्तृता ।
निर्मिता स्वात्मनो भिन्ना भर्त्रा ते कर्तृतात्ययात् ।।
बोधादिलक्षणैक्येऽपि तेषामन्योऽन्यभिन्ता ।
तथेश्वरेच्छाभेदेन ते च विज्ञानकेवला: ।। ई० प्र० 3/2/6-7

89. त एव शुद्ध विद्यापदानुग्रहात् बोधिता मन्त्र तदीशादि भावभागिनी भवन्ति । इति तत्रैवोक्तम्—"विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान्" प० त्रि० पृ० 119

90. तदा स्तिमित गंभीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किंचिदवशिष्यंते ।। पंचदशी 2/40

91. विज्ञानेनात्मस्वरूपस्याविपर्यस्तेन विशिष्टेन ज्ञानेन अकला:—कलया तत्कार्यभूतश्चान्तर्बहिष्करण—देहादिभि: रहिता इति निर्वचनम् ई० प्र० वि० 3/2

92, विज्ञानं बोधात्मकं रूपं केवलं स्वातन्त्र्य विरहित मेषामिति—तदैव

93. तत्साहश्यमावश्च तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च नञ्र्था: षट प्रकीर्तिता: ।।

94. तथा च तेषां हेतूनां संयोजन वियोजने ।
नियते शिव एवैक: कर्तृतामियात् ।। तन्त्रालोक 9/35

95. तस्मादेकैक निर्माणे शिवो विश्वैक विग्रह: ।
कर्तेति पुंस. कर्तृत्वाभिमानोऽपि विभो: कृति: ।। तं० 9/38

96. न दु:खं न सुखं यत्र न ग्राह्यो ग्राहको न च ।

न चास्ति मूढभावोऽपि तदस्ति परमार्थत: ।। स्प० का० 1/5

97. निजाशुद्धयासमर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिण: ।
यदा क्षोभ: प्रलीयेत तदा स्यात्परमं पदम् ।। स्प० का० 1/9

98. प्रत्यभिज्ञा०—8

99. ''सर्वेषां'' चार्वाकादिदर्शनानां ''स्थितय.'' सिद्धान्ता: ''तस्य''
एतस्य आत्मनो नटस्येव स्वेच्छावगृहीय: कृत्रिमा ''भूमिका:''
तदैव (विवृति)

100. छान्दोग्य—3/19/1

101. तदा स्तिमितगम्भीरं न तेजो न तमस्ततम् ।
अनाख्यमनभिव्यक्तं सत् किञ्चिदवशिष्यते ।। पन्चदशी 2/40

102. माण्डू० का०

103. सर्वापह्नव हेवाक धर्माप्येवं हि वर्तते ।
ज्ञान तात्मार्थ मित्येतन्नेति मांप्रतिभासते । तं० 1/56
(ख) सर्वेषाँ ज्ञातृज्ञान ज्ञेयानाम् अपह्नवो निराकरणं तत्र हेवाक
एव धर्म: स्वभावो यस्यासौ बौद्ध: ।
तत्र त्रयाभाववादिनो माध्यमिका: ।। तंत्रालोक विवेक 1/56

104. न सन्नासन्न सदसन्य चाप्यनुभायात्मकम् ।
चतुष्कोटि विनिर्मुक्त तत्वं माध्यमिका विदु: भा० द० पृ० 565

105. दीपों यथा निर्वृतिभभ्युपेतो, नैवावनि गच्छति नान्तरिछम् ।
दिशं न कांचित् विदिशं न कांचित् स्नेह क्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
योगी तथा निर्वृतिमभ्यपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिछम् ।
दिशं न कांचित विदिशं न कांचित् क्लेश क्षयात् केवलमेति शान्तिम् ।।
सौन्दरनन्द 16/28-29

106. नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सत: ।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्व दर्शिभि: ।।
भगवद्गीता 2/16

107. अभावं भावयेत् तावद्यावन्तन्मयतां व्रजेत्—स्प० का० वृति—1/12

108. भावनाया भाव्यवस्तु विषयत्वादभावस्य न किंचित्वाद्
भाव्यमानतायां वा किंचित्वे सत्यभावत्वाभवात् —स्पन्दनिर्णय 1/12

109. किं च भावकस्यापि यत्राभाव: स विश्वच्छेद: कथं भावनीय:,
भावकाभ्युपगमे तु न विश्वोच्छेदो भावकस्यावशिष्यमानत्वाद् ।।
स्पन्दनिर्णय 1/12

110. यस्मात् नाभावे भावना युज्यते, मूढावस्थैव सा,

यस्मात् उत्तरकलं अभियोग संस्पर्शात् अभिलाप संयोगात्—
—"सा शून्यवस्था अतीता मम" इति स्मर्यते,
— स्प० का० वि० 1/12

111. मोक्षो हि नाम नैवान्यः स्वरूपप्रथनं हिसः ।
स्वरूपं चात्मनः सविन्नान्यत् तत्र तु या पुनः ॥ तं० 1/156

112. ते खलु सर्वभावनैः स्वभाव्यवादिनाः संविदोऽपि नै स्वाभाव्यात्
मिथ्यात्वमभिदधतस्तच्छून्यतायामेव मोक्षमाचक्षीरन् —तं० 1/133

113. संविदि तु स्फुरत्तामात्र सारायां मिथ्यात्वात् असत्वमेव स्यात्,
इति न किंचित् स्फुरेत् इति मूर्च्छेव स्यात् । न च संविदः
स्फुरत्तामात्र साररूपाया अपह्नवःशक्यक्रिय इति —तं० वि० 1/33

114. सर्वालम्बनधर्मैश्च सर्वसत्वैर शेषतः ।
सर्वक्लेशाशयैः शून्यं न शून्य परमार्थत् ॥
तं० वि० 1/33 में उदाहृत

115. इत्यन्तः करणस्यैव विचित्रात्मावभासिनः ।
अविभावित तत्वस्य विस्फूर्जितमिदं जगत् ॥ तदैव

116. अथ सर्वालम्बनधर्मैश्च इत्याद्युक्तयुक्त्या ग्रहयग्राहकभावदिना
कल्पितेन रूपेण शून्यं न तु संविदाऽपि इति चेत् एवं ह्युच्यमाने
विज्ञानवादे एवाभ्युणगमः स्यात् —तदैव

117. अशून्य शून्यमित्युक्तं शून्यं चाभाव उच्यते ।
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गतः ॥
सत्तामात्रं परं शान्तं तत्पदं किमपि स्थितम् ॥
स्वच्छ तंत्र 4/292-93

118. यत्तु अस्य शून्यत्वमुक्तं तन्माया क्षयोपचारेण तदधर्मः
परिणामित्वादिभिः शून्यत्वाच्छून्यम् । तंत्रालोक विवेक 1/76

119. यत्र यत्र च नादादि स्थूला अन्येऽपि संस्थिताः ।
तत्र तत्र परं शून्यं सर्व व्याप्य व्यवस्थितम् ॥

120. ज्ञानान्येव प्रकाशन्ते भिन्नकालानि,
भिन्न विषयाणि भिन्नाकाराणि च । ई० प्र० वि० पृ० 54

121. बुद्ध्या विविच्यमानानां स्वभावो नावधार्यते ।
अतो निरभिलप्यास्ते निःस्वभावाश्च कीर्तिताः ॥ स्पादवाद मन्जरी

122. तत्र नील प्रकाशः स्वलक्षणाभासं ज्ञानम् । स्वं अन्यानुयायि
स्वरूपसंकोचभाजि लक्षणं देशकालाकाररूपं यस्य तस्य आभासः
प्रकाशनम् अन्तर्मुखं यस्मिन् । ई० प्र० वि० पृ 54

123. यस्य......सन्निधानासन्निधानाभ्यां ज्ञानप्रतिभासभेदस्तत्
स्वलक्षणम् न्याय बिन्दु—प्रथम परिच्छेद ।

124. अभिलाप संसर्ग योग्य प्रतिभासा प्रतीतिः कल्पना —तदैव

125. नित्यस्य कस्यचिद् द्रष्टस्तस्यात्रानवभासत: ।
अहं प्रतीतिरप्येषा शरीराद्यवसायिनी ।। ई० प्र० 1/2/2

126. सुखादि चेत्यमानं स्वतन्त्रं नानुभूयते ।
कतुबर्थानुवेधात्त सिद्धं ग्रहणमात्मन: ।। ई० प्र० वि० पृ० 58

127. इदं सुखमिदं ज्ञानं दृश्यते न घटादिवत् ।
अह सुखीति तु ज्ञप्तिरात्मनोऽपि प्रकाशिका ।।
ई० प्र० वि० पृ० 58

128. चिदंशत्वेन द्रष्ट्टत्वं सोऽयमिति प्रत्यभिज्ञा, विषवत्वं च अचिदंशेन,
ज्ञानसुखादिरूपेण परिणामित्वम् । स आत्मा अहं प्रत्ययेनैव वेद्य ।
अद्वैतब्रह्मसिद्धि :—काश्मीरक सदानन्द

129. (क) ज्ञान सन्तान एव तत्वम् इति सौगता बुद्धिवृतिष्वेय पर्यवसिता:
प्र० हृ० वृत्ति सूत्र 8

(ख) अहं प्रतीति प्रत्येय: सुखाद्युपाधिभि: तिरस्कृत आत्मा इति
मन्वाना मीमांसका अपि बुद्धावेव निविष्टा: —तदैव

5

अशुद्ध-सृष्टि--निरूपण

अशुद्ध सृष्टि या अशुद्धाध्वा

शुद्ध सृष्टि के पश्चात् अब क्रम-प्रान्त अशुद्ध सृष्टि का विवेचन प्रस्तुत किया जाता है। त्रिक दर्शन में माया के अभाव एवं सद्भाव को लेकर ही शुद्धता और अशुद्धता का विभाग किया गया है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि शुद्ध सृष्टि शुद्ध संविद्रूप है और अशुद्ध सृष्टि में संविद्रूपता का अभाव है। अपितु इसका अभिप्राय यह है कि जिन तत्वों के आविष्करण में परमेश्वर स्वयम् रुचि लेते हैं उन तत्वों की सृष्टि शुद्ध सृष्टि कहलाती है। ऐसे पाँच ही तत्व शुद्ध सृष्टि के अन्तर्गत आते हैं—शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्ध विद्या। इनकी शुद्धता का युक्तियुक्त विवेचन पीछे किया जा चुका है। जिन तत्वों का प्रकाशन परमेश्वर मल की जननी माया के द्वारा करते हैं उन तत्वों को अशुद्ध शुद्धि या अशुद्ध अध्वा (Impure order) कहा जाता है। अभी इस प्रकरण में जिन 31 तत्वों का स्वरूप-विवेचन किया जाना है वे सभी अशुद्ध सृष्टि में परिगणित किए गए हैं क्योंकि उनका उदय मायातत्व के माध्यम से होता है। माया एक अशुद्ध तत्व है। शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही सृष्टियों के कर्ता परमेश्वर ही हैं। प्रथय सृष्टि में वे साक्षात् स्वयम् सक्रिय(Involved) हैं और दूसरी में परम्परया कारण हैं। परमेश्वर की संविद्रूपता अथवा उसकी ज्ञान-क्रियात्मकता का व्यभिचार न प्रथम सृष्टि में है और न दूसरी में है।

अशुद्धि क्या है ?

त्रिक दर्शन में अशुद्धि का एक विशिष्ट अर्थ है। यहाँ स्वरूप का अज्ञान ही अशुद्धि-पद-वाच्य है। इसे ही अख्याति, मल, तथा बन्ध आदि

नामों से परिभाषित किया जाता है। ये सब अज्ञान के ही पर्याय हैं। स्वरूप-गोपन इसका कार्य है। संसाररूपी अंकुर का कारण यही अज्ञान है।[1] स्वरूप का अज्ञान ही सबसे बड़ी अशुद्धि है जो परमेश्वर को भी विश्वात्मभाव से गिरा कर पशुभाव के स्तर पर लाकर खड़ा कर देती है। यही वह रोग है जो स्वतत्र परमशिव को अस्वतत्र, सर्वशक्तिमान् को अल्पशक्तिमान् सर्वज्ञ को अल्पज्ञ, सर्वकर्ता को अल्पकर्ता, पूर्ण को अपूर्ण, नित्य को अनित्य, व्यापक को एक-देशी चैतन्य को जड़रूप हो जाने के लिए विवश कर देता है।

त्रिक दर्शन के अनुसार अशुद्धिरूप अज्ञान अभावरूप नही है। बन्धनात्मक ज्ञान ही यहाँ अज्ञान कहलाता है।[2] यह ज्ञानभाव नहीं है अपितु परमेश्वर के स्वरूप का अपूर्ण ज्ञान ही अज्ञान है। यह एक तिमिररोग[3] (रतोंधी) है जो परमात्मा के स्वातन्त्र्यात्मक स्वरूप को आवृत कर लेता है। ऐसा करने के लिए परमात्मा को कोई विवश नहीं करता। अपितु वह स्वतन्त्र परमात्मा अपनी ही इच्छा से अशुद्धि के द्वारा स्वरूप को आवृत करके जड़ और चेतन तत्वों के रूप में अवस्थित हो जाता है। स्वातन्त्र्य तो आखिर स्वातन्त्र्य ही है। वह स्वतन्त्र है तभी तो अस्वतन्त्र जैसा बन जाता है। यदि वह अस्वतन्त्र बनने का सामर्थ्य न रखता तो स्वतन्त्र ही क्यों कहलाता। यह उसके स्वातन्त्र्य का ही विलास है कि वह जब इच्छा करता है तब अर्धस्वतन्त्र जीव बन जाता हैं और जब चाहता है तब पूर्ण अस्वतन्त्र जड़ तत्व बन जाता है। इस प्रकार अशुद्ध अध्वा में भी उसके चिति-कर्तृत्तरूप स्वातन्त्र्य की गति में कहीं कोई व्यवधान नहीं आता। वह सर्वदा पूर्ण स्वतन्त्र ही बना रहता है। अशुद्धि भी उसका स्वेच्छा-परिगृहीत रूप है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वरूप-गोपन करने वाला तत्व ही अशुद्धि कहलाता है।

गत प्रकरण में यह बात प्रतिपादित की जा चुकी है कि शुद्ध संविद्-रूप स्वातन्त्र्यात्मक अनुत्तरतत्व परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति निरन्तर प्रसरणशील है उसकी शक्ति की स्पन्दना चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन पाँच रूपों में सतत प्रवहमान रहती है। चित् का ही अपर नाम है सर्वज्ञत्व, आनन्द का सर्वकर्तृत्व, इच्छा का नाम पूर्णत्व, ज्ञान का नित्यत्व और क्रिया का ही नाम व्यापकत्व है। स्वातन्त्र्य शक्ति के इन्हीं पाँच रूपों से वह पंचकृत्यकारी कहलाता है।[4] अर्थात् चित् से सृष्टि आनन्द से स्थिति, इच्छा से संहार, ज्ञान से पिधान और क्रियाशक्ति से अनुग्रह का सम्पादन करता है। विश्वरूप में अवभासित होना चैतन्य का स्वभाव है।

चूँकि वह आनन्द है इसलिए बाहर छलकने के लिए उत्कंठित रहता है। श्रुति भी यही कहती है कि—स एकाकी नारमत। अर्थात् वह परमेश्वर जब अकेला था तब आनन्दित नहीं था। इसलिए उसने बहुत होने की इच्छा की ओर वह बहुत हो गया। विश्व का अवभासन कर डाला। विश्व का अवभासन करने की इस क्रीड़ा में वह अपने ही स्वातन्त्र्य से अपनी अभेद-व्याप्ति को भूलकर भेद-व्याप्ति का ग्रहण कर लेता है। यद्यपि यह निखिल विश्व उसी अखण्ड पर-तत्व में अभिन्न रूप से सदा अवस्थित है। उसे "अहम्" रूप में वह सर्वदा अपने भीतर ही अनुभव करता है। फिर भी उसकी ऐसी अभिलाषा होती है कि मैं इसे इदं रूप में अपने से भिन्न रूप में देखूं। वह पूर्णता से अपूर्ण होना चाहता है। इस प्रकार की अभिलाषा ही अशुद्धि का पहला स्वरूप है। अपूर्णता की यह अनुभूति जिसे अशुद्धि नाम दिया गया है—तीन प्रकार की है—आणव, मायीय और कार्मण। इन्हें ही शैव दर्शन में मलत्रय कहा जाता है। इनका विशेष विवेचन आगे किया जाएगा। यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त होगा कि स्वरूप-संकोच का नाम आणवमल है। धर्माधर्म रूप हेय और उपादेय कर्मों का नाम कार्मल मल है। तथा सुख दु:ख आदि के भोग को मायीव मल कहा जाता है। इन्हीं तीनों का संग्रह मालिनी—विजय के इस श्लोक में किया गया है :—

मलमज्ञान मिच्छन्ति संसारांकुरकारणम्।
धर्माधर्मात्मकं कर्म सुखदु:खादिलक्षणम् .. 1/23

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि पतिप्रमातृ-रूप परमेश्वर ने अपनी इच्छा से ही यह अशुद्धि उत्पन्न की है।[5] जिससे वह असमर्थ और शक्तिहीन सा हो गया है। तथा जन्म-मरण-रूप संसृति के जाल में पड़कर पशुरूप धारण कर रहा है।

बाहयरूप में प्रवहमान शक्तियाँ अशुद्धि का रूप धारण करके निरन्तर स्वरूप पर आवरण डालती रहती हैं। यह अशुद्धि पंच कंचुक, स्थूल देह आदि आवरणों का रूप धारण करके जीवात्मा को इस प्रकार अपने पाश में आबद्ध कर लेती हैं कि वह अपने चिदानन्दादि रूप को विस्मृत करके अनात्मभूत अचेतन तत्वों पर आत्माभिमान करने लग जाता है। दूसरी ओर यह अशुद्धि सत्वादि तीन गुणों का रूप धारण करके सुख दु:ख मोहरूप रागात्मक भावनाओं से जीव को, जो कि स्वरूप से नित्य निर्लेप और निरन्जन है अनित्य, आसक्त तथा ममत्वाभितानयुक्त जैसा समझने के लिए विवश कर देती हैं। इन्हीं रागात्मक भावनाओं के वश में पडकर सांसारिक

जीव समूह प्रतिक्षण जगत् की भोगकामनाओं को सुरा सुन्दरी स्वर्ण आदि विषयोपभोग के द्वारा शान्त करने में लगा रहता है किन्तु कामनाएँ हैं कि शान्त होने में ही नहीं आती। अनन्त जन्म और अनन्त काल बीत जाने पर ही यह भोगतृष्णा नव नव होकर तरूणतर ही होती जाती है। वस्तु-स्थिति यह है कि यही भोगाञ्छा एक अतर्पणीय पिपासा है जिसकी शान्ति विषयोपभोग से सम्भव नहीं है किन्तु पूर्वोक्त अशुद्धि का प्रभाव ही कुछ ऐसा कि पशुवर्ग इस रहस्य को समझ ही नहीं पाता। परिणाम यह होता हैं कि वह ज्यों ज्यों इस भोग-पिपासा को शान्त करने का प्रयास भोग द्वारा करता है त्यों त्यों वह अधिकाधिक सम्मृद्ध होता जाता है। परमेश्वर की ये घोरतरी शक्तियाँ जीवों को विषयजाल में, विषधरी नागिनी के समान आवंष्टित करके नीचे ही नीचे गिराती रहती हैं।[6] अज्ञानी पुरुष इसकी दंष्ट्राओं में जकड़े जाकर अपने वास्तविक स्वरूप को भूल विवेकहीनता की स्थिति में पड़े रहते हैं। बुद्धिवादी चिन्तन इसमें कुछ भी सहायता नहीं करता। तार्किक क्षमता उससे भले ही सम्मृद्ध हो जाए किन्तु हृदयपक्ष पिछडता जाता है। हृदय-पक्ष की दुर्बलता मनुष्य को अपने स्वरूप की पहचान नहीं होने देती।

पशुजनों में पायी जाने वाली यह अशुद्धि स्वरूप-संकोच का ही दूसरा नाम है। इसी को शक्ति-दारिद्रय अथवा स्वशक्ति विरोध भी कहा जा सकता है। इसके बिना पशुभाव का सम्पादन हो ही नहीं सकता। शक्ति-दारिद्रय के प्रभाव से ही स्वतन्त्र शिव पराधीन बनकर अशुद्ध सृष्टि के रूप में प्रसृत हो गया है। इस रूप में उसकी ज्ञान-क्रियात्मक स्पन्दना संकुचित हो जाती है। यह ज्ञान-क्रियात्मक संकोच ही त्रिक शास्त्र में अशुद्धि कहलाता है।

अशुद्ध सृष्टि के कर्ता भगवान् अनन्तनाथ

माया से लेकर प्रकृति तत्व तक की सृष्टि के कर्ता भगवान् अनन्त-नाथ हैं।[7] शिव से लेकर शुद्ध विद्या तक शुद्ध सृष्टि के कर्ता साक्षात् परमशिव थे। किन्तु भोग लोलुप प्राणियों के लिए भोग्य पदार्थों की उत्पत्ति साक्षात् परमशिव से नहीं अपितु भगवान् अनन्तनाथ के द्वारा होती है। भगवान् अनन्तनाथ को अघोरेश भी कहा जाता है। यद्यपि भगवान् अनन्त-नाथ भी अशुद्ध सृष्टि के स्वतन्त्र कर्ता नहीं हैं। वे परमेश्वर की इच्छा के अधीन रहते हुए ही भोग लोलुप प्राणियों की भोग वासना को ध्यान में रखते हुए मायीय तत्वों की सृष्टि करते हैं। इसलिए यह सृष्टि सापेक्ष सृष्टि कहलाती है। सापेक्ष का अर्थ है कि भगवान् अनन्त निरपेक्ष होकर स्वेच्छा से किसी पदार्थ का सृजन नहीं करते। अपितु इसके लिए उन्हें दो बातों की

अपेक्षा है—प्रथम तो ईश्वरेच्छा की और दूसरी प्राणियों की भोग वासना की। शुद्ध सृष्टि सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र होती है क्योंकि परमेश्वर उस सृष्टि में किसी अन्य की इच्छा की अपेक्षा नहीं करते। न ही शुद्ध सृष्टि के प्राणियों में कोई भोग वासना होती है। वहाँ कोई भोग ही नहीं होता तो वासना कहाँ से होगी। इसलिए वह सृष्टि शुद्ध कहलाती है। भोगवासना का दूसरा नाम अशुद्ध ही है। अशुद्ध सृष्टि प्राणियों के कर्माशयों को दृष्टि में रखकर की जाती है। इस प्रकार यह सृष्टि सापेक्ष होने से स्वातन्त्र्य लीलामयी नहीं होती। यही शुद्ध सृष्टि और अशुद्ध सृष्टि में अन्तर है।[8]

अशुद्ध सृष्टि को ईश्वरेच्छा-सापेक्ष क्यों कहा गया है? इसका विवेचन अनेकशः किया जा चुका है कि यह समस्त सृष्टि विलास परमेश्वर की इच्छा का बाह्य प्रसार ही है। सर्वत्र वे ही कर्ता है। पशुवर्ग में जो इच्छा पायी जाती है वह इच्छा भी उन्हीं के द्वारा उत्पन्न की हुई। उत्पन्न क्या की गई है, बल्कि प्राणियों की भोगेच्छा भी परमेश्वर की ही इच्छा है। ईश्वराद्वयवाद में जब ईश्वर के अतिरिक्त कोई तत्व ही नहीं है तो दिखायी देने वाले तत्व भी उसी परमतत्व के बाह्य विजृम्भण हुए। पशु भी वही है, भोगेच्छा भी वही है, भोग भी वही है और भोग्य भी वही है। कहने का भाव यह है कि ईश्वरेच्छा से प्रेरित होकर ही भगवान् अनन्तनाथ अशुद्ध तत्यों की सृष्टि करते हैं।[9]

भगवान् अनन्तनाथ का स्वरूप

ये भगवान् अनन्तनाथ कौन हैं? इन्हें अनन्त क्यों कहा जाता है? ऐसी जिज्ञासा का मन में उठना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों का उत्तर त्रिक दर्शन के आचार्यों ने सर्वसाधारण से छिपा कर रखा है। फिर भी शब्द-शास्त्र के पारखी इसके रहस्य तक पहुँच ही जाते हैं। त्रिक दर्शन के आचार्य अभिनव गुप्त ने इतना ही कहा है कि शुद्ध-विद्या तत्व के अधिष्ठाता अथवा महामाया में अवतीर्ण परमशिव ही अनन्त नाम से कहे जाते हैं। जैसे सदाशिव तत्व के अधिष्ठाता सदाशिव भट्टारक हैं और ईश्वरतत्व के अधिष्ठाता भगवान् ईश्वर-भट्टारक हैं वैसे ही शुद्धविद्या अथवा महामाया तत्व के अधीश्वर भगवान् अनन्तनाथ या अनन्त भट्टारक हैं।[10] भट्टारक शब्द स्वामी अथवा शासक के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इन्हीं अनन्तनाथ को अघोरेश[11] तथा मन्त्रराट्[12] की संज्ञा भी दी गयी है। इन नामों की अन्वर्थता जानना आवश्यक है। इन्हीं के अर्थ को जानकर भगवान् अनन्तनाथ के स्वरूप के रहस्य को जाना जा सकता है।

शुद्ध सृष्टि के साक्षात् कर्ता परमशिव का नाम शुद्धविद्या तक आते

आते अन्नत हो जाता है। इसका कारण यह है कि परमेश्वर की क्रिया-शक्ति की कोई सीमा नहीं है वह अनन्त है। शुद्धविद्या तत्व में क्रिया-का प्राधान्य है।[13] बाह्य प्रसार की दृष्टि से चित् निर्वृत इच्छा ज्ञान और क्रिया इन पाँचों शक्तियों में क्रियाशक्ति का प्रसार सर्वाधिक है। चित् मुख्य रूप से शिवतत्व का ही स्वरूप है जिससे वह सर्वज्ञ है। आनन्द शक्तितत्व की शक्ति है, इच्छा सदाशिव तत्व में प्रधानरूप से रहती है। और ज्ञान ईश्वरतत्व में रहता है। ये शक्तियाँ शुद्धरूप में इन्हीं तत्वों तक सीमित हैं। यद्यपि परमार्थरूप में तो ये चारों तत्वों में विशदतया होती हैं। क्रियाशक्ति का बाह्यरूप में प्रसार इनकी तुलना में अधिक होता है। क्रिया का मूल रूप तो विमर्श ही है। यह विमर्श चित् में भी है, आनन्द में भी है और इच्छा तथा ज्ञान में भी है। इसके पश्चात् शुद्धविद्या से नीचे जब मायीय तत्वों का प्रसार होता है तब तो यह क्रियाशक्ति अनन्तानन्त रूपों में प्रसृत होकर लोकत्रय को व्याप्त कर लेती है। यह जितना भी भूलोक आदि चतुर्दश भुवनों का विस्तार पठित श्रुत और दृष्टिगोचर हो रहा है यह सब क्रियाशक्ति का ही प्रपञ्च है हम इसकी सीमा को यदि कल्पना के मानदण्ड से भी नापना चाहें तो नाप नहीं सकते। बुद्धि असहाय हो जाती है, ज्ञान-शक्ति कुण्ठित हो जाती है। मायीव सृष्टि का पार नहीं पाया जाता। इसी क्रियाशक्ति के प्राधान्यरूप शुद्धविद्या तत्व में अवतीर्ण होकर परमेश्वर का नाम अनन्त हो जाता है। अत: यह सार्थक नाम है। अनन्ता-नन्त विपुल जगत् की सृष्टि भगवान् अनन्तनाथ के ही द्वारा होनी है अत: पहले ही उसका नाम अनन्त रख दिया गया। परमेश्वर से पृथक् इनकी वैसी सत्ता नहीं है जैसी दो वृक्षों में या घट पट में होती है अपितु वे परमेश्वररूप ही हैं। परमेश्वर ने ही अपने रूप से अनन्तनाथ को अपृथक् होते हुए भी पृथक् जैसा प्रतिष्ठित कर दिया है। ऐसा नहीं है कि क्रिया-शक्ति का आश्रय-स्थलरूप अनन्तनाथ कोई पृथक् तत्व हो। इस त्रिक-शास्त्र में न्याय वैशेषिक आदि शास्त्रों के समान कोई धर्मरूप शक्तियों का पृथक् आश्रय स्वीकृत नहीं किया गया।[14] अत: शिव से लेकर अनन्तनाथ पर्यन्त तत्वेश्वरों का स्वरूप शुद्ध-चैतन्य-मात्र ही माना गया है।[15]

अनन्तनाथ को अघोरेश भी कहा जाता है। यहाँ अघोर शब्द परमेश्-वर की अघोर शक्तियों की ओर संकेत कर रहा है। पीछे बताया जा चुका है कि परमेश्वर की नीखिल शक्तियों को अघोर, घोर और घोरतर इन तीन वर्गों में त्रिभाजित किया गया है। यह विभाजन फल को ध्यान में रखकर किया गया है। भगवान् अनन्तनाथ अघोर शक्तियों के स्वामी

हैं। पशुओं को विषयों में फँसाकर नीचे ही नीचे की सर्पादि योनियों में गिराने वाली शक्तियाँ घोरतरी कहलाती हैं। घोर शक्तियाँ शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मफलों के प्रति आसक्ति उत्पन्न करती हैं और मुक्ति का मार्ग बन्द रखती हैं।[16] शिवधाम पर पहुँचाने वाली शक्तियाँ अघोर कहलाती हैं।[17] इनमें से अनन्तनाथ अघोर शक्तियों के स्वामी हैं। केवल अशुद्ध सृष्टि को उत्पन्न करना ही अनन्तनाथ का कार्य नहीं है अपितु पशुओं पर अनुग्रह करके उन्हें शिवधाम पर पहुँचाना भी उन्हीं का कार्य है। यह एक सत्य नियम है कि अशुद्धि का स्वामी ही अशुद्धि को दूर करता है। अनुग्रह और निग्रह का दायित्व भगवान् अनन्तनाथ का ही है। वे ही शक्तिपात द्वारा पशुओं का उद्धार करते हैं। अघोर शक्तियों से ही भगवान् जीवों पर अनुग्रह करके उन्हें शिवभाव पर पहुँचाते हैं। अतः भगवान् अनन्त का अघोरेश नाम अन्वर्थ ही है। परमेश्वर की अघोरा-शक्ति अन्य कुछ नहीं केवल शिवधाम को देने वाली इच्छाशक्ति का नाम ही अघोरा है। यह अघोरा पराशक्ति अर्थात् सबसे उत्कृष्ट शक्ति है।[18]

भगवान् अनन्तनाथ मन्त्रराट् भी कहलाते हैं क्योंकि शुद्धविद्या में स्थित मन्त्रप्राणियों के शासक यही हैं। यह मन्त्र ही मन्त्रमहेश्वरों और मन्त्रेश्वर प्राणियों का जीवन है। इसके बिना लौकिक मन्त्र भी निर्जीव हैं।[19] ये मन्त्र शरत्काल के मेघों के समान आद्यन्तरहित होते हैं।[20] इन मन्त्रों के स्वामी अनन्तनाथ हैं अतः मन्त्रराट् कहलाते हैं।

अशुद्ध सृष्टि की तत्व संख्या

त्रिक दर्शन की तत्वमीमांसा में कुल छत्तीस तत्व स्वीकार किए गए हैं। इन छत्तीस तत्वों को दो भागों में विभाजित किया गया है— शुद्ध सृष्टि और अशुद्ध सृष्टि। शुद्ध सृष्टि की संख्या पांच है जिनका विवेचन पीछे किया गया है। शेष इक्तीस तत्व अशुद्ध सृष्टि कहलाते हैं। ये इक्तीस तत्व हैं—माया, काल, कला, नियति, विद्या, राग, पुरुष, अव्यक्त, महत्, अहंकार, मन, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ पंच तन्मात्र और आकाशादि पंच महाभूत।

इन छत्तीस तत्वों के कहीं कहीं तीन विभाग भी किए जाते हैं शुद्ध सृष्टि, शुद्धाशुद्ध सृष्टि और अशुद्ध सृष्टि। माया से लेकर पुरुष तक के सात तत्वों को शुद्धाशुद्ध मान लिया जाता है। इसका कारण यह है कि ये न शुद्ध हैं और न अशुद्ध हैं, अपितु दोनों ही हैं। माया आदि सात तत्वों से पशु सर्वथा नीचे ही नहीं गिरता अपितु ये उत्थान की ओर ले जाने में भी सहायता करते हैं। माया को ही लीजिए। माया ही वह तत्व है जिससे

भगवान् जीवों पर अनुग्रह भी करते हैं जिससे वे समावेश द्वारा शिवधाम की ओर अग्रसर होते हैं । अत: यह तत्व शुद्ध इसलिए नहीं कहा जा सकता क्योंकि कला आदि पंच कंचुकों से यह चित् आदि पाँच शक्तियों का संकोच भी करता है । इसी प्रकार पाँच कंचुक भी शुद्धाशुद्ध हैं । जैसे विद्यातत्व ज्ञान का संकोच करके शिव को अल्पज्ञ पशु बना देता है, किन्तु ज्ञान का अंश तो उसमें है ही । भले ही वह अल्प मात्रा में हो ।इसी प्रकार पुरुष भी शुद्ध और अशुद्ध दोनों ही हैं । किन्तु हमने अशुद्धि को लेकर तत्वों के दो ही विभाग किए हैं ।

माया-तत्व (षष्ठ तत्व)

अब क्रम प्राप्त माया तत्व का विवेचन किया जाता है । यह अशुद्धध्वा का प्रथम तत्व है कित्तु तत्व विकास के क्रम में प्रारम्भ से छठा तत्व है । काश्मीर शैव दर्शन में माया को दो रूपों में वर्णित किया गया है—शक्ति के रूप में तथा तत्व के रूप में । शक्तिरूप से अभिप्राय परमशिव की स्वातन्त्र्य शक्ति से है । इसमें माया के शक्तिरूप पर तृतीय अध्याय में प्रकाश डाला जा चुका है । उसके स्मरण के लिए यहाँ पुन: उसका स्थापन किया गया जाता है । परमेश्वर की मायाशक्ति जिसे स्वातन्द्र्य शक्ति की एक विशिष्ट अवस्था के रूप में जाना जाता है, शक्ति की वह अवस्था है जिसमें अहं-विमर्श की दशा में अवस्थित प्रमेय जगत् को भेदरूप में अवभासित करने की एक प्राथमिक स्फुरणा होती है । वह परमेश्वर से सर्वथा अभिन्न उसकी स्वभावभूता शक्ति है ।[21] यह विभाग को प्राप्त होने वाला भेद का आद्य क्षीण अवभास मात्र है, जिसमें अनन्त विश्व विलीन होकर रहता है ।[22] यह व्यापक है, निष्कल है, जगत् की निधानस्वरूपा है । आद्यन्तरहित, शिवा, ईशानी और अव्यय कहलाती है ।[23]

तत्वरूपा माया उक्त मायाशक्ति से कुछ भिन्न स्वभाव वाली है । इस अवस्था में पतिप्रमाता के अहन्तारूप अभेदात्मक बोध का पूर्ण रूप से तिरोधान हो जाता है और इदन्तारूप प्रययात्मक विश्व का भेदावभास प्रारम्भ हो जाता है । पृथवीतत्व-पर्यन्त आगामी जड़ सृष्टि के विकास की प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है । इदन्ता अहन्ता से पूरी तरह पृथक् हो जाती है और जड़ देह प्राणादि के रूप में विकास को प्राप्त कर लेती है । यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि परमेश्वर की मायाशक्ति ही अवस्थाभेद से मायातत्व कहलाती है ।[24] अभेदवस्था पर जो मायाशक्ति है वही भेदवस्था पर माया तत्व है । इसलिए मायातत्व भी परमेश्वर की इच्छारूप है क्योंकि उसी की इच्छा से इसका आविर्भाव होता है । इसी कारण यह एक वस्तु-

भूत तत्व है अवस्तुभुत नहीं।[25] स्वरूप का तिरोधान करने वाली यह माया महासामर्थ्यशालिनी है। क्या विद्वान् और क्या मूर्ख सभी को यह अपना मोहिनीरूप दिखाकर वश में कर लेती है। भला ऐसे तत्व को अवस्तु कैसे कहा जा सकता है। यही माया चिन्मय शिव से भेद का आपादन करके जीवों में सुषुप्ति जैसी अवस्था उत्पन्न कर देती है।[26]

माया जड़ उपादान तत्व है

यह माया तत्व जड़ है और आगामी सृष्टि के तत्वों का उपादान कारण है[27] स्वरूप पर समग्र रूप से आवरण पड जाने के कारण यह मायातत्व स्वयम् भी जड़ है और इसका कार्य भी जड़ है।[28] इसलिए इसे मायाशक्ति न कहकर मायातत्व कहा जाता है। शक्ति तो ज्ञान क्रियात्मक तथा प्रकाश विमर्शात्मक शिवरूप होने के कारण चेतन्यमयी है। किन्तु यह मायातत्व शक्ति का ही अवस्थान्तर होने के कारण व्यापक है और नित्य है तथा सबका मूल कारण है।[29]

माया तत्व को जड़ कहने का अभिप्राय यह नहीं है कि उसमें चैतन्य का सर्वथा अभाव हो गया है। अपितु जड़ का अर्थ यह है कि परमेश्वर की असीम स्वातन्त्र्यशालिनी शक्ति देश, काल एवं आकार की सीमाओं से संकुचित हो गयी है। शक्ति का यह संकोच ही शैव दर्शन में जड़ता कहलाता है। जड़ का यह स्वभाव ही होता है कि वह परिच्छिन्न रूप से प्रकाशित होता है। यही जड़ का लक्षण है।[30] जड़ का लक्षण अचेतनत्व नहीं होता जैसा कि अन्य दर्शनों में माया को अचेतन माना गया है। शैव शास्त्रों की मान्यता के अनुसार चैतन्य रहित तो कोई तत्व होता ही नहीं। चैतन्य का संकोच ही होता है, उसका सर्वथा अभाव नहीं होता। व्यापक तत्व का भला अभाव कैसे हो सकता हैं। इसी कारण यह माया त्रिक दर्शन में वस्तुभूत मानी गयी है। वस्तुभूत है इसलिए कंचुक तत्व पुरुष प्रकृति आदि का उपादान कारण बनती है। अवस्तुभूत तत्व कभी किसी का उपादान कारण नहीं बन सकता है।[31]

उपादान कारण उसे कहते हैं जो स्वरूप विकार को प्राप्त करके कार्य में अनुगत होकर रहे।[32] माया अशुद्ध तत्वों का उपादान कारण इसीलिए कहलाती है क्योंकि वह स्वरूप का संकोच करके विकार को प्राप्त करती है और कंचुक आदि तत्वों को व्याप्त करके स्थित रहती है। कोई भी तत्व ऐसा नहीं जो माया का अतिक्रमण करके रह सकता हो। घट का उपादान कारण माया है किन्तु अणु का वह वैसा उपादान नहीं है जैसा घट का कारण है। अणु चिथ्रूप है और नित्य है।[33] घट चिट्रप नहीं

है। किन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि माया अणुवर्ग का कारण नहीं है। कारण है किन्तु थोड़े अन्तर से। अणु में जो चिदंश है और उसमें जो अल्पज्ञतृता और अल्पकर्तृता है उसका निमित्त कारण माया है किन्तु उसका जं देहप्राणादिरूप संघात है उसका उपादान कारण है।

माया की जड़ता के प्रभाव से प्राणी बच नहीं सकते। माया तत्व के अन्दर स्थित पशु प्रमातृगण शुद्ध संवित् को अपना स्वरूप नही समझते अपितु अपने को जड़ात्मक ही समझते हैं। जड़ात्मक अर्थात् संकुचित ज्ञान-क्रियात्मक पुरुष के रूप में अपने को देखते हैं। वे प्रमेय को अपने से सर्वथा भिन्न रूप में देखते हैं। वे सा समझते हैं कि मैं घट पट आदि वस्तुओं का भोक्ता हूं और घटपटादि मेरे भोग्य हैं। साथ ही वे अपने "अहम्" को जन्म मरण धर्मा तत्व समझते हैं, क्योंकि माया ने उनके शुद्ध संवित् रूप अहन्ता के बोध का तिरोधान कर दिया है। इस प्रकार माया स्वरूप का तिरोधान करने वाली शुद्ध भेदप्रथा[34] की अवस्था है। भेदप्रथात्मक होने के कारण ही यह माया अशुद्ध सृष्टि का मूल कारण है। अशुद्ध सृष्टि को अशुद्धता इसी ने प्रदान की है। इसीलिए इस सृष्टि में अभिव्यक्त होने वाले सभी तत्वों को अशुद्धध्वा के अन्तर्गत परिगणित किया जाता है।

माया शब्द की व्युत्पत्ति

आचार्य जयरथ ने तत्वरूपा माया के विभिन्न व्युत्पतिलभ्य अर्थ किए हैं जो सभी किसी न किसी अंश में उसके स्वरूपगत वैशिष्ट् को प्रकट करते हैं।

प्रथम व्युत्पत्ति : "मीयते हेयतया परिच्छिद्यते" योगिभिः"[35] योगियों के द्वारा यह हेयरूप में जानी जाती है इसलिए यह माया कहलाती है। यहाँ माया में "मा माने[36] धातु स्वीकार की गयी है। योगी जन इसे अशिवा= अकल्याणी समझते हैं।[37] क्योंकि योग मार्ग में सबसे बड़ा अन्तराय यही है। यही विभिन्न प्रकार के मोहक रूप दिखाकर उन्हें योगसाधना से भ्रष्ट करती है। इसलिए वे उसे छोड़ना चाहते हैं। इस कारण यह माया कहलाती है।

द्वितीय व्युत्पत्ति : "मा माने, धातु के अर्थ को ही ध्यान में रखकर माया को दूसरी व्युत्पत्ति की गयी है—'सर्वत्र मातीति माया"[38]। अर्थात् यह सबको मापती है तोलती है इसलिए माया कही गयी है। मापने तोलने का अर्थ यह है कि सबकी परीक्षा लेकर माया यह देखती रहती है कि कौन कितने पानी में है। साधना के कितने सोपान साधक ने पार कर लिए हैं और वह अपने निश्चय पर कितना दृढ़ हैं इसकी परीक्षा माया की न्यूनता

अथवा अधिकता से होती है। मापने का दूसरा अर्थ यह है कि यह सर्व-व्यापिनी है और पुरुषों के भोग के लिए समस्त कार्यों को उत्पन्न करती है इसलिए परिमाण में मबसे विपुल होने के कारण भी यह माया कहलाती है।[39]

तृतीय व्युत्पत्ति : "मा" एक निषेध वाचक अव्यय भी है। या धातु प्राप्ति और गति के अर्थ प्रयुक्त होती है—या प्रायणे।[40] माया का अर्थ हुआ कि यह मा शब्द वाच्य विनाश रूप निषेध से याता=गयी हुई या रहित है।[41] माया नित्य है क्योंकि यह शिव के साथ अविनाभाव रूप से संयुक्त है। चूंकि शिव नित्य है इसलिए माया भी नित्य है।[42] इस प्रकार मा अर्थात् विनाश से रहित होने के कारण यह तत्व माया शब्दवाच्य है। माया का विनाश कथमपि सम्भव नहीं। इसका केवल शिव में लय होता है विनाश नहीं।

चतुर्थ व्युत्पत्ति : मा धातु के ही परिमाण अर्थ को दृष्टि में रखकर चौथा निर्वचन किया गया है कि इस माया में निखिल विश्य अवस्थित है, समाया हुआ है इसलिए भी इसे माया कहा जाता है।[43] दिखाई देने वाला यह ग्राह्य-ग्राहक-ग्रहणात्मक निखिल प्रपञ्च माया में ही समाया हुआ है। इस कारण इसका माया नाम उचित ही है।

पंचम व्युत्पत्ति : परमेश्वर माया के द्वारा अपने स्वरूप में स्थित भावराशि को अपने से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करता है इसलिए भी यह माया कही जाती है।[44]

उक्त सभी परिभाषाएँ माया के स्वरूप को स्पष्ट करती हैं। अत: किसी भी दृष्टि से देखा जाए और कोई भी परिभाषा की जाए वह माया की परिभाषा ठीक ही होती है। यदि "मोङ् हिंसायाम्" धातु से भी "हिनस्ति" और ",हिंस्यतें" अर्थ लेकर माया का निर्वचन किया जाए तो वह भी अनुचित नहीं होगा। हिनस्ति शुद्ध स्वरूपम्—यह परमशिव के शद्ध स्वरूप की संकोचरूप हिंसा करती है। इसलिए माया कहलाती है। मिनाति हिनस्ति माया। अथवा "मीयते हिंस्यते योगिजनैरिति माया" यह अर्थ भी लिया जा सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि यह माया महान् सामर्थ्यशालिनी है अणु अणु पर इसका साम्राज्य है। बस परमशिव अनुत्तरतत्व पर ही इसका वश नहीं चलता। संसाररूपी रंगशाला की यह प्रधान अभिनेत्री है। तरह तरह के रूप धारण करके खेलती रहती है। कभी कभी ऐसा लगता है कि मृतप्राय हो गयी, मुरझा गयी है। किन्तु

फिर हरी भरी होकर लहलहाने लगती है। बिहारी के शब्दों में यह वह जाल है जिसमें से निकलने का ज्यों ज्यों प्रयास किया जाता है त्यों त्यों व्यक्ति अधिकाधिक फंसता जाता है।[45] यह गोनासा (भयंकर सर्पिणी) के समान हजार टुकड़ों में काटी जाने पर भी उछल उछल कर डस लेती है।[46] यह जड़ात्मक होने के कारण अन्धी भी है, इसलिए यह नहीं देखती कि किसे डसना है किसे नहीं। शत्रु, मित्र, धनी, निर्धन, पंडित, मूर्ख सभी को समान रूप से डसती है।

अद्वैत वेदान्त की माया से त्रिक दर्शन की माया का भेद

आचार्य शंकर ने माया को जगत् का उपादान कारण स्वीकार किया है।[47] किन्तु उनकी माया और त्रिक शास्त्र की माया में बहुत भेद है। वेदान्त की माया के स्वरूप में कई विसंगतियाँ हैं। आचार्य शंकर ने ब्रह्म को जगत् का उपादान और निमित्त उभयकारण स्वीकार किया है [48] किन्तु माया की दृष्टि से ही ब्रह्म जगत् का उपाधान कारण है।

शांकर मत में माया को अवस्तुभूत माना गया है। इसीलिए माया-कार्यरूप यह जगत् भी मिथ्या माना गया है।[49] यह तात्विक नहीं है। जबकि त्रिक दर्शन माया को एक वस्तुभूत तत्व स्वीकार करता है। उसकी दृष्टि में परमेश्वर द्वारा प्रकाशित और प्रसारित यह जगत् भला मिथ्या कैसे हो सकता है? माया को यहाँ भी उपादान माना गया है।[50] किन्तु वेदान्त के समान वह कोई अतात्विक तत्व नहीं अपितु सत्य पदार्थ है। माया ही नहीं अपितु मायीय कार्य भी सत्य ही है।

शाकर वेदान्त में शुद्ध सृष्टि और अशुद्ध सृष्टि का विभाजन नहीं है। वहाँ निखिल प्रपञ्च स्वप्नवत् मिथ्या हैं। मिथ्या अर्थात् उसकी अत्यन्त असत्ता है।[51] स्वप्न और जागरण के पदार्थों में कोई अन्तर नहीं।[52] मिथ्यात्व में दृश्वत्व हेतु है।[53] अर्थात् जो दृश्य होता है वह मिथ्या होता है। स्वप्न और जागरण दोनों अवस्थाओं के पदार्थ दृश्य है अत: दोनों ही मिथ्या हैं। यहाँ न कोई सृष्टि शुद्ध है और न अशुद्ध है। त्रिक दर्शन में भगवान अनन्तनाथ के स्तर पर जो सापेक्ष सृष्टि मानी गयी है, अद्वैत वेदान्त की ससस्त सृष्टि उसी स्तर की है। शुद्धध्वा के पाँच तत्वों की वहाँ कोई चर्चा नहीं।

एक बड़ा भेद दोनों में यह भी है कि वेदान्त में सृष्टि का कार्य न तो पूर्णरूप से ईश्वर के हाथ में है और न परब्रह्म के हाथ में है। यह कार्य तो उस माया के हाथ में है जो उपाधि बनकर ब्रह्म को ईश्वर के रूप में खड़ा करती है। इस प्रकार अद्वैत वेदान्त में ईश्वर एक सापेक्ष तत्व है।

सर्व प्रथम ब्रह्म माया की उपाधि को धारण करके ईश्वर का पद प्राप्त करता है और पुन: जीवों के धर्माधर्म की अपेक्षा करके जगत् की रचना करता है।[54] इस प्रकार सृष्टि रचना में मुख्य भूमिका माया की ही है ईश्वर की नहीं। किन्तु वह माया सत् नहीं बल्कि अवस्तुभूत तत्व है।

त्रिक दर्शन में परमेश्वर सृष्टि-रचना के लिए किसी अन्य की अपेक्षा नहीं करता। माया, जीव, अथवा धर्माधर्म सब उसी के रूप हैं। पुरुषों में भोगेच्छा भी उसी की इच्छा से उत्पन्न होती है। वही माया में क्षोभ उत्पन्न करके इस विचित्र संसार का निर्माण करता है[55] वे ही अपने "इदम्" प्रमेयांश को माया का रूप देकर उसमें अशुद्धता का संचार करते हैं। इसलिए माया परमेश्वर की उपाधि नहीं है बल्कि उसकी सृष्टि है, उसके अधीन और पूर्णतया वस्तुभूत तत्व है। वह ही माया को अपनी इच्छा से चला सकते हैं। माया उस पर प्रभाव नहीं डाल सकती। परमेश्वर का परम ऐश्वर्य मायारूप उपाधि के प्रभाव से नहीं अपितु माया में जो सामर्थ्य है वह उसी का है। भगवान अनन्तनाथ भी उन्हीं के ऐश्वर्य से अनन्तनाथ बने हैं। उन्हीं की इच्छा के अधीन रहकर ही वे माया में विकृति उत्पन्न करके पाँच कंचुक तत्वों को उत्पन्न करते हैं। वे ही उन कंचुक तत्वों में प्रमाता को संवेष्टित करके उसे पुरुष का रूप प्रदान करते हैं और प्रमेयांश को प्रकृति तत्व के रूप में प्रकट करते हैं। अद्वैत वेदान्त में तो कंचुक तत्वों का कोई उल्लेख ही नहीं किया गया। यह माया की भेददृष्टि का ही प्रभाव है कि एक प्रमाता दूसरे प्रमाता से, प्रमाता प्रमेय से, और एक प्रमेय दूसरे प्रमेय से पथक् प्रतीत होने लगते हैं।[56]

अद्वैत वेदान्त में माया और प्रकृति को एक ही तत्व माना गया है, भिन्न नहीं।[57] जबकि त्रिक दर्शन में ये दो पृथक् पृथक् तत्व हैं। आचार्य शंकर माया को ही त्रिगुणात्मिका कहते हैं।[58] शैवाचार्य सत्वादि को प्रकृति का गुण मानने हैं। यह भी इन दोनों दर्शनों में बहुत बड़ा भेद है।

माया का अनिर्वचनीयत्व

आचार्य शंकर माया को अनिर्वचनीय कहते हैं। अनिर्वचनीय का अर्थ है कि सत् या असत् कहकर उसके स्वरूप की व्याख्या नहीं हो सकती।[59] माया को सत् मानने पर उसका निवारण अशक्त हो जाएगा, जिससे मोक्षाभिलाषियों को कभी भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकेगा। मोक्ष तो परम पुरुषार्थ है। वह तो प्राप्तव्य ही है। सत् वह होता है जो तीन कालों में अबाधित होने की योग्यता रखता हो। अत: माया को सत् नहीं माना जा सकता। माया को असत् भी नहीं कह सकते, क्योंकि असत् की प्रतीति नहीं

हुआ करती।[65] किन्तु माया की प्रतीति तो होती है। अत: सत् और असत् से विलक्षण अनिर्वचनीय तत्व के रूप में ही माया का स्वरूप पर्यवसित होता है। अविद्या, अज्ञान, अव्यक्त, प्रकृति आदि इसी के नाम हैं।

त्रिक दर्शन में माया के लिए अनिर्वचनीय शब्द कहीं नहीं आया। माया का निर्वचन सुतराम् अच्छी प्रकार हो सकता है। माया शब्द में ही इसका निर्वचन निहित है और वह स्पष्ट रूप से द्योतित है। अभी अभी उसका निर्वचन किया जा चुका है। माया-शक्ति और मायातत्व दोनों की व्याख्या माया शब्द से हो जाती है। यह परमेश्वर की भेदमयी दृष्टि है।[61] इस दृष्टि के प्रभाव से शिव अपने अहंरूप प्रमातृ-अंश को इदमंश से सर्वथा तिरोभाव हो जाता है। यही माया का निर्वचन है। उसका निर्वचन सत् शब्द से भी हो सकता है। वह परमात्मा की नित्य शक्ति है। विभेद-बुद्धि ही उसका स्वरूप है और यही उसका निर्वचन है।[62] उसी के प्रभाव से अपरिमित शक्ति से अपरिमित शक्ति वाला परमेश्वर परिमित-शक्ति और संकुचित-शक्ति होकर उसी प्रकार अपने को अवभासित करने में असमर्थ हो जाता है जैसे सन्धया से रंजित होकर सूर्य अपने को मध्यान्ह के समान अवभासित नहीं कर पाता।[63]

समीक्षा

त्रिक दर्शन और अद्वैत वेदान्त की माया के स्वरूप पर यदि हम निष्पष होकर समीक्षात्मक दृष्टि से विचार करें तो शांकर मत समाचीन प्रतीत नहीं होता। माया को अवस्तुभूत मानना किसी भी दृष्टि से युक्ति-युक्त नहीं है। यदि माया परमेश्वर की शक्ति हैं तो वह मिथ्या कैसे हो सकती है। आचार्य शंकर ने माया को परमेश्वर की अनादि शक्ति माना है।[64] शक्ति कभी भी शक्तिमान् से पृथक् नहीं होती। परमेश्वर यदि सत्य है तो उसकी शक्ति को भी सत्य ही मानना पड़ेगा। अधवा शक्ति को मिथ्या मानने पर शक्तिमान् ब्रह्म को भी असत् ही कहना होगा। ज्ञानबाध्य और प्रमाणासहिष्णु[65] कहकर माया का अपलाप करना सम्भव नहीं है। प्रत्यक्ष से लेकर आगम-पर्यन्त सभी प्रमाण उसकी सिद्धि कर रहे हैं। चराचर जगत् की वह जननी है। ऋषि, मुनि, सुर, नर आदि सभी उसकी शक्ति के आगे सिर झुकाते हैं। फिर वह असत् कैसे?

माया को अव्यक्त और महासृप्ति नाम देना तो सर्वथा उचित है। जैसा कि स्वयम् आचार्य ने स्वीकार किया है।[66] क्योंकि शक्ति सदैव अप्रकट और निगूढ़ ही रहती है। कार्य से केवल उसका अनुमान किया जाता है, किन्तु उसे परमेश्वराश्रया कहकर फिर उसको अवस्तु कहना क्या

उचित है ?

आचार्य शंकर ने माया को जो परमेश्वराश्रया शक्ति कहा है उसका क्या अर्थ है ? माया परमेश्वर के आश्रित है या परमेश्वर माया पर आश्रित है या दोनों परस्पर एक दूसरे के आश्रित हैं ? तीनों ही स्थितियों में माया को सद्रूप मानकर चलना पड़ेगा क्योंकि आश्रया—श्रयिभाव दोनों को सद्रूप मानकर ही बन सकता है। शशशृंग अथवा खपुष्प का तो कोई आश्रय होता नहीं और न ही ये किसी अन्य के आश्रय बन सकते हैं। वैसे यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि अद्वैत वेदान्त में जीव और परमेश्वर दोनों ही माया के आश्रिव हैं। ये माया के पुत्र कहलाते हैं।[67] माया पर ही इनका अस्तित्व टिका हुआ है। त्रिक दर्शन की मान्यता इससे भिन्न है। यहाँ तो माया एक तत्व है जिसकी सृष्टि भगवान् अनन्तनाथ करते हैं।[68] अत: यह पूर्णरूप से परमेश्वर पर ही आश्रित है। इन दोनों सिद्धान्तों में त्रिक दर्शन की मान्यता ही युक्तियुक्त है। शांकर मत में माया जैसी तुच्छ वस्तु पर परमेश्वर का आस्तिव स्थापित करना तर्क और अनुभव दोनों के विरूद्ध है। अत: परमेश्वराश्रित माया-शक्ति को तथा सृष्टि माया-तत्व को वस्तुभूत सत्य तत्व मानना ही न्यायसंगत है।

माया को जगत् का उपादान कारण दोनों ही दर्शन स्वीकार करते हैं किन्तु शंकर उसे उपादान कारण कहते हुए भी असत् कहते हैं जब कि शैव दार्शनिक उसे वास्तविक तत्व कहते हैं। दूसरे शब्दों में आचार्य शंकर की दृष्टि में कारण-कार्य-भाव मिथ्या है। अर्थात् न कोई कारण है और न कार्य। कारण-कार्यभाव केवल एक दृष्टि है। द्रष्टा भी असत्य है दृष्टि भी मिथ्या है। यह तो परस्पर बहुत बड़ा विरोधाभास है। माया को उपादान कारण कहना और फिर उसे असत्कल्पना कहना परस्पर विरुद्ध है। भोजन करके तृप्ति का अनुभव करना और भोजन को असत् कहना कहाँ तक उचित हैं। द्रष्टा की दृष्टि का विपरियोप तो कहीं नहीं देखा गया।[69]

दृश्यत्व हेतु से जगत् के पदार्थों को मिथ्या सिद्ध करने का प्रयास भी सबसे बड़ी पश्यतोहरता है। वस्तु को सामने देखकर भी यह कहना कि यह नहीं है महान् प्रमाद है। नामरूप को भले ही कल्पित कहकर उसकी उपेक्षा कर दी जाए किन्तु दृष्टि का ही लोप मानना उचित कैसे कहा जा सकता है। दृश्य का अपलाप करके तो द्रष्टा और दृष्टि दोनों का ही तिरस्कार समझना चाहिए। ऐसा समझकर अद्वैत वेदान्ती ब्रह्म का भी प्रकारान्तर से मिथ्यात्व सिद्ध कर रहे हैं क्योंकि दृष्टि का द्रष्टा वही तो है।

इस विषय में त्रिक दर्शन का सिद्धान्त सर्वथा दोषरहित है। यहाँ तो द्रष्टा दृष्टि और दृश्य सभी परमेश्वर के ही रूपान्तर हैं। यहाँ तो मिथ्वात्व भी सत्य है। पति भी वही और पशु भी वही। माया भी वही और माया का अधिष्ठान भी वही और मायीय जगत् भी वही है।

"शक्तयोऽस्य जगत्कृत्सनं
शक्तिमांस्तु महेश्वरः।"
"शक्तिशक्तिमतो भेदः
शैवे जातु न विद्यते"
"शिव एव गृहीत पशुभात्रः"

इत्यादि जो वचन शैवाचार्यों ने कहे हैं उनका अभिप्राय शिवाद्वयवाद में ही पर्यवसित होता है।

अनिर्वचनीयत्व की समीक्षा

आचार्य शंकर का अनिर्वचनीयत्व का सिद्धान्त भी चिन्तनीय है। सत् और असत् से विलक्षण कोटि सम्भव नहीं है। आचार्य शंकर ने जैनों के सप्तभगीनय[70] के निराकरण में यह बात स्वयम् स्वीकार की है कि एक ही धर्म में सत् और असत् दोनों विरोधी धर्मों का समावेश सम्भव नहीं है जैसे शीत और उष्मता एक ही धर्मी में नहीं रह सकते।[71]

जैन दार्शनिक प्रत्येक वस्तु को कथंचित् अवक्तव्य कहते हैं। उनका अभिप्राय यह है कि वस्तु में अनेक विरुद्ध धर्म रहते हैं। अतः वह अवक्तव्य=अव्याख्येय हो जाती है। आचार्य शंकर प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि वस्तु यदि अवक्तव्य है तो उसे करते क्यों हो? और यदि कहते हो तो वह अयक्तव्य कैसे हुई? कहा भी जाए और उसे अवक्तव्य भी कहा जाए यह तो विरुद्ध बात है।[72]

आचार्य शंकर के उक्त कथन को यदि माया के अनिर्वचनीयत्व के खण्डन में प्रयुक्त किया जाए तो यह उस पर भी लागू होता है। माया भी अनिर्वचनीय कैसे हुई? वह सत् होगी या असत्। तृतीय कोटि सम्भव नहीं है। गंगा प्रसाद उपाध्याय ने इस अनिर्वचनीयता के सिद्धान्त के खण्डन में ठीक ही कहा है कि "भेद केवल शब्दों का है, जैनी अवक्तव्य कहते हैं शंकर स्वामी अनिर्वचनीय। 'तव्यत्" प्रत्यय "अनीयर" प्रत्ययों के अर्थों में क्या भेद ?"[73] तव्यत् तव्य और अनीयर एक ही अर्थ के द्योतक प्रत्यय हैं।[47]

आचार्य हेमचन्द्र सूरि ने भी इस अनिर्वचनीयता की खूब खिल्ली उड़ायी है। वे कहते हैं कि यदि माया सत् है तो दो तत्वों की सिद्धि होती

है—ब्रह्म और माया। माया यदि असत् है तो उस असत् माया से प्रपञ्च की उत्पति कैसे हो सकती है। उसे असत् माया भी कहो और उससे जगत् की उत्पत्ति भी मानो, यह तो माया को बन्ध्या कहने के समान है।[75]

शांकर वेदान्ती माया को अग्नि की शक्ति के समान मानते हैं साथ ही उसे निस्तत्व भी कहते हैं।[76] यह सब उन्मत्त-प्रलाप है। अग्नि को सत् कहना और अग्नि की दाहशक्ति को निस्तत्व कहना भला उचित कैसे कहा जा सकता है ?

हाँ यह तो सत्य है कि माया का निरूपण करना सम्भव नहीं।[77] इसका अर्थ कदापि नहीं कि माया सत् और असत् से व्याख्येय नहीं है। अपितु इसका अर्थ यह है कि माया के रूप इतने अधिक हैं कि सर्वात्मना उन्हें वाणी से कह सकना मनुष्य के वश की बात नहीं है। मायीय जगत् का विस्तार, उसमें रहने वाले प्राणी, उनके कर्मों का लेखा जोखा, कर्मानुसार फल का निर्धारण और फल के अनुकुल सुख दुःख देना यह सब मायीय प्रपञ्च सचमुच निरूपण के योग्य नहीं है। इसका अर्थ यह नहीं कि माया की व्याख्या सत् कह कर नहीं की जा सकती। वह सत्य है और उतनी ही सत्य है जितना परमेश्वर। माया अनिरूपणीयता से उसकी सत्ता का अपलाप भला कैसे किया जा सकता है ? यदि पृथ्वी पर समस्त समुद्रों के सिकता कणों की गणना नहीं की जा सकती तो इसका अर्थ यह कैसे लगाया जा सकता है कि समुद्र में सिकता कण ही नहीं है या समुद्र अनिर्वचनीय है?

निष्कर्ष यह है कि अद्वैत वेदान्त की तुलना में त्रिक दर्शन की माया का स्वरूप अधिक युक्तियुक्त है। त्रिक दर्शन में सृष्टि का शुद्धाशुद्ध विभाजन भी अकारण ही नहीं किया गया। यह एक लौकिक सत्य है। लोक में सब कुछ अशुभ ही नहीं है। यहाँ सब कुछ अनर्थ ही नहीं होता। संसार शुभ और अशुभ से मिश्रित है किसी वस्तु के दो पहलु होते हैं—अच्छा और बुरा। परमेश्वर की समग्र सृष्टि को भी अशुद्ध नहीं कहा जा सकता। मायीय सृष्टि को ही अशुद्ध कहना समीचीन है। परमेश्वर के शुद्धविद्या—लोक की सृष्टि अशुद्ध कैसे कही जा सकती है। शिव, शक्ति, सदाशिव, ईश्वर और शुद्धविद्या ये परमेश्वर की संवित् की आन्तरिक तरंगें हैं। समुद्र की तरंगें समुद्र से पृथक् नहीं होती। परमेश्वरात्मक होने के कारण ही इन पाँच तत्वों की सृष्टि को शुद्ध कहा गया है। संवित् का संकोच ही अशुद्धि नाम से कहा गया है। अशुद्धि कोई संवित् से पृथक् तत्व नहीं है। संवित् का संकोच संवित् से पृथक नहीं होता। इहलिए यह शुद्धता और अशुद्धता एक ही परमतत्व के दो पहलू हैं। माया के प्रसंग में त्रिक दर्शन का यह

विशेष दृष्टिकोण ध्यान में रखने योग्य है कि माया जड़ अवश्य है किन्तु जड़ता का अर्थ सर्वथा चैतनाशून्य हो जाना नहीं है। माया में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का केवल संकोच होता है पूर्ण अभाव नहीं होता। अत: ज्ञानक्रियात्मक संवित् का विपरिलोप मायीय सृष्टि में भी नहीं होता। माया यदि सृष्टि-कर्त्री है तो उसमें किंचित् क्रियाशक्ति होनी ही चाहिए। करना कभी जानने के बिना नहीं होता। अत: किंचित् ज्ञान-शक्ति भी उसमें रहती है। शांकर वेदान्ती माया को सर्वथा जड़ मानते हैं और फिर उसे सृष्टिकर्त्री भी कहते हैं, यह उपहासास्पद बात है।

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि अशुद्धध्वा का मूलकारण माया ही है। परमेश्वर की चित्-शक्ति ही ताया तत्व से लेकर पृथ्वी पर्यन्त जड़ माया तत्व का रूप धारण कर लेती है। वह स्वतन्त्र से अस्वतन्त्र और स्पन्दता से नि:स्पन्द जैसी हो जाती है। यही माया शिव के अंशरूप पशु को उसकी शिवता से पृथक् करके नि.संज्ञ सा बना देती है। जीव स्वयम् को शिव नहीं समझता। उसकी कौलिकता खो सी जाती है। संज्ञाहीनता की स्थिति में निरन्तर पड़ा रहता है। संज्ञा ीनता का अर्थ पूर्ण निश्चेतन हो जाना नहीं है अपितु यह एक सुषुप्ति जैसी दशा को प्राप्त हो जाता है।[78] माया का प्रभाव बहुत व्यापक होता है। बड़ा दुर्भेद्य आवरण है उसका। उससे आवृत पशु गहन निद्रा जैसी अवस्था में पड़ा रहता है। उस निद्रा में परवशीभाव को प्राप्त वह पशु वही करता है जो उससे माया कराती है। चूंकि वह कुछ करता है तो उसमें आंशिक चेतना तो माननी पड़ेगी। अत: वह आंशिक क्रियाशक्ति और ज्ञानशक्ति से युक्त ही माना गया है। निरंकुश ज्ञान-क्रिया का स्वामी वह नहीं रहता।

यह बात पहले भी कही जा चुकी है कि परमेश्वर की शक्ति के जो चित्, आनन्द, इच्छा ज्ञान और क्रिया ये पाँच मुख हैं उनके प्रसार का कहीं कोइ निरोध नहीं होता।[79] इनका अनाच्छादित स्वभाव शुद्ध और अशुद्ध दोनों अध्वाओं में प्रसृत रहता है किन्तु शुद्ध सृष्टि में वह सर्वज्ञत्व सर्व-कर्तृत्व, पूर्णत्व, नित्यत्व और व्यापकत्व के रूप में निर्द्वन्द्व विचरता है तो मायीय सृष्टि में वह संकुचित हो जाता है। माया अपने प्रभाव से एक ओर शिव को संकुचित करके पशु बना देती है तो दूसरी ओर वह चित् आदि पाँचों शक्तियों के प्रसार को संकुचित बनाकर कला विद्या राग काल और नियति इन पाँच कंचुक तत्वों के रूप अवभासित कर देती है।

इस प्रकार माया का प्रभाव किसी भी तत्व को अस्पृष्ट नहीं रहने

देता। संसार की चरितार्थता माया अप्रतिहत संसरण से ही होती है। जैसे वेला समुद्र के वेग को रोकती है वैसे ही यह माया शिव के निरंकुश विभव को रोककर उसे संकुचित संसरणशील पशु बना देती है।[80]

कंचुक तत्व

अभी पीछे बताया गया है कि परमेश्वर का जो दुर्घट कार्यों को सम्पादित करने वाला परम स्वातन्त्र्य था वह उनकी ही इच्छा से संकुचित होकर भेद-बुद्धिरूप माया तत्व के रूप में प्रकट हो जाता है।[81] माया के के परिग्रह से परमेश्वर ही मलिन बोधात्मक पशु बन जाते हैं।[82] अब माया से उत्पन्न सृष्टि के क्रम में कंचुक तत्वों का विवेचन किया जाता है।

अशुद्धाध्वा में सर्वप्रथम माया से कला, विद्या, राग, काल और नियति इन पाँच तत्वों का अविर्भाव होता है। इन पाँच तत्वों का त्रिक दर्शन में पंच कंचुक कहा जाता है। कभी कभी माया को भी कंचुक के रूप में गृहीत किया जाता हैं, क्योंकि अणु का सबसे बड़ा और दृढ़ कंचुक तो माया ही है। इस प्रकार माया सहित ये छ: कंचुक माने गये हैं। ये षट् कंचुक अणु (पशु प्रमाता) का अन्तरंग आवरण होते हैं।[83]

यह पहले भी कहा जा चुका है और यहाँ पुन: कहा जाता है कि ये पाँच कंचुक परमेश्वर की पांच शक्तियों के संकुचित रूप ही हैं अन्य कुछ नहीं। चित् निवृ ति इच्छा ज्ञान और क्रिया ये परमेश्वर की पाँच मूलभूत शक्तियाँ हैं। वस्तुत: इन्हें पाँच शक्तियाँ कहना ठीक नहीं। शक्ति तो एक ही है—स्वातन्त्र्य शक्ति। ये तो उस स्वातन्त्र्य शक्ति के पाँच प्रसार हैं। भगवान् अनन्तनाथ माया-तत्व में क्षोभ उत्पन्न करके उक्त पाँच प्रकार के शक्ति-प्रसार को संकोच का आवरण पहनाकर उन्हें कला, विद्या, राग, काल और नियति के रूप में प्रकट कर देते हैं।[84] अर्थात् चित् शक्ति संकुचित होकर कला कहलाती है, निवृ ति शक्ति विद्या रूप में, इच्छा-शक्ति राग के रूप में, ज्ञान-शक्ति काल के रूप में और क्रिया-शक्ति नियति-तत्व के रूप में अभिव्यक्त हो जाती है। पहले उक्त शक्तियाँ परमेश्वर के साथ अभिन्न रूप में स्थित थीं। अब कलादि तत्वों के रूप में ये भिन्न रूप में अवभासित होने लगती हैं।[85]

आचार्य अभिनव गुप्त ने माया को क्षोभ से उत्पन्न होने वाले इन कलादि तत्वों को दण्ड से आहत आमलकी के दृष्टान्त से स्पष्ट किया है।[86] इस दृष्टान्त का अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार आँवले के वृक्ष पर डण्डा फेंककर मारा जाता है और उस दण्ड के प्रहार से क्षुभित वृक्ष से पाँच छ: आँवले के फल भूमि पर गिर पड़ते हैं, उसी प्रकार जब भगवान् अनन्तनाथ

अपनी इच्छा से माया में क्षोभ उत्पन्न करते हैं तो वह क्षुभित हुई माया इन पाँच तत्वों को उत्पन्न कर देती है।[87] यद्यपि कला से लेकर क्षिति-पर्यन्त सब तत्वों का मूल कारण यह माया ही है फिर भी इन कलादि तत्वों में भी परस्पर कारण-कार्यभाव विद्यमान है। पूर्व पूर्व का तत्व उत्तर उत्तर तत्व का कारण है और उत्तर तत्व पूर्व की अपेक्षा कार्य है। इसलिए जो कारण है वह कार्य भी है और जो कार्य है वह कारण भी है। जैसे माया की अपेक्षा कला कार्य है किन्तु विद्या की अपेक्षा कारण भी है।

कंचुक नाम क्यों ?

उक्त कला आदि पाँच तत्वों को कंचुक नाम क्यों दिया गया, यह जान लेना आवश्यक है। यह एक अन्वर्थ नाम है। "कच दीप्ति—बन्धतो:[88] धातु में उकन् प्रत्यय लगाकर "कञ्चुक" शब्द निष्पन्न होता है। कञ्चुक का अर्थ है साँप की केंचली, लम्बा चोगा, चोली या कोई भी ऊपर पहना जाने वाला वस्त्र। कच धातु का अर्थ है दीप्ति या बन्धन। वस्त्र मनुष्य को दीप्ति अर्थात् शोभा प्रदान करता है तथा चारों ओर से उसे बन्धन अर्थात् आवरण में ड़ाल देता है। साँप की केंचुली भी साँप को दीप्ति भी प्रदान करती है और उसके लिए बन्धन का काम भी करतो है। इसलिए कञ्चुक कहलाती है। कञ्चुक का यह प्रभाव होता है कि वह मनुष्य को कुछ और ही बना देता है। उसके वास्तविक रूप को छिपाकर कृत्रिम रूप प्रदान कर देता है। मनुष्य भी बन्चुक को धारण करके स्वयम् को कुछ अन्य ही समझने के लिए बाध्य हो जाता है। वह भूल जाता है कि वह अन्दर से कितना असुन्दर या सुन्दर है। कलादि आदि कंचुक तत्वों का प्रभाव भी पशु-प्रमाता पर कुछ ऐसा ही होता है। माया शुद्ध संवित् को कला आदि तत्वों का कंचुक पहनाकर उसे इतना संकुचित कर देती है कि वह पशु-स्तर पर उतर आती है और भूल जाती है कि वह क्या है। परमेश्वर के सर्व-कर्तृत्वादि गुण सर्वथा तिरोहित हो जाते हैं। अणु स्वयम् को अल्प कर्ता अल्पज्ञ आदि सतझने के लिए बाध्य हो जाता है। कला आदि कंचुक उसे इस प्रकार चारों ओर से बांध लेते हैं कि उसकी स्वतन्त्रता तथा शुद्धता का कहीं चिन्ह भी दिखायी नहीं देता।

कंचुक तत्व अणु को दीप्ति भी प्रदान करता है। दीप्ति का अभिप्राय यही है कि कला आदि तत्व उसे परमेश्वर से भिन्न रूप में अवभासित कर देते हैं। जैसे तण्डुल को भिन्न रूप में अवभासित करता है। कम्बुक यद्यपि तण्डुल से भिन्न होता है किन्तु वह तण्डुल कण में विनिविष्ट होकर अभिन्न रूप में स्थित होता है। इसी प्रकार माया आदि कंचुक अणु से व्यतिरिक्त

होते हुए भी अव्यतिरिक्त से भासित होते हैं और पूर्ण संविद्रूपता को आच्छादित करके स्थित रहते हैं।[89] इसी कारण इन्हें कचुक कहा जाता है।

पूर्वोक्त कंचुक तत्वों का आवरण बड़ा दुर्भेद्य है। बुद्धिवादियों का तर्क, चिन्तन और शास्त्राध्ययन यहाँ कुछ नहीं कर सकता। योगियों का योगाभ्यास भी यहाँ निरूपाय बन जाता है। समाधिरूपी वज्र से भी कंचुक तत्वों से जन्य भेद-भावना का यह भूधर अभेद्य है।[90] बस एक ही उपाय है इससे पिण्ड छुड़ाने का। वह है शक्तिपात। जब पशू परमेश्वर क शक्ति-पात से विशुद्ध हृदय वाला होता है तब उसमें "मैं ही महेश्वर हूं" इस प्रकार का आत्मज्ञान आविर्भूत होता है और तभी यह पशुत्व का आपादक कंचुकीय आवरण स्वयमेव विलीन हो जाता है।[91]

संवित् की शून्यता

संवित् की शून्यता का प्रतिपादन शैव शास्त्रों में दो रूपों में प्राप्त होता है—शुद्ध संवित् के रूप में और अशुद्ध संवित् के रूप में। शुद्ध संवित् की शून्यता की चर्चा पिछले अध्याय में की जा चुकी है। शैवाचार्य शुद्ध संवित् को शून्य कहते हैं और अशुद्ध संवित् को भी, किन्तु एक भिन्न दृष्टिकोण से। जहाँ शुद्ध संवित् को शून्य कहा गया है वहाँ शुद्ध संवित् से निरन्तर स्फुरणशील परमशील परमशिव ही अभिप्रेत है। उसे शून्य इस-लिए कहा गया है क्योंकि उसके विश्वोतीर्ण रूप में परिणामित्व आदि मायीय धर्मों का अभाव रहता है।[92] वस्तुतः परमशिव शून्य होकर भी अशून्य ही है। अशून्य इसलिए है क्योंकि उनकी संविद्रूपता का कभी अभाव नहीं रहता, न तो विश्वोतीर्ण-रूप में और न विश्वमय-रूप में। दोनों में अन्तर बस इतना ही होता है कि विश्वोतीर्ण रूप में संवित् अपने वास्तविक शुद्ध स्वरूप में अवभासित होती है और विश्वमय-रूप में वह अशुद्ध-रूप में अवस्थित रहती है।[93]

मायीय कंचुक तत्वों से परिच्छिन्न बनी हुई संकुचित और अशुद्ध संवित् को भी त्रिक शास्त्र के आचार्यों ने शून्य के रूप में विवेचित किया है। माया की भूमिका पर उतरा हुआ प्रमाता मायीय कलादि पाँच कंचुकों से स्वयम् को संकुचित करके अपने स्वातन्त्र्य को भूल जाता है। वह उस संकुचित संवित् को ही अपना स्वरूप समझ बैठता है। माया का प्रभाव ही कुछ ऐसा है कि उसे स्वयम् को संकुचित समझना पड़ता है। इस संकुचित संवित को भी शून्य कहा जाता है।[94] शून्य का अर्थ दोनों स्थानों पर है तो अभाव ही। एक स्थान पर अशुद्धता का अभाव है और दूसरे स्थान पर शुद्धता का अभाव है। अशुद्ध अध्वा में वह विश्व को पृथक्

करके अवभासित करता है। इसलिए विश्वोतीर्णता से शून्य होकर शून्य कहलाता है। वही शून्य प्रमाता बहिर्मुख होता है। प्राण-प्रमातृता को प्राप्त करता है।

त्रिक दर्शन की यह शून्यता बौद्धों की शून्यता से नितान्त भिन्न वस्तु है। माध्यामिक बौद्ध तो आलय विज्ञान की धारा के उच्छेद रूपी अभाव को ही शून्य कहते हैं। उनकी दृष्टि में संसार की उत्पत्ति और निरोध तात्त्विक नहीं है।[95] संसार और निर्वाण दोनों ही दृष्टिजन्य हैं। वस्तुत: इनकी सत्ता नहीं है।[96] निरन्जन, निर्विकार, शान्त और भास्वर शून्य ही एक तत्व है। संसार-सागर रागद्वेषरूपी अन्धकार से युक्त पुरुष के लिए उत्पन्न हुआ माना जाता है।[97]

विज्ञानवादी बौद्ध ग्राह्य और ग्राहक का ही अभाव मानते हैं। विज्ञान को वे शून्य=अभावरूप नहीं मानते। यदि शून्य कोई तत्व है तो वह विज्ञान की धारा ही है। या फिर ग्राह्य-ग्राहकता का अभाव ही शून्य है।[98] ऐसा इनका मत है।

त्रिक-दर्शन में शून्यता का यह अभिप्राय नहीं है। बौद्धों का विज्ञान जड़ है जबकि त्रिक दर्शन का शून्य चैतन्यरूप है। विज्ञान-धारा का अभाव भी त्रिक दर्शन के शून्य से भिन्न है। विज्ञान का अभाव जड़ तो है ही साथ ही अवस्तुभूत भी है। जड़ या अवस्तुभूत शून्य प्रमाता नहीं हो सकता, क्योंकि प्रमाता का चैतन होना, सत्य वस्तु होना आवश्यक है। त्रिक-शास्त्र का शून्य-प्रमाता चेतन तत्व है और परमेश्वररूप होने के कारण पूर्णतया सत्य है। संविद्रूपता का अभाव किसी दशा में नहीं होता। शून्य-प्रमाता भी संवित्स्वरूप ही है, किन्तु शून्य-प्रमाता में संवित् का संकोच व्याप्त होकर रहता है। अत: उसमें परिपूर्ण स्वातन्त्र्य के चमत्कार का अनुभव नहीं होता। इसीलिए तो उसे शिव न कह कर शून्य कहा जाता है। कला आदि कंचुक तत्वों के द्वार उसका ऐश्वर्य अपहृत कर लिया जाता है। ऐश्वर्यहीन होने के कारण यह शून्य-प्रमाता परिमित और पराधीन होता है।[99]

पराधीनता का ही दूसरा नाम त्रिक दर्शन में जड़ता है। माया भी पराधीन है और कंचुक तत्व भी पराधीन है। अत: वह जड़ कहे गये हैं। यह हम पहले कह आए हैं कि न्याय आदि दर्शनों में जड़ का जो सर्वथा चैतन्य रहित अर्थ लिया जाता है वह अर्थ त्रिक दर्शन में नहीं जाता। यहाँ तो चैतन्य के संकोच का ही नाम जड़ता है। इसीलिए पशु-प्रमाता को यहाँ जड़ माना गया है।कंचुक तत्वों को भी जड़ माना गया है और इनकी जननी माया को भी जड़ माना गया है। माया की आवरण-शक्ति ही प्रमाता की

चेतनता का अपहरण करके उसे जड़ बना देती है। किन्तु जड़ बनाकर भी वह उसे संसार के व्यवहारों के लिए काम चलाऊ थोड़ी चेतना दे देती है। इसी चेतना के अंश से वह क्रियाएँ कर लेता है। कुछ काम करने के लिए थोड़ी सी ज्ञानशक्ति का भी होना अनिवार्य है क्योंकि जानने के बिना करना नहीं होता। कुम्भकार घट को तब बनाता है जब वह उसे बनाना जानता है। यह कुछ करने और जानने का नाम ही संकोच है जो कंचुक तत्वों के द्वारा आपादित किया जाता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि माया परमशिव की चित् आदि पाँच शक्तियों जो संकोच का आवरण चढ़ा देती है वह संकोच ही उन शक्तियों को कलादि पाँच कंचुक तत्वों के रूप में अभिव्यक्त कर देता है।

कला (सप्तम तत्व)

माया-तत्व सर्वप्रथम कला तत्व को जन्म देता है। तत्वों की गणना में प्रारम्भ से सातवाँ तत्व है। माया का संकोचनरूप कार्य वहीं से प्रारम्भ होता है। अनिरुद्ध शक्ति परमेश्वर की शक्तियों को सीमित करने का कार्य माया कला-तत्व से ही प्रारम्भ करती है। कला-शब्द त्रिक दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। लोक में इस शब्द के अनेक अर्थ प्रचलित हैं किन्तु वर्तमान सन्दर्भ में कला का अर्थ है—किंचित्कर्तृत्व। परमेश्वर की चित् शक्ति जो अपने मूल स्वरूप में सर्वकर्तृत्व के रूप में विलसित थी' उसे अपने प्रभाव से निरुद्ध करके माया किंचित्कर्तृत्व का रूप प्रदान कर देती है। वह किंचित्कर्तृता का ही कला कहलाती है। कला शब्द 'कल क्षेपे" धातु में कच् और टाप् प्रत्यय लगा कर सिद्ध हुआ है। जिसका शाब्दिक अर्थ है क्षेप्त्री। चूँकि यह परमात्मा की शक्तियों का संकोचरूप क्षेपण करती है, इसलिए कला कहलाती है। यह कला पुरुष का प्रथम कञ्चुक है। पुरुष पत्व की उत्पति यद्यपि कंचुक तत्वों के पश्चात् होती है किन्तु पति प्रमाता को पुरुष, अणु, पशु, संकुचित प्रमाता आदि नाम देने में यह कञ्चुक वर्ग ही तो कारण है, अतः प्रथम सृष्टि उसी की बतायी गयी है।

यह कलातत्व माया के प्रभाव से सुषुप्त या मूर्च्छित जैसे बने हुए पशु-प्रमाता में संकुचित कर्तृत्वरूप चेतना का संचार करता है जिससे वह प्रमाता अत्यन्त सीमित रूप में संसार के आदान प्रदान आदि व्यवहारों को करने की शक्ति प्राप्त कर लेता है। उसकी क्रियाशक्ति कतिपय अर्थों तक ही सीमित होती है।[101] जैसे घट बनाना, वस्त्र बनाना, थोड़े भार को उठाकर इधर उधर ले जाना, पिपासा की शान्ति के लिए जल पी लेना, भूख लगने पर जो मिले उसे खा लेना, थकने पर सो जाना आदि कुछ ही

कार्य हैं जिन्हें वह कर लेता है। वह सब कुछ नहीं कर सकता। कला-कंचुचित अणु को ऐसा अनुभव होता है—कि "मैं घट के निर्माण में ही पटु हूँ पट के निर्माण में नहीं।[102] मैं नदी को पार कर सकता हूँ समुद्र को नहीं "मैं आकाश में नहीं उड़ सकता।" ये सब अनुभव अल्पकर्तृत्वरूप कला तत्व के प्रभाव से ही होते हैं।[103]

कला-तत्व के विषय में कुछ विशिष्ट बातें भी ध्यान रखनी चाहिएँ। प्रथम तो यह कि यह कला अकेली ही सर्वकर्तृता का तिरोधान करके किंचित्कर्तृता का अपादान नहीं करती, अपितु अणु-प्रमाता (Spiritual Monad) के साथ संयुक्त होकर ही किंचित्कर्तृतत्व को जन्म देती है।[104] इसके लिए दोनों का परस्पर संश्लेष अनिवार्य है। यदि सद्योनिर्वाण दीक्षा से पुरुष का विश्लेष हो जाए तो यह कला-तत्व किंचित्कर्तृता को किसी भी दशा में उत्पन्न नहीं कर सकता।[105] जैसे बीज अंकुर का कारण हैं किन्तु वह जलादि के संयोग से ही अपना कार्य करता है उसके अभाव में नहीं। इसी प्रकार माया से जन्म कला-तत्व पुरुष के संयोग से ही फल को उत्पन्न करता है, उसके वियुक्त होने पर नहीं।[106]

दूसरी बात ध्यान रखने की यह है कि कलातत्व के लिए यद्यपि अणुप्रमाता का संयोग अत्यन्त अपेक्षित है तथापि अणु उसका उपादान नहीं है। कला का उपादान माया ही है। परिणामी वस्तु ही तत्व का उपादान हो सकती है अपरिणामी नहीं। प्रकाश-स्वरूप अणु तो निर्विकार तत्व है। वह भला कला-तत्व का उपादान कैसे हो सकता है? विकारिणी माया ही उसका उपादान है। अणुवर्ग के कर्म भी किंचित्कर्तृत्व में कारण हैं किन्तु वे सहकारी होने से निमित्त मात्र ही हैं उपादान नहीं।[107] उपादान माया ही है।

तीसरी मुख्य बात यह भी ज्ञातव्य है कि यह कला माया से भिन्न ही है। माया का ही नाम कला नहीं है। कार्य-भेद से कला माया तत्व से पृथक् तत्व है।[108] माया का कार्य अणु को मूर्च्छितप्राय बनाना है और कला-तत्व का कार्य उसमें किंचित्कर्तृता का आपादन करना है। यदि सर्वत्र माया का ही कार्य माना जाए तो विश्व में एक ही तत्व का साम्रज्य होगा। अन्य विद्यादि तत्वों का तो लोप ही हो जाएगा। ऐसी स्थिति में छत्तीस तत्वों को मानने की प्रतिज्ञा भंग होगी।[109] इस मान्यता के द्वारा त्रिक आचार्यों का उद्देश्य वस्तुत: अद्वैतवादियों के उस सिद्धान्त का खण्डन करना है जिसमें वे कार्यों की सत्ता उपादान से भिन्न नहीं मानते, कार्य-समूह को मात्र वाचारम्भण कहते हैं। "वाचारम्भणं विकारो मृतिकेत्येव

सत्यम्'' ।

समस्त कलायें भी उस चैतन्य से अव्यतिरिक्त हैं ।[110] भूत वर्तमान तथा भविष्यत् काल का कोई भी तत्व आत्मा से भिन्न नहीं है [111] इसी वेदान्त के एकतत्ववाद का निरास करने के लिए ही त्रिक दार्शनिकों ने यह स्पष्ट कर दिया है कि कला-तत्व मायोपादानक होते हुए भी माया से पृथक् तत्व है । वैसे यह तो सत्य है कि अणुत्व आपादान में जो भूमिका विद्यादि अन्य तत्वों की है, कला-तत्व की वह भूमिका नहीं है । उसमें तो माया की ही भूमिका है । किन्तु इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि कला-तत्व माया से अपृथक् है । हाँ इतना अवश्य है कि विद्यादि की अपेक्षा से कला-तत्व में मुख्य कारणता नहीं है ।[112] अणु में कर्तृत्व की प्रयोजिका तो कला है ही ।[113] उसमें संशय का अवकाश नहीं है । किन्तु उसके भोग में और भोग्यता में मुख्य करणत्व विद्या का ही है कला का नहीं ।[114]

एक अन्य महत्वपूर्ण बात भी यहाँ जानने की है कि कला-तत्व सर्वत्र सर्वदा किंचित्कर्तृत्व की कलना करके अणु को बन्धन में ही डालता हो, ऐसी बात नहीं है । इसका शुद्ध रूप भी है जो वन्धन को शिथिल करके शिवसमावेश का मार्ग प्रशस्त करता है । जो अणु-प्रमाता परमेश्वर के शक्तिपात से पवित्र हो जाते हैं उनके लिए यह कलातत्व शुद्ध भी होता है । शुद्ध का भाव यह है कि वह उसे किंचित्कर्तृत्व से मुक्त करके शुद्ध अध्वा की ओर मोड देता है । यदि ऐसा न होता तब तो कोई भी अणु उत्थान की ओर गति ही न करता, सदा बन्धन में ही पड़ा रहता । किन्तु कुछ प्रमाताओं पर परमेश्वर की कृपा भी होती है जिससे वे इस लोक में रहते हुए ही शिवसमावेश के दिव्य आनन्द का भोग करते हैं और शिव की शिवता की स्थापना करते हैं । शुद्ध कला वही होती है जो ऐसे कर्मों को उत्पन्न करती हैं जिससे अणु परिमित शक्ति वाला होते हुए भी शीघ्र ही इस संसार से छूट जाता है । अकेली कला ही नहीं अपितु शक्तिपात से सभी कञ्चुक-तत्वों का बन्धन शिथिल हो जाता है ।[115] परमात्मा के शक्तिपात का प्रभाव ही कुछ ऐसा होता है कि असम्भव लगने वाला कार्य भी निकट ही सिद्ध हो जाता है ।

शक्तिपात कब किस पर और किस हेतु से हो सकता है, इस विषय में कोई नियम नहीं है । यह परमेश्वर का अहेतुक अनुग्रह है जिसे प्राप्त करने का कोई निश्चत हेतु नहीं है । हो जाए तो वज्र मूर्ख पर हो जाए और न ही तो कोटि कोटि जन्मों में जप, तप, वेदाध्ययन और समाधि का अभ्यास करने वालों पर भी न हो । कला का बन्धन कब किस का हटना

है यह बात वह कला— नाथ ही जाने। माया और पुरुष का विवेक तथा कला और पुरुष का विवेक परमेश्वर के शक्तिपात से ही सुतराम् सम्भव है। प्रकृति और पुरुष का विवेक हो जाए तो पुरुष प्रकृति से नीचे नहीं गिरता और यदि कला तथा पुरुष का विवेक-ज्ञान प्राप्त हो जाए तो वह पुरुष माया से नीचे नहीं गिरता।[116] यद्यपि शक्तिपात अहेतुक है फिर भी उसकी आशा तो की ही जा सकती है।

समीक्षा

कला-तत्व को माया से पृथक् रूप में अवस्थित करके शैव दार्शनिकों ने अपनी सूक्ष्म मेधा का परिचय दिया है। वेदान्त-विचारकों ने तो कलादि कंचुक तत्वों की कोई चर्चा ही नहीं की। वहाँ तो एक माया को ही अवस्तु-भूत एवं अनिर्वचनीय तत्व मानकर शेष रागादि को उसी का रूप माना है।[117] त्रिक-दर्शन में कलादि कंचुक तत्वों का उपादान —कारण तो माया को ही माना गया है किन्तु वह कंचुक-समूह माया से पृथक् तत्व के रूप में अंगीकृत किया गया है। विचार करने पर त्रिक-दर्शन का यह दृष्टिकोण युक्तियुक्त प्रतीत होता है। यदि कारण और कार्य में अभेद मानकर तत्वान्तरों का अपलाप किया जाए तब तो व्यावहारिक सत्य की भी प्रतिष्ठा नहीं की जा सकेगी, जबकि आचार्य शंकर ने त्रिविध सत्ताएँ स्वीकार की हैं—प्रतिभासित व्यवारिक और पारमार्थिक। आखिर प्रतिभासिक और व्यावारिक सत्ताएँ भी तो सत्ता ही हैं। वे भी तो तत्वों के आधार पर ही खड़ी हुई हैं। अत: जीव माया द्रव्य आदि तत्वों को भी पृथक् पृथक् तत्व के रूप में परिगणित किया ही जाना चाहिए। अन्यथा तो साँख्य की पच्चीस तत्वों की प्रतिज्ञा भी मिथ्या ही है। अस्तु। कंचुक तत्वों को स्वीकार करके त्रिक आचार्यों ने परमशिव के संसारावतरण की समस्या को बहुत कुछ सुलझा दिया है।

त्रिक आचार्यों ने किंचित्कर्तृत्व को कला नाम दिवा है और उसे अणु-प्रमाता का कंचुक मानान है। कला शब्द के अनेक अर्थ लोक में गृहीत किए जाते हैं। किसी वस्तु का छोटा भाग भी कला कहा जाता है।[118] चन्द्रमा की रेखा भी कला कहलाती है।[119] मूलधन पर व्याज को भी कला कहा जाता है।[120] साठ सेकंड का समय भी कला कहलाता है। शिल्प—कला, ललितकला आदि चौसठ प्रयोसात्मक कुशलताओं के लिए भी कला शब्द का प्रयोग किया जाता है। कला का बहुप्रचलित अर्थ आजकल चित्र-कला है। इसी अर्थ को लेकर शैव दर्शन में भगवान् शिव को कलानाथ कहा गया है।[121] संसारिक कलाकार तो किसी पट कागज या भित्ति पर चित्र बनाते

हैं, इसलिए कलाकार कहलाते हैं। भगवान् शिव तो आधार के बिना ही, बिना उपादानों के, बिना किसी सामग्री के, शून्य में ही जगद्रूपी विचित्र चित्र का निर्माण करते हैं। इसलिए कला-नाथ कहलाते हैं।

यदि हम लोक में प्रचलित कला शब्द के उक्त अर्थों पर विचार करें तो वहाँ भी कला का अभिप्राय किंचित्कर्तृत्व ही लिया गया प्रतीत होता है। सर्वत्र ऐसा प्रतीत होता है जैसे किसी असीमित वस्तु को काट छाँट कर संकुचित कर दिया गया हो। जैसे चन्द्रमा की कला का अर्थ है चन्द्रमा का एक संकुचित अंश। ब्याज भी धन का सूक्ष्म भाग है। मिनट भी एक घन्टे का साठवां भाग है, इसलिए उसका कला नाम सार्थक है। शिल्पकला, चित्रकला आदि कलाएँ भी इसीलिए कला शब्द से व्यवहृत होती हैं क्योंकि वे एक सीमित देश काल भाव और क्षेत्र से सम्बन्ध रखती हैं। किसी विशिष्ट क्षेत्र में कुशलता का ही नाम कला हैं, समग्रता का नहीं। घट-निर्माण की कला में निपुण व्यक्ति पटनिर्माण की कला में भी निपुण हो, यह आवश्यक तो नहीं।

यह स्थिति त्रिक दर्शन के इस कलातत्व की है। यह शिव की सर्व-कर्तृत्व की शक्ति को कुछ क्षेत्रों तक सीमित कर देता है। जो शिव पहले सब कुछ करने में समर्थ था वह कला कंचुक से आवेष्टित हो पशुभूमिका पर अवतीर्ण होकर कहने लगता है कि "मैं घट तो बढ़िया बना सकता हूँ किन्तु वस्त्र नहीं बना सकता। कुण्डल तो बना सकता हूँ किन्तु कुर्सी बनाने की शक्ति मुझमें नहीं है। इस नाली को मैं छलांग लगाकर पार कर सकता हूँ, किन्तु इस नदी को मैं छलांग लगाकर तो क्या, तैर कर भी पार नहीं कर सकता, इत्यादि। यह सब निश्चित क्षेत्रों की कुशलता है। इसी का नात कला है।

कला को पृथक् तत्व के रूप में स्वीकार करना भी उचित ही है। भला जो समद्र को गोष्पद बना दे, सूर्य को क्षीण-प्रकाश दीपतुल्य अवभा-सित कर दे, सर्वकर्ता को अल्पकर्ता, अशिव को शिव, पति को पशु और विभु को अणु बना दे क्वा उस तत्व को अवस्तु कहना उचित होगा? इतने बड़े सामर्थ्यवान् तत्व को अवस्तु कहकर उपेक्षित करना क्या अपने को धोखा देने के तुल्य नहीं है? कला ऐक तत्व है और वास्तविक तत्व है। यदि यह वास्तविक न होता तो सर्वकर्ता परमेश्वर को किंचित्कर्ता कौन बनाता?

कला शब्द कल क्षेपे धातु से बना है। यद्यपि कल धातु के अनेक अर्थ हैं। जैसे—कल शब्द संख्यानयो:[122] कल क्षेपे[123] कल आस्वादने[124]

कल गतौ संख्याने च[125] किन्तु यहाँ कला शब्द क्षेते धातु से ही निष्पन्न हुआ है क्योंकि क्षेपण रूप अर्थ ही यहाँ संगत हो रहा है। कला ही प्रमाता को नीचे गिराती है।[126] शिव के स्तर से उठाकर पशुभूमि पर लाकर पटक देती है। यद्यपि कला आदि तत्व ईश्वर की इच्छा से ही पृथक भासित होते हैं तो भी जड़रूप कार्य में पृथक् रूप से भासित होने के कारण यह कला पृथक् तत्व है। चेतन को जड़ता में फेंकना कला आदि तत्वों का ही कार्य है।

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि कला त्रिक-दर्शन का एक महत्वपूर्ण तत्व है क्योंकि जड़सृष्टि का प्रारम्भ यहीं से होता है। जैसे माया परमेश्वर की एक शक्ति है वैसे ही कला भी उसकी शक्ति का एक भाग है।[127] यह माया से जन्म लेकर माया के ही कार्य को आगे बढ़ाती है। पुरुष को भिन्न कार्यों में यही नियुक्त करती है और उनमें कर्तृत्व के अभिमान को उत्पन्न करती है।[128] यद्यपि यह सब प्रपञ्च परमेश्वर की इच्छा से परमेश्वर के देह से ही बना है, परमेश्वर इसका कर्ता है, किन्तु कला के पाश में जकड़ा हुआ पुरुष छोटे छोटे कार्यों में कर्तृत्व का अभियान करता रहता है।

विद्या (आठवां तत्व)

कला-तत्व के पश्चात् विद्या-तत्व का आविर्भाव होता है। यह आठवाँ तत्व है। विद्या-तत्व परमेश्वर की सर्वज्ञता-शक्ति को परिमित करके उसे किंचिज्ज्ञ बना देती है। इसे परमार्थता की दृष्टि से कहें तो यह कहना उचित होगा कि परमेश्वर ही अपनी इच्छा से अपनी सर्वज्ञता का गोपन करके विद्यातत्व का कञ्चुक पहन कर अल्पज्ञ हो गया है।[129] पहले उसकी ज्ञातृत्व-शक्ति का प्रसार त्रैलोक्य के कण कण तक था, अब वह कुछ ही विषयों तक संकुचित हो गयी है। किंचिज्ज्ञता का आपादान करने वाला यह कंचुक विघातत्व कहलाता है। इसी का नाम अशुद्ध-विद्या भी है। शुद्ध-विद्या नामक पंचम तत्व से इसको पृथक् करने के लिए हीं इसे अशुद्ध-विद्या कहा जाता है। यद्यपि शुद्ध-विद्या और अशुद्ध-विद्या ये दोनों ही तत्व प्रमाताओं के ज्ञान का साधन हैं, किन्तु प्रथम शुद्ध-विद्या-तत्व शुद्ध सृष्टि के उत्तम कोटि के शुद्ध प्रमाताओं के ज्ञान का साधन है और यह दूसरी अशुद्ध-विद्या मायीय अशुद्ध-सृष्टि के अशुद्ध सकल प्रमाताओं के ज्ञान का साधन है।

यह विद्या तत्व वस्तुत: ही है। परमार्थसार में इसे अविद्या ही कहा गया है।[130] वस्तुत: त्रिक दर्शन में अविद्या शब्द का अर्थ विद्या अभाव नहीं लिया गया। अशुद्ध-विद्या या संकुजित-विद्या को ही अविद्या कहा गया है। यह एक भावरूप तत्व है अभावात्मक नहीं। इसलिए विद्यातत्व

को अविद्या के ही अर्थ में लेना चाहिए। इसी के प्रभाव से अणु-प्रमाता यह अनुभव करता है कि मैं पुरोवर्ती घटादि को ही जानता हूँ, दूर या व्यवहित वस्तु को नहीं जानता।[131] यह अल्प-ज्ञातृत्व-शक्ति ही उसका अभेद्य कंचुक है। यद्यपि कुछ विद्वान, योगी अथवा बुद्धिवादी दार्शनिक साधारण लोगों से कुछ अधिक जानते हैं किन्तु सर्वज्ञ वे भी नहीं है। वे भी विद्या-तत्व के कंचुक से आबद्ध माने जाएंगे। माया का प्रभाव बड़ा व्यापक होता है। ऋषि मुनि भी इस विद्या-तत्व के कंचुक से नहीं बचे। तभी तो कभी कभी वे भी इन कंचुकों के प्रभाव से साधना के मार्ग से पतित हुए देखे जाते हैं।

किंचित्कर्तृतारूप कलातत्व के अनन्तर विद्यातत्व की आवश्यकता इसलिए हुई क्योंकि कर्तृता कभी ज्ञातृता के बिना नहीं होती। ज्ञान-शून्य पुरुष कभी कर्ता नहीं होता।[132] घट-निर्माता घट को इसलिए बनाता है क्योंकि वह घट को बनाना जानता है। चूंकि ज्ञान के बिना कर्तृत्व उत्पन्न नहीं होता इसलिए कला के पश्चात् विद्यातत्व की उत्पत्ति हुई।[133] किंचित्-कर्ता के लिए किंचित् ज्ञान की अतेक्षित है, इसलिए विद्यातत्व किंचिज्ज्ञत्व-रूप अविद्यात्मक ही माना जाता है। किन्तु यहाँ यह बात सदैव ध्यान रखनी चाहिए कि इस किंचिज्ज्ञ पुरुष में भी सर्वज्ञ परमेश्वर की सर्वज्ञता और सर्वकर्तृता निगूढ रहती है। यही कारण है जब पुरुष के ऊपर अनुग्रहशील परमेश्वर का शक्तिपात होता है तो यह विद्यातत्व का कंचुक स्वयमेव विच्छिन्न हो जाता है और उसमें तुरन्त ही सर्वज्ञता उसी प्रकार चमत्कृत हो उठती है जैसे अभ्रमण्डल के छिन्न होने पर आदित्य चमकने लगता है।

यह विद्यातत्व ही बुद्धि के क्रियाकलाप पर दृष्टि रखता है। यही विद्या बुद्धिरूप दर्पण प्रतिबिम्बित सुख दु.ख आदि प्रत्ययों का तम, मोह, महामोह, तामिस्र ओर अन्ध तामिस्र विशिष्ट पञ्चपर्वा अविद्या का तथा अविद्या में स्थित कर्मसमूह एवं कर्माशयों का विवेचन करती है।[134] जड़ बुद्धि स्वयम् अपने धर्मों का विवेचन नहीं कर सकती।[136] विवेचन का अर्थ है कि "यह सुख है, दुःख नहीं" अथवा "यह दु.ख है सुख नहीं, इस कर्म का यह फल है, यह नहीं इत्यादि विवेक विद्या ही कर सकती है, क्योंकि वह चेतन है। यद्यपि अशुद्ध सृष्टि जड़ मानी गयी है किन्तु त्रिक-दर्शन में जड़ का अर्थ चेतना शून्य नहीं है अपितु अल्पचेतन या संकुचित चैतन्ययुक्त पदार्थ ही जड़ कहा गया है।

बुद्धि और विद्या तत्व में भेद

यह विद्या सांख्यों की बूद्धि से पृथक् तत्व है। सांख्यों की बुद्धि या महतत्त्व अचेतन बुद्धि का परिणाम है: वह एक दर्पण या स्वच्छ स्फटिक मणि के समान है जिसमें विषयों का प्रतिबिम्ब धारण करने की योग्यता है। त्रिक दार्शनिकों की मान्यता है कि बुद्धि स्वत: जड़ होने के कारण सुख दु:ख आदि प्रत्ययों का विवेचन नहीं कर सकती।विद्या-तत्व के द्वारा ही पुरुष बुद्धि-दर्पन में प्रतिबिम्बित विषयों का पृथक् पृथक् विश्लेषण कर सकता है। यद्यपि त्रिक दर्शन के अनुसार भी विद्यातत्व जड़ माया का कार्य है किन्तु यहाँ माया और उसके कार्यभूत तत्वों की जड़ता सांख्यों की जड़ता से भिन्न है! शैयों के अनुसार तो सभी तत्वों में उसी परमेश्वर का चैतन्य ओतप्रोत है। अत: विद्यातत्व में जी ज्ञातृत्व-शक्ति निहित है वह भी उसी की है। जीव की भूमिका में छिपा हुआ वही नटराज विभिन्न अभिनय कर रहा है।

त्रिक दर्शन में भी बुद्धि तत्व को पृथक् तत्व के रूप में स्वीकार किया गया है किन्तु विद्या से उसका कार्य भेद है। विद्या का कार्य अन्य है और बुद्धि का कार्य अन्य है। बुद्धि का कार्य है विषयों का ग्रहण करना और विद्या का कार्य है उन विषयों का विवेचन करना। बुद्धि एक दर्पण है। दर्पण विषयों के प्रतिबिम्ब को अपने अन्दर धारण कर सकता है किन्तु यह नहीं बता सकता कि यह किस विषय का प्रतिबिम्ब है। इसी प्रकार बुद्धि भी इन्द्रियसरणि से अन्दर पहुंचे हुए विषयों के आकार को धारण कर लेती है किन्तु उनका पृथक् पृथक विवेचन नहीं कर सकती। विद्या ही उनका विवेचन करती है। वैसे विवेचन तो जीव ही करता है किन्तु करता है विद्या के द्वारा ही। विद्या ही उसके विवेचन का करण है। सत्वादि गुणों से संकीर्ण जड़ बुद्धि विवेक-पूवंक सुख दु:ख मोहात्मक विषय को भला कैसे दिखा सकती है?[136] वह तो स्वयम् विषयों से अविविक्त है।[137] विवेचन तो कोई तीसरा ही कर सकता है। जो विषय और विषयाकार बुद्धि से भिन्न हो। कहने का अभिप्राय यह है कि विद्या बुद्धि से पृथक् तत्व हैं।

सांख्यों का आक्षेप

सांख्य दार्शनिक आक्षेप करते है कि आपने सांख्यों के अभिप्राय को समझे बिना ही यह दोष लगा दिया है कि जड़ बुद्धि सुखादि विषय को विवेक पूर्वक कैसे दिखा सकती हैं। हम यह मानते हैं कि बुद्धि का तमोगुण' जो कि आवरणात्मक है पहले विषय को सतावृत कर लेता है. पुन: रजोगुण उस आवरण का अपसारण करता है और उसके पश्चात् सत्वगुण जो कि समानरूप से सबका प्रकाशक है वह नियत सुखादि विषय को प्रका-

शित कर देता है। इस प्रकार त्रिगुणात्मिका बुद्धि ही क्रम से सुखादि विषय का विवेचन करती है। ऐसा मानने में कोई दोष नहीं आता।[138]

उक्त आक्षेप का परिहार

यह तो आपने सत्य कहा कि बुद्धि ही सुख दु:खादि विषयों की प्रदर्शिका है किन्तु विवेक पूर्वक नहीं। गुणों की संकीर्णता उसे विवेचन नहीं करने देती। गुणों की संकीर्णता का ही अपर नाम जड़ता है। सत्य के उद्रेक से नीलादि विषय बुद्धि में प्रतिविम्बत तो हो सकते हैं किन्तु सत्व गुण विषयों का विवेचन नहीं कर सकता। विवेचन तो वह तब करता जब सुख दु:खादि का दर्वन पृथक् से होता।[139] किन्तु प्रतिबिम्बकाल में तो बुद्धि सुखाद्याकार से अपृथक् ही होती है। विषयाकार बुद्धि उस समय विषयों को पृथक् पृथक् करके कैसे जान सकती है। आकारवान् स्वयम् आकार को कभी नहीं जाना करता। भिन्न द्रष्टा ही आकार और आकारवान् को जान सकता है।

सांख्यों ने प्रत्यक्ष प्रमाण का वह जो तक्षण किया है कि प्रत्येक विषय का अध्यवसाय ही प्रत्यक्ष है तो वह वस्तुत: विवेक का ही लक्षण है बुद्धि का नहीं। अध्यवसाय ही विवेक का जीवन है। केवल विषय का दर्शनमात्र ही तो उसका पूर्ण संवेदन नहीं कहलाता। संवेदन तो विवेक की प्रक्रिया पूर्ण होने पर ही हो सकता है। विवेक का अर्थ है पूर्ण अनुसन्धान। यह अनुसन्धान जड़ बुद्धि के सामर्थ्य से बाहर की बात है। विद्यातत्व की अपेक्षा बुअि में चेतता का संकोच अधिक होता है। इस प्रकार स्वच्छ बुद्धि में प्रति संक्रान्त सुखादि के अनुसन्धान के लिए विद्यातत्व को पृथक् तत्व माना गया है।[140]

पुन आक्षेप

यदि सांख्य दार्शनिक यह कहें कि बुद्धि तो दोनों ओर से निर्मल दर्पण के समान है अत: वह दोनों ओर से प्रतिबिम्ब को धारण करती है। एक ओर उसमें पुरुष की छाया प्रतिसंक्रान्त होती है जिससे वह चेतनायमान हो जाती है। दूसरी ओर से वह प्रतिबिम्बित हुए भाव समूह का अध्यवसाय करती है। इसलिए बुद्धि ही पुरुष का कार्य सिद्ध कर देती है। फिर विद्या को पृथक् से करण मानने की क्या आवश्यकता है।[141]

आक्षेप का उत्तर

तो सांख्यों का यह मानना भी युक्ति-विरुद्ध है। पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धि को चेतनायमान नहीं बना सकता। वह जड़ ही रहती है। इतना ही नहीं अपितु सांख्यों के इस पुरुष प्रतिबिम्बवाद के सिद्धान्त को मानने पर तो

पुरुष में भी जड़ता की आपत्ति होती है। प्रतिबिम्ब का स्वभाव यह है कि वह अपने अधिकरण के ही गुण को धारण कर लेता है। जैसे लोक में दर्पण प्रतिबिम्ब का अधिकरण है,वह जड़ है इसलिए प्रतिबिम्ब को भी जड़ ही बना देता है। इस नियम के आधार पर पुरुष का प्रतिबिम्ब बुद्धिरूप दर्पण में चैतन्य का आधान नहीं करेगा अपितु इसके विपरीत दर्पण की जड़ता का ही पुरुष में आधान होगा। तब तो पुरुष भी अचेतन के समान कुछ भी करने में समर्थ नहीं होगा।

यदि कहो कि स्वयम् पुरुष ही बुद्धि में प्रतिसंक्रान्त होकर विषय का प्रकाश करता है तो यह कहना भी उचित नहीं होगा क्योंकि तब तो बाह्य विषय का भी साक्षात् प्रकाशक पुरुष को ही मान लो फिर बीच में बुद्धि की परिकल्पना करने का क्या लाभ [142] दूसरी बात यह है कि पुरुष के प्रकाश को लेकर तो सर्वत्र अभेद का ही प्रस्फुरण होगा, ग्राह्य-ग्राहक भाव रूप यह तत्व-प्रविभाग और भेद व्यवहार ही समाप्त हो जाएगा। इसी को लेकर तो शास्त्र चर्चा का उपक्रम किया गया था कि छत्तीस तत्वों के भेद-रूप में वह परमेश्वर ही प्रस्फुरित हो रहा है। इस प्रतिज्ञात अर्थ का भी विरोध होगा।[143] यद्यपि परमार्थ में तो शिवाद्वयवाद ही इस दर्शन का मुख्य प्रतिपाद्य है किन्तु व्यवहार में तो उसके भेदात्मक स्वरूप की ही व्याख्या करना अभिप्रेत है.[144]

निष्कर्ष

प्रक्रान्त विवेचन का इतना ही भाव है कि विद्यातत्व सांख्यों के बुद्धि-तत्व से पृथक् तत्व है। बुद्धि से ही विद्या का कार्य गतार्थ नहीं हो सकता। दोनों तत्वों का स्वरूप भी भिन्न है और कार्य भी भिन्न है। विद्या का स्वरूप किंचिज्ज्ञत्व है, बुद्धि ज्ञातृत्व-शक्तिरहित जड़ात्मक तत्व है। बुद्धि वेद्य है, विद्या वेदिका है। बुद्धि केवल बाह्य विषयों का प्रतिबिम्ब धारण करती है, विद्या उन संगृहीत विषयों का पृथक् पृथक् विवेचन करती है। विद्या एक कंचुक तत्व है जो परमेश्वर की सर्वज्ञता को संकुचित करके अणुत्व-पाश में आबद्ध कर लेती है। बुद्धि विद्या का विषय है और विद्या विषयी है।

निष्कर्ष यह है कि परप्रकाशरूप परमेश्वर ही अपने स्वातन्त्र्य से अपने रूप को गोपित करके जब संकुचित रूप में अवभासित करता है तभी यह सकल भेदव्यवहार समुल्लसित होता है। वही सुख दुःखाद्यत्कक भेद-व्यवहार इन्द्रिय-प्रणालिका से अन्दर पहुँच कर बुद्धि में एक साथ प्रति-बिम्बित होता है। विद्यातत्व उन विषयों को विविक्त रूप से जानता है।

इस प्रकार बुद्धिगत भाव विद्यातत्वरूप करण का विषय बनते हैं।[145]

इस प्रकार विद्यातत्व परमेश्वर का एक महत्वपूर्ण कंचुकास्त्र है। यह स्वीकार करके त्रिक दर्शन ने न्याय के उस सिद्धान्त का खण्डन कर दिया हैं जिसमें बुद्धि ज्ञान और उपलब्धि को अनर्थान्तर स्वीकार किया गया है।[146] अद्वैत वेदान्तियों ने विद्यातत्व को सीधे सीधे तो स्वोकार नहीं किया किन्तु चिदाभास के रूप में प्रकारान्तर से स्वीकार किया है। अद्वैत वेदान्ती घट के ज्ञान में बुद्धि और चिदाभास दोनों की उपयोगिता स्वीकार करते हैं। बुद्धि पहले घटगत अज्ञान का नाश करती है और पुन: चिदाभास से घट का स्फुरण होता है।[147] यह चिदाभास विद्यातत्व का ही रूप माना जा सकता है। वेदान्तियों का चिदाभास जो कार्य करता है कुछ वैसा ही कार्य शैवों का विद्यातत्व करता है।

यहाँ यह जिज्ञासा हो सकती है कि सांख्यों का बुद्धितत्व यदि जड है तो आपका यह विद्यातत्व भी तो जड़ ही है क्योंकि वह जड़ माया से ही उत्पन्न हुआ है तो फिर सांख्यों की बुद्धि को जड़ कह कर उस पर विवेक शून्यता का दोष आरोपित करना क्या उचित है ?

इसका उत्तर पहले भी दिया जा चुका है और फिर दिया जा रहा है कि त्रिक दर्शन में भी बुद्धि को पृथक् पृथक् तत्व माना गया है जो प्रकृति का कार्य है। त्रिक शास्त्र में माया और प्रकृति को भिन्न भिन्न माना गया है। किन्तु बुद्धि और विद्यातत्व की जड़ता में अन्तर है। कला, विद्या, राग काल और नियति ये पाँच कंचुक तो सीधे परमेश्वर की चित् निवृति इच्छा ज्ञान और क्रिया इन पाँच शक्तियों के ही संकुचित रूप है। इसलिए इनमें परमेश्वर के प्रकाशरूप चैतन्य या संवित् का उतना संकोच नहीं होता जितना बुद्धितत्व तक आते आते हो जाता है। बुद्धितत्व क्रम की दृष्टि से चौदहवाँ तत्व है जो प्रकृति की विषयावस्था ही है। उसमें चेतना का संकोच अचेतना की सीमा तक हो जाता है। पृथ्वी-तत्व पर पहुँच कर तो चेतना का पूर्ण संकोच ही हो जाता है। इसलिए प्रकृति से लेकर पृथ्वीतत्व-पर्यन्त सृष्टि जड़ कह दी जाती है। किन्तु सांख्य तो प्रकृति को पूर्णतया जड़ कहते हैं। वहां जड़ता का अर्थ चेतना का संकोच नहीं है अपितु चेतना का सर्वथा अभाव है। इसलिए बुद्धि भी जड़ है। जड़ बुद्धि विषयों को विविक्त करके नहीं जान सकती, त्रिके आचार्यों की यह नान्यता सत्य ही है। इसलिए हमारी दृष्टि में त्रिक दर्शन का उक्त विचार यथार्थ ही प्रतीत होता है।

राग (नवम तत्व)

कला तत्व के द्वारा परमेश्वर की चिच्छक्थिरूप सर्वकर्तृता सीमित

होकर कुछ ही कार्यों को करने तक रह गयी थी और उसकी निर्वृतिरूप सर्वज्ञता विद्यातत्व कंचुक में आवद्ध होकर कुछ ही विषय को जानने तक सीमित्त हो गयी थी। परमेश्वर की शक्तियों का यह संकोच यहीं तक सीमित्त नहीं रहता। उसकी इच्छाशक्ति में भी संकोच होता है। उसकी इच्छा किसी विशिष्ट कार्य का ही करने की ओर किसी विशिष्ट वस्तु को ही जानने की हुआ करती है। सब वस्तुओं को करने और जानने में उसकी प्रवृति नहीं हुआ करती। मावीय प्रमाता उन्हीं वस्तुओं को अधिक महत्व देता है जो उसके लिए अधिक अनुकूल वा अधिक प्रिय होती हैं। वह सबसे अधिक "अहं रूप।' अपने आपको अपने देह को तथा देहानुकूल अन्न, पान, वस्त्र, पुत्र कलत्र मित्रादिकों को अधिक चाहता है। इस प्रकार उनकी कला और विद्या में पहले से भी अधिक संकोच आ जाता है। यह संकोच जिस तत्व के द्वारा होता है वह राग-तत्व कहलाता है। इसी राग-तत्व के द्वारा मायीय प्रमाता की कला और विद्या किन्हीं विशेष प्रमेयों के प्रति ही प्रवृत होती है। इसी के द्वारा वह पूर्वोक्त देहादिकों पर गुणवत्ता और माहात्म्य का आरोप किया करता है।[148]

यह रागतत्व भी एक कंचुक है जो परमेश्वर की इच्छाशक्ति रूप पूर्णता को अपूर्ण बना देता है। इसी के प्रभाव से प्रमाता अपूर्णम्मन्य बना रहता है। उसकी सदा यही अभिलाषा रहती हैं कि उसके ये देहादि भोग-साधन और भोग्य वस्तुएँ सदा स्थायी रहें, कभी इनका उच्छद न हो।[149] रागतत्व के वशीभूत जीव संसार के भोगों को भोगने में ही लगा रहता है। भोगों के प्रति यह आसक्ति उसकी अपूर्णता की ही द्योतिका है। अभिलाषा या आसक्ति वहीं होगी जहाँ अपूर्णता होगी। पूर्णकाम पुरुष कभी कुछ नहीं चाहता, न ही कहीं आसक्त होता है। प्रत्येक जीव उन्हीं भोगों की ओर आकृष्ट होता है जो उसको रुचिकर लगते हों और जिसकी उसके पास कमी हो, चाहे वे परिणाम में कितने भी भद्दे हों या घृणित हों।[150] यह अपूर्णम्मन्यता उसी राग तत्व से प्रादुर्भूत होती है।

यह तो रागतत्व के प्रभाव की बात हुई। इस रागतत्व का स्वरूप क्या है? यह जान लेना अनिवार्य है। इसका स्वरूप वह नहीं जो प्राय: लोक में और अन्य दर्शनों में स्वीकार किया गया है। आचार्य जयरथ कहते हैं कि उपादेय या हेय वस्तु में जो सामान्य रूप से एक अभिष्वंग या रुचि जैसा भाव होता है वही राग कहलाता है।[151] "किंचिन्मे भुयात्" ऐसी ही एक आसक्ति मिश्रित इच्छा का नाम राग है। पूर्णरूप से केवल इच्छा को राग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अभिष्ट वस्तु की प्राप्ति हो जाने पर

वह इच्छा निवृत हो जाती है। केवल आसक्ति का भी नाम राग नहीं है। आसक्ति तो राग का कार्य है। फिर दूसरी बात यह है कि द्वेष्य वस्तु में में भी होता है। यदि किसी को किसी से द्वेष है तो वह इस कारण से है कि उसको अपने आपके लिए इष्टप्राप्ति के लिए राग है।[152] इस प्रकार यह द्वेष का विरोधी भाव भी राग नहीं है जैसा कि पतन्जलि ने क्लेशों के प्रसंग में राग को द्वेष का विरोधी माना है।[153] द्वेष का विरोधी भाव राग तो अन्त:करण का स्वभाव है।[154] त्रिक दर्शन का यह रागतत्व अन्त:करण का भाव नहीं है। अन्त:करण की उत्पति तो अभी हुई ही नहीं है। यह रागतत्व तो अन्त:करण-तत्वों से बहुत ऊपर स्थित है और मायीय प्रमाता को पुरुष-तत्व के रूप में प्रकट करने वाला एक कंचुक तत्व है।

प्राणी जब किसी से द्वेष करता है तो इसका अर्थ यह है कि वह द्वेष में राग रखता है। वहाँ द्वेष करने में ही वह अनुरक्त है। इसी प्रकार घृणा भी राग है और प्रेम भी राग है। भक्ति भी राग है और उपासना भी राग है। आडम्बर और दिखावा भी राग है परोपकार और सद्भावना भी राग है। कहने का अभिप्राय यह है कि अन्त:करण के वे धर्म जिनमें अभिष्वंग विद्यकान है वे रागतत्व का ही विलास हैं। इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि द्वेष-विरोधी भाव राग को रागतत्व नहीं समझणा चाहिए, अपितु द्वेष और राग दोनों ही रागतत्व से प्रादुर्भुत भाव हैं। त्रिह दर्शन के अनुसार संसार के समस्त व्यवहार, चाहे वे अविरोधी हों या विरोधी, रागमूलक ही हैं। अभी कल तक हम जिस रमणीय कामिनी में आसक्त थे, आज उसी से हम घृणा करते हैं वे दोनों ही भाव रागमूलक हैं।

यह रागतत्व विरक्ति का विशर्यय भी नहीं है जैसा कि सांख्या-चार्य इसे वैराग्य का विरोधी अवैराग्य समझते हैं।[155] अवैराग्यरूप राग भी सांख्यों के मत में बुद्धि का तामस धर्म है। किन्तु शैवों के मत में तो विरक्ति भी राग ही है। पुरुष बिरक्ति में भी अनुरक्त देखा गया है। जब पूरुष विरक्ति में तृप्त होता है तो वहाँ भी सूक्ष्म रागतत्व ही अवस्थित होता है।[156] यदि किसी के मन में सांसारिक पदार्थों के प्रति विरक्ति हुई है तो इसलिए नहीं हुई कि वह उन्हें त्वाज्य समझता हैं, अपितु इसलिए हुई है कि क्योंकि वह बेहतर सुख के लिए इनके जंजाल से मुक्त होना चाहता है। वैराग्य और अवैराग्य दोनों के प्रति जो आसक्ति है उसका निमित्त यह रागतत्व ही है। क्योंकि "किंचिन्ने भुयात्" इस प्रतिपत्ति का अभाव वेराग्य में भी नहीं होता है।[157] वैराग्य और अवैराग्य ही क्यों अपितु धर्न ज्ञान ऐश्वर्य अधर्म और अज्ञान आदि भी इसी अभिष्वंग-वासना-

रूप रागतत्व के ही पल्लव हैं।[159] वस्तुत: समस्त भोग्य पदार्थों के प्रति प्रवृति का हेतु राग ही होता है। जब तक पदार्थों में भोग्यधर्मा विद्यमान है तब तक कोई वीतराग नहीं हो सकता, क्योंकि भोग्य वस्तु सबके लिए रञ्जक होती है चाहे वह भोग्य वस्तु विरक्ति हो या अविरक्ति।[159]

निष्कर्ष

निष्कर्ष यह है कि रागतत्व द्वेष के विरोधी भाव राग से भिन्न तत्व है। यह सांख्यों के अवैराग्य से भी भिन्न है। यह तो परमेश्वर की परिपूर्ण तृप्तिरूपा इच्छाशक्ति ही जो परिमितता को प्राप्त होकर रागतत्व हो गयी है।[160] सामान्यभिष्वंग और अपूर्णम्तन्यता इसका स्वरूप है। विशेष अभिष्वंग भी इसी का पल्लवित रूप है।[161] कुछ ही विषयों में पुरुष की इच्छा को संकुचित कर देना इसका कार्य है।[162] यह राग स्वत: जीव में किसी न किसी प्रकार की अपूर्णता का ही द्योतक है। अपूर्णता की भावना ही पुरुष को हेय अथवा उपादेय वस्तु में प्रवृति और निवृति का हेतु है। यह हेयता और उपादेयता प्राणी की अपनी ही दृष्टि पर निर्भर है। इसी रागतत्व के प्रभाव से वह हेय वस्तु को भी उपादेय समझ कर ग्रहण कर लेता है और किसी कल्याणकारी उपादेय वस्तु को भी हेय समझ कर छोड़ देता है, क्योंकि उसके बिना वह स्वयम् को अपूर्ण मानता है। यह एक मृगतृष्णा है जो परिपूर्ण परमेश्वर को अपूर्णम्मन्य बनाकर पशु स्तर पर उतरने के लिए बाध्य बना देती है। यही रागतत्व अतृप्ति भी कहलाता है। यह मायीय प्रमाता का तीसरा कंचुक है और उत्पत्ति के क्रम में नवम तत्व है।

यदि हम गहराई में जाकर देखें तो यह रागतत्व आणवमल से उत्पन्न हुआ है। प्रारम्भ में यह रागतत्व अणु (जीवों) में लोलिका[163] के रूप में अवस्थित होता है। शैव ग्रन्थों में लोलिका वह सूक्ष्म अभिलाषा कहलाती है जिसमें विषय की स्पष्टता तो नहीं होती किन्तु मन में अपूर्णता की अनुभूति से उत्पन्न एक तरंए जैसी होती है। यह निष्कर्म सूक्ष्म इच्छा है जो परिपुष्ट होकर कर्मसहित स्थूल अभिलाषा का रूप धारण कर लेती है। यही स्थूल अभिलाषा रागतत्व है।

समीक्षा

राग तत्व का ऐसा सूक्ष्म विवेचन अन्यत्र प्राप्त नहीं होता। यह मान्यता त्रिक दर्शन की अपनी निधि है। अन्य दर्शनों में इसे द्वेष के विरोधी भाव के रूप में ही लिया जाता रहा। उनके मत में तो यह एक अन्त:करण का ही भाव है। जैसे काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि भाव मन में रहते हैं

वैसे ही राग भी एक भाव है। त्रिक दर्शन की मान्यता है कि वह द्वैष का विरोधी राग दूसरा तत्व है। यह कंचुक राग तत्व दूसरा तत्व है। इसका सीधा सम्बन्ध परमेश्वर की स्वातन्त्र्ययात्मक इच्छा-शक्ति से है। अन्तर इतना ही है कि परमेश्वर की संवित् भट्टारिका में यह परिपूर्ण इच्छा के रूप में परिवर्तित हो गयी है। यह रागतत्व अन्तःकरण का धर्म नहीं है अपितु अन्तःकरण को उत्पन्न करने की भूमिका को तैयार करने वाला तत्व है। आगे चलकर संसार के सारे आदान प्रदानों का व्यवहार इसी राग तत्व से चलता है। त्रिक दर्शन की यह मान्यता वस्तुतः अनुभव और तर्क दोनों के अनुकुल है। जब तक स्वच्छन्द विचरण करने वाले बलवान् वनराज को पकड़ने के लिए जाल तैयार नहीं किया जाएगा तब तक वह पकड़ में कैसे आ सकता? और जब तक पकड़ में नहीं आएगा तब तक उसे परतन्त्र बनाकर पालतु कैसे बनाया जाएगा। अभी तो स्वतन्त्र और परिपूर्ण परमशिव को बद्धपशु बनाने के लिए कंचुकरूप जाल तैयार किया जा रहा है। यह रागतत्व उसी कंचुक का एक भाग है। भला अन्तःकरण के साधारण भाव में यह शक्ति कहाँ कि पति-प्रमाता को पशु-प्रमाता के स्तर पर उतार सके। साधारध राग तो प्रतिकूल परिस्थिति के आने पर द्वेष में भी बदल जाता है। उस द्वेष को राग नहीं कहा जा सकता। किन्तु यह राग तत्व तो द्वेष में भी राग उत्पन्न करता है। मनुष्य यदि द्वेष करता है तो वह इसलिए करता है क्योंकि द्वेष में राग रखता है। यह राग तो लोभ मोह और क्रोध में भी है। जहाँ जहाँ पुरुष की दिलचस्पी या रुचि है उसके मूल में राग तत्व ही काम कर रहा होता। त्रिक दर्शन को यह मान्यता सचमुच बड़ी सटीक प्रतीत होती है।

त्रिक आचार्यों की यह सूक्ष्म-दृष्टि वास्तव में प्रशंसनीय है कि मनुष्य जो जो कार्य करता है वह रागतत्व के वशीभूत होकर ही करता है। चाहे वह विरक्ति या वितृष्णा ही क्यों न हो। यह बात अनुभव में भी आती है कि हम किसी वस्तु को भोगते भोगते अरुचि करने लगते हैं तो उस अरुचि में ही हमें आनन्द आने लगता है। जब कभी हमारा पुत्र या पत्नी हमको कटु वाक्य कह देती है या हमें कभी उनसे धोखा या विश्वासघात प्राप्त होता है तो हम अपने पुत्र और पत्नी की ओर से उदासीन हो जाते है। उस उदासीनता या अरुचि से हमें बहुत शान्ति और सुख मिलता है। इसलिए उस उदासीनता और अरुचि से ही हमें राग हो जाता है। इस प्रकार राग तत्व का परिवार बड़ा विस्तीर्ण है। राग तत्व की सीमा को संसार के प्रत्येक व्यवहार तक बढ़ाकर त्रिक-दर्शन ने अपनी सूक्ष्मेक्षिका का ही

परिचय दिया है।

राग तत्व के सन्बन्ध में त्रिक आचार्यों की यह विशाल दृष्टि अशास्त्रीय नहीं है। राग की व्यापकता का सूत्र बृहदारण्यक में दिया हुआ है। ब्रह्मज्ञानी याज्ञवल्क्य मैत्रेयी को समझा रहें हैं कि हे मैत्रेयी ! हम किसी अन्य की सन्तुष्टि या कामपूति के लिए किसी से प्रेम नहीं करते, अपितु सब वस्तुएँ हमें अपने ही लिए प्रिय होती हैं।[154] इस कथन का अभिप्राय यह है कि मनुष्य अपने आत्मा से प्रेम करता है, अपने आत्मा के लिए उसे अन्य सभी वस्तुओं से राग है। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि में भी वह रागवश ही आसक्त है। अतः हम त्रिक शास्त्र की रागविषयक मान्यता से पूर्ण तथा सहमति रखते हैं।

काल-तत्व (दसवां तत्व)

राग तत्व के अनन्तर काल तत्व का प्रादुर्भाव होता है। यह मायीय प्रमाता का चौथा कंचुक है। कला ने परमेश्वर की कर्तृता को किंचित्-रूपता प्रदान की थी। विद्यातत्व ने उसकी सर्वज्ञता को कुछ ही विषयों तक सीमित कर दिया था और राग तत्व ने उनकी इच्छा को नियत वस्तु पर्यंवसायिनी बना दिया था। इन तीनों तत्वों के अनन्तर काल तत्व उद्भूत होकर उसकी नित्यता को "मैंने किया था" मैं करता हूँ "मैं करूंगा" इस प्रकार की काल की सीमाओं में बांधकर अनित्य बना देता है। "मैं था, मैं हूँ, मैं होऊंगा, इस प्रकार की प्रतीति काल के बिना हो नहीं सकती। उसी प्रत्यय की अन्यथानुपपत्ति से काल तत्व की उतपत्ति होती है।[165]

यह कालतत्व परमात्मा की इच्छा से ही उन्हीं के अन्दर उनके स्वरूप में परिवर्तन कर देता है। वास्तव में पति-प्रमाता का स्वरूप शुद्ध संवित् है जो समस्त काल कलनाओं से और क्रम से सर्वथा रहित है, किन्तु जब माया उसके अन्दर संकोच का अवभासन करती है तो प्रमाता उस संकोच के प्रभाव से मैं था, मैं हूँ, मैं होऊंगा इस प्रकार की कल्पना करने लगता है। इस प्रकार जो क्रमरहित और अकालकलित संवित् का स्वरूप था वह क्रमयुक्त और कालकलित सा हो गया। इस प्रकार क्रमरूपता का जो कारण है वह कालतत्व है। काल के प्रभाव से ही प्रमाता अपने ऊपर क्रम की कल्पना करता है। वह समझ बैठता है कि में काल की सीमाओं में रहता हूँ, मैं नित्य नहीं हूँ अपितु एक नाशवान् तत्व हूँ। प्रमेयों में भी वह इसी क्रमरूपता का आरोप करने लगता है कि मैं पहले कृश था, अब कुछ स्थूल हो गया हूँ और भविष्य में अधिक स्थूल हो जाऊंगा। इस प्रकार अपने आपको देहरूप मानता हुआ क्रमरूपता का पवामर्श करता है[166]

संवित् एक नित्य अखण्ड और स्वतन्त्र शक्ति है। उसे काल जीर्ण नहीं कर सकता, उसके टुकड़े नहीं हो सकते, प्रमेयता उसे अस्वतन्त्र भी नहीं बना सकती, किन्तु माया से उद्भूत काल तत्व इतना प्रभावशाली कंचुक है कि वह उसकी नित्यता को तुटि क्षण, पल होरा अहोरात्र आदि कल्पित काल की परिधियों में समेट कर अनित्य बना देता है।[167] काल की उक्त परिधियों में बद्ध होकर पशु संसार के प्रत्येक कार्य के लिए निश्चित क्षणों या प्रहरों की कल्पानओं में व्यस्त रहता है। "आज यात्रा करना ठीक नहीं इसके लिए कल का दिन उपयुक्त है, आज घर में रहकर अध्ययन करना ही ठीक है। आज सांयकाल यज्ञ करना उत्तम रहेगा। प्रात:काल दुर्गासप्तशती का पाठ करना पुण्यदायक है, सूर्योदय से पहले जागना स्वास्थय के लिए लाभदायक है, दोपहर में सोना हानिकारक है इस प्रकार प्रमाता की समस्त इतिकर्तव्यताओं पर काल-कल्पनाओं का रंग चढ़ा रहता है। यद्यपि परमेश्वर के शुद्ध संवित्रूप स्वातन्त्र्य का ही नाम कर्तृत्व है जो नित्य है, नित्य कर्तृत्व का काल के साथ सम्वन्ध होना सम्भव नहीं है फिर भी कार्यावच्छेदी कर्तत्व के साथ काल का योग होता ही है। यही कार्यावच्छिन्न कर्तृता तो पुरुष को अनित्य बनाती है।

कर्तृत्व दो प्रकार का होता है—शुद्ध और मायीय। शुद्ध कर्तृत्व तो अपरिमित अहंपरामर्शरूप होता है। इसमें बाह्य क्रियाओं का लेप नहीं चढ़ा होता। मायीय कर्तृत्व तो घटक्रिया पट-क्रिया आदि वाह्य क्रियाओं से व्याप्त होता है। यह जो दूसरे प्रकार का कर्तृत्व है यह अवश्य ही काल-कलित होता है। यह कर्तृत्व अनित्य ही होता है। इस अनित्य कर्तृत्य का का कारण वही कालतत्व है।[168]

काल एक अशरीरी ओर अव्यक्त तत्व है। लौकिक व्यवहारों में जो क्रमरूपता दिखायी देती है, वह क्रमरूपता ही काल की परिचायक है। दूसरे शब्दों में क्रमरूपता का ही नाम काल है। लोक में दो प्रकार के क्रम दिखायी देते हैं—काल-क्रम और देशक्रम। कालक्रम की कल्पना का आधार क्रियावैचित्र्य है और देशक्रम की कल्पना का आधार मूर्ति-वैचित्र्य है।[169] करना, जाना होना, बढ़ना, घटना आदि क्रियाओं का भेद क्रिया-वैचित्र्य है तथा स्वर्ण कटक कुडल. मिट्टी घट, पट आदि वस्तुओं का भेद मूर्तिवैचित्र्य कहलाता है। इन दोनों प्रकार के क्रमों का आधार काल ही है।

काल-क्रम और देश-क्रम की कल्पनाएँ सम्बन्धरूपता के अभास पर आधारित हैं। सम्बन्ध भी एक प्रकार की कल्पना ही है। राजा पर स्वा-

मित्व की कल्पना और सेवक पर सेवकत्व की कल्पना दोनों पृथक् पृथक् कल्पनाएँ हैं। ये दोनों कल्पनाएँ एक दुसरे की अपेक्षा मे हैं। राजा स्वयम् स्वायी नहीं है, वह सेवक की अपेक्षा से स्वामी है। इसी प्रकार सेवक स्वयम् सेवक नहीं। वह राजा के स्वामित्व की अपेक्षा करके ही सेवक है। सेवकत्व और स्वामित्व इनके स्वाभाविक धर्म नहीं है। जब किसी प्रमाता की संवित् राजा और सेवक दोनों भिन्न पदार्थों को व्याप्त करती है और दोनों की सापेक्ष कल्पनाओं को अवभासित करती हैं तब राजा का आभास स्वामी के रूप में होने लगता है और सेवक का आभास सेवक के रूप में होने लगता है। वास्तव में तो दो ही पदार्थ वास्तविक हैं—स्वामी और सेवक। इन दोनों का स्वामी सेवक-भाव सम्बन्ध तो कोई वस्तुभूत तत्व नहीं। वह तो केवल प्रमाता की एक कल्पना ही है। वह यदि इन दोनों की कल्पना स्वामी और सेवक के रूप में न करता तो स्वामी न स्वामी था और सेवक न सेवक ही था। इन दोनों की पृथक् सत्ता थी। सम्बन्ध कुछ भी न था। प्रमाता की कल्पना ने ही इन दोनों में स्वामी-सेवक-भाव-सम्बन्ध बनाया।

इस प्रकार प्रमाता जब पृथक् पृथक् पदार्थों को अपनी कल्पना के आधार पर एक सूत्र में पिरोकर जोड देता है तो उन पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध का अवभास हो जाता है। कहने का भाव यह है कि अनेकों में एकता का जो कल्पनात्मक विमर्श है वही सम्बन्ध कहलाता है। संसार की यात्रा इसी काल्पनिक सम्बन्ध-रूपता के सहारे चलती है।[170] यही सम्बन्ध-रूपता काल-क्रम और देशक्रम की कल्पना का आधार है। कोई भी व्यवहार इनके बिना नहीं चलता। यह सम्बन्धरूपता, कालक्रम और देशक्रम प्राणियों के स्वरूप पर इस प्रकार प्रभावी है कि उनका कोई भी व्यवहार इन इन कल्पनाओं से मुक्त होता ही नहीं। प्राणी जो कुछ भी करता है या जानता है उसकी सब क्रियाओं में और ज्ञानों में ये तीनों व्याप्त रहते हैं। काल का सम्बन्ध प्रमाता के स्वरूप को व्याप्त करता है। देश सम्बन्ध उसे शरीर के द्वारा व्याप्त करता है।

उपर्युक्त विवेचन का सार यह है कि परमेश्वर की काल-संकर्षिणी शक्ति के प्रभाव से, उन्हीं की इच्छा से, उन्हीं के अन्दर जो क्रिया-वैचित्र्य का अवभास हुआ करता है उसी पर यह कालक्रम की कल्पना टिकी हुई है। लोक व्यवहार में घटनाएँ दो रूपों में दिखायी देती हैं—नियमबद्ध क्रम और अनियत क्रम के रूप में कुछ घटनाएँ नियम में बँधी हुई सी लगती हैं —जैसे सूर्योदय और सूर्यास्त का समय नियत है। सूर्य का बारह राशियों

में संक्रमण नियत क्रम वाला है। चन्द्रमा की कलाओं का क्षय क्रम से नियमानुसार होता है। इसी प्रकार पुन: उसकी कलाओं में वृद्धि भी नियत क्रम से होती है। इसी प्रकार नक्षत्रों की गति ऋतु-परिवर्तन, ऋतु-अनुसार नाना प्रकार के फूलों का खिलना, विभिन्न अन्न, औषधि, फल आदि का परिपाक, ऋतु के ही अनुसार पक्षियों का आना और चले जाना , अण्डे उत्पन्न करना औंर शावकों का पोषण आदि सभी घटनाएँ नियमबद्ध क्रम से होती हैं। बहुत सी घटनाएँ ऐसी हैं जिनका क्रम नियमबद्ध नहीं होता। जैसे निमेषोन्मेष, स्वप्न-जागरण जीवन-मरण, सुख-दुख, गमनागमन, भोजनच्छादन आदि। वैसे कुछ दार्शनिक तो इन घटनाओं का क्रम भी नियमबद्ध मानते हैं। वस्तुत: ऐसा नहीं है। यदि उन्हें नियमबद्ध मान भी लिया जाए तो भी हम यह कहते हैं कि इनके क्रम का ज्ञान नियम-निर्माता परमेश्वर को ही हो सकता है प्राणियों को नहीं। प्राणी तो उपर्युक्त नियमबद्ध क्रम वाली घटनाओं के क्रम से अनियत क्रम वाली घटनाओं को मापते हैं और काल सम्बन्धी व्यवहारों को चलाते हैं कि बालक एक घन्टे तक खेलता रहा, यज्ञदत साठ वर्ष तक जीवित रहा, विद्युत् पलभर चमकी, दिनभर वर्षा होती रही, दो मास तक गर्मी पड़ी आदि। इस प्रकार लोक में क्रम का ही नाम काल है।[171]

इन प्रकार समस्त कालिक व्यवहार क्रमरूपता पर ही स्थित हैं। यह क्रम संकुचित पदार्थों में ही हो सकता है। नित्य और व्यापक संवित् में तो यह सम्भव नहीं। माया जब संवित् में संकोच लाती है तभी उसमें क्रमरूपता आती है। कालतत्व माया का ही एक रूप है जो प्रमाता के स्वरूप में संकोच लाकर उसके कर्तृत्व और ज्ञातृत्व को व्याप्त कर लेता है।अकरवम् करोमि करिष्यामि'' यह कला का संकोच है। मैं बालक था, अब युवा हूँ, भविष्य में वृद्ध हो जाऊंगा'' ऐसा समझना ज्ञातृत्व अर्थात् विद्या का संकोच है।[172] ये दोनों प्रकार के संकोच काल के द्वारा किए गए हैं।

इस प्रकार प्रमाता के प्रत्येक व्यवहार में काल कल्पना का रंग चढ़ा रहता है। मायीय सृष्टि में ऐसी कोई वस्तु नहीं जिस पर इस काल तत्व रूप कंचुक का शिकंजा कसा न हो।

समीक्षा

भारतीय दर्शनों में काल को एक महत्वपूर्ण तत्त्व के रूप में माना गया है। प्राय: सभी दर्शन इसे किसी न किसी रूप स्वीकार करते हैं। न्याय दर्शन में काल को नित्य द्रव्य के रूप में माना गया है।[173] कर्मफल प्रसंग में न्याय ये काल की चर्चा आयी है। वहाँ कहा गया है कि कर्म करने

के तुरन्त बाद उसका फल नहीं मिलता अपितु कालान्तर में उसका फल मिलता है।[124] न्याय की दृष्टि से काल एक अखण्ड तत्व है। अहोरात्र मास वर्ष आदि काल के भेद मनुष्यों द्वारा कल्पित कर लिए गए हैं। जन्म पदार्थों का जनक भी काल ी है। (जन्यानां जनक: कालो—न्या. सि. पु.)

प्राचीन सांख्य में काल को प्रकृति और पुरुष के अतिक्ति एक तीसरा तत्व माना जाता था। उनका कहना था कि सृष्ठि के लिए प्रकृति में क्षोभ काल के ही द्वारा होता है।[175] यह बात सत्य भी है। जब प्राणियों के कर्मों के फलोन्मुख होने का समय आता है तभी सृष्टि होती है। इससे पहले समस्त प्राणी प्रलयकाल में सोये पड़े रहते हैं। आधुनिक सांख्य में प्रकृति में क्षोभ का कारण काल के स्थान पर स्वभाव को मान लिया गया है, किन्तु काल की उपेक्षा वे भी नहीं कर सके हैं। सृष्टि और प्रलय का एक निश्चित काल है। उस काल के अनुसार ही प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न होता है।

विष्णु पुराण में तो काल को साक्षात् भगवान् ही माना गया है। उसे अनादि अनन्द तथा जगत् की सृष्टि स्थिति और संहार का नियन्ता कहा गया है।[176] गीता में भी भगवान् यही कहते हैं कि संहार की रचना करने वाला काल तत्त्व मैं ही हूं।[177] मैं ही सबका धारण करने वाला काल का भी काल हूँ।[178] और लोकों का नाश करने वाला भी काल मैं ही हूं।[179] महर्षि पतन्जलि भी परमेश्वर को काल से अनवच्छिन्न कहकर काल का ही महत्त्व स्वीकार कर रहे हैं। वे जब यह कहते हैं कि "परमेश्वर काल से भी अवच्छिन्न न होने से पूर्व पुरुषों का भी गुरु है" तो इसका यही भाव है कि परमेश्वर के अतिरिक्त सभी वस्तुएँ काल से अवच्छिन्न हैं।[180]

ब्रह्मसूत्र में भी काल को व्यापक तत्व माना गया है।[181] सूर्य और चन्द्रमा से हम काल के खण्ड कर लेते हैं, किन्तु काल तो इनसे भी पहले था और प्रलय के बाद भी रहेगा। नित्य पदार्थों पर तो उसका प्रभाव नहीं होता किन्तु अनित्यँ तो सभी काल-कवलित हैं। तभी तो आचार्य शंकर कहते हैं—"कालो न यातो वयमेव याता:।" दर्शन शास्त्र ही नहीं श्रुति भी काल की महत्ता सिद्ध करती है। यजुर्वेद में कहा गया है कि परमात्मा ने शाश्वत समय से अपनी प्रजाओं के लिए अर्थों की कर्मानुसार व्यवस्था की है।[182] वेद में त्र्यायुष होने की जो कामना की गयी है वह भी काल का ही महत्व प्रतिपादित कर रही है।[183]

उपर्युक्त दार्शनिक मतों के उल्लेख का इतना ही अभिप्राय है कि काल का महत्व केवल त्रिक शास्त्रों में नहीं बताया गया अपितु आस्तिक

और नास्तिक दर्शन के विद्वान् भी काल की महत्ता को समानरूप से स्वीकार करते हैं। काल परमेश्वर की शक्ति है इसलिए भगवान् शिव को महाकाल और उनकी शक्ति को काली कहा गया है।

प्रश्न यह है कि काल का जो स्वरूप अन्य दर्शनों में बताया गया है क्या वही स्वरूप त्रिक दर्शन के इस काल नामक कंचुक का भी है या इससे कुछ भिन्न है ? तो यह बात अच्छी प्रकार जान लेनी चाहिए कि यह काल तत्व अन्य दर्शनों से भिन्न है। यह तो एक मायीय तत्व है जो माया ने परमेश्वर की नित्य कालशक्ति को परिमित करने के लिए बनाया है। यह मायाजन्य होने से अशद्ध तत्व है। वह कालशक्ति जो परमेश्वर में नित्य सवित् के रूप में अवस्थित थी, उसका कंचुक रूप में वह स्वरूप नहीं रहता। तब वह स्वतन्त्र और अकाल-कलित थी। अब यह अस्वतन्त्र हो गयी है। परमेश्वर में वह अखण्डित थी, यह खण्डों में बँट गयी है। तब यह पति-प्रमाता से अभिन्न थी, अब यह अणु की कल्पना के रूप में रहती है और उससे भिन्न सी होकर रहती है। तब यह नित्य और शुद्ध थी, अब यह अनित्य और अशद्ध हो गयी है।

त्रिक दर्शन के आचार्यों की मेधा और उनकी चिन्तन-शक्ति का ही यह चमत्कार कहा जाएगा कि उन्होंने काल जैसी अतर्क्य और अखण्डित शक्ति को सृष्टि के विकास में इस सुन्दर रीति से प्रयुक्त कर डाला कि उसमें तनिक सी भी अस्वाभाविकता दृष्टिगत नहीं होती। जब वस्तु का स्वरूप बदलता है तो उसका नाम भी बदल जाता है। परमेश्वर की ज्ञान शक्ति जब क्रियाशक्ति के सहारे विविध भावभोगियों से युक्त होकर बाहर की ओर फैलती हैं तो देशक्रम और कालक्रम के रूप में बदल जाती हैं। साथ ही इसका नाम भी बदल जाता है। इसलिए ज्ञानशक्ति ही काल है और वही लौकिक क्रिला में क्रम कहलाती है। त्रिक दर्शन इसी कारण कहता है कि "काल एव क्रमः, क्रम एव कालः" । अर्थात् काल ही क्रम है और क्रम ही काल हैं। परमेश्वर की क्रिया में क्रमरूपता तो नहीं हो सकती, क्योंकि परमेश्वर की क्रिया परमेश्वररूप ही होती है जब परमेश्वर में ही क्रम नहीं तो उसकी क्रिया में क्रमरूपता कैसे सम्भव है ?

इस प्रकार आभासमान पदार्थों के रूप में स्वस्वरूप से बाहर की ओर फैलने वाली जो परमेश्वर की शक्ति है वही काल कहलाती है। परमात्मा स्वयम् देश एवं कालक्रम से शून्य है। आभास के भेद से ही काल-क्रम भासता है। परिमित प्रमाता के द्वारा ही पदार्थों का भेद भासित होता है। संविद्रूप आत्म स्वभाव तो अपने में परिपूर्ण है वहाँ भेदावभास सम्भव

ही नहीं। किन्तु ज्ञाता ज्ञान और ज्ञेय का भेदावभास होता है उसी परमेश्वर की इच्छा से। इस प्रकार काल के विषय में त्रिक दर्शन का दृष्टिकोण अन्यों से नूतन तो है ही, वास्ताविकता क स्तर पर भी युक्ति-युक्त है।

नियति (ग्यरहवां तत्व)

पशु प्रमाता का संकोचक पाँचवा कंचुक तत्व है—नियति। सृष्टि-विकास के क्रम में प्रारम्भ से यह ग्यारहवाँ तत्व हैं। लोक-व्यवहार में प्रतिक्षण देखा जाता है कि किसी प्रयोजन के लिए क्रिया करते समय प्राणी कुछ पदार्थों को ग्रहण करता है और कुछ को छोड़ देता है।[184] यह नियम क्यों है कि पकाने की इच्छा करने वाला पुरूष अग्नि का ही ग्रहण करता है, लोष्ठ का नहीं। स्वर्ग की इच्छा करने वाला पुरूष ज्योतिष्टोम याग से ही यजन करता है श्येन याग[185] से नहीं ? यहाँ कोई निमित्त तो अवश्य ही होना चाहिए। आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि वह निमित्त नियति है। नियति ही पुरूष की शक्ति को और उसके व्यवहार को नियत में बाँधती है कि इस कारण से यही कार्य होगा अन्य नहीं।

नियति-तत्व परमेश्वर के व्यापक स्वरूप को अव्यापक बना देता है। यह नियति परमेश्वर की संकोचशालिनी स्वातन्त्र्य शक्ति ही है जो उसे पशु-स्तर पर कृत्याकृत्य के विषय में अवश बना देती है[186] इसी के प्रभाव से पशु विशिष्ट कार्य के लिए विशिष्ट कारणों का ही उपादान करता है। कारणों का नियमन करने के करण ही तो यह तत्व नियति कहलाता है।[187] नियति तत्व पशु के वैचारिक क्षेत्र को "नियत अर्थ-क्रिया के लिए नियत वस्तु का ही ग्रहण करना चाहिए"[188] इस नियम को मानने के लिए विवश बना कर सीमित कर देता है। इस कंचुक तत्व से बंधा हुआ पुरुष अव्यापक होकर स्वार्थ साधन के लिए विशिष्ट कार्यों और कारणों को खोजते हुए ही काल का ग्रास बन जाता है। फिर भी उसकी यह खोज अपूर्ण ही रहती है।

इस नियति का प्रभाव भी बड़ा शक्तिशाली है। मनुष्य कितना भी विद्वान् और बलवान् क्यों न हो, नियति का उल्लंघन नहीं कर सकता। जब उसे भूख लगेगी तो वह उदरपूर्ति के लिए कुछ न कुछ अवश्य ही खाएगा। शीत और आतप से यदि पीड़ित होगा तो आश्रयस्थल अवश्य ही ढूंडेगा। पीने के लिए उसे पानी आदि पदार्थों की आवश्यकता अवश्य ही होगी। कहने का अभिप्राय यह है कि जो जो कारण जिस जिस कार्य के लिए नियत है वह उसे चाहे या अनचाहे ग्रहण करना ही पड़ता है। ऐसा करने के लिए बाध्य है। परमात्मा का नियम ही ऐसा है कि धूम

अग्नि से ही होगा, अश्वमेधादि यज्ञों के करने से ही स्वर्गादि फल की प्राप्ति होगी[189] सब कारणों से सब कार्य नहीं होते। निश्चित कारणों से ही निश्चित कार्य होते हैं। यह नियम की अनिवार्यता जिसके द्वारा की गयी है वह नियति ही है।

इस नियति तत्व का एक प्रभाव और है—वह है—शुभाशुभ कर्मों से निर्मित पुण्यापुण्य का फल भोगने की अनिवार्यता।[190] नियति की बलवत्ता के कारण प्रत्येक प्राणी अपने पूर्वकृत कर्मों का फल भोगने के लिए बाध्य बना रहता है। कला और विद्यातत्व से प्राणियों के कर्तृत्व में और ज्ञातृत्व में जो संकोच आया था वह नियति के प्रभाव से कुछ और बढ़ जाता है। अर्थात कर्तृत्व और ज्ञातृत्व शक्ति कुछ और सीमित हो जाती है। इसके आगे जो अन्त: करण और शरीरादि की सृष्टि होने वाली है उनमें तो नियति के नियमों के द्वारा प्राणियों की क्रियाशक्ति और ज्ञान-शक्ति कदम कदम पर बाधित होती रहती है। जैसे कि वह नेत्रों से ही देखेगा, नेत्रों के अभाव में नहीं देख सकता, श्रोत्र से ही सुनेगा, श्रोत्र से ही सूँघ सकेगा। अर्थात् अन्य इन्द्रियों का कार्य अन्य इन्द्रिय से नहीं हो सकता। यही नियति की अनिवार्यता है। इसी प्रकार जो कर्म उसके द्वारा जाने या अनजाने हो गया है उसका फल भोगने के लिए वह बाध्य हो जाता है। यह भी नियति का ही व्यापार है। इस व्यापार के अधीन तो ब्राह्मादि देव भी हैं। वे भी नियति के घोर बन्धन में बधे हुए हैं। साधारण प्राणियों का तो कहना ही क्या है।

इस प्रकार नियति के दो व्यापार हैं—कर्तृत्व और कार्यकारण भाव।[191] "तुम यही कार्य कर सकते हो अन्य नहीं" यह कर्तृत्व-व्यापार है। "इस कार्य के लिए यही कारण उपादेय है अथवा यह कारण केवल इसी कार्य के लिए है' ऐसा नियम कार्यकारणभाव व्यापार है। इन दोनों व्यापारों में व्यापृत होने के लिए पशु प्रमाता बाध्य है। नियति ही उसे अपने कार्य में योजित करती हैं।[192]

निष्कर्ष

उपर्युक्त कला, विद्या, राग, काल और नियति ये मायीय प्रमाता के पाँच कंचुक हैं। माया भी प्रमाता का कंचुक ही माना जाता है। क्योंकि संकोच का प्रधान कारण तो माया ही है। माया के अदेश से ही उक्त पाँच कंचुक पुरुष को बांधने के लिए उद्यत होते हैं। इस प्रकार माया-सहित ये षट् कंचुक कहलाते हैं।[193]

उक्त षट् कंचुक पशु-प्रमाता का अन्तरंग आवरण हैं[194], क्योंकि यह

पूर्ण संवित् को इस प्रकार आवृत कर लेता है कि संवित् से व्यतिरिक्त यह जान नहीं पड़ता। जैसे तण्डुल का छिलका तण्डुल से इस प्रकार चिपका रहता है कि तन्डुल के पृथक् होते हुए भी अपथक् सा जान पड़ता है।[195] इसलिए षट् कंचुक को प्रमाता का अन्तरंग आवरण कहा है। इसके विपरीत देह, प्राण पुर्यष्टक तथा इन्द्रियाँ उसका बहिरंग आवरण कही जाती हैं।[196] इन्हीं माया कला आदि कंचुकों से आवृत होकर वह स्वतन्त्र शक्ति-स्वरूप चैतन पति-प्रमाता शक्ति-दरिद्रता का अनुभव करता हुआ संसारी पशु बना हुआ है।[197] जिसे दार्शनिक ग्रन्थों में पुरुष तत्व कहा जाता हैं।

इस प्रकार पुरुष की अपनी ही शक्तियों की दरिद्रता संसार के अप्रबुद्ध बुद्धि वाले व्यक्तियों को वास्तविक स्वरूप का बोध नहीं होने देती और उन्हें निरन्तर घोर संसार मार्ग में ही गिराये जाती है।[196]

कंचुक तत्वों की उत्पति और उनके स्वरूप को समझने के लिए निम्न तालिका सहायता सिद्ध होगी :

स्वातन्त्रय शक्ति के पाँच मुख	शक्तियों का स्वरूप	मायीय कंचुक-तत्व	कंचुक तत्वों का स्वरूप
1 चित्	सर्वकर्तृता	कला	अल्प-कर्तृता
2 निर्वृति	सर्वज्ञता	विद्या	अल्पज्ञता
3 इच्छा	पूर्णता	राग	अपूर्णता
4 ज्ञान	नित्यता	काल	अनित्यता
5 क्रिया	व्यापकता	नियति	अव्यपकता

समीक्षा

अपने देनन्दिन अनुभव में तथा सांसारिक व्यवहारों में हम यह बात प्रत्येक क्षण देखते हैं कि प्रत्येक प्राणी किसी न किसी अवस्था में विवश अवश्य ही है। न वह सब कुछ कर सकता है, न सब कुछ जान सकता है। उसकी इच्छा भी नियन्त्रित है और गति भी। प्राणी आदान-प्रदान भी स्वतन्त्रता पूर्वक नहीं कर सकता। कुछ करने और जानने से पहले मनुष्य में थोड़ी सी स्वतन्त्रता अवश्य दिखायी देती है, किन्तु कर्म करने के पश्चात् तो वह बिलकुल ही विवश हो जाता है, उस कृत कर्म को वह अकृत या अन्यथाकृत नहीं कर सकता। फल भोगने के लिए वह पूरी तरह से कर्मों के वश में हो जाता है। इसी प्रकार वह बीते हुए काल को किसी भी प्रकार लौटा नहीं सकता। कोटि कोटि प्रयास करके भी मनुष्य अपने बालत्व या युवावस्था को उसी देह में वापिस नहीं ला सकता। अनागत भी

उसके वश के बाहर है। न वह वृद्धात्व का निवारण कर सकता है और न मृत्यु का। अभिप्राय यह कि भीषण नियन्त्रणाओं का जाल प्राणी के प्रत्येक व्यवहार पर छाया हुआ है।

प्रश्न यह है कि यह नियन्त्रण यह विवशता और ये समस्त प्रतिबन्ध किसने लगाये हैं ? कौन सी वह शक्ति है जिसके शासन में रहकर प्राणी अपनी सीमाओं का अतिक्रमण नही करते ? इसी प्रश्न का समुचित और युक्तियुक्त समाधान करने के लिए शैव दर्शन के मनीषियों ने कंचुक तत्वों की परिकल्पना की थी। कला आदि कंचुक तत्व ही प्राणियों को उसी प्रकार नियन्त्रण में रखते हैं जिस प्रकार तट नदी को अपनी मर्यादा में रखते हैं। कभी कभी नदी का तूफानी वेग तटों की मर्यादा को तोड़ता हुआ अनियन्त्रित भी हो जाता है। यही स्थिति कंचुक तत्वों की भी है। जब कभी प्रणियों पर परमेश्वर का तीव्रतम शक्तिपात होता है तो कचुकों को परमेश्वर तक पहुँचाकर ही विश्राम लेता है।

यूँ तो कंचुक पाँच हैं किन्तु सबसे सबल है नियति। नियति पूर्व के चारों कचुकों का भी कंचुक है। यह उनकी शक्ति को और अधिक सीमित कर देती है। नियति-शब्द बना ही यम् बन्धने धातु से है। नियमयतीति नियतिः—यह सभी का नियमन करती है इसलिए नियति कहलाती है। नियति की कंचुक रूप में कल्पना सर्वप्रथम शैवों ने ही की थी। इसके अनन्तर तो यह साहित्य, दर्शन और अन्य लोकविद्याओं में इस प्रकार रम गयी कि उसके विविध नाम और रूप हो गये। कहीं इसे भाग्य कहते हैं, कही दैव, कहीं भवितव्यता और कहीं विधि कहते हैं, ललाटलेख भी इसी का नाम है। अवश्यम्भाविता भी इसी को कहा जाता है। इसी को ईश्वरेच्छा भी कहते हैं। शार्ङ्गधर पद्वति (449) में कहा गया है :

भगवन्तौ जगन्नेत्रे सूर्यचन्द्रमसावपि।
पश्य गच्छत एवास्तं नियतिः केन लङ्घ्यते ॥

अर्थार्थ सूर्य और चन्द्रमा जगत् के नेत्र हैं और परम ऐश्वर्यशाली हैं किन्तु उनको भी अस्त होना पड़ता है। यह नियति है ही बड़ी बलवती। भला इसका उल्लंघन कौन कर सकता है ? बड़ी व्यापक है यह। जब यह बाँधने पर आती है तो माता पिता भार्या या भ्राता कोई भी सहायता करने के लिए नहीं आता।[199] हरिहर और ब्रह्मा भी नियति की रेखा का परिमार्जन नहीं कर सकते।[200] यह नियति ही है जो बुद्धि को बाँधती है। बुद्धि और विद्या नियति को नहीं बाँधते। बुद्धिमान् जो श्रीराम भी बहुत थे किन्तु नियति के जाल में पड़कर सुवर्ण-मृग के पीछे दौड पड़े।[201] यदि इस नियति की

अवश्यम्भाविता का प्रतिकार हो सकता होता तो नल राम और युद्धिष्ठिर जैसे बल बुद्धि और विद्या से सम्पन्न महापुरूषों को अरण्यवास के भीषण कष्ट न झेलने पड़ते।[202] शाङ्र्गधर पद्धति में कहा गया है :

अरक्षितं तिष्ठति दैवरक्षितं सुरक्षितं दैवहतं विनश्यति।
जीवत्यनाथोऽपि वने विसर्जितः कृत प्रयत्नोऽपि गृहे वनश्यति ॥446

अर्थात् यदि दैव रक्षा करे तो अरक्षित पुरुष भी रक्षित रहता है और दैव जिसे मारे वह सुरक्षित स्थान में भी नहीं बच सकता। अनाथ पशु पक्षी वन में भी नीरोग जीते हैं और गृह बनाकर रहने वाले मनुष्य सुरक्षा के बीच में भी नष्ट हो जाते हैं।

नियति के चरित्र कहते नहीं बनते। वही मिलाती है और वही विछोह करती है। पत्नी सुन्दर मिलती है तो पति कुरूप हो जाता है। पति सुन्दर है तो उसे पत्नी कुरूपा मिलती है। नियति की अनुकम्पा से यदि कभी दोनों ही सुन्दर होते हैं तो वहाँ पुत्र नही होता और यदि सौभाग्य से पुत्र भी मिल जाए तो दरिद्रता पिण्ड नहीं छोड़ती।[203]

महाकवि श्री हर्ष इस नियति को विधाता की इच्छा कहते हैं। उनका विचार है कि विधाता इच्छा जिस दिशा से दौड़ती है प्राणियों का चित असहाय सा उसी के पीछे उसी प्रकार दौड़ पड़ता है जैसे तिनका वात्याचक्र की दिशा में दौड़ पड़ता है।[204]

नियति के विषय में वह तथ्य सदैव ध्यान में रखना चाहिए कि नियनि की नियमन-पद्वति बड़ी व्यवस्थित और व्यभिचाररहित है। प्राणी ने शुभ या अशुभ कर्म जहाँ, जिसकी प्रेरणा से, जिस साधन से, जितने काल तक और जिस प्रकार किया है उसका फल भी नियति उसे वहीं उसी साधन से, उतने ही काल तक और उसी प्रकार देती है।[205] इसमें कहीं कोई व्यभिचार नहीं आता। राजा दशरथ ने श्रवण का वध करके उसके पिता को पुत्र शोक में मरने के लिए छोड़ दिया था। कालान्तर में नियति की अपरिहार्यता के कारण उसकी मृत्यु भी पुत्र-वियोग से ही हुई। क्या यह नियती की अपरिहार्यता नहीं है कि महाभारत का विजेता धनुर्धर पार्थ एक दिन साधारण भीलों के बाणों के सामने नहीं ठहर सका।[206]

यह नियति ही साधुओं को खल बना डालती है। यही विद्वानों को मूर्ख, हितचिन्तकों को द्वेषी, प्रत्यक्ष को परोक्ष और अमृत को भी हलाहल कर देती है। इसलिए शैव दार्शनिक सदगुणों में आस्था को छोडकर उसी भगवती नियति की आराधना करने का उपदेश देते हैं।[207]

उपर्युक्त विवेचन का उतना ही अभिप्राय है कि नियति ही सबका

नियमन करती है। कर्मों का नियमन, ज्ञान का नियमन तथा कर्मफलों का नियमन भी करती है तथा निश्चित कार्यों के लिए निश्चित कारणों का नियमन करना भी इसी का कार्य है। परमेश्वर की व्यापकता को नियन्त्रित करके उसे अव्यापक भी यही बनाती है। सुर, नर, ऋषि, मुनि सभी इस नियति के शासन में रहकर ही जिन कर्तव्यों का पालन करते हैं। त्रिक दर्शन में नियति का जो स्वरूप बताया गया है वह श्रुति, तर्क, अनुभव और लोकवृत की दृष्टि से समीक्षा किए जाने पर सटीक ही सिद्ध होता है।

मायीय सृष्टि प्राणी

माया से उत्पन्न जडात्मक सृष्टि में दो प्रकार के प्राणी रहते हैं—प्रलयाकल और सकल। प्रलयाकल प्राणी सकल प्राणियों से उत्कृष्ट होते हैं। यह उत्कृष्टता मल की न्यूनता और अधिकता की दृष्टि से समझनी चाहिए।

प्रलयाकल प्राणी

अकल का अर्थ है कला-तत्व के विकारों से रहित। विधा, राग, काल और नियति ये चार कंचुक कला तत्व से ही प्राद्रभत हुए हैं। कला नाम का कंचुक ही विधादि कंचुकों का कारण माना गया है।[208] इस प्रकार पाँचों कंचुकों के प्रभाव शून्य प्राणियों को अकल कहा जाता है। तो जो प्राणीं प्रलयकाल की अवल्था में ही अकल होते हैं उन्हें प्रलयाकल नाम दिया गया है।

प्रलयाकल प्राणियों में मायीय मल, आणव मल और कार्ममल का थोड़ा थोड़ा सा अंश रहना है। स्वातन्त्र्य का अबोधरूप आणवमल इनमें स्पष्ट रूप से होता है। मायीय मल अस्फुट होता है और कार्ममल सुपुप्त अवस्था में रहता है क्योंकि प्रलयकाल में कर्मों का फल अवरुद्ध हो जाता है।

प्रलयाकल प्राणी स्वयम् को शुन्य जैसा समझते हैं। ये शुद्ध प्रकाश को अपना स्वरूप न समझकर जडात्मक शुन्य को अपना स्वरूप समझते हैं। अपने स्वातन्त्र्य की अनुभूति इन्हें नही होती। इसलिए स्वातन्त्र्य का अबोधरूप आणवमल इनमें स्वीकार किया गया है। इनकी यह शून्यता सुषुप्ति जैसी अवस्था होती है। उसी सुषुप्ति का नाम प्रलय है। सुषुप्ति को अद्वैतवादियों ने भी नित्य प्रलय कहा है।[209] सुषुप्ति दो प्रकार की होती है—संवेध और अपवेध। संवेध सुषुप्ति में सुख-दु.ख की अस्फुटतासी होती है, जिससे जागने पर प्राणी को यह अनुभुति होती है कि "मैं सुख से सोया" या मेरे अंग बड़े भारी से थे"। अपवेद्य सुषुप्ति' में पुरुष शून्य में ही विलीन होकर पड़ा रहता है। उससे जागकर पुरुष को ऐसी अनुभूति

होती है कि मैं इतनी प्रगाढ़ निद्रा में सोया कि कुछ ज्ञात न रहा, न कोई स्वप्न ही देखा।[210] इन दोनों प्रकार की सुषुप्तियों में लीन प्राणी प्रलयाकल कहलाते हैं।[211] इन प्राणियों को मुख्य प्रलयाकल प्राणी समझना चाहिए।

एक दूसरे प्रकार के प्राणी सामान्य प्रलयाकल भी होते हैं। भगवान् श्रीकण्ठनाथ अपने सृष्टिकाल का एक दिन पूर्ण होने पर अवान्तर प्रलय के प्रारम्भ में कार्य तत्वों को और कारणतत्वों को मूल प्रकृति में लीन कर देते हैं। यह उनका रात्रिकाल होता हैं। उस प्रलय-काल में सभी प्रकार के प्राणी, चाहे वे बद्ध हों या विशिष्ट हों, सुषुप्ति में ही लीन होकर पड़े रहते हैं। प्रलयकाल के ही करण वे सभी प्राणी उस समय कलातत्व के अनेकों विकारों से छूटे रहते हैं। ये प्राणी सामान्य प्रलयाकल होते हैं। इनकी यह प्रलयाकल दशा तभी से प्रारम्भ हुई जब से श्रीकण्ठनाथ की रात्रिरूप प्रलय का प्रारम्भ हुआ था और यह दशा तब तक रहती है जब तक प्रलयकाल रहता है। उस प्रलयकाल में प्राणी शून्य गगन के समान शांन्त और जड़तुल्य अवस्था में ही पड़े रहते हैं।

मुख्य प्रलयाकल प्राणियों की आयु सामान्य प्रलयाकल प्राणियों से द्विगुणित होती है क्योंकि इनकी आयु तो उसी दिन से प्रारम्भ हो गयी थी जब भगवान श्रीकण्ठनाथ का दिन प्रारम्भ हुआ था। किन्तु सामान्य प्रलयकलों की आयु रात्रि के प्रारम्भकाल से प्रारम्भ होती है। किन्तु दोनों ही प्रलयाकलों की आयु समाप्त एक साथ होती है। ये सदा इस दशा में नहीं पड़े रहते अपितु जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ का नया दिन प्रारम्भ होता है तो भगवान् अन्य बद्ध प्राणियों के समान इन प्रलयाकल प्राणियों को भी सुषुप्ति से जगाकर पुन: संसार के लन्म-मरण के चक्र में डाल देते हैं। फिर उन्ही पूर्वकृत कर्मों के अनुसार कंचुक तत्त्वों के जाल में फंसकर सुख-दु:ख का भाग प्रारम्भं कर देते हैं। इस प्रकार प्रलयकाल तक ही अकल बने रहने के कारण इन्हें प्रलयाकल कहा जाता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नैयायिकों का अपवर्ग, सांख्य और योग दर्शन की कैवल्यावस्था तथा बौद्धों की जो निर्वाण दशा है वह प्रलयाकल प्राणियों की अवस्था से बहुत भिन्न नहीं है। नैयायिक।[212] सभी प्रकार के गुणों, षड्विध ऊर्मि[213] और चैतन्य से रहित आत्मा की अवस्था को मोक्ष कहते हैं। प्रलयाकल प्राणी भी शुन्यावस्था में लीन रहते हुए सुख दु:ख से रहित रहते हैं। सांख्य भी प्रकृति और पुरुष में से किसी एक की उदासीनता को कैवल्य कहते हैं।[214] बौद्धों का निर्वाण तो स्पष्ट ही एक शून्यावस्था है जिसको निषेध मुख से कहा गया है। जैसे कि न तो उस

अवस्था में कुछ छोड़ना है न प्राप्त करना है। न वह नश्वर है न शाश्वत है। न वह निरुद्ध है और न उत्पन्न। यह निर्वाण प्रलयाकलदशा से बहुत भिन्न नहीं है।[215] इसलिए न्याय सांख्य आदि दर्शनों की मुक्ति को वास्तविक मुक्ति नहीं कहा जा सकता।[215] जैसे प्रलयाकल प्राणियों में त्रिविधमलों का अस्फुट या स्फुट सद्भाव रहता है[217] वैसे ही उक्त अपवर्ग कैवय तथा निर्वाण में भी संसार में प्रत्यावर्तन का हेतु विद्यमान रहता है। सत्य यह है कि इन भूमिकाओं में साधकों को कुछ समय के लिए देह इन्द्रिय अन्त: करण आदि से छुटकारा मिल जाता है जिससे सुख दु:ख का अभाव हो जाता है। इसी अवस्था को उक्त दार्शनिक मुक्ति मान बैठते हैं। वस्तुत: वह प्रलयाकल प्राणियों की अवस्था है।

सकल प्राणी

सातवीं श्रेणी के प्राणी सकल प्राणी कहलाते हैं। ये सबसे निकृष्ट प्राणी होते हैं। इन्हें अपने शुद्ध प्रकाशरूप अहं का बिलकुल भी अभिमान नहीं होता। ये अपने देह इन्द्रिय आदि पर ही आत्माभिमान रखते हैं। संसार को पूर्ण भेद दृष्टि से देखना इसका स्वभाव होता है। संकुचित कर्तृत्वाभिमान तथा कर्म वासना सदैव इनको चारों ओर से बाँधे रखती है। आणव मायीय और कार्म तीनों मलों का इनमें पूर्ण विकास हो चुका होता है।[218] वृक्ष, वनस्पति, कृमि, कीट, पतंग, मत्स्यादि जलचर, पशु पक्षी, सरीसृप, मनुष्य, देव, स्थूल एवं सूक्ष्म शरीरों को धारण करने वाले सभी प्राणी सकल प्राणी कहलाते हैं। इन्हीं को संसारी जीव कहा जाता है। कर्म करना और कर्मानुसार सुख दु:ख भोगते हुए जन्म लेना तथा मरना यही इसका संसार चक्र है। ये जन्म लेते रहते है और मरते रहते हैं। आत्मोन्नति के अवसर इन्हें कम ही मिलते हैं, किन्तु उन्नति का मार्ग अन्ततः निकलता भी यहीं से है।

इस प्रकार ये सात प्रकार के प्राणी षट्त्रिशंदात्मक जगत् में रहते हैं 1. अकल शाम्भव और, शाक्त मन्त्र महेश्वर, 3. मन्त्रेश्वर, 4. मन्त्रप्राणी, 5. विज्ञानाकल, 6-प्रलयाकल, और 7-सकल। इनमें उत्तर उत्तर के प्राणी पूर्व के प्राणियों से निकृष्ट होते है। सबसे उत्तम कोटि के अकल प्राणी और सबसे निम्न कोटी के प्राणी सकल होते हैं। क्योंकि कला के समस्त विकारों का भरपूर विकास इनमें हो जाता है।

निष्कर्ष

इस अध्याय में माया और उसके पाँच आवरणरूप कंचुक तत्वों का विस्तार से विवेचन किया गया। ये माया सहित षट् कंचुक अणु को अपने

अन्दर लपेट कर पशुभूमिका में उतार देते हैं। परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के संकोच की यह मध्यम भूमिका है। पूर्ण संकोच तो पृथ्वी तत्व पर पहुँच कर ही होता है। इसलिए माया से लेकर पुरुष तत्व तक की सृष्टि को शुद्धाशुद्ध सृष्टि भी कह दिया जाता है।

कंचुक पाश से मुक्ति के लिए प्रयत्न-विशेष

पूर्वोक्त कंचुक तत्वों के पाशों से पशु की मुक्ति दुर्धट तो अवश्य है किन्तु असम्भव नहीं। मुक्ति का दिव्य और सरल उपाय तो शक्तिपात ही है किन्तु वह मनुष्य के वश में नहीं है। उस पर तो परमेश्वर का ही आधिकार है। शक्तिपात एक अहेतुक पक्षपात है। अत: उसके लिए किसी उपाय-विशेष की अपेक्षा नहीं है। किन्तु यह सोचकर ही प्रयत्न की ओर से उदासीन नहीं हो जाना चाहिए। माया के कठिन पाशों से मुक्ति का उपाय करना पशु के हाथ में है। दृढतर प्रयत्न से उक्त पाश को छिन्न किया जा सकता है। वस्तुत: प्रयत्न में अभिरुचि भी उसकी ही इच्छा से होती है, क्योंकि माया का आवरण भी उसने स्वेच्छा से परिगृहीत किया है।[219] अत: इसे उतार फेंकने के लिए भी वही प्रवृत्त होता है। भगवान् शिव ने स्वयम् कहा है कि प्रयत्न से द्रर्घट कार्य भी सिद्ध किया जाता है।

यह प्रयत्न क्या है और वह कैसे किया जा सकता हैं? इस विषय पर संक्षेप में कुछ चर्चा यहाँ पर किया जाना अप्रासंगिक नही होंगा। कंचुक तत्त्वों के पाश को अच्छेद्य कह कर छोड देने से साधकों के कन में अनुत्साह जन्म ले सकता है। अत: उसके निकृन्तन के लिए प्रयत्न का उल्लेख किया जाना आवश्यक है।[220] परमेश्वर की एक शक्ति क्षेत्रज्ञ को भावपाशों से बाँधती है तो दूसरी शक्ति ज्ञानकृपाण से उन पाशों को काटकर मुक्ति का मार्ग भी प्रशस्त करती है। त्रिक शास्त्र के सिद्ध पुरुषों का यही मत हैं।[221]

इस पंच भौतिक देह में रहते हुए भवपाश को काट कर परतत्त्व का अनुसंधान करने का हमारे पास चित्त ही एक उपाय है। परतत्त्व का विमर्श करने के करण ही इसकी चित्त संज्ञा हुई है। चित्त को मन्त्र भी कहा जाता है क्योंकि इसका स्वभाव मनन करना है।[222] चित्तं मन्त्र:[223] ऐसा स्वयम् भगवान ने कहा है। चित्त त्रिगुणात्मक है। उसमें प्रतिक्षण संकल्प विकल्पों का उत्थान-पतन होता है। ये संकल्प-विकल्प चित्त के धर्म हैं जिनसे मुक्ति का मार्ग अवरुद्ध होता है। उसी संकल्प विकल्पात्मक चित्त को शनैः शनै: आन्तरिक अनुसन्धान के द्वारा विकल्पहीन परसंवित विलीन करने के दृढतर प्रयास को त्रिक दर्शन में प्रयत्न कहा जाता है।

"प्रयत्न: साधक:" इस सूत्र में भगवान् आतोष ने ऐसे ही प्रयत्न को सिद्ध करने का निर्देश दिया है। यही प्रयत्न एक समय साधक को शाक्तभूमिका में पहुँचा देता है। "अहरूप आत्मानुभूति" उस शाक्तस्वरूप की पहचान है। चित्त की वह अवस्था मन्त्रवीर्य कहलाती है।

इस प्रयत्न को किस प्रकार करना चाहिए" इस जिज्ञासा के उत्तर में शास्त्रों में अनेक प्रक्रियाएँ बतायी गयी हैं जिससे प्रयत्न को सफलता मिलती है। किन्तु आचार्य अभिनव गुप्त ने "विकल्प-संस्कार" की प्रक्रिया को सर्वश्रेष्ठ बताया है।[224] विकल्प-संस्कार का अर्थ है—चित्त के दुष्ट विकल्पों का नाश करके परिष्कृत संस्कारों का उत्पन्न करना। विकल्पों का परिष्कार शास्त्र-चिन्तन से तथा समाधि के बल से होता है। विकल्पों का सर्वथा नाश तो सहसा हो नहीं सकता, अत: विकल्प-संस्कार का अर्थ विकल्पों का सर्वथा नाश नहीं है अपितु उसमें गुणान्तराधान करना ही विकल्प-संस्कार है। परिष्कृत संस्कारों से ही परसंवित के निर्विकल्पक स्वरूप में प्रवेश हो सकता है।[225]

त्रिगुणात्मक मानसिक विकल्प प्रति समय आत्मा के स्वरूप पर आवरण डालते रहते हैं। दुष्ट विकल्प स्वार्थपूर्ति में ही लगे रहते हैं। उत्थान की दिशा में इसकी प्रवृत्ति ही नहीं होती। दुष्ट विकल्पों के संस्कार गतगुणित दुष्ट विकल्पों को ही उत्पन्न करते रहते हैं। परिणाम यह होता है कि सांसारिक भोगवासनाओं का ऐसा भीषण जाल मन में फैल जाता है कि चित्त अस्थिर होकर उसी में उलझा रहता है। अत: प्रबुद्ध पुरुषों का कर्तव्य है कि वे चित्त विकल्पों का संस्कार करने का प्रयत्न प्रतिक्षण करते रहें। इसके लिए प्रथम यह आवश्यक है कि साधक इन्द्रियमार्गों से बाह्य दुष्ट विषयों की ओर दौडने वाले विकल्पों को सत्-विमर्श के बल से निरुद्ध करे और पुन: उन्हें चित्प्रकायमय संवित् में एकाग्रता से संयोजित करे। ऐसा निरन्तर करते रहने से मन परिष्कृत विकल्पों का ही उदय होगा। वे परिष्कृत विकल्प पुन: परिष्कृत विकल्पों को ही जन्म देंगे। इस प्रकार संस्कृत विकल्पों का ही परम्परा चल निकलेगी और दुष्ट विकल्प क्षीण होते चले जांएगे।[226]

विकल्पों के संस्कार का यह प्रकार सबसे सरल है। निर्विकल्प भूमि पर पहुँचना बड़ा कठिन होता है। उसके लिए कठोर प्रयत्न अपेक्षित हैं, किन्तु विकल्पों को विकल्पों से ही नष्ट करना अपेक्षाकृत अल्प-प्रयत्नसाध्य है। विकल्प-संस्कार की यह रीति है कि चित्त में परमेश्वर के स्वरूप का ही विमर्श किया जाए। निरन्तर अभ्यास करते रहने से एक समय ऐसा

आता है कि संस्कार पूर्ण परिणति की अवस्था तक पहुँच जाता है। विकल्प-संस्कार की चरमावस्था को त्रिक दर्शन में स्फुटतम अवस्था कहा गया है। इस अवस्था पर पहुँचकर चित्त में दुष्ट विकल्पों का उठना बिल्कुल बन्द हो जाता है।

संस्कार की स्फुटतम अवस्था पर पहुँचने से पहले विकल्प को चार सोपानों से गुजरना पडता है। अर्थात् संस्कार क्रमशः होता है। ये चार सोपान हैं—अस्फुट, स्फुटताभावी, प्रस्फुटत् और स्फुटितात्मक।[227] प्रारम्भ में तो विकल्पों का संस्कार दुर्बल ही होता है। उसे अस्फुट अवस्था कहा गया है। दूसरी स्फुटताभावी वह अवस्था है जिसमें चित्त विकल्पों को संस्कृत करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है। इसमें यह पता लग जाता है कि विकल्पों का संस्कार हो सकता है। तृतीय अवस्था में संस्कार उत्कृष्टता को प्राप्त कर लेता है। चतुर्थ अवस्था में स्पष्ट रूप से संस्कार सिद्ध हो जाता है।[228] अन्त में स्फुटतम अवस्था आती है जिसमें विकल्प संस्कार की साधना पूर्णता को प्राप्त कर लेती है, कुछ भी करणीय शेष नहीं रहता।[229]

अन्तिम अवस्था विकल्प-संस्कार की पूर्ण विकसित अवस्था है। यहाँ पहूँचकर असत् विकल्पों का सर्वथा क्षय हो जाता है। असत् विकल्पों का क्षय हो जाने पर संवित् निर्मलरूप में चमकने लगती है, विकल्प भी मानो निर्विकल्पस्वरूप हो जाता है।[230] इसके आगे जो संस्कृत विकल्पों से दूसरे संस्कृत विकल्प उदभूत होते रहते हैं वे शुद्ध विद्या के ही अंश होते हैं।[231] इन्हीं को सत्तर्क भी कहा जाता है। यह सत्तर्क ही योग का उत्तम अंग माना गया है।[232] इन्हीं शुद्ध विद्यांश रूप विकल्पों से जो अविकल्प और स्वाभाविक परतत्व प्रकाशित होता है, उसी के अनुसंधान का नाम सत्तर्क या विकल्प-योग त्रिकशास्त्र में दिया गया है। इस योग के द्वारा चित्त का मल पूरी तरह धुल जाता है। उस योग में जिन विकल्पों का विकास होता है वे संसारभूत विकल्पों का सर्वथा दलन कर डालते हैं।[233]

इस विकल्पयोग का सत्तर्करूप प्रक्रिया के पूर्ण हो जाने पर भी प्रयत्न की पूर्णता नहीं कही जा सकती। इतने से ही साधक को सन्तुष्ट नहीं हो जाना चाहिए। प्रयत्न अभी निरन्तर करते ही जाना है और तब तक करना है जब तक इन परिष्कृत विकल्पों की भी निवृत्ति न हो जाए। यद्यपि संस्कृत विकल्पों ने असत् विकल्पों का नाश कर दिया है, किन्तु विकल्प तो विकल्प ही है। चाहे सत् विकल्प हों या असत्। मन में जब किसी भी प्रकार का विकल्प विद्यमान है तब तक कंचुक तत्वों के पाश से पिण्ड छुडाना तथा

चिन्मात्र स्वरूप शिवभाव की अनुभूति प्राप्त करना अशक्य ही है। इसलिए सिद्ध गुरुओं ने साधकों को बार बार सावधान किया है कि परिष्कृत विकल्पों का उदय हो जाने पर भी अत्यन्त प्रसन्न नहीं हो जाना चाहिए। कृतकृत्यता अभी नहीं हुई है।

विकल्प-संस्कार की उसी प्रक्रिया को तब तक निरन्तर करते रहना चाहिए जब तक विशेष स्पन्दरूप चित्त सामान्य स्पन्दरूप अभेद भूमिका में प्रतिष्ठित होकर पूर्णरूप से विश्रान्त विकल्पहीन संवित स्वरूप न हो जाए। इसी प्रयत्न को त्रिक दर्शन में शक्त उपाय कहा गया है।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि विकल्प-संस्कार का यह प्रयत्न बिना गुरु के पूर्ण नहीं होता। पहला साधन है सत्तर्क, दूसरा सत्पुरुषों की संगति और अन्तिम उपाय है सद्गुरु का उपदेश।[234] गुरु की कृपा के बिना विकल्प-संस्कार की दिशा में आगे बढ़ने की क्षमता प्राप्त होना असम्भव है स्वयम् भगवान् चन्द्रमौलि ने गुरु को ही एक मात्र उपाय इस दिशा में बताया है।[235]

शाक्तोपाय का विस्तार से विवेचन आगे आठवें अध्याय में किया जाएगा।

संदर्भ सूची

1. मलमज्ञान मिच्छन्ति संसारांकुर कारणम्।
इति प्रोक्तं तथा च श्रीमालिनी विजयोत्तरे॥ तं० 1/23
2. ज्ञानं बन्धः —शिवसूत्र 1/2
3. अज्ञानं तिमिरं पारमेश्वरस्वातन्त्र्य समुल्लासित स्वरूपगोपना-
सतत्वयात्मनात्मनोरन्यथाभिमान स्वभावम् अपूर्णं ज्ञानम्॥
तं० वि० 1/23
4. तदारूढः शिवः कृत्य पञ्चकं कुरुते प्रभुः —तं० 8/401
5. निजाशुद्धया समर्थस्य कर्तव्येष्वभिलाषिणः।
यदा क्षोभः प्रलीयेत तदा स्यातु परमं पदम्॥ स्पन्दकारिका 1/9
6. विर्षयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्।
रुद्राणून् याः समालिंय धोरतर्योऽपराः समृताः॥ मा० वि० 3/31
7. (क) अशुद्धं पुनरध्वानम्, अनन्तापरनामा घोरेशः सृजति, ईश्वरेच्छा

वशेन प्रक्षुब्ध भोगलोलिकानामणूनां भोगसिद्धयर्थम् ॥

तं० सा० पृ० 75

(ख) ईश्वरेच्छावशक्षुब्ध भोग लौलिक चिद्गणान्
संविभक्तु मधोरेश: सृजतीह सितेतरम् ॥ तं 9/61

8. काश्मीर शैव दर्शन —बी० एन० पंडित, पृ०० 97

9. (क) ईश्वरेच्छा वशादस्य भोगेच्छा सम्प्रनायते ।
भोग साधन संसिद्ध्यै भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् ।
लगदुत्पादयामास मायामाविश्य शक्तिभि: ॥ तं० वि० 1/61

(ख) शुद्धेऽध्वनि शिव: कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभु: । तदैव

10 अत्र च तत्वेश्वरा: —शिव शक्ति सदाशिवेश्वरानन्ता:

तं० सा० पृ० 74

11. संविभक्तुमघोरेश: सृजति—तं० 1/61

12. भोगेच्छोरस्य मन्त्रराट् —तं वि० 1/61

13. क्रिया शक्तिप्राधान्ये विद्यातत्वमिति—तं० सा० पृ० 74

14. पारमेश्वरशास्त्रे हि न काणादट्टष्टिवत् ।
शक्तीनां धर्मरूपाणामश्रय: कोऽपि कथ्यते ॥ तं० वि० 1/74

15. येन प्रकारेण विद्येश्वरा भगवन्तोऽनन्ताद्या वर्तन्ते ।
ते हि शुद्धचैतन्यमात्र गृहीतात्मभावा: स्वतस्तु भिन्नं वेद्यं पश्यन्ति ।

ई० प्र० वि० 3/1/6

16. मिश्रकर्मफलासक्तिं पूर्ववज्जनयन्ति या: ।
मुक्तिमार्ग निरोधिन्यस्ता: स्युर्घोरा: परापरा: ॥ मा० वि० 3/32

17. पूर्वज्जन्तुजातस्य शिवधामफलप्रदा: ।
परा प्रकथितास्तज्ज्ञैरघोरा: शिव शक्तय: ॥ मा० वि० 3/2

18. इच्छाशक्ति रघोराणां शक्तीनां सा परा प्रभु: । तं० 3/72

19, विनानेन जड़ास्ते स्युर्जीवा इव विना हृदा—तं० वि० 3/223

20. आदिमान्त्यविहीनास्तु मन्त्रा: स्यु: शरदभ्रवत् —तं० 3/223

21. माया नाम च देवस्य शक्तिरव्यतिरेकिणी ।
भेदावभासस्वातन्त्र्यं तथाहि स तथा कृत: ॥ तं 9/149

22. आद्यो भेदावभासो यो विभागमनुपेयिवान् ।
गर्भी कृतानन्तभाविविभागा सापरा निशा ॥ तं 9/150

23. सा चैका व्यापिनीरूपा निष्कला जगतो निधि: ।
अनाद्यन्ता शिवेशानी व्ययहीना च कथ्यते ॥ मा० वि० 1/26

24. यथा च माया देवस्य शक्तिरभ्येति भेदिनम् ।

यत्वभावं तथाऽन्योऽपि कलादिस्तत्वविस्तर: ।। तं० 9/154

25. ईश्वरेच्छावशादस्य भोगच्छा सम्प्रजायते ।
भोगच्छोरूपकारार्थमाद्यो मन्त्रमहेश्वर: ।।
मायां विक्षोभ्य संसारं निमिमीते विचित्रकम् ।। तं० 9/148
(ख) तत्य च सृजत: परमेश्वरेच्छामयं तत एव च नित्यम्
तं० सार पृ० 77

26. माया हि चिन्मयाच्छिवाद भेदं विदधती अणो: सुषुप्तता मिवापादयति
तदैव पृ० 80

27. मलश्चावारको माया भवोपादानकारणम् —तं० सार पृ० 80

28. सा जड़ा भेदरूपत्वात् कार्यं चास्या जडेयत: तं० 9/151

29. व्यापिनी विश्वहेतुत्वात् सूक्ष्मा कार्यैककल्पनात् ।
शिवशक्त्यविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् ।। तं० 9/152

30. अयमेव हि जडस्य स्वभावो यत् "इदमत्र इदानी" भाति इति परिच्छिन्नतया प्रकाश्यते इति । यदुक्तं प्राक्—परिच्छिन्न प्रकाश्यत्वं जडस्य किल लक्षणम्" —तं० वि० 9/152

31. स्रक्ष्यमाण वस्तुगतस्य रूपस्य जडतया आभासयिष्यमाणत्वाज्जडं, सकल कार्यं व्यापनादिरूपत्वच्च व्यापकं मायामयं तत्वमुपादान कारणम् । तं० सा० पृ० 77

32. उपादानकारणं हि स्वरूपविकारमासाद्य कार्यानुगामित्वेन कर्तते, यथा घटादौ मृत् नैवमणुस्तस्य विदेकरूपत्वात् नित्यत्वात् ।
तं० सा० पृ० 80

33. अचेतनमनेकात्म सर्वं कार्यं यथा घट: ।
प्रधानं च तथा तस्मात् कार्यं नात्मा तु चेतन: ।। तं० 9/153

34. भिन्न वेद्यप्रथा चैव मायाख्यं तत्वम् —ई० प्र० 2/2/4

35. तं० वि० 9/152

36. धातु पाठ—रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित—2/55

37. अशिवा भेदप्रथाप्रदा—तं० वि० 9/152

38. तदैव

39 व्यापिरी पुरुषानन्त्यभोगाय कुरुते यत: ।।
सर्वकार्याणि सर्वत्र स्रोतोर्भिविश्वधामभि : '। तदैव

40. धातु पाठ 2/42

41. मा शब्दवाच्याद विनाशरूपान्निषेधात् याता—तं वि० 9/152

42. शिवशक्त्यविनाभावादिति—शिवस्तावन्निन्य: शक्तिश्च तद्विना-

भूतत्वाद तद्धर्मधर्णीत्युक्तम्—नित्येति । तदैव

43. मात्यस्यां विश्वगिति—तदैव

44. स्वात्माभिन्नमपि भावमण्डलं शिवो यया मिमीते भिदा व्यवस्थापयति । तदैव

45. को छूट्यों इहि जाल परि कत कुरंग अकुलात ।
ज्यो ज्यों सुरझि भज्यो चहै त्यों त्यों उरझत जात ।। बिहारी

46. उन्मूलिताऽपि शातश: खण्डिताऽपि सहस्रश: ।
गोनासेवा प्रथोदेति द्रगत्र शरणं शिव: ।। स्प० का० पृ० 54

47. तदनन्यत्वमारम्भण शब्दादिभ्य: —ब्र० सू० 2/1/4

48. कार्यमाकाशादिकं बहु प्रपञ्चं जगत् कारणं परब्रह्म तस्मात्कारणात् परमार्थतोऽनन्यत्वं व्यातिरेकेणाभाव: कार्यस्यावगम्यते ।
शां० भा० 2/1/4

49. धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्वत: ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यने ।। मा. का. 4।58

50. उपादानं स्मृता माया क्वचित् तत्कार्यमेव च । तं० 9/158

51. माया मात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वात् —ब्र० सू० 3/2/3

52. अन्त स्थानातु भावानां तस्नाज्जागरिते समम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ।। मा० का० 5/3

53. जाग्रदृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा । दृश्यत्वादिति हेतु: ।
स्वप्नदृश्यभावर्नादिति दृष्टान्त: ।। मा० का० शा० भा० 2/3

54. सापेक्षो हीश्वरो विषमां सृष्टिं निर्मिमीते । किमपेक्षत इति चेत्, धर्माधर्मावपेक्षत इति वदाम: । अत: सृज्यमान प्राणिधर्माधर्मपेक्षया विषमा सृष्टिरिति नायमीश्वरस्यापराध: ।
ब्र० सू० शा० भा० 2/1/34

55. ईश्वरेच्छावशादस्य भोगेच्छा सम्प्रजायते ।
....
मायां विक्षोभ्य संसारं निर्मिमीते विचित्रकम् । तं० 9/148-149

56. यत् किल सदाभास्ते. तत् संविदो विच्छिद्यते, संविच्च तत:, संविच्च संविदन्तरात् संवेद्यं च संवेद्यन्तरात् —ई० प्र० वि० 1/3/7

57. मायां तु प्रकृतिं विद्यान्यायिनं तु महेश्वरम् । श्वे० 4/10

58. रजस्तम: सत्वमितिप्रसिद्धा गुणास्तदीया: प्रथितै: स्वकार्यै: ।
विवेक चूडामणि श्लोक 112

59. (क) सन्नाप्यसन्नाप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्यु
भयात्मिका नो ।
सांगाप्यनंगाप्युभयात्मिका तो महादुभूताऽनिर्वचनीय रूपा ।।
विवेक चूडामणि श्लोक 111

(ख) सर्वज्ञस्येश्वरस्यात्मभूत इवाविद्याकल्पिते नामरूपे
तत्वान्यत्वभयामनिर्वचनीये संसारप्रपञ्चबीजभूते
सर्वज्ञस्थेश्वरम्य मायाशक्तिः प्रकृतिरिति च श्रुतिस्मृत्यो
रभिलप्येते । ब्र० सू० शा० भ० 2/1/14

(ग) प्रत्येकं सदसत्वाभ्यां विचारपदवीं न यत् ।
(ग) प्रत्येकं सदसत्वाभ्या विचारपदवीं न यत् ।
गाहते तदनिर्वाच्यमाहुर्वेदान्त वेदिनः ।।

60. सत् चेत् न बाध्येत, असच्चेन्न प्रतीयेत । भा० द० पृ० 356

61. भेदे त्वेकरसे भातेऽहन्तयानात्मनीक्षते ।
शून्ये बुद्धौ शरीरे वा मालाशक्ति विजृम्भते ।। ई० प्र० 3/1/7

62. शिवशक्तविनाभावान्नित्यैका मूलकारणम् —तं० 1/152

63. स तया परिमितमूर्तिः संकुचितसमस्त शक्ति रेष पुमान् ।
रविरिव सन्ध्यारक्तः संहृतशक्तिः स्वभासनेऽप्यपटुः ।।
ष० त्रि० तं० स० 6

64. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिक या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ।।
विवेक चूडामणि 110

65. अविद्याया अविद्यात्वमिदमेव हि लक्षणम् ।
यत् प्रमाणासहिष्णुत्वमन्यथा वस्तु सा भवेत् ।। भा० द० पृ० 640

66. अविद्यात्मिका हि बीजशक्तिरव्यक्तशब्दनिर्देश्या परमेश्वराश्रया
मायामयी महासुप्तिः यस्यां स्वरूप प्रतिबोधरहिताः शेरते
संसारिणो जीवाः । ब्र० सु० शा० भा० 1/4/3

67. मायाख्यायाः कामधेनो र्वत्सौ जीवेश्वरावुभो ।
यथेच्छं पिबतां द्वैतं तत्वमद्वैतमेव हि ।। पन्चदशी 6/236

68. मायातत्वं जगदबीजं नित्यं विभु तथा व्ययम् ।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः :। तं० वि० 9/165

69. न हि द्रष्टुर्हृष्टे विपरिलोपो दृश्यते —यो० सू०

70. जैन दार्शनिक सात प्रकार की वचन रचना को सप्तभंगीनद्य
कहते है :—

1. स्यादस्ति, 2. स्यान्नास्ति, 3. स्यादस्ति च नास्ति च
4. स्यादवक्तव्य: 5. स्यादस्त्यवक्तव्य: 6. स्यान्नास्त्यवक्तव्य:
7. स्यादस्ति च नास्ति च अवक्तव्यश्च ।—स्याद्वादमंजरी 1

71. न च ह्येकस्मिन् धर्मिणि युगपत् सदसत्वादि विरुद्धधर्मसमावेश सम्भवति शीतोष्णवत् —ब्र० सू० शां० भा० 2/2/33

72. अवक्तव्याश्चेन्नोच्येरन् । उच्यन्ते चावक्तव्याश्चेति विप्रतिषिद्धम् । तदैव

73. शांकरभाष्यालोचन—गंगाप्रसाद उपाध्याय, पृ० 164

74. तव्यतव्यानीयर:—पाणिनीय अष्टाध्यायी 3/1/96

75. माया सती चेद्द्वयनत्वसिद्धि रथासती हन्त कुत: प्रपञ्च: ।
मायैव चेदर्थसहा च तत्किं माता च बन्ध्या च भवत्परेषाम् ॥
स्यादवाद मन्जरी

76. निस्तत्वा कार्यगम्याऽस्य शक्तिर्मायाग्निशक्तिमान् —प० द० 2/47

77. न निरूपयितुं शक्या विस्पष्टं भासते च या ।
सा मायेन्द्र जालादौ लोका: सम्प्रतिपेदिरे । प० द० 6/41

78. माया हि चिन्मयाद् भेदं विशाद् विदधती पशो: ।
सुषुप्ततामिवाधते तत एव ह्यदृक् क्रिय: ॥ तं. 9-175

79. माया विभेद बुद्धि निजांश जातेषु निखिल जीवेषु ।
नित्यं तस्य निरकुश विभवं वेलेव वारिधे रुन्धे ॥
ष० त्रि० तं० स० 5

80. वही ।

81. परम यत् स्वातन्त्र्य दुर्घट सम्पादनं महेशस्य ।
देवी मायाशक्ति: स्वात्मावरणं शिवस्यैतत् ॥ प० सा० 15

82. माया परिग्रहयशात् बोधो मलिन: पुमान् पशुर्भवति ।
काल कला नियति वशाद्रागाविद्यावशेन संबद्ध ॥ प० सा० 16

83. मायासहितं कन्चुक षटकमणोरन्तरंग मिदमुक्तम् । तदैव 17

84. माया विक्षोभ्य संसारं निर्मिमीते विचित्रकम् । तं० 9/149

85. भेदावभास स्वातन्त्र्यं तथाहि स तया कृत: । तं० 9/150

86. सा माया क्षोभमापन्ना विश्वं सूते समन्तत: ।
दण्डहतेवामलकी फलानि किल यद्यपि ॥ तं० 9/165

87. न केवल माया कारणम् कलादि क्षित्यन्तं विश्वं च कार्यम्, यावत् तत्कार्ये कलादावपि एवंरूपत्वम् ।.........तेन यदेव कार्यं तदेव कारणं यदेव कारणं तदेव कार्यमिति यथा—मायापेक्षया कला

कार्य विद्यापक्षया च कारणमिति —तं० वि० 9/165

88. धातु पाठ—रामलाल कपूर ट्रस्ट द्वारा प्रकाशित 1/102

89. कम्बुकमिव तण्डुलकणविनिविष्टं भिन्नमप्यभिदा।
भजते तत्तु विशुद्धिं शिवमार्गोन्मुखय योगेन ॥ प० सा० 18

90. समाधिवज्रेणाप्यन्यैरभेद्यो भेदभूधर:।
परामृष्टश्च नष्टश्च त्वदशक्ति बलशालिभि: ॥ प्र० हृ० पृ० 25

91. यदा परमेश्वर शक्तिपात विशुद्धहृदय: पशुर्भवति, तदा 'अहमेव महेश्वर:'' इति स्वात्मज्ञाना विर्भावात् स्वयमेव पशुत्वापादक कन्चुकावरणं विलीयते—प० सा० वृत्ति—18

92. यत्तु अस्य शून्यत्वमुक्तं तन्मायाक्षयोपचारेण तद्धर्मै:
परिणामित्वादिभि: शून्यत्वाच्छून्यम् —तं० वि 1/76

93. अशून्यं शुन्यमित्युक्तं शून्यं चा भाव उच्यते।
अभावं स समुदिष्टो यत्र भावा क्षयं गता॥
सत्तामात्रं परं शान्तं तत्पदं किमपि स्थितम् ॥ स्व० तं० 4/292

94. संविन्मात्रं हि यच्छुद्ध प्रकाशपरमार्थकम्।
तन्मेयमात्मन: प्रोज्झय विविक्तं भासते नभ: ॥
तदेव शून्यरूपत्वं संविद: परिगीयते ॥ तं० 6/9- 0

95. परमार्थेन नोत्पान्नो निरोधीऽपि न तत्वत:।
बुद्ध आकाशवत् तद्वत् सत्वा अप्येकलक्षणा: ॥
मध्यान्त विभाग सूत्र 2

96. दर्शनेनैव संसारो निर्वाणं च न तत्वत:।
निरन्जनं निर्विकारमादि शान्तं प्रभास्वरम् ॥
महायान विशकम—16

97. भावेषु नि:स्वभावेषु नित्यात्म सुख संज्ञया।
राग द्वेषतमश्छन्नस्योदभूतोऽयं भवाम्बुधि: ॥ म० या० वि० 22

98. अभूत परिकल्पो हि ग्राह्य-ग्राहक-रहित: शून्य इति न सर्वथा स्वभवतो नास्ति। द्वयं शशविषाण वन्नास्ति। अभूतकल्पश्च परमार्थत: स्वभावतोऽस्ति।......इयमेव हि शून्यता या ग्राह्यग्राहकरहितता। मध्यान्त विभाग सूत्र टीका 1-2

99. एवं कला विद्या राग नियति भिरोत प्रोतो माययापहृतैश्वर्यसर्वस्व: सन् पुनरपि प्रतिवितीर्ण तत्सर्वस्वराशिमध्यगत भागमात्र एवं भूतोऽयं मित: प्रमाता भाति —ई० प्र० वि० 3/1/9

100 (क) निरुद्धशक्तेर्या किंचित्कर्तृतोद्वलनात्मिका।

नाथस्य शक्तिः साधस्तात् पुंसः क्षेप्त्री कलोच्यते ।।
तं० 9/155-156

(ख) कलाशब्दस्य चात्र प्रवृतावधः प्रक्षेप एव निमित्तम्
—तं० वि० 9/156

(ग) मायातत्वात् कला जाता किंचित्कर्तृत्वलक्षणा—तं० 9/174

101. तत्सर्वकर्तृता सा संकुचिता कतिपयार्थमात्र परा ।
किंचित्कर्तारमनु कलयन्ति कीर्त्यते कला नाम ।। ष. त्रि. त. स. 8

102. सर्व कर्त्तु नालम घटमात्रकरणाय प्रभवति न पटादौ,
इत्येतद् अस्य अणोः कलातत्वम् । प० सा० वृ. 17

103. परमेश्वरस्य सर्वकर्तृताशक्तिः ...... किंचित्कर्तृत्वोद्‌वलनात्मना
कलनेन कलातत्वतां याति, यद्‌शांत् किंचिदेव कर्तुमुत्सहते अणुः
न सर्वत्र कर्तृत्वमिति । ष० त्रि० त० स० वृत्ति 8

104. कला हि किंचित्कर्तृत्वं सूते स्वालिंगनादणोः ।
तस्याश्चाप्यणुनान्योन्यं ह्यन्जने सा प्रसूयते ।। तं० 9/176

105. सद्योनिर्वाण दीक्षोत्थ पुं विश्लेषे हि सा सती ।
श्लिष्यन्त्यापि च नो सूते तथापि स्वफलं क्वचित् ।। तं० 9/177

106. यथा बीजस्य प्रथमावस्थात्मिकोच्छूनता तदनु सूक्ष्मो बांकुरांशो
जलादियोगादेव स्वकार्यं कुर्यात् तथा माया-कार्यं कलादि पुंयोगएवेति।
— तं० वि० 9/178

107. कला मायाणुसयोगजाप्येषनिर्चिकारकम् ।
नाणुं कुर्यादुपादानं किन्तु मायां विकारिणीम् ।।
मलश्चावारको माया भावोपादान कारणम् ।
कर्म स्यात् सहकार्येव सुखदु खोदभवं प्रति ।। तं० 9/179-180

108. सेयं कला कार्यभेदादन्यैव ह्यनुमीयते ।
अन्यथैकं भवेद विश्वं कार्ययेत्यन्यनिह्नवः ।। तं० 9/189

109. माया हि अणोर्मूर्च्छित प्रायतां विदध्यात्, इयं पुनः किंचित्कर्तृतामिति
अन्यवेति अर्थान्मायातः ।......तस्मादेव किंचित्कर्तृत्वादीनि
विश्वानि जायेरन्—इत्यन्यस्य स्थितस्यापि निखिलस्य विद्या-
देस्तत्व जातस्यापनह्वः प्रसजेत् —तं० वि० 9/189

110. चैतन्याव्यसतिरेकेणैवे हि कला जायमानास्तिष्ठन्त्यः प्रतीयमानाश्च
सर्वदा लक्ष्यन्ते । प्रश्नोपनिषद शा० भा० 6/2

111. न हि आत्मनोऽन्यत् तत्प्रविभक्त देशकालं भूत भवत्
भविष्यद वा वस्तु विद्यते । ब्र० सू० शां० भा० 2/1/6

112. येयं कला न करणं मुख्यं विद्यादिकं यथा।
पुंसि कर्तरि सा कर्त्री प्रयोजकतया यत: ।। तं० 9/183
113. कर्तृशक्तिं व्यनक्त्यस्य कला सात: प्रयोजिका।
तत: कलासमायुक्तो भोगेऽपु: कर्तृकारकम् ।। तं० वि० 9/183
114. करणेन येन भोग्यं करोति पुरुषं प्रचोद्य महदादीन्।
भोग्ये भोगं च पुन: सा विद्या तत् परं करणम् ।। तदैव
115. एवं कलादितत्वानां सर्वेषामपिभाविनाम्।
शुद्धत्वमस्ति तेषां ये शक्तिपात पवित्रता ।।
कला हि शुद्ध तत्तादृक् कर्मत्वं सम्प्रसूयते।
मितमप्याशु येनास्मात् संसारादेष मुच्यते ।। तं० 9/171-172
116. अत: सांक्दृशा सिद्ध:प्रधानाधो न संसरेत्।
कलापुसांविवेक तु मायाधों नैव गच्छति ।। तं० 9/187
117. असतो मायाया जन्य तत्वतो नैव युज्यते।
बन्ध्यापुत्रो न तत्वेन मायया वापि जायते ।। मा० का० 3/28
118. सर्वे ते मित्रगात्रस्य कलां नार्हन्ति षोडशीम् पंचतन्त्र 2/59
119. जगति जयिनस्ते भावा नवेन्दु कलादय:। मातंगलीला 1/36
120. धनवीथि वीथिमवतीर्णवतो निथिरम्भसामुपचयाय कला: शिशूपालवध 9/32
121. निरूपादानसश्भारणभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मैं कलानाथाय शूलिने ।। भा० द० पृ० 685
122. धातु पाठ 1/334
123. तदैव 10/72
124. तदैव 10/204
125. तदैव 10/290
126. कला शब्दस्य चात्र प्रबृतौ अध.प्रक्षेण एव निमित्तम्।
तं० वि० 9/155
127. यन्मायावत् पारमैश्वर्य एव शक्तय:,
कलादिरपि तत्व-ग्राम इति—9/154
128. असूत सा कला तत्वं यद्योगादभवर्तु पुरान्।
जातकर्तृत्व सामर्थ्य...। मालिनी विजय 1/27
129. सर्वज्ञताऽस्य शक्ति: परिमित तनुरल्पवेद्य मात्र परा।
ज्ञानमुत्पादयन्ती विद्यति निगद्यते बुधैराधै: ।।
ष० त्रिज त० स० कारिका 9

130. मायापरिग्रह वशात् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति ।
काल कला नियतिवशाद् रागाविद्या वशेन संबद्धः ।।
प० सा० श्लोक 16

131, तथा "जानामि" इति किंगिदेव पुरोवर्ति घटदिकं,
न पुनर्दूरव्यवहितं वस्तु—इति विद्यातत्वम् ।
शुद्धविद्यापेक्षया कारिकायाम् "अविद्या" इति कथितम्,
न पुनर्वेदनाभावात् । प. सा. वि. 16 पृ. 48

132. किंचिद्रूप विशिष्टं यत् कर्तृत्वं तत्कथं भवेत् ।
अज्ञस्येति ततः सूते किंचिज्ज्ञत्वात्मिकां विदम् ।। तं- 9/191

133. ज्ञानं बिना न कर्तृत्वं कस्यचिद् दृश्यते क्वचित् ।
यतः कलातः संजातमविद्या रूपमप्रथस् ।। तं. वि. 9/191

134. (क) वुद्धिं पश्यति सा विद्या वुद्धिदर्पणचारिणः ।
सुखादीन् प्रत्ययान् मोहप्रभृतीन् कार्यकारणे ।।
कर्मजालं च तत्रस्थं विविनक्ति निजात्मना ।।
तं 9/192-193

(ख) तमो मोहो महामौहस्तामिस्रो ह्यन्धतामिस्रः ।।
अविद्या पञ्चपर्वेषा प्रादुर्भूता महात्मनः ।।
विष्णु पुराण 1/5/5

(ग) विद्या विवेचयत्यस्य कर्म तत्कमार्यकारणे ।
मालिनी विजय 1/28

135. विद्ययैव बुद्धिदर्पणे प्रतिफलिता भावा विविच्यन्ते गुण संकीर्तनतया
तस्य विवेक्तुमशक्यत्वात्, तस्मात् विद्ययैव अर्थ-त्रिवेकः ।
षटत्रिंशत् तत्वसन्दोह वृत्ति—9

136. बुद्धिस्तु गुणसंकीर्णा विवेकेन कथं सुखम् ।
दुःखं मोहात्मक वापि विषयं दर्शयेदमि ।। तं. 9/194

137. त्रैगुण्यात्मा विवेकेन शक्ता दर्शयितुं नहि ।
विषयाकारमात्मानम विविक्ता यतः स्वयम् ।। तं. वि. 9/194

138. ननु सांख्यमत मजानानैरिव भवदिभरेतदुक्तम् यद गुणसंकीर्णत्वात्
बुद्धिः सुखाद्यात्मकं विषयं विवेकेन कथं दर्शयेदिति । ते हि
वरणात्मना तमसा सर्वतः समावृतमपि रजसा शनैस्तदपसारणात्
क्वचिदेव प्रवर्तितं सदविशेषेण प्रकाशकमपि सत्वं क्रमेण नियतं
युखादि प्रकाशयेत्—इति त्रिगुणैव बुद्धिःक्रमेण सुखाद्यात्मनो
विषयस्य विवेकेन प्रदर्शिका इत्यभ्युपाजग्मुः । तं. वि. 9/195

139. नहि तदानीं दु:खादेरपि दर्शनं येन ततो विवेकेन सुखादे
रध्यवसाय:: स्यात्। तदैव

140. न चेयं पूर्वदृष्टात दु:खादेरस्य विवेकं कर्तु शक्नुयात जाडयदेव
अनुसन्धातुमशक्यत्वात तस्मात स्वच्छायां बुद्धौ प्रतिसंक्रान्तस्यापि
सुखादे: केनचिद् विवेकेन भाव्यम्. तच्च परं कारणं विद्याख्यम्।
तदुक्तम्—
स्वच्छायां धियि संक्रामन्भाव: सवेद्यतां कथम्।
तया विनैति साप्यन्यत्करणं पुंसि कर्तरि ।। तं, 8/195

141. ननु बुद्धिरूपयतो निर्मलदर्पणप्रच्येति तस्या एकत: पूंश्छाया प्रति-
संक्रामेत् यद्वशादियं चेतनायमाना सत्यन्त: प्रतिसंक्रान्तं भावजात-
मध्यवस्येत् इति किं विद्याख्येन करणान्तरेण भाव्यम्।
तं. वि. 9/196

142. प्रतिसंक्रान्तेऽपि पुंस्प्रकाशे जाड्यमस्या न निवर्तते, प्रतिबिम्बस्य
निजाधिकर्णकयोग क्षेमत्वमेव भवेदित्युपपादितमेव प्राक्। बहिर्हि
दपर्णादौ प्रतिबिम्बतश्चेतनोऽपि त्रैत्रादिर्दर्पणस्य मा नाम
चैतन्यद्याधात्, प्रत्युत तत्र स्वयमचेतनत्वन्त किंचिदपि कर्तुं प्रभवेत्।
......एव तर्हि विषयस्यापि साक्षात् बाह्यस्यैव प्रकाशनमस्तु
किमन्तरालपरिकल्पितेन बुद्धितत्वेन। तं. वि. 9/197

143. एवं हि मुख्यमात्मप्रकाशमपेक्ष्य तदतिरिक्तं न किंचिदपि प्रकाशते
—इति सर्वं प्रकाश एवेत्यभेद एव सर्वत: परिस्पुरेत्—इति ग्राह्य
ग्राहक भावाद्यत्मा सकलोऽयं भेदव्यवहार: समाप्त: स एव चेह
विचारयितुं प्रक्रान्त:—इति प्रतिज्ञातार्थ विरुद्धमिदमभिधानं भवेत्।
तं. वि. 9/198

144. अभेद भूमिरेषा च भेदश्चेह विचार्यते। तं 9/198

145. एवं पर एव प्रकाश: स्वस्वातन्त्र्यात् स्वं रूपं गोपयित्वा यदा
संकुचितात्मतामवभासयति, तदा सकल एवायं व्यवहार:
समुल्लसेत् येनायं पुमान् इन्द्रिय प्रणालिकया भुदौ प्रतिसंक्रान्तं
सुख दु:खाद्यात्मकं विषयं विद्यया परस्परवैविक्त्येन जानति।
इति बुद्ध्यादि कल्पने न कश्चिद्दोष:। तं० वि० 9/198

146, बुद्धिरूपलब्धि ज्ञानमित्यनर्थान्तरम्—न्यायसूत्र

147. बुद्धितत्स्थचिदाभासौ द्वावेतौ व्याप्नुतो घटम्।
तत्राज्ञानं धिया नश्येदाभासेन घट: स्फुरेत्।। वेदान्तसार

148. अत्र चांशे तुल्येऽपि किंचित्वे, कस्मादिदमेव गिंचित इत्यथ अभिष्वंग-

रूप. प्रमाता देहादौ प्रमेये च गुणाद्यारोपणमय इव रागो व्याप्रियते
ई० प्र० वि० 3/1/9

149. भूयासम्, मा कदाचिन्न भूवम्, इत्येतत् पशोः रागतत्वम्
प० सा० टीका पृ 48

150. रागोऽपि रन्जयत्येनं स्वभोगेष्वशुचिष्वपि —ता० वि० 1/28

151. तस्माद्यत्र क्वचनोपादेये हेये वा किंचिन्मे भूयात् इति सामान्येना —भिष्वंगमात्रं रागतत्वम् । तं० वि० 9/200

152. एवं द्वेषोऽप्यस्यैव प्रसरः । तत्रापि अनिष्ट प्रहाणात् अभिष्वंगस्यैव सम्भवात् —तं० वि० 9/201

153. काश्मीर शैव दर्शन —बी. एन. पंडित, पृ. 101

154. अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्चक्लेशाः—यो० सू० 2/3

155. अध्यवसायो बुद्धिर्धर्मो ज्ञानं विराग ऐश्वर्यम् ।
सात्विकमेतद् रूपं तामसमस्माद् विपर्यस्तम् ॥ सां० का० 23

156. न चावैराग्य मात्रं तत्रप्यासक्तिवृतितः ।
विरक्तावपि तृप्तस्य सूक्ष्मरागव्यवस्तिः ॥ त० 9/200-201

157. एवमवैराग्यांसगेऽपि एतदेव निमित्तमिति भावः । कस्यच्चिनिवृत-विषयाकांक्षस्य अवैराग्याभावेऽपि सूक्ष्मेक्षिकयाऽभिष्वंगो भवत्येव । किंचिन्मे भूयात् इति प्रतिपत्ते रविरहात् —तं० वि० 9/201

158. धर्मादयोऽभिष्वंगवासनाया एव पल्लव इति समस्तोऽयं रागवर्गः, ते तु विशेषोल्लासात्मानो बुद्धि धर्मत्वेन गणिताः । तदैव

159. भोग्यधर्मत्वे हि अस्य न कश्चिदपि वीतरागः स्यात् भोगस्य सर्वान् प्रति अविशेषेण रञ्जकत्वान् । उक्तं च-यज्जनिताभिष्वगे भोग्याय नरि क्रिया स रागोऽत्र । भोग्य विशिषे रागे नहि कश्चिद् वीतरागः स्यात् ॥ तं० वि० 9/203

160. नित्य परिपूर्ण तृप्तिः शक्ति परिमिता तु सती ।
भोगेषु रञ्जयन्ती सततं रागतत्वतां याता ॥
ष० त्रि० त० स० 10

161. "किंचिन्मे भूयात्" इति सामान्येन अभिष्वंग मात्रादापाद्यते रागतत्वम् । विशेषाभिष्वंगस्तु अस्यैव पल्लवितप्रायः । —तदैव

162. किंचित् कुरुते तस्मान्ननमस्त्यपरं तु तत् ।
रागतत्वमिति प्रोक्तं तत्तत्रैवोपरञ्जकम् ॥ तं० 9/199-200

163. अणुनां लोलिका नाम निष्कर्मा याऽभिलाषिता ।
अपूर्णम्मन्यता ज्ञानं मलं सावच्छिदोज्झिता ॥ तं० 9/62

164. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति, आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति —बृ० उ० 2/4/5

165. अणो: कलया किंचिद्रूपतां विद्यया विविक्त विषयतां रागेण नियतवस्तुपर्यवसायितां च नीतं कर्तृत्वं अकरवम्, करोमि करिष्यामि इति प्रतीत्यन्यथानुपपत्या कालेनापि कलितम् इति तदुपपादकं कालतत्वम्। तं० वि० 9/201

166. काल:क्रमामासूत्रयन प्रमातरि विजृम्भमाणस्तदुसारेण प्रमेयेऽपि प्रसरति। योऽसं कृशोऽभवम् स स्थूलोवर्ते, भविष्यामि स्थूलतर: इत्येवमात्मानं देहरूपं क्रमवन्तमिव परामृशंस्तत्सहचारिणि प्रमेयेऽपि भूतादिरूपं क्रमं प्रकाशयति —ई. प्र. वि. 3/1/9

167. (क) कालस्तुट्यादिभिश्चैतत् कर्तृत्वं कलयत्यत:।
कार्यविच्छेदि कर्तृत्वं कालोऽवश्यं कलिष्यति॥
तं. 9/201-202

(ख) सा नित्यताऽस्व शक्तिर्निकृष्य निथनोदयप्रदानेन।
नियतपरिच्छेदकरी क्लृप्ता स्यात् कालातत्वरूतेण॥
ष. त्रि. त. स. 11

(ग) अकालकलितस्य चिदात्मनो नित्यत्वाख्या शक्तिर्न्यग्भावमाश्रित्य कार्यारूषित कर्तृत्वकलनया अणु:त्रुट्यादिक्रमाभासनात्मना कालेन संयोज्य कालतत्वव्यपदेश्या कल्प्यते, येम अयमणु: भूतादिक्रियाक्रमकलित: कालवशतामापद्यते। 5 तदैव

(घ) कालोऽपि कलयत्येनं तुट्यादिभिरवस्थित:। मा. वि. 1/29

168. द्विधा हि कर्तृत्वं शुद्धं मायीयं च। तत्र आद्यं अनवच्छिन्नाहं परामर्शमयं कार्यानारूषितमेव अन्यच्च घटक्रिया पट-क्रिया इत्यादि कार्यरूषितम्। एतेनास्य कलनाया पि भाव्यम्। त. वि. 9/201

169. मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वर:॥

170. (क) भेदाभेदात्मसम्बन्धसह सर्वार्थसाधित।
लोकयात्राकृतिर्यस्य स्वेच्छया तं स्तुम: शिवम्॥
सम्बन्धसिद्धि: 1

(ख) स्वात्मनिष्ठा विविक्ताभा माया एक प्रमातरि।
अन्योन्यान्वयरूपैक्ययुज: सम्बन्धधीपदम॥ ई. प्र. 2/2/4

171. ये इयत्तया परिनिष्ठिता आभासा: सिद्धा: तद्यथा चन्द्रसूर्यादीनां सहकारमल्लिकाकुटजादीनां शीतोष्णादे: परमूतमदविलासादे: त

एव काल: । यतो परिनिष्ठतं गमनपठनादि तैरियतया परिनिष्ठीयते । परिवर्तकैरिव कनकम् स एव च सूर्यादीनां स्वभावविशेषस्तत्वत: परमार्थत: क्रमोनान्य: कश्चित् क्रमो नाम : क्रम एव च कालो, नान्योऽसौ कश्चित् —ई. प्र. वि. 2/1/3

172. यो हं बालो भवम् तत्सहभावी घटाभासो प्यभवत् ।

ई. प्र. वि. 2/1/7

183. पृथिव्यप्तेवाप्वाकाश काल दिगात्ममनांसि नवैव=तर्क संग्रह

174. सद्य: कालान्तये च फल निष्पत्ते: संशय: —न्यापसूत्र 4/1/44

175. कालसंज्ञा तद देवीं विभ्रच्छावितमुस्क्रम: ।
त्रयोविंशतितत्वानां गणं युगपदाविशत् ।। भागवत् पुराण 3/6/2

176. अनादिर्भगवान् कालो नान्तोऽस्य द्विज विद्यते ।
अव्युच्छिन्नस्ततस्त्वेते सर्गस्थित्यन्तसंयमा: ।। वि. पु. 2/26

177. काल: कलयतामहम् । भ. गी. 10/30

178. अहमेवाक्षय: कालो धाताऽहं विश्वतो मुख: । भ. गी. 10/33

179. कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्ध: भ. गी। 11/32

180. स एष पूर्वेषामपि गुरु: कलेनानवच्छेदात् । यो. सू. 1/26

181. नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् करणे कालाख्येति ब्र. सू. 2/2/6

182. याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधाच्छाश्वतीभ्य: समाभ्य: । यजु. 40/8

183. (क) त्र्यायुषं जमदग्ने कश्यपस्य त्र्यायुषम् ।
यद्देवेषु त्र्यायुषं तन्नो तस्तु त्र्यायुषम् ।। यजु. 3/62
(ख) मा न आयु: प्रमोषी: । ऋ. 1/24/11

184. तामर्थक्रियामर्थयमानो जन: किंचिदुपादत्ते, किंचिच्च जहाति इति नास्ति विमति: कुत: पुनरयं नियमो यत् पाकार्थी वह्निमेवादित्सति न लोष्टम्, स्वर्गार्थी च ज्योतिष्टममेव न श्येनम् इति तदवश्यमत्र केनचिन्निमित्तेन भाव्यम्, तच्च किमित्याशंक्याह नियतिर्योजनां धत्ते विशिष्टे कार्यमण्डले । तं 9(202

185. श्येन याग शत्रु को मारने के लिए किया जाने वाला एक अभिचार कर्म है इसके करते से शत्रु तो अवश्य मर जाता है किन्तु यज्ञ करने वाला नरक में गिरता है । देखिये शाबर भाष्य—मीमांसा सूत्र

186. तास्य स्वतन्त्रताख्या शक्ति संकोचशालिनी सैव ।
कृत्याकृत्येष्ववशं नियतममुं नियमन्त्यभून्नियति: ।।

ष. त्रि. त. स. श्लोक 12

187. स्वातन्त्र्यमेव अस्य परप्रमातु: संकुचत् नियतितत्वतामाभासयति

यत: कार्याकार्येषु नियमाधानात् विशिष्टे कार्यें विशिष्टं कारणमेव आदध्यान्नानियतम् तदैव

188. नियतामर्थ क्रियामर्थयता नियतमेव वस्तु उपादातव्यम् ।
तं. वि. 9/202

189. नियतात् कारणात् नियतं कार्यं यत् अर्थयते यथा वह्लेरेव धूम: । अश्वमेधादि कर्मण एव स्वर्गादिफलम् न सर्वस्यात् ।। प. सा. 17

190. इत्येव नियमेन स्वसंकल्कृत कर्मप्रबन्धमुत्थ पुण्यापुण्यै: आत्मा नियम्यते येन तदस्य नियतितत्वम् । तदैव

191. अस्मिन् कर्तृत्वमित्यन्नार्थें नियतेर्व्यापार: ।
कार्यंकारण भावेऽप्यस्या एव व्यापार: —तं सा। पृ. 82

192. नियतिर्योजयत्येनं स्वके कर्मणि पुदगलम् । मा. वि. 1/29

193. (क) माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च ।
कंचुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितो पशु: ।। तं 9/204

(ख) माया कला शुद्धविद्या राग कालो नियन्त्रणा ।
षडेतान्यावृतिवशात् कञ्चुकानि मितात्मन: ।। तदैव

194. माया सहितं कंचुक षट्क मणोरन्तरंगमिदमुक्तम । प. सा. 17

195. यथा एतत मायादिकञ्चुकमणो: तण्डुलस्थानीयस्य अन्तरंगत्वात कम्बुकस्थानीयं व्सतिरिक्तमपि अव्यतिरिक्ततया पूर्ण संवित्स्वरूपमाच्छाद्य स्थितम् । पं. सा. 18

196. देह पुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम् ।
एतत्षट्क ससंकोचं यदवेद्यमसावणु: ।। तं 9/205

197. एतेन कलादिनां कंचुकेन आवृतोऽयं शक्तिदारिद्रयमनुभूय कलादिमुखैनैव स्ववैभवात् प्रतिवितीर्णकिंचिदंश: पशुरित्युच्चते ।
ष. त्रि. त. सं. 12

198. अप्रबुद्धधियस्त्वेते स्वस्थितिस्थगनोद्यता: ।
पातयन्ति दुरुत्तारे घोरे संसारवर्त्मनि ।। स्प. का 20

199. दैवे विभुत्वतां याते न कोऽप्यस्ति सहायवान् ।
पिता माता तथा भार्या भ्राता वाऽयं सहोदर: ।।
भामिनी विलास पं. राज जगन्नाथ

200. हरिणाऽपि हरेणापि ब्रह्मणा त्रिदशैरपि ।
तलाट लिखिता रेखा न शक्या परिमार्जितुम ।। विक्रम चरित 230

201. कर्मणा बाध्यते बुद्धिर्न बुद्धया कर्म बाध्यते ।

सुबुद्धिरपि यद् रामो हैमं हरिणमन्वगात् ।।
महानाटक हनुमत्कवि—1

202. अवश्यम्भावि भावानां प्रतीकारो भवेद्यदि ।
तदा दु.खैर्न लिप्येरन् नलरामयुधिष्ठिरा: ।। हितोपदेश

203. या सुन्दरी सा पतिना विहीना यस्या पति: सा वनिता कुरूपा ।
यत्र द्वयं तत्र सुतस्य हानि: यत्र त्रयं तत्र दरिद्रता च ।। स्फुट

204. अवश्यभव्येष्वनवग्रहग्रहा यया दिशा धावति वेधस: स्पृहा ।
तृणेन वात्येव तया नुगम्यते जनस्य चित्तेन भृशावशात्मना ।।
नै. च. 1/120

205. यस्माच्च येन च यथा च यदा च यच्च यावच्च यत्र च
शुभाशुभमात्म कर्म ।
तस्माच्च तेन च तथा च तदा च तच्च तावच्च तत्र च
विधातृवशादुपैति ।। हितोपदेश

206. त एवामी बाणास्तदपि हरलब्धं धनुरिदं स एवाहं पार्थ: प्रमथित
सुराराति निचय: । इमास्तास्ता गोप्यो हरिचरणचितैक शरणा:
ह्रियन्ते गोपालै र्विधिरिह बलीयान्त तु नर: ।। स्फुट

207. या साधूंश्च खलान् करोति विदुषो मूर्खान् हितान् द्वेषिणो,
प्रत्यक्षं कुरुते परोक्षममृतं हालाहलं तत्क्षणात ।
तामराधय सत्क्रियां भगवतीं भोक्तुं फलं वांछितं
हे साधो व्यसनिन् गुणेषु विपुलेष्वास्थां वृथा मा कृथ: ।।
साहित्य दर्पण

208. (क) विद्या रागोऽय नियति: कालश्चैतच्चतुष्टयम् ।
कला कार्यम्............।। तं 9/203

(ख) प्रलयेनकृता अकला कलातत्त्वोपलक्षित करणकार्यरहिता
अबोधरूपा:, कर्ताकश्च । ई. प्र. वि. 3/1/8

209. नित्य: प्रलय: सुषुप्ति, तस्या सकल कार्यप्रलयरूपत्त्वात ।
वेदान्तपरिभाषा—पृ. 364

210. तेन सुषप्तोत्थितस्य न सुख दु.खाद्यनुभवानुपपत्ति: —तदैव

211. काश्मीर शैव दर्शन—पृ. 143

212. स्वरूपैकप्रतिष्ठान: परित्यक्तोऽखिलैर्गुणै: ।
ऊर्मि षटकातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिण: ।।
संसारबन्धनाधीन दु:ख क्लेशाद्यदूषितम् । न्यायमंजरी पृ. 77

213. क्षुत् पिपासा, लोभ, मोह, शीतोष्ण इन छ: धर्मों को ऊर्मि कहते हैं ।

214. द्वयोरेकतरस्य वा औदासीन्यमपवर्ग: —सांख्य सूत्र 3/65
215. अप्रहाणमसंप्राप्तमनुच्छिन्नमशाश्वतम् ।
अनिरुद्धमनुत्पन्नमेतन्निर्वाणमुच्यते ।।
माध्यमिककारिका भ. द. पृ. 576
216. सांख्यवेदादि संसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यङ मुक्ति रीदृशी ।। तं. 6/152
217. शून्याद्यबोधरूपास्तु कर्तार: प्रलयाकला: ।
तेषां कार्मों मलोऽप्यस्ति मायीयस्तु विकल्पित: ।। ई. प्र. 3/2/8
218. देवादीनां च सर्वेषां भविनां त्रिविधं मलम् ।
तत्रापि कार्ममेवैकं मुख्यं संसारकारणम् ।। ई. प्र. 3/2/10
219. स्वात्मावरणं शिवस्यैनत् । प. सा. कारिका 15
220. प्रयत्न: साधक: —शिवसूत्र 2/2
221. बध्नाति काचिदपि शक्तिरनन्तशक्ते: क्षेत्रज्ञमप्रतिहता भवपाश जालै: ।
ज्ञानासिना च विनिकृत्य गुणानशेषान् अन्या करोत्यभिमुखं
पुरुषं विमुक्तौ ।। प. सा. वि. 9
222. चेत्यते विमृश्यते अनेन परं तत्वमिति चित्तम् । तदैव
मन्त्रयते गुप्तमन्तरभेदेन विमृश्यते परमेश्वररूपमनेन इति कृत्वा मन्त्र:
शि. सू. वि. 2/1
223. चित्तं मन्त्र: —तदैव
224. अनन्तराह्निकोक्तेऽस्मिन् स्वभावे पारमेश्वरे ।
प्रविविक्षु विकल्पस्य कुर्यात् संस्कारमन्जमा ।। तं 4/2
225. संस्कारमिति पौन: पुन्येन श्रुतचिन्तादिवशात अस्फुटत्वादि क्रमेण
स्फुटतमत्वाद्यातति पर्यन्तं गुणान्तराधादम्, येन निर्विकल्पस्वरूपानु
प्रवेशो भवेत् । तं. वि. 4/2
226. विकल्प: संस्कृत: सूते विकल्पं स्वात्मसंस्कृतम् ।
स्वतुल्यं सोऽपि सोप्यन्यं सोऽप्यन्यं सदृशात्मकम् ।। तं 4/3
227. चतुर्ष्वेव विकल्पेषु य: संस्कार: क्रमादसौ ।
अस्फुट: स्फुटताभावी प्रस्फुटन् स्फुटितात्मक: ।। तं 4/4
228. स्फुटताभावीति स्फुटनयोग्य: प्रस्फुटन्निति उद्गच्छत्स्फुटत्व:
स्फुटितात्मक इति सिद्धस्फुटित्व: तं, वि. 4/4
229. तत: स्फुटतरो यावदन्ते स्फुटतमो भवेत । तं. 4-5
230. तत: स्फुटतमोदारताद्रूप्यप रिबृंहिता ।
संविदभ्येति विमलाभविकल्प स्वरूपताम् ।। तं 4/6

231. इत्थं विचित्रैः शुद्धविद्यांशरूपैः विकल्पैः यदनपेक्षित विकल्पं स्वाभाविकं परमार्थतत्वं प्रकाशते तस्यैव सनातनतथाविध प्रकाश-मात्रतारुढये तत्स्वरूपा नुसन्धात्मा विकल्पविशेषी योगः ।

तं. सा. पृ. 2

232. तथा विध विकल्प प्रतिबन्ध एव सत्तर्क इति उक्तः । न चात्र सत्तर्कात शुद्धविद्याप्रकाशरूपात् ऋते अन्यत् योगांग साक्षादुपायः । तं. सा. पृ. 23

233. प्रतिद्वन्द्विरूपो विकल्प उदितः संहारहेतुं विकल्पं दलयति इत्यभ्युदयं हेतु । तं. सा. पृ. 21

234. तत्रयदा विकल्पं क्रमेण संस्कुरुते समनन्तोक्त स्वरूपप्रवेशाय तदा भावनाक्रमस्य सत्तर्कसदागम सद्गुरूपदेशपूर्वकस्य अस्ति उपयोगः ।

तं. सा. पृ. 21

235. गुरुरूपायः —शिवसूत्र 2/6

6

आत्म-तत्व-निरूपण

पुरुष तत्व (बारहवां तत्व)

तत्वों के विकास के क्रम में बारहवाँ तत्व है—पुरुष। गत प्रकरण में जिन माया आदि षट् कंचुकों का विवेचन किया गया है उन कंचुकों में पूर्ण रूप से आवृत और संकुचित बनी हुई संवित् को पुरुष तत्व कहते हैं।[1] बस यह समझ लीजिए कि षट् कंचुक तत्वों का निर्माण पुरुष को आवेष्टित करने के लिए ही हुआ था।[2] यही वह तत्व हैं जिसको बाँधने और मुक्त करने के लिए सभी प्रकार के लौकिक और शास्त्रीय आडम्बर रचे जाते हैं। इसी तत्व को त्रिक-दर्शन में तथा अन्य शास्त्रों में जी, अणु, पशु, नर माया प्रमाता पुंस्तत्व देही, प्राणी आदि नामों से कहा गया है। किन्तु त्रिकदर्शन के पुरुष का स्वरूप अन्य दर्शनों से अत्यन्त विलक्षण है और साथ ही साथ सर्वथा युक्तियुक्त भी है।

पुरुषतत्व अत्यन्त संकुचित 'अहम्'' का नाम है। शुद्ध संवित् तो एक मात्र अभेदात्मक अहं विमर्श का नाम था। वहा शुद्ध संवित् माया से अन्धी होकर जब संसारी और कर्मों से बद्ध हो जाती है तो पुरुष अथवा पशु-तत्व कहलाने लगती है।[3] जगत् के विस्तार की इस अवस्था में यह पुरुष प्रमाता कहीं शून्य को, कहीं प्राण को, कहीं अन्तःकरण को और कहीं स्थूल देह को अपना स्वरूप अर्थात् "अहम्'' समझता है।[4] इदं रूप प्रमेय तत्व को यह सदैव भेददृष्टि से ही देखता है। भेददृष्टि से देखने के कारण ही तो यह इस संकुचित पशुभूमिका में अवतीर्ण हुआ है। अन्यथा तो यह पति ही था।[5] कर्तृत्व और ज्ञातृत्व संकोच भी इसी कारण है कि माया ने उसे संकुचित करके भेदभूमिका पर ला पटका है। अभेद-

भूमिका में तो सर्वत्र सर्वदा अहं विमर्श का ही साम्राज्य होता है।

पुरुष त्रिगुणात्मक है

त्रिक दर्शन के अनुसार पुरुष त्रिगुणात्मक है। अन्य दर्शनों में माया को तथा प्रकृति को त्रिगुणात्मिका कहा गया है। शैव दार्शनिक प्रकृति को नहीं अपितु पुरुष को त्रिगुणमय कहते हैं। प्रकृति तो सत्वादि गुणों की साम्यावस्था का नाम है त्रिगुण का नहीं। त्रिगुण तो जीव का ही स्वरूप है। ये तीन गुण परमेश्वर की तीन शक्तियों के नामान्तर हैं। प्रकृति का स्वरूप तो प्रमेयता है और यह प्रमेयता उसे पुरुष ने ही दी है। पुरुष की दृष्टि ही से तो प्रमेय की सार्थकता है।

पुरुष त्रिगुणात्मक क्यों है ? आइये विचार करें। शुद्ध संविद्रूप परमेश्वर में अपरिमित ज्ञान-शक्ति और अपरिमित क्रियाशक्ति के अतिरिक्त एक अन्य शक्ति भी होती है जिसे माया शक्ति कहा जाता है। इस माया शक्ति के कारण वह अपने अन्दर अभेदरूप में स्थित विश्व को बाहर की ओर भिन्न रूप में प्रकट करने के लिए उत्कंठित बना रहता है। विश्वोत्तीर्णता से विश्वमयता की ओर तथा विश्वयमता से विश्वोत्तीर्णता की ओर उन्मुख होना, यही तो उसकी माया है। ज्ञान, क्रिया, और माया, ये तीनों शक्तियां जीव दशा में भी रहती हैं, किन्तु उस रूप में नहीं जिस रूप में ये परमशिव में रहती थीं. अपितु संकुचित रूप में और भेददृष्टि के साथ जीव में रहती हैं। इनका नाम भी बदल जाता है। शिवभाव में उन का नाम शक्ति था किन्तु जीव-भाव में इन्हें जीव की शक्तियाँ नहीं अपितु जीव के गुण कहा जाता है।[6]

शिव की ज्ञान शक्ति जब षट् कंचुकों से आवृत होकर संकुचित जीव रूप में प्रकट होती है तो वह शक्ति जीव का सत्वगुण कहलाती है। शिव से शक्ति अपृथक् ही रहा करती है। इसलिए उस ज्ञान-शक्ति से शिव अभेददृष्टि के बल से अपने में ही स्थित समस्त प्रपंच को जानता और करता है किन्तु जब जीवरूप में उसकी ज्ञानशक्ति में संकोच आ जाता है तो वह अत्यल्प जानता है। इसी प्रकार शिव की क्रिया-शक्ति जीव या रजोगुण कहलाती है, इससे वह अत्यल्प ही करता है और पदार्थ को अपने से भिन्न समझ कर ही करता है। शिव की मायाशक्ति जीव का तमोगुण कहलाने लगती है। भाव यह है कि जीव की भेदात्मक ज्ञान-प्रवृति ही उस का सत्वगुण है, क्रिया-प्रवृति ही रजोगुण है और माया-रूपिणी भेददृष्टि ही उसका तमोगुण कहलाती है। लोकव्यवहार में ये तीन गुण क्रमशः सुख, दु.ख और मोह का आकार धारण कर लेते हैं। इस प्रकार शिव की तीन

शक्तियाँ जीवदशा में त्रिगुण बन जाती हैं। इसलिए जीव त्रिगुणात्मक है यह सिद्ध हुआ।[7]

उपर्युक्त सुखद:खमोहात्मक सत्वादि तीनों विरोधी गुण जीव में किस प्रकार रहते हैं और किस प्रकार अपना व्यापार करते हैं यह विचारणीय है। शिव के दो रूप हैं—विश्वोत्तीर्ण और विश्वमय। दो ही दृष्टियाँ हैं—अभेदात्मक और भेदमयी। दो ही प्रकार के प्रमाता हैं—पति और पशु। अभेददृष्टि से देखने वाले को पति कहा जाता है और भेद-दृष्टि से देखने वाले को पशु या जीव कहते हैं। पति-प्रमाता को सदैव अपनी प्रकारूप सत्ता के आनन्द का ही चमत्कार हुआ करता है क्यों कि वह सभी विषयों को स्वात्मरूप ही देखता है। यह स्वात्मानुभूति ही उसकी आनन्द-घनता है। यह आनन्दमयी स्वात्मानुभूति ही प्रत्येक विषय में पति-प्रमाता की ज्ञानशक्ति और क्रिया शक्ति बनती रहती है। किन्तु पशु-प्रमाता को प्रत्येक वस्तु में स्वात्मानुभूति के आनन्द का चमत्कार अनुभूत नहीं होता। उसे उन्हीं वस्तुओं के विषय में अपनी सत्ता के आनन्द की अनुभूति होती है जिन पदार्थों तक वह अपने प्रति अनुकूलता का अनुभव करते हुए अपनी ममत्वबुद्धि का अथवा अहंभाव का विस्तार कर सकता है। सुषुप्ति में तथा मुर्च्छा आदि की अवस्थाओं में उक्त आनन्दानुभूति का सर्वथा अभाव रहता है। इस प्रकार दो अवस्थाएँ हुई—आनदानुभूति की अवस्था तथा आनन्दानुभूति के अभाव की अवस्था। आनन्दानुभूति उसका सत्वगुण बन जाती है जो सुख के रूप में दिखायी देती है और आनन्दानुभव बा अभाव उसका तमोगुण बन जाता है जोमोह के रूप में पर्यवासित होता है।

उक्त दोनों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक तीसरी स्थिति भी है जिस में जीव को आनन्द का आभास भी होता है और उसका अभाव भी रहता है। यह सत्वगुण और तमोगुण की मिश्रित अवस्था होती है। जैसे पुत्र का आभास सुखदायक है किन्तु वह स्वस्थ नहीं है, कल्याणयुक्त नहीं है अथवा सम्मृद्धि-सम्पन्न नहीं है तो साथ ही उससे सुख के अभाव की भी अनुभूति होती है। ये दो भाव एक साथ ही होते हैं अर्थात् प्रिय पुत्र के अभास के कारण जीत्र को अपनी सत्ता के आनन्द का अनुभव तो होता ही है किन्तु पुत्र को इष्टरूप में सुखी न देखकर सुखाभावरूप मोह का अनुभव भी होता है।[8] यह सत्वगुण और तमोगुण का मिश्रित रूप उसका रजोगुण बन जाता है। यह रजोगुण जीव क चांचल्य का जनक होने से दु:खात्मक माना गया है। इस प्रकार जीव में सुख दु:ख और मोह स्वभाव वाले तीन गुणों की अभिव्यक्ति हो जाती है।

पुर्यष्टक पुरुष का बन्धनगृह है

पुरि वसतीति पुरुषः—अर्थात पुरी में निवास करने के कारण जीव को पुरुष कहा जाता है। यह पुरी आठ तत्वों से मिलकर बनी है जिसे पुर्यष्टक कहा जाता है। यह आठ तत्व हैं। मन, बुद्धि, अहंकार और पंचतन्मात्र। यह पर्युष्टक ही जीव को संसृति के बखेड़े में घुमाता है, इसी की विद्यमानता में वह जन्मता और मरता है, और इसी से परवश बना हुआ वह संसार के भोगचक्र में फँसा हुआ है।[10]

यह पुर्यष्टक सूक्ष्म और स्थूल भेद से दो प्रकार का है। सूक्ष्म पुर्यष्टक मन बुद्धि अहंकार तथा शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध इन पाँच विषयों के सूक्ष्मरूप जिन्हें तन्मात्र कहा जाता है, उअसे मिलकर बना है।[11] तन्मात्र शब्दादि विषयों की सामान्य अवस्था को कहते हैं जिसमें किसी प्रकार की विशेषता का उदय नहीं हुआ होता।[12] जैसे गन्धतन्मात्र का अर्थ है केवल गन्ध जिसमें तीव्र गन्ध, मन्द गन्ध, सुगन्ध, दुर्गन्ध, घृत की गन्ध, चन्दन की गन्ध आदि विशेषताएँ उत्पन्न न हुई हों। यह स्थूल गन्ध तन्मात्र नहीं कहलाती। यह तो सवेद्य घ्राणग्राह्य विषय है। गन्ध तन्मात्र का ग्रहण घ्राण से सम्भव नहीं है।[13] इसी प्रकार अन्य तन्मात्रों के विषय में भी समझना चाहिए। इन्हीं आठ तत्वों से बने पुर्यष्टक को सूक्ष्म शरीर भी कहा जाता है।

स्थूल पुर्युष्टक उपर्युक्त मन बुद्धि अहंकार इन तीन अन्तःकरणों और आकाशादि पाँच स्थूल भुतों के योग से निर्मित होता है। ये स्थूल महाभूतसूक्ष्म तन्मात्रों के कार्यरूप होते हैं। स्थूल पुर्यष्टक को स्थूल शरीर भी कहा जाता है। स्थूल पुर्यष्टक अल्पस्थायी है। इसलिए मृत्यु के पश्चात् सूक्ष्म शरीर इसे छोड़कर दूसरे शरीर को प्राप्त कर लेता है। सूक्ष्म शरीर तब तक जीव का पिण्ड नहीं छोड़ता जब तक आत्मा स्वरूप में स्थित न हो जाए। यह सूक्ष्म शरीर या पुर्यष्टक ही पुरुष का बन्धनगृह है। यही उसे विभिन्न योनियो में ले जाने वाला वाहन भी है।

पुर्यष्टक का सदुपयोग

पुर्यष्टक एक बन्धन तो है ही किन्तु यह केवल बन्धन-गृह ही नहीं है अपितु बन्धन से मुक्य होते का उपाय भी है। पुर्यष्टक रहते हुए ही पुर्यष्टक से मुक्त होने का प्रयास किया जाता है। जब साधक सूक्ष्म या स्थूल पुर्यष्टक में रहते हुए ही अपने चित् को स्पन्द तत्व में लीन कर देता है तब वह भोग्य-भाव को छोड़कर भोक्तृभाव को प्राप्त करके पति बन जाता है और शक्तिचक्र का स्वामी हो जाता है।[14] मानव-जीवन का तो लक्ष्य ही

पशु-पुर्यष्टक को छोडकर पतिभाव को प्राप्त करना है। मनसैवानुद्रष्टव्यम् तथा "इह चेदवेदीत् अर्थ सत्यमस्ति चेदवेदीन्महती विनष्टि" इत्यादि श्रुति-वाक्यों का तात्पर्य मनुष्य-योनि के इसी पुर्यष्टक की अन्यत्र असुलभ महान् उपयोगिता सिद्ध करना है। केवल पुर्यष्टक के बन्धन का दुखडा रोते रहने से ही लक्ष्य प्राप्त नहीं होगा अपितु जीवन के समस्त व्यवहार करते हुए समस्त उत्तरदायित्वों का निर्वाह करते हुए ही इसी पुर्यष्टक के द्वारा निरन्तर अहं विमर्शात्मक अनुसन्धान करके सर्वत्र शाश्वतस्पन्दमयी व्यापकता की अनुभूति करने का इस जीवन की सार्थकता होगी। विश्वात्म-भाव प्राप्त कर लेने पर इसी पुर्यष्टक में रहते हुए भी बन्धन बन्धन नहीं रहता। पशु तब जीवन्मुक्त बन जाता है।[15] सुप्रबुद्ध योगी तीव्र अनुसन्धान के द्वारा जब स्वरूपानुभूति प्राप्त कर लेता है तब वह स्वेच्छा से अनन्त पुर्यष्टकों तथा अन्यान्य द्वन्द्वभावों के सृष्टि और लय का सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है। अतः इस मानवयोनि के पुर्यष्टक को परमेश्वर का एक वरदान ही समझना चाहिए।

पुरुषतत्व के विभिन्न नामों की अन्वर्थता

पुरुष तत्व को त्रिक दर्शन में शून्य, अणु, आत्मा, पशु, नर, माया प्रमाता, जीव, पुंस्तत्व आदि नामों से अभिहित किया गया है। ये नाम उसकी विशेषताओं की ओर इंगित करते हैं। इसे शून्य प्रताता इसलिए कहा जाता है क्योंकि माया ने इसके स्वातन्त्र्य का तिरोधान कर इसे सूक्ष्म बना दिया है। शून्य का अर्थ यहाँ सूक्ष्म है। माया जड़ है इसलिए इसका कार्य भी जड़ है। पुरुष भी माया का ही कार्य है।[16] जड़ का स्वभाव ही परिच्छिन्नता से प्रताशित होता है। परिच्छिन्न प्रकाशता के ही कारण पुरुष को पशु कहा जाता है।[17] परिच्छिन्वतया पश्यति इति पशुः—अर्थात् पुरुष की दृष्टि सीमित है, इस करण भी यह पशु कहलाता है। पाश्यते बध्यते इति पशुः—यह भी पशु की परिभाषा हो सकती है। संवित् मायादि पाशों से बंधकर पशु बन गयी हैं।[18]

पुरुष का नाम अणु भी है। अणु संकुचित को कहते हैं। पूर्वोक्त षट् कंचुकों के द्वारा किया गया संवित् का संकोच उसकी अणुता में हेतु है।[19] यह संकोच ही उसका आणव मल है। प्राणादि क्रियाओं को धारण करने के कारण तथा अन्तः करण आदि का प्रेरक होने के करण इस पुरुष को जीव कहा जाता है। जीव धातु प्राधधारण के अर्थ में प्रयुक्त होती है।[20] उसी में अच् प्रत्यय लगाकर जीव शब्द निष्पन्न होता है। पुरुष तत्व के अभाव में देह में प्राणन-क्रिया का अभाव हो जाता है। पुरुष ही प्राणों का आधार

है। इसलिए जीव कहलाता है। स्वतन्त्रता से रमण न करने के कारण यह नर संज्ञा से भी कहा जाता है। न स्वातन्त्र्येण रमते इति नरः। कंचुक तत्वों ने संवित् की स्वतन्त्रता को हर लिया है इसलिए उसका "नर" नाम सार्थक होता है। पुंत्यय से व्यवहृत होने के कारण यह पुंस्तत्व कहलाता है।[21] अतति गच्छति व्याप्नोति इत्यात्मा अर्थात् विभिन्न योनियों में परिभ्रमण करने के कारण तथा संविद्‌रूप से जगत्त्रय को व्याप्त करने के कारण पुरुष को आत्मा कहा जाता है। इस प्रकार पुरुष तत्व के विभिन्न नाम इसकी विशेषताओं को ही प्रकट करते हैं।

अन्य दर्शनों में पुरुषतत्व

अन्य तत्वों के समान पुरुष के विषय में भी त्रिक दर्शन का अन्य दर्शनों से कुछ विरोध पुरुष के स्वरूप को लेकर है। पहले न्याय दर्शन को ही लें। आत्मा के सन्दर्भ में न्याय का मत सबसे आधिक जटिल है। न्याय दर्शन पुरुष के लिए आत्मा या जीवात्मा शब्द का प्रयोग करता है। उसके अनुसार आत्मा नित्य और नाना तो है ही साथ ही विभु भी है। कर्ता और भोक्ता भी है और साथ ही स्वरूप से जड़ है। यह सिद्धान्त सचमुच बड़ा असमंजस है कि आत्मा अनेक हों और सभी व्यापक हों, और मजे की बात यह कि वे जड़ भी हों। यदि अनेक आत्मा विभु परिमाण वाले हों तो क्या उनमें कर्म-सांकर्य और भोग-सांकर्य का दोष नहीं आयगा? एक आत्मा देह के भीतर भी हो और वही उसी समय देह के बाहर भी हो, यह कैसे सम्भव है? इसलिए जैनों ने न्याय के आत्मस्वरूप का बड़ा उपहास किया है।[22]

न्याय ने इच्छा द्वेष प्रयत्न सुख दुःख और ज्ञान को आत्मा का लिंग कहा है।[23] लिंग अर्थात् वे गुण जिनसे यह पहचान होती है कि यहाँ आत्मा है। ये गुण आत्मा के स्वरूप नहीं हैं अपितु समवाय सम्बन्ध से उसमें रहने वाले नित्य धर्म हैं। नित्य का अर्थ भी संसारकाल में ही नित्य है। मुक्त आत्मा में इनका अभाव हो जाता है।[24] उस समय वह ज्ञान अर्थात् चेतना से शून्य शिलाशकलवत् हो जाता है। मुक्तावस्था में आत्मा स्वरूप में स्थित होता है। स्वरूप में स्थित होने का अर्थ यही है कि वह निर्गुण और निष्क्रिय, निश्चेतन, निर्दुःख और निरानन्द होकर संवेदनहीन दशा में पड़ा रहता है। मुक्तात्मा के इस स्वरूप की खिल्ली प्राय: सभी दार्शनिक और साहित्यिक लोग उड़ाते हैं।[25] एक अन्य बड़ा दोष न्यायमत में यह है कि वे आत्मा को नित्यानुमेय मानते है।[26] प्रत्यक्ष-ग्राह्य नहीं, जबकि श्रुति उसे नित्यापरोध स्वीकार करती है।[27] अहं प्रत्यय से आत्मा

का प्रत्यक्ष आबालवृद्ध सभी को होता देखा जाता है। इसी से मिलता जुलता मत वैशेषिकदर्शन का भी है। वह भी इच्छा द्वेष आदि को आत्मा को लिंग कहता है।[28]

त्रिक दर्शन को पुरुष की ऐसी निर्गुण और संवेदनहीन दशा रुचिकर नहीं है, न ही उसकी अनुमेयता ही अच्छी लगती है। पुरुष तो साक्षात् शिव ही है। भले ही उसके स्वातन्त्र्य में थोड़ा संकोच आ गया है। दूध गाय के स्तन में रहे या बाहर पात्र में रहे, दूध तो दूध ही रहता है। चन्द्रमा पञ्चदशकला-सम्पन्न हो तब भी चन्द्रमा ही कहलाता है और यदि एक कलावशिष्ट हो तब भी चन्द्रमा ही कहलाता है। शक्ति-संकोच से आत्मा को शून्य या जड़ तो कहा जा सकता है किन्तु उसे निर्गुण निश्चेतन और निष्क्रिय नहीं कहा जा सकता।

सांख्य दर्शन ने पुरुष तत्व को चेतन्यस्वरूप और अणु परिमाण मानकर उसके जड़त्व और विभुत्व को लेकर जो दोष आ रहे थे उनका परिमार्जन तो कर दिया किन्तु उसकी निगुणता और बहुत्व का दोष ज्यों का त्यों बना रहता है। दूसरी बात यह है कि सांख्य जनन-मरण और करणों का सन्बन्ध आत्मा से जोड़ता है और इनसे पुरुष-बहुत्व की सिद्धि करता है जो उचित नहीं है। नित्य पुरुष का जन्म-मरण से भला कैसा सम्बन्ध ? यदि यह जन्मादि का सम्बन्ध देह से माना जाता तो उचित रहता, किन्तु तब आत्मैकत्व का सिद्धान्त ही सिद्ध होता। सांख्य आत्मा को नित्य और नाना कहता है। यह सिद्धान्त त्रिक दर्शन को मान्य नहीं है। कंचुकवशात् तथा कर्मसंस्कारवशात् पुरुष में व्यावहारिक नानात्व ही त्रिक दर्शन को स्वीकार्य है आत्यन्तिक नहीं।

जैमिनीय दार्शनिक आत्मा को कर्ता, भोक्ता, व्यापक, प्रत्येक शरीर में भिन्न और चैतन्य-विशिष्ट मानते हैं। न्याय के समान मीमांसक भी आत्मा को स्वरूप से चेतन नहीं मानते। ज्ञान चैतन्य सुख दुःख आदि धर्म आत्मा में समवाय-सम्बन्ध से रहते हैं। न्यायमत से इस मत में यह अन्तर है कि मीमांसक आत्मा में सक्रियता या परिणमित्व स्वीकार करते हैं। आत्मा के दो अंश हैं चित् तथा अचित्। चिदंश से वह पदार्थों का बोध प्राप्त करता है और अचिदंश से परिणाम को प्राप्त करता है, किन्तु परिणामी होने पर भी आत्मा नित्य है। मीमांसा का उक्त मत श्रुति और तर्क दोनों के विरूद्ध है। आत्मा को दो अंशों वाला कहना और परिणामी कहना उसे अनित्य कहने के ही समान है। आत्मा की अनित्यता किसी भी पारलौकिक सुख चाहने वाले तथा मोक्षाभिलाषी को मान्य नहीं हो

सकती।

अद्वैत वेदान्त के जीव से भी त्रिक दर्शन का पुरुष भिन्न है। शांकर वेदान्ती जीव को माया का पुत्र कहते हैं। यहाँ तक तो ठीक है किन्तु वे उसे मिथ्या और आभास मात्र कहते हैं। जीवात्मा शरीरेन्द्रिय पन्जर का अध्यक्ष है तथा कर्मफल का भोक्ता है।[31] ब्रह्म ही एक सत्य है। जीव और जगत् मिथ्या है। त्रिक दर्शन को वेदान्त का यह जीव-मिथ्यात्ववाद स्वीकार्य नहीं है। यह कहना तो ठीक है कि ब्रह्म ही सत्य है किन्तु जीव को मिथ्या कहना उचित नहीं। यूँ तो शैव दर्शन में भी एक शिव ही सत्य है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि छत्तीस तत्व मिथ्या हैं। परमेश्वर से प्रादुर्भूत यह संसार मिथ्या कैसे हो सकता है? इस प्रकार तो परम्परया परमेश्वर में भी मिथ्यात्व आ पड़ेगा। यह तो ठीक है कि जीव और जगत् आत्मा में प्रार्दुभूत होने वाला दृष्टियाँ हैं[32] किन्तु यह दृष्टि उस द्रष्टा परमेश्वर की ही हैं। अतः दृष्टि मिथ्या नहीं हो सकती। अतः पुरुष को सत्य मानना ही उचित हैं।

पुरुष शिव ही है

त्रिक दर्शन के अनुसार पुरुष और शिव में कोई मौलिक स्वरूपगत भेद नहीं है। स्वरूप दोनों का संवित् ही है। अन्तर इतना ही है कि शिव शुद्धसंवित् हैं और पशु मलिन संवित् है। शिव अपनी ही शक्ति से पुर्यष्टक का निर्माण करके स्वयम् अपनी ही इच्क्षा से पशु बनकर उसमें वन्दी बना है। इस अवस्था में वह निज स्वरूप को सर्वथा भूलकर अविवेकी अक्षपज्ञ अल्पकर्ता, असहाय और पराधीन सा हो गया है। यह पुर्यष्टक का बन्धन जीव को इस प्रकार मजबूती से अपने में लपेटे हुए है और संसार के विषयों की विष-मिश्रित मदिरा को अमृत समझकर पिए जा रहा है।[33] ब्राह्मी आदि शक्तियों ने अपनी मोहिनी आकृतियों से इसे स्थूल एवं सूक्ष्म अभिलापात्मक परम्पराओं में इस प्रकार फँसा लिया है कि अपने वास्तविक स्वरूप के विषय में चिन्तन करने का एक क्षण भी उसे नहीं मिलता।[34] किन्तु यह सब परमेश्वर की ही इच्छा से हो रहा है। वही पहले चक्रेश्वर था अब वी शक्तिचक्र का दास बन गया है। जो स्वतन्त्र भोक्ता था अब परतन्त्व भोग्यभाव को प्राप्त हो गया है। इस प्रकार शिव ही जीव है वही जगत् है। वही पति है और वही पशु है। वही बन्धन है वही बाँधने वाला है और वही बँधने वाला भी है। यही त्रिक दर्शन का सार है।

चतुर्विध प्रमाता

आध्यात्मिक सन्दर्भ में पुरुष-प्रमाताओं को चार वर्गों में विभाजित

किया गया है। अबुद्ध प्रमातृवर्ग, बुद्धप्रमातृवर्ग, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध प्रमातृ वर्ग।[35]

1. अबुद्ध प्रमाता

अबुद्ध प्रमाता वे हैं जो परमेश्वर की तिरोधानकरी शक्ति के द्वारा लम्बी संहारदशा में फेंक दिए गए हैं।[36] यह अवस्था मायारूपी कालरात्रि की दशा है। इसी को सत्वादि गुणों की साम्यावस्था कहा जाता है। यह एक दीर्घ काल की प्रलयावस्था है। अबुद्ध प्राणी इस प्रलय की अवधि में अजगरों की तरह प्रगाढ़ अन्धकार से भरी हुई घोर गुहाओं में चेतनाशून्य निद्रा की सी अवस्थाओं में पड़े रहते हैं। इस काल में उन प्राणियों पर स्वातन्त्र्याबोध आणव मल का ऐसा दुर्भेद्य कवच चढ़ा रहता है कि उन्हें अपनी चेतना की सत्ता या असत्ता का बिलकुल भी ज्ञान नहीं रहता। शब्दादि विषयों की संवेदना उन्हें लेशमात्र भी नहीं होती। न उन्हें सुख की अनुभूति होती हैं न दु ख की। एक प्रकार की गहन निसंज्ञता की सी अवस्था में ही अनन्तकाल तक ये अबुद्ध प्रमाता पड़े रहते हैं। उस अवस्था को सुषप्ति की अवस्था नहीं कह सकते, क्योंकि सुषुप्ति में अज्ञान की वृत्तियों से प्रमाता सुख का अनुभव करता रहता है जिसकी स्मृति जगाने पर होती है। अबुद्ध प्रमाताओं को तो किसी भी प्रकार की चेतना होती ही नहीं। इसलिए उन्हें अबुद्ध संज्ञा दी गयी है।

2. बुद्ध प्रमाता

अबुद्ध प्रमाताओं में से जिनके कर्मफल-विपाक का समय उपस्थित हो जाता है ऐसे प्राणियों को भगवान् अनन्तभट्टारक अपनी इच्छा से उस नि संज्ञ अवस्था से जगाकर उनमें चेतना का संचार कर देते हैं और कर्मानुसार फलोपभोग देने के लिए विभिन्न योनियों में धकेल देते हैं। ऐसे प्राणी अपने कर्मों के अनुसार अनेक योनियों में जन्म लेते रहते और मरते रहते हैं। हम जैसे सांसारिक पशु इसी वर्ग के प्रमाता हैं। विषयोपभोग के द्वारा कामाग्नि एवं विषय-पिपासा को शान्त करने में ही इसका समग्र जीवन निकल जाता है। विषयोपभोग ही इनके जीवन का लक्ष्य होता है। परमेश्वर की निग्रहलीला के घोर चक्र में फँसे हुए ऐसे प्राणी सुरा, कामिनी और सुवर्णादि को ही उपादेय समझते हुए कभी भी आत्मचिन्तन की दिशा में प्रवृत नहीं होते। जायस्व म्रियस्व बस यही इसका जीवन.चक्र होता है। देह-इन्द्रियों और अन्त करण से विषयोपभोग करने के कारण इनको बुद्ध-प्रमाता कहा जाता हैं। आणव कार्म और मायीय तीनों मलों का पूर्ण आबरण इन पर चढ़ा होता है।

3. प्रबुद्ध प्रमाता

जब प्रमाता के हृदय में विषयों का उपभोग करते करते उनसे अरुचि उत्पन्न हो जाती है तो वह आत्मानुसन्धान के प्रति प्रवृत होने लगता है तब ऐसा प्रमाता प्रबुद्ध कहलाता है। बुद्ध प्रमाताओं में से ही प्रबुद्ध प्रमाताओं का उदय होता है। किन्तु यह प्रबुद्धता होती है भगवान् के अनुग्रह से ही। भगवान् अनन्तनाथ परम कृपालु हैं। वे जब कभी कृपा करके किसी किसी प्रमाता पर शक्तिपात कर देते हैं तो प्रमाता के हृदय में दिव्य शाम्भव-भक्ति का स्रोत सहसा फूट पड़ता है। उस शैवी भक्ति के सम्बन्ध से प्रमाता का अज्ञान क्षणभर में ही निवृत हो जाता है।[37] संवित् पर पड़ा हुआ मायीय आवरण छिन्न होने लगता है और उस प्रबुद्ध प्रमाता को संसार के सभी विषय और सम्बन्ध इन्द्रजाल के समान अनुभूत होने लगते हैं। पुनः वह प्रमाता भगवान् शिव की इच्छा से, उन्हीं की शक्ति से समाविष्ट होकर भक्ति और मुक्ति का रहस्य जानने क लिए गुरु के पास ले जाया जाता हैं। गुरु की आराधना करके और उसे सन्तुष्ट करके उससे शांकरी दीक्षा प्राप्त करता है।[38] यूँ समझिए कि भगवान् शंकर स्वयम् ही गुरु का रूप धारण करके उसे दीक्षा देते हैं। दीक्षा के प्रभाव से प्रबुद्ध प्रमाता की आत्म-जिज्ञासा तीव्रतर होती चली जाती है। भगवान् शंकर तत्क्षण ही उसे प्रबुद्ध कोटि से निकाल कर सुप्रबुद्ध भाव की उच्चतर भुमिका में प्रविष्ट कर देते हैं।

4. सुप्रबुद्ध प्रमाता

सुप्रबुद्ध प्रमाता सबसे उत्कुष्ट कोटि का प्राणी होता है। प्रबुद्ध प्रमाता ही निरन्तर आत्मानुसन्धान करते हुए, सन्तुष्ट गुरु से शैवी दीक्षा प्राप्त करके योगमार्ग पर बढ़ने हुए सुप्रबुद्ध अवस्था में प्रविष्ट हो जाता है।[39] सुप्रबुद्ध प्रमाता उस तुरीया शाक्त भूमिका पर आरूढ़ हो चुका होता है जहाँ से वह पुनः पशुभाव को प्राप्त नहीं होता।[40] वह सर्वथा निर्मल शान्त हो जाता है। उसे तो साक्षात् शिव ही समझिए। उसे सर्वदा जाग्रत् आदि तीनों अवस्थाओं में, आदि, मध्य और अन्त में चिद्रूप स्वभाव की अनुभूति अखण्ड और अप्रतिहत रूप में हुआ करती है।[41]

उक्त चारों प्रमाताओं में प्रबुद्ध प्रमाता ही गुरु के उपदेश के योग्य होते हैं। अबुद्ध और बुद्ध प्रमाता तो आत्माचिन्तन की और प्रवृत ही नहीं होते। अतः इनका कभी उत्थान नहीं होता। इनका उत्थान परमेश्वर के शक्तिपात से हो जाए तो और बात है। सुप्रबुद्ध योगी का तो गुरु की आवश्यकता ही नहीं होती।

इस प्रकार त्रिक दर्शन में पुरुष का स्वरूप अन्य दर्शनों से बहुत भिन्न है। वह त्रिकगुणात्मक है और प्रकृतिरूप प्रमेय तत्व को त्रिगुणात्मक रूप में ही देखता है।

प्रकृति (तेरहवां तत्व)

पुरुष-तत्व के पश्चात् प्रकृति का उद्भव होता है। यह जगत् विकास के क्रम में तेरहवाँ तत्व है। यह तत्व भी परमेश्वर की स्वातन्त्र्य शक्ति का ही एक रूप है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन तीन तत्वों को समष्टि का नाम स्वातन्त्र्य है। इसी को हमने गत पंक्तियों में ज्ञान शक्ति क्रियाशक्ति और माया शक्ति कहा है। ये तीन शक्तियां ही जीव के सत्व रजस् और तमस् ये तीन गुण कहलाने हैं। इन तीनों से युक्त होकर पुरुष त्रिगुणात्मक कहलाता है। प्रकृति भी त्रिगुणात्मिका है किन्तु इस त्रिगुणात्मकता का दूसरा अभिप्राय है। गुणों का आविर्भाव तो प्रकृति से भी पहले हो चुका है, किन्तु उन तीनों गुणों का जो समान्य आकार है जो केवल "इदम्" इतने ही रूप में अवभासित होता है वह प्रकृति तत्व कहलाता है।[42] पुरुष और प्रकृति में यही अन्तर है कि अत्यन्त संकुचित "अहम्" का नाम पुरुष है और सामान्याकर "इदम" का नाम प्रकुतित्व है। इस सामान्य आकार वाले "इदम्" में निखिल विश्य इस प्रकार एकीभूत होकर निलीन रहता है जैसे मयूराण्ड रस में मोर के पंखों के विचित्र रंग समरसभाव से निवास करते हैं।

यह सामान्य आकार क्या है ? वस्तुत: यह सत्वादि तीनों गुणों की साम्यवस्था है जिसे प्रकृति नाम दिया गया है। इस दशा में प्रकृति में विशेष आकार प्रकट नहीं होते हैं। विशेष आकार वाले प्रमेयों का उद्भव साम्यावस्थाक "इदम्" से नहीं हुआ करता। गुणों में वैषम्य आने पर ही महातत्वादि पदार्थों की उत्पति सम्भव है। साम्यावस्था तो स्थिरता की दशा होती है जिसमें किसी भी प्रकार की चेष्टा नहीं हुआ करती। लोक में भी देखा जाता है कि यदि तीन कोनों वाली किसी कठोर वस्तु को तीनों तरफ से समान बल लगाकर खींचा जाए तो वह वस्तु स्थिर हो जाएगी, वह किसो भी दिशा में हिल डुल नहीं सकती। क्योंकि तीनों ओर से समान शक्ति से आकर्षण हो रहा है। वह तभी हिलेगी जब उसे किसी कोने से अधिक शक्ति से खींचा जाए या कम शक्ति से खींचा जाए। जब वह हिलेगी तो उसमें विकार अवश्य आएगा और जब विकार आएगा तो कोई नवीन विशिष्ट आकृति भी अवश्य बनेगी। यही दशा साम्यावस्थाक प्रकृति की भी है। जब तत्वादि तीनों गुण समान-अवस्धा में रहेंगे तो उनसे कोई

भी नवीन वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकेगी। यद्यपि गुणों की साम्यावस्था में महत्तत्वादि तेइस तत्व प्रकृति में ही विद्यमान रहते हैं किन्तु उनके रहने का कोई संकेत उस समय नहीं मिलता। उस समय तो बस गुणों का सामान्य आकार केवल "इदम्" के रूप में ही रहता है। जैसे दूध में धृत रहता अवश्य है किन्तु वह दूध के रूप में ही रहता है। धृत के रूप में नहीं। धृत का तो कोई चिन्ह भी दिखाई नहीं देता। क्योंकि उस समय दूध केवल दूध होता है। वह उसका सामान्य आकार है। उस दूध से धृत तभी निकलेगा जब दूध में खटाई आदि मिलाकर वैषम्य उपस्थित किया जाए। उसी प्रकार जब सत्व रजस् और तमस् इन तीनों की समता में क्षोभ उत्पन्न करके उसमें विषमता आपादित की जाएगी तभी उससे करण तत्व और प्रमेय तत्वों का आविर्भाव होगा। तो निष्कर्ष यह हुआ कि सत्वादि गुणों की साम्यरूपिणी अवस्था का नाम प्रकृति है।[43]

गुण वैषम्य का हेतु

सांख्यमत से विरोध

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि उक्त तीनों गुणों में क्षोभ कैसे होता है जिससे उनमें वैषम्य आता है? क्या यह क्षोभ अपने आप ही होता है? या प्रकृति ही क्षोभ करती है? या इस क्षोभ का करने वाला पुरुष और प्रकृति से भिन्न कोई तीसरा तत्व है। अपने आप तो क्षोभ हो नहीं सकता, क्योंकि कोई भी कार्य बिना कारण के नहीं होता। प्रकृति भी स्वयम् में स्वयम् ही क्षोभ नहीं कर सकती, क्योंकि वह जड़ है। फलत: यही मानना पडता है कि कोई तीसरा प्रेरक ही गुणों के सान्य का भंग करता है जो चेतन और पूर्ण ज्ञानवान् है।

इस विषय में सांख्य की मान्यता यह है कि यह तो सत्य है कि क्षुब्ध प्रकृति से ही तत्वों का उद्भव होता है।[44] किन्तु यह क्षोभ प्रकृति में उसी के रजोगुण की चंचलता के करण स्वयमेव होता रहता है। पुरुष को भोग और मोक्ष देने के लिए ही प्रधान की प्रवृति होती है। प्रधान यद्यपि अज्ञ है, किन्तु जिस प्रकार अज्ञ दुग्ध की प्रवृति वत्स की बृद्धि के लिए स्वयमेव होती है वैसे ही अज्ञ और जड़ प्रधान भी पुरुष के लिए स्वयम् ही प्रवृत होता है।[45]

किन्तु सांख्य की यह मान्यता युक्ति-विरुद्ध है। जड़ प्रकृति में क्षोभ स्वयमेव कथमपि नहीं हो सकता। रजोगुण में चंचलता यदि स्वत: मानी जाएगी तो उसकी प्रवृत्ति नियमपूर्वक नहीं हो सकेगी। इसलिए त्रिक. दर्शन की यह मान्यता है कि प्रकृति में क्षोभ स्वत: नहीं होता अपितु प्रकृति

तत्व के अधीश्वर भगवान् श्री कण्ठनाथ अपनी इच्छा से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करते हैं[46] और उसी क्षोभ से गुणों में विषमता आती है। परमेश्वर की पंचकृत्यात्मक लीला को अधिक व्यवस्थित ढंग से चलाने के लिए भगवान् ईश्वर-भट्टारक ही प्रकृतितत्व में श्रीकण्ठनाथ बनकर प्रकट होते हैं और जीवों के कर्मो के अनुसार तदनुकूल प्रकृति का संचालन करते हैं। यही कारण हैं कि प्रकृति का व्यपार अनन्त प्रकार का है और विभिन्न प्रयोजनों के अनुकूल ही होता है। प्रकृति का कार्य पुरुष विशेषों के प्रति भिन्न प्रकार का होता है और साधारण पुरुषों के प्रति दूसरे प्रकार का। यदि भगवान् श्रीकण्ठनाथ विभिन्न प्रयोजनों के अनुकूल प्रकृति को प्रेरित न करते तो उसके परिणामों में कोई नियम वा व्यवस्था न होती।[47] यदि जड़ प्रकृति में स्वयम् ही परिणाम होता तो सभी प्राणियों के प्रति उसका एक सा ही परिणाम होता। मुक्त पुरुषों के प्रति भी वह भोग देने में प्रवृत हो जाती। क्योंकि जड़ प्रकृति को यह ज्ञान कैसे हो सकता है कि कौन पुरुष बन्धनग्रस्त है ओर कौन पुरुष मुक्त है, किसने शुभ कार्य किए हैं और किसने अशुभ किस कर्म का फल कैसा और कब मिलना चाहिए. किस प्रकार के परिणाम से कौन सा प्रयोजन सिद्ध सोता है। इस प्रकार का विवेक अचेतन प्रधान को नहीं हो सकता। यह सोचने विचारने की शक्ति चेतन अधिष्ठाता में ही हो सकती है। इस सोच-विचार के बिना प्रकृति का व्यापार नियमित रूप से चलना सम्भव नहीं। इसलिए त्रिक दर्शन में यह माना गया है कि ईश्वर की इच्छा से ही पुरुष के मन में लोलिका क्षुब्ध होती है और असक्षब्ध लोलिकायुक्त पुरुष के प्रति भगवान् श्रीकण्ठताथ प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके करण प्रमेय आदि तत्वों का सृजन करते है।[48] परमेश्वर की इच्छा के अनुसार ही भगवान् श्रीकण्ठनाथ प्रकृति का परिणाम विभिन्न प्रयोजनों के अनुकूल बाध गति से चलाते रहते हैं।

श्रीकण्ठनाथ

श्रीकण्ठनाथ प्रकृति तत्व के अधश्विर हैं जो ईश्वर-भट्टारक के अवतार हैं। इनका शरीर विशुद्ध गुणमय है। अपनी इच्छानुसार ये अपने गुणमय शरीर को स्थूल सूक्ष्म रूप दे सकते हैं। ईश्वर-भटटारक ही महा-माया की भूमिका में अवतीर्ण होकर भगवान् अनन्तनाथ कहलाते है और वे ही पुन: प्रकृति अथवा गुणतत्व में अवतीर्ण होकर श्रीकण्ठनाथ कहलाते हैं। इस प्र कार श्रीकण्ठनाथ अनन्त भट्टारक के शिष्य हैं।[49] किन्तु अनत्त-भट्टारक का शरीर गुणमय नहींहोता।वे तो शुद्धसंवित् के ही बने होते हैं।

श्रीकण्ठनाथ के भी एक शिष्य हैं—भगवान् उमापति नाथ ।[50] इन्हें ही स्वच्छनाथ भी कहा जाता है । पुराणों में जिन कैलासवासी शिव का गुण-गान किया गया है ये वे ही उमापतिनाथ हैं । निग्रह और अनुग्रह की लीला को ये ही निभाते हैं प्रकृति से लेकर पृथ्वी तक की अशुद्ध सृष्टि का संचालन भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही करते हैं ।

इस प्रकार निष्कर्ष यह निकला कि क्षुब्ध त्रिगुण से ही विभिन्न प्रमेय तत्वों का उदय होता है, अक्षुब्ध अथवा साम्यावस्थाक प्रकृति से नहीं । सांख्य ने गुणों का प्रारम्भ प्रकति से ही माना है इससे पहले से नहीं । किन्तु शैव दर्शन ने शिव की तीन शक्तियों के भीतर पहले से ही गुणों का मूल स्वीकार किया है । सांख्य दर्शन पूर्णरूप से द्वैतवादी दर्शन है । उसकी पहुँच पुरुष और प्रकृति से आगे नहीं है । पुरुष प्रमाता है, प्रकृति उसका प्रमेय है । किन्तु त्रिकाचार्य प्रमेय तत्व की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार नहीं करते । उनकी दृष्टि में प्रमाता के प्रकाश से प्रकाशित होने पर ही प्रमेय तत्व की सिद्धि होती है । प्रमेयता एक दृष्टि से अतिरिक्त कुछ नहीं है । जब प्रमाता ही प्रमेय को प्रमेयता की दृष्टि से देखता है तभी उसमें प्रमेरूपता आती है ।[51] इसलिए प्रकृति में जो त्रिगुणात्मक रूप से प्रमेयता आयी है वह इसलिए आयी है क्योंकि पुरुष प्रमाता स्वयम् त्रिगुणात्मक है । यह प्रमेयता अकल वर्ग के शाम्भव और शाक्त प्रणियों में नहीं थी । क्योंकि वहाँ केवल प्रमाता ही था, प्रमेय था ही नहीं, प्रमेय यदि था भी तो वह प्रमाता के ही रूप में था । पुरुष-प्रमाता के लिए ही प्रमेयता की सत्ता है क्योंकि प्रमाता ही प्रमेय को प्रमेयता की दृष्टि से देखता हैं । पुरुष त्रिगुणात्मक है इसलिए वह प्रकृति को त्रिगुणात्मक रूप में देखता है । अतः प्रकृति से पहले पुरुष को ही त्रिगुणात्मक त्रिक दर्शन में माना गया है ।

गुणों का जितना सूक्ष्म और युक्तियुक्त विवेचन त्रिक दर्शन के आचार्यों ने किया है उतना न तो सांख्य ने किया, न वेदान्त दर्शन ने और न ही वैष्णव आचार्यों ने किया है । सांख्य तो पुरुष को निगुण कहता है और प्रकृति को त्रिगुणात्मक कहता है । जब कि पूर्वोक्त रीति से पुरुष ही त्रिगुणात्मक है । पुरुष की त्रिगुणात्मकता से ही प्रकृति में त्रिगुणात्मकता आयी है । कुछ दार्शनिक तो ईश्वर तथा ब्रह्मा का सम्बन्ध भी गुणों से जोड़ते हैं । त्रिक दर्शन का मत है कि गुणों की चर्चा करना केवल पुरुष तत्व तक ही उचित होता है । ईश्वर या ब्रह्म तो निस्त्रैगुण्य अवस्था में प्रतिष्ठित है ।

अद्वैत वेदान्त सें मतभेद

अद्वैत मत में भी प्रकृति को त्रिगुणात्मिका माना गया है।[52] माया और प्रकृति को शांकर वेदान्ती एक ही तत्व मानते हैं। जीव और ईश्वर उसी माया के संसर्ग से उत्पन्न होते हैं। अत: उनके मत में ईश्वर भी त्रिगुणात्मक ही है। ईश्वर के तीन रूप हैं—ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र। ये तीनों ही त्रिगुणात्मक हैं। ब्रह्मा जी रज: प्रधान हैं जो जगत का निर्माण करते हैं। विष्णु सत्व प्रधान हैं जो जगत् का पालन करते हैं और रुद्र तमोगुण प्रधान है। उन्हें संहारकर्ता माना गया है। अद्वैतमत में ही नहीं अपितु पुराणों, वैष्णव दर्शनों तथा काव्यजगत् में भी ब्रह्मादि देवों का यही रूप वर्णित है[53] किन्तु त्रिक दार्शनिकों को यह विचार युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। गुणों की सत्ता तो पुरुष और प्रकृति के स्तर तक ही मानना उचित है। ईश्वर को त्रिगुणात्मक कहना तो उसके महत्व को न्यून बनाना है। त्रिक दर्शन के अनुसार माया तत्व तक की सृष्टि में गुणों का विकास नहीं हुआ होता। इसलिए माया से उपर अनन्त भट्टारक ईश्वर भट्टारक सदाशिव और शिव में गुणों की सत्ता स्वीकार करना तर्क विरुद्ध है। वैसे माया में गुणमयी सृष्टि बीजरूप में निवास करती है किन्तु इससे उसे त्रिगुणात्मक नहीं माना जा सकता। यूँ तो परमाशिव में छत्तीसों तत्व ही बीजरूप में रहते हैं। तो क्या इस कारण परमशिव में जडतादि धर्म स्वीकार कर लेने चाहिए ? इसलिए सर्वशक्तिमान् परमेश्वर पर त्रिगुणात्मकता का लांछन लगाना न्याय-संगत नहीं है।

कथञ्चित् अद्वैतमत के अनुसार यदि ब्रह्मादि तीनों देवों के साथ सत्वादि गुणों के अस्फुट एवं सूक्ष्म रूपों को जोडा जाए तो उसमें कुछ परिवर्तन करना पड़ेगा। अर्थात् रुद्र को तमोगुण प्रधान नहीं अपितु सत्व-प्रधान कहना चाहिए और विष्णु को तमोगुण प्रधान मानना चाहिए। इसका कारण यह है कि सत्वगुण का स्वभाव प्रकाश और सुख है तथा तमोगुण का स्वभाव है गुरुता और विषाद।[54] सत्वगुण चित के मलों को क्षीण करता है जिसे भेदवासना नष्ट होती है और अभेदभाव का उदय होने लगता है। संहार के देवता भगवान् रुद्र को सत्वप्रधान इसलिए मानना उचित है क्योंकि संहार में भेदात्मक जगत् अभेदात्मका की ओर बढ़ने लगता है। संहार में क्लेशों का भी क्षय हो जाता है। तमोगुण के प्रभाव से प्रकृति के चांचल्य में अवरोध उत्पन्न होता है, उसकी परिणाम-शीलता शिथिल होने लगती है। इसके परिणामस्वरूप संसार कुछ समय के लिए स्थिर हो जाता है। स्थिति और पालन करना विष्णु का स्वभाव है।

अत: विष्णु को तमोगुण प्रधान माना जाना चाहिए। पुराणों में जो रुद्र को कर्पूर के समान गौरवर्ण और विष्णु को श्यामवर्ण कहा गया है वह भी इसी बात का द्योतक है। गौरवर्ण सत्वगुण का और श्यमावर्ण तमोगुण का प्रतीक है। रुद्र का तृतीय नेत्र भी संहार के साथ साथ प्रकाशात्मक सत्वगुण का भी सूचक है।[55] ब्रह्मा को रजोगुण प्रधान मानना ही उचित है, क्योंकि प्रवृत करना और उत्पन्न करना रजोगुण का स्वभाव होता है।

शैव शास्त्रों से असंख्य रुद्र माने गए हैं। उत्तर के तत्वों को पूर्व पूर्व के तत्वों में विलीन करने याले असंख्य रुद्र होते हैं। "असंख्याता रुद्रा ये अधिभम्याम्" ऐसा श्रुति भी कहती है। प्रथम अध्याय में विभिन्न रुद्रों का उल्लेख किया जा चुका है। इस प्रकार कहने का भाव यह है कि ब्रह्मादि देवों को भ्रगुण नहीं माना जाना चाहिए। यदि माना भी जाए तो उक्त रीति से ही गुणों की स्थिति स्वीकार की जानी चाहिए। पुरुष से लेकर पृथ्वी तत्व-पर्यन्त रुद्रों को किसी प्रकार सगुण भले ही मान लिया जाए किन्तु इससे ऊपर के रुद्रों को कथमापि सगुण नहीं माना जा सकता। वेदान्त दर्शन ने गुणों के स्वभाव को गहनता से अवलोकित नहीं किया।

जाग्रत् आदि दशाओं की गुणात्मकता पर विचार करने में भी अद्वैत वेदान्तियों ने सूक्ष्मता से काम नहीं लिया। उन्होंने सुषुप्ति को तमोगुण-प्रधान और जाग्रदवस्था को सत्वगुणप्रधान स्वीकार किया है। किन्तु वास्तव में सुषुप्ति की दशा को सत्वप्रधान और जाग्रद् दशा को तमोगुण प्रधान माना जाना चाहिए। अज्ञान और बन्धन तमोगुण का स्वभाव है। सबसे अधिक अज्ञान तो जाग्रत्काल में ही होता है। भेद-प्रथा का विकास अभिकतर जाग्रद् दशा में हों होता है। जाग्रत्काल में बुद्धि पर तमोगुण का ऐसा मजबूत आवरण पड़ा होता है कि पुरुष मिथ्या पुत्र कलत्र मित्र आदि के सम्बन्ध को सत्य मान बैठता है और इन्द्रियों से अनुभव किए गए सुख दु:ख को वास्ताविक समझता है। आवरण और भारीपन तमोगुण का ही स्वभाव है। जाग्रददशा में ही अज्ञान का आवरण और क्लेशों की गुरुता, सुषुप्ति और स्पप्न की तुलना में अधिक होती है देहात्मभाव, राग, द्वेष ममत्व आदि मोह का परिवार जाग्रत्काल में ही अधिक अभिव्यक्त हुआ करता है। अत: जाग्रददशा को ही तमोगुण प्रधान कहना उचित है यद्यपि स्वप्न में भी अज्ञान रहता है किन्तु कंचुक तत्वों का बन्धन शिथिल पड़ जाता हैं। जाग्रद दशा में अज्ञान का पूर्ण प्रभाव रहता है।

इसके विपरीत सुषुप्ति की दशा में अज्ञान का बन्धन ढीला पड़ गया होता है। भेदज्ञान उस समय क्षीण हो जाता है। भेद उस समय संस्कार-

शेष ही रह जाता है।[56] सभी मल भी क्षीण पड़ जाते हैं और क्लेशों का अभिभव हो जाता है। स्वयम् वेदान्ती ही कभी कभी समाधि और मोक्ष तुलना सुषुप्ति से किया करते हैं। यद्यपि सुषप्ति और समाधि में भेद है किन्तु वृत्ति-सहित्य और सुखानुभूति की समानता से समाधि की तुलना सुषुप्ति से की जाती है। सुषुप्ति में सुख की सत्ता तो मानी ही जाती है। यह अनुभव से सिद्ध है। इसलिए सुषप्ति को ही सत्वगुण-प्रधान मानना उचित है। लघुता और प्रकाश जो सत्वगुण का स्वभाव है वह सुषुप्ति में ही खुल कर अभिव्लक्त होता है। आत्मा सुख.स्वरूप है। सुषुप्ति में आत्मा स्वयम् में ही लीन होता है। यह बात स्वयम् आचार्य शंकर स्वीकार करते हैं।[57]

निष्कर्ष यह है कि प्रकाश-बहुल और सुख-बहुल होने से सुषुप्ति सत्व-प्रधान है। प्रवृति चेचलता दु ख से संयुक्त होने के कारण स्वप्नदशा रजोगुण की अवस्था है और गुरुता, आवरण, परतन्त्रता राग द्वेष मोह आदि से संस्पृष्ट होने के कारण जाग्रद्दशा तमोगुण-प्रधान है।[58] यह तो सत्य है कि जागरणकाल में इन्द्रियों से विषयों का प्रकाश होता है, सुषुप्ति में वह प्रकाश नहीं होता, किन्तु सुषुप्ति की दशा आत्मप्रकाश के अधिक निकट है अत: सुपत्ति ही सत्वप्रधान दशा है। श्रुति में कहा गया है कि सुषुप्ति में प्राणी आत्मस्वरुप में प्रविष्ट हुआ होता है।[59] आत्मप्रकाश ही वास्तविक प्रकाश स्वरूप पर आवरण ही है।

माया और प्रकृति में भेद

अद्वैत वेदान्त में प्रकृति को ही माया और अविद्या कहते हैं। वस्तुत: माया और अविद्या वेदान्तियों के अनुसार प्रकृति के दो रूप हैं।[60] माया के संसर्ग से ब्रह्म ईश्वररूप में प्रकट होकर संसार के जन्मादि का हेतु बनता है और अविद्या की उपाधि को धारण करके ब्रह्म जीवरूप में प्रकट होकर संसारी बना हुआ है। माया प्रकृति का निर्मलरूप है और अविद्या मलिन रूप है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्य वस्तु है, प्रकृति माया अविद्या जीव जगत् ईश्वर सब आभास मात्र हैं। इनकी वास्तविक सत्ता नहीं है। किन्तु अनादि काल से इसका आभास चला आ रहा है। संसार चक्र इसी का नाम है। ऐसा वेदान्तियों का मत है। किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार अद्वैतवादियों की माया से पूर्वोक्त माया में भेदहै। माया और प्रकृति एक ही तत्त्व नहीं है। अपितु दोनों पृथक् पृथक् तत्त्व हैं, क्योंकि दोनों का स्वरूप पृथक् पृथक् है।

शैवाचार्यों की दृष्टि में एक मात्र परमशिव ही एक अनादि नित्य और पारमार्थिक सत्ता है। छत्तीस तत्त्व उसी की इच्छा से उसी के द्वारा

बनाए गए हैं। इस षट्त्रिंशदात्मक जगत् को चलाने के लिए उसे किसी माया या अविद्या जैसे किसी तत्त्व की आवश्यकता नहीं है। माया और प्रकृति तो उससे प्रादुर्भूत होने वाले तत्त्व हैं। परमशिव इसके अधीन नही है अपितु ये ही उसके अधीन हैं। माया और प्रकृति मिथ्या आभासमान तत्त्व नहीं हैं, अपितु परमेश्वर के समान ही यथार्थ हैं। वेदान्त की रीति से यदि ब्रह्म संसार को चलाने के लिए माया की अपेक्षा करे तो उसमें परमुख-प्रेक्षिता का दोष आएगा। परमुखप्रेक्षिता का ही दूसरा नाम पराधीनता है। पराधीनता जड़ का स्वभाव होता है। इसलिए परमेश्वर में भी जड़ता की आपत्ति होगी। इन सब दोषों से बचने के लिए परमेश्वर को सर्वथा निरपेक्ष और स्वतन्त्र ही मानना पड़ेगा। अपने संविदात्मक स्वातन्त्र्य के विलास से परमशिव अपने भीतर ही अनेक तत्त्वों, तत्त्वेश्वरों, भुवनों और भावों को प्रतिबिम्ब की तरह अभिव्यक्त करता रहता है। ऐसा करने से ही उसकी परमेश्वरता और स्वतन्त्रता सिद्ध होती है।

माया और प्रकृति को एक कहना भी ठीक नहीं। प्रकृति त्रिगुण की साम्यावस्था है जबकि माया तो प्रकृति से छ: सोपान ऊपर का तत्त्व है। उस समय गुणों का विकास हुआ ही नहीं होता। अत: माया तत्त्व त्रिगुण नहीं है। वेदान्त में माया को भी त्रिगुणात्मक माना गया है। काश्मीर शैव दर्शन इसे स्वीकार नहीं करता।

प्रकृति और पुरुष का परस्पर सम्बन्ध

पुरुष और प्रकृति में प्रमातृप्रमेयभाव सम्बन्ध है। पुरुष संकुचित प्रमाता है और प्रकृति सामान्याकार प्रमेयतत्त्व है। सत्त्वादि तीनों गुण पुरुष प्रमाता के स्वभाव हैं। इस स्वभाव के करण पुरुष अपने प्रमेय तत्त्व अर्थात् प्रकृति को भी सुख दु:ख और मोह के रूप में ही देखता है। पुरुष का स्वरूप शून्यात्मक "अहम्" है और प्रकृति का स्वरूप त्रिगुण का सामान्य रूप "इदम्" है। सामान्यरूप का अर्थ है कि "इदम्" केवल मात्र 'इदम् के रूप में ही अवभासित होता है "इदम्" के वाच्यरूप में नहीं। "इदं पुस्तकम्" यह प्रमेय का विशिष्ट रूप है और "इदं इदम्" यह प्रमेय का सामान्य रूप है।

वास्तव में तो पुरुष और प्रकृति में कोई भेद नहीं है। दोनों परमेश्वर की ही शक्तियों के सकुचित रूप हैं। जब कंचुक तत्त्वों के प्रभाव से स्वतन्त्र शुद्ध संविद्रूप परमेश्वर शुन्यात्मक अस्वतन्त्र एवं अशुद्ध हो जाता है तो वही पुरुष या पशु प्रमाता कहलाता। संवित् का जो "इदम्" अंश था वह जड़ प्रकृति के रूप में परिवर्तित हो जाता है। यह "अहम्" और "इदम्"

के पूर्ण भेद की अवस्था है। माया के प्रभाव से इस भेद भूमिका पर उतरा हुआ शिव अपने प्रमातृ अंश अर्थात् "अहम्" को अपने प्रमेयांश अर्थात् "इदम्" से सर्वथा भिन्न समझता है। अभेद-दृष्टि सर्वथा लुप्त हो जाती है। वह अपनी संवित्स्वरूपता को भला डालता है और अपने को संकुचित संवित् के रूप में देखने लगता है और प्रमेय अंश को अपने से सर्वथा पृथक् अचेतन तत्त्व के रूप में समझने लगता है। यही अहमंश पुरुष प्रमाता बन जाता है। और इदमंश मूल प्रकृति के रूप में प्रकट हो जाता हैं।

स्थूलरूप में संसार इन्हीं दो तत्त्वों पर टिका हुआ है। संसार के सभी संघात इसी पुरुष के भोग्य बन जाते हैं। पुरुष उसका भोक्ता बन जाता है। प्रकृति से उत्पन्न होने वाले सभी करण और प्रमेय समूह इसी पुरुष को भोग देने में लगे रहते हैं। अतः पुरुष और प्रकृति में भोक्तृभोग्य भाव द्रष्टृदृश्यभाव, ज्ञातृज्ञेयभाव आदि सम्बन्ध भी स्वीकार किए जाते हैं। पुरुष और प्रकृति को परमेश्वर की गुणमयी सृष्टि का आधार माना गया है।

समीक्षा

त्रिकदर्शन में प्रतिपादित पुरुष और प्रकृति के इस नूतन स्वरूप पर निष्पक्ष भाव से विचार किया जाए तो इसमें एक सत्यता दृष्टिगत होती है। पुरुष के लिए पशु शब्द का प्रयोग और प्रकृति के लिए पाश (Bonds) शब्द का प्रयोग एक विशेष सिद्धान्त का द्योतक है। यह पशु-शब्द गाय, महिष, वृषभ, मृग आदि पशुओं (Animals) तक ही सीमित नही है अपितु प्राणीमात्र का प्रतीक है। भेद-दृष्टि से देखने के कारण पुरुष को पशु नाम दिया गया है। प्रकृति उसे सुख दुःखादि पाशों से बाँधती है। अतः उसका पाश नाम भी सार्थक है। इन्ही पशुओं को त्रिक दर्शन में सकल प्राणी (Embodied souls) कहा जाता हो। सांख्य और वेदान्त में पुरुष और प्रकृति का जो रूप वर्णित है उसकी तुलना में त्रिक दर्शन का स्वरूप-विवेचन अधिक ग्रह्य प्रतीत होता है क्योंकि वह हमारे दैनदिन अनुभव से अधिक मेल खाता है। माया और प्रकृति में जो सूक्ष्म भेद हैं और जाग्रदादि अवस्थाओं का जो उचित गुणविभाग होना चाहिए था उस पर अद्वैत वेदान्तियों की दृष्टि नहीं पहुँची। उसे त्रिक आचार्यों ने ही वास्तविक रूप में देखा है। पुरुष और प्रकृति के इतने बड़े प्रपञ्च को मिथ्या कहना भी वास्तविकता से मूँह मोडना है। इस सब प्रपंच को जो साक्षात् शिवरूप देखता है, वह साक्षात् देहस्थ शिव है।

अन्तः करणं

गत पंक्तियों में बताया गया कि भगवान् श्रीकण्ठनाथ प्रकृति से बुद्धि के अधिष्ठाता हैं तथा प्राकृतिक सर्ग के वे ही संचालक हैं। प्रकृति प्रकृतितत्व आदि तेईस तत्वों का प्रदुर्भाव करना और पुनः उसी मूल प्रकृति में उनका लय करना भगवान् श्रीकण्ठनाथ का ही कार्य है। मूल प्रकृति में गुण पृथक से ज्ञात नहीं होते, क्योंकि गुणों की साम्यावस्था अव्यक्त दशा कहलाती है। गुणों की अभिव्यक्ति तभी होती है जब भगवान् श्रीकण्ठनाथ उनमें क्षोभ उत्पन्न करके उनके साम्य का भंग करते हैं। इस प्रकार क्षुब्ध प्रकृति से होने वाले गुणों के वैषम्य से अन्त.करणों का आविर्भाव होता है।[61] त्रिक दर्शन के अनुसार अन्तः करणों की संख्या तीन है—बुद्धि, अहंकार और मन। ये तीनों तत्व स्थूल सृष्टि में देह के अन्दर रहकर ही अपना व्यापार करते हैं इसलिए अन्तःकरण कहलाते हैं। वैसे तो बाह्य करण भी देय के अन्दर ही स्थित है और सभी करण अपने कार्य से ही जाने जाते हैं किन्तु बाह्य विषयों के साथ चक्षुरादि करणों का सीधा सम्बन्ध होता है इसलिए बाह्य करण कहलाते हैं। बुद्धि, अहंकार और मन का विषयों के साथ सीधा सम्बन्ध न होकर बाह्य करणों द्वारा होता है इसलिए इन्हें अन्त.करण कहा जाता है इसीलिए सांख्य ने बाह्य करणों को द्वार कहा है और अन्तःकरणों को द्वारी माना है[62] रूपादि विषय चक्षुरादि इन्द्रियों से होकर अन्दर जाते हैं इसलिए इन्हें द्वार कहा जाता है। विषयों का संवेदन जहाँ जाकर स्थापित किया जाता है वह अन्तः करणद्वारी अर्थात् गृह कहलाता है। चूँकि ये दोनों ही प्रकार के तत्व पुरुष के भोग साधन हैं, इसलिए करण कहलाते हैं। साधकतम कारण को करण कहा जाता है।[63] ये तेरह करण पुरुष के निमित्त भोग के अनन्य साधारण कारण हैं इसलिए करण नाम से व्यवहृत किए हैं।

इन्हें अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रिय भी कहा जाता है। "इन्द्रस्य इदमैवर्यम् इतीन्द्रियम् अर्थात् यह इन्द्र परमेश्वर का ऐश्वर्य अर्थात् शक्ति है इसलिए इन्हें इन्द्रिय कहा जाता है।

संख्य दर्शन ने भी अन्त.करणों की संख्या तीन ही मानी है,[64] किन्तु अद्वैतवायियों ने चार अन्तः करण माने हैं—बुद्धि, अहंकार, मन और चित्त्। कुछ विचारक एक ही अन्त.करण मानते हैं, कार्यभेद से ही उसके तीन या चार भेद मानते हैं। किन्तु ऐसा मानना ठीक नहीं। क्योंकि तब तो तेरह करण मानने की भी क्या आवश्यकता है? क्यों न सबको एक ही तत्व के रूपान्तर माना जाए क्योंकि शक्ति तो सर्वत्र एक ही है। इसलिए अन्तः

करणों की संख्या तीन ही मानना उचित है, चार नहीं। कार्यभेद से करण-भेद माना जाएगा तो अन्त: करणों की संख्या और भी अधिक हो सकती है।[65]

बुद्धि तत्व (चौदहवां तत्व)

गुणों में क्षोभ होने पर जब उनमें वैषम्य आता है तो सबसे पहले सत्वगुण थोड़ा बढ़ जाता है। रजस् और तमस् उसकी अपेक्षा न्यून हो जाते हैं। सत्वगुण की बृद्धि से सर्वप्रथम बुद्धितत्व का प्रादुर्भाव होता है। यह सत्व गुण के परिणाम से आविर्भूत हुई ज्ञानशक्ति ही है।[66] इसे ही महतत्व भी कहा जाता है। यह एक निर्मल जड़ तत्व है। निर्मल होने के कारण ही यह पुरुष के प्रकाश को प्रतिबिम्ब रूप में धारण कर सकता है।[67] जड़ पदार्थों के प्रतिबिम्बों का भी धारण करने में यह समर्थ है। पुस्तत्व के प्रकाश को धारण करती हुई यह बुद्धि संसर्गवशात् चेतन जैसी प्रतीत होने लगती है और चेतन के समान ही समस्त व्यवहार करने लगती है। यहीं मत संख्याचार्यों का भी है।[68]

अब देखना यह है कि यह कैसे जाना जाए कि यह बुद्धि ही है। उसकी क्या पहचान है? हस्तामलकवत् तो उसे देखा नहीं जा सकता, न ही किसी को दिखाया जा सकता है। इसके उत्तर में कहा गया है कि बुद्धि को उसके कार्यों के द्वारा ही जाना जा सकता है। उसका कार्य है निर्णय करना, अनेकों में से एक का अध्यवसाय करना, अथवा "यह वस्तु यही है" ऐसा निश्चय करना।[69] किसी वस्तु को उसके स्पष्ट नाम और रूप की कल्पना के साथ जानना अध्यवसाय या निश्चयात्मक ज्ञान कहलाता है। किसी वस्तु को देखकर दो विचार उठते हैं कि "यह स्थाणु है यह पुरुष है। जब हम इस निश्चय पर पहूँचते हैं कि स्थाणु ही है" या "यह पुरुष ही है" तब यह कार्य बुद्धि ही करती है। इसी निश्चयात्मक ज्ञान से बुद्धि को पहचाना जाता है। यह बुद्धि का कारणरूप है।

बुद्धि वस्तुत: करण है। ज्ञान या क्रिया के प्रकृष्ट साधन को कहते हैं। यह बृद्धि निश्चयात्मक ज्ञान का भी साधन है और नाम रूप की कल्पनारूप क्रिया का भी साधन है। करण सदैव दूसरे के उपयोग के लिए ही होता है। यह बुद्धिरूप करण भी पुरुष के भोग का साधन है। यह अपने अन्दर प्रतिबिम्बत विषय को अपने पास नहीं रखती अपितु उसे पुरुष के प्रति प्रकाशित कर देती है। यह बुद्धि ही उस विषय के नाम रूप की कल्पना का साधन बनती है। इस प्रकार यह बुद्धि निश्चित नाम द्वारा निश्चित रूप में विषय का स्पष्ट ज्ञान पुरुष को करा देती है। विषय के

प्रकाश का साधन बनती हुई यह बुद्धि ज्ञान का साधन बनती है और नाम रूप की कल्पना का साधन बनती हुई क्रिया का साधन बनती है। कल्पना एक प्रकार की मानसिक क्रिया ही है।

बुद्धि में विषय का प्रतिबिम्ब दो प्रकार से पड़ता है—इन्द्रियों के द्वारा और इन्द्रियों के बिना। प्रत्यक्षादि ज्ञान में इन्द्रियों के द्वारा विषय का प्रतिबिम्ब बुद्धि पर पड़ता है तथा उत्प्रेक्षा स्वप्नादि आदि के समय बाह्य विषय के सन्निहित न होते हुए भी अपने भीतर ही विषय की नामरूपात्मक कल्पना के द्वारा उसको उत्पन्न करके बाह्येन्द्रिय निरपेक्ष होकर ही बुद्धि विषय का प्रकाशन और विमर्शन करा सकती है। इन्द्रियों से उपस्थापित तथा इन्द्रियों के बिना ही उपस्थित वेद्यवस्तु के प्रतिबिम्ब लक्षण वाली वृद्धि ही बुद्धि का विषयावभासक बोध कहलाता है।[70] यद्यपि बुद्धि का यह वृत्तिरूप बोध जड़ है किन्तु वह आत्मसंविद्रूप प्रकाश के प्रतिबिम्ब का आधार है इसलिए जड़ होते हुए भी विषय के प्रकाशन में समर्थ है।[71]

यह बुद्धि ही पुरुष का सबसे मुख्य और सन्निहित कारण है। इसके बिना पुरुष प्रमेय सम्बन्धी किसी भी व्यवहार का सम्पादन कर ही नहीं सकता। यह देह के भीतर रहकर ही कार्य करती है। इसलिए अन्तःकरण कहलाती है। यह प्रकृति की सबसे प्रथम सन्तान है इसलिए महान् कहलाती है। लोक में भी सबसे पहले उत्पन्न हुए पुत्र को महान् या ज्येष्ट कहा जाता है। पुरुष का सबसे अधिक उपकारक होने से भी यह तत्व महत्तत्व कहलाता है।

बुद्धि से प्राप्त ज्ञान दो प्रकार का है—निर्विकल्प और सविकल्प। नामरूप की कल्पना से रहित ज्ञान को निर्विकल्प ज्ञान कहते हैं और नाम-रूप की कल्पना से युक्त ज्ञान सविकल्प होता है जब इन्द्रियों के मार्ग से बुद्धि पर विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो प्रथम क्षण में यह आभास होता है कि "इदं किंचित्" अर्थात् यह कुछ है। वह वस्तु क्या है ऐसा उस समय कुछ नहीं कहा जा सकता। यद्यपि "इदं किंचित् का यह आभव भी बुद्धि की एक कल्पना ही है। अतः सर्वथा विकल्पशून्य तो वह भी नहीं होता। किन्तु उस प्रथम क्षण में उस वस्तु के निश्चित और स्पष्ट नामरूप की कल्पना नहीं की जाती। अतः यह प्रथम क्षण का ज्ञान सूक्ष्मतर विकल्पमय किन्तु व्यावहारिक विकल्पों से शून्य होने से निर्विकल्प ज्ञान कहलाता है। यह ज्ञान भी निर्भ्रान्त और निश्चित ही होता है, क्योंकि वस्तु के "कुछ" होने में तो कोई सन्देह ही नहीं है। वस्तु क्या है" इस विषय में सन्देह हो सकता है किन्तु "कुछ है" इस ज्ञान में तो संशय हो ही

नहीं सकता। बुद्धि पर यदि प्रतिबिम्ब पड़ा है तो कुछ न कुछ तो उसे अवश्य होना चाहिए। अतः यह निर्विकल्प ज्ञान भी निश्चयात्मक ही है।

द्वितीय क्षण में जब अनेक नामरूपों में से वस्तु के किसी एक ही नामरूप स्वीकार किया जाता है और अन्यों को छोड़ दिया जाता है तो उस वस्तु के विषय में यह निश्चय हो जाता है कि यह गाय ही है या अश्व ही है। ऐसा ज्ञान सविकल्प ज्ञान कहलाता है। सभी ज्ञान प्रथम क्षण में निर्विकल्प होते हैं। दूसरे क्षण में हीं सविकल्पता आती है।

तो निश्कर्ष यह हुआ कि वस्तु की नामरूपात्मक कल्पना से विशिष्ट निश्चित और सुस्पष्ट ज्ञान के प्रति पुरुष का अन्तरंग साधन बनी हुई उसकी सत्व-परिणामिनी ज्ञानशक्ति को बुद्धि कहते हैं।

बुद्धि चूंकि करण है इसलिए संवेद्य भी है। कुछ चिन्तक बुद्धि को असंवेद्य कहते हैं। अर्थात् वह ज्ञान का साधन ही है किन्त स्वयं वेद्य नहीं है। किन्त आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि जो करण होता है वह संवेद्य ही होता है। प्रकृति संवेद्य नहीं है इसलिए कह करण नही है। बुद्धि करण है इसलिए संवेद्य है। यदि कहो कि बुद्धि किसकी संवेद्य है ? तो हम कहते हैं कि बुद्धि स्वयम् को जानती है। वह विषयों का भी ज्ञान करती है और स्वयम् को भी जानती है।[72] बुद्धि को संवेद्य न मानने वाले संख्यों का उपहास करते हुए शैव दार्शनिक कहते हैं कि संवेद्यता में गुणों से युक्त होना ही हेतु है। जब बुद्धि अहंकार और चित्त तीनों ही गुणान्वित हैं तो फिर अहंकार और मन को संवेद्य कहना तथा बुद्धि को असंवेद्य कहना कहाँ की तार्किकता है।[73] अतः यह सिद्ध हुआ कि बुद्धि भी संवेद्य है।

यह बुद्धितत्व मात्र विकृति ही नहीं है अपितु प्रकृति भी है।[74] अर्थात् यह मूल प्रकृति से केवल उत्पन्न ही नहीं होता अपितु अहंकारतत्व को उत्पन्न भी करता है। जो उत्पन्न होता है उसे विकृति कहते हैं और जो उत्पन्न करता है उसे प्रकृति कहते हैं। जो किसी से उत्पन्न भी होता है और किसी को उत्पन्न भी करता है उसे प्रकृति-विकृति अर्थात् उभयात्मक कहते हैं। बुद्धि से लेकर पंच तन्मात्र तक 19 तत्व प्रकृति भी हैं और विकृति भी हैं। पंच महाभूत केवल विकति ही है, क्योंकि ये केवल उत्पन्न ही होते हैं किसी को उत्पन्न नहीं करते।

अहंकार (पन्द्रहवां तत्व)

जिन गुणों से बुद्धि की रचना हुई थी उन्हीं गुणों में थोड़े परिवर्तन से रजोगुण की अधिकता होने पर अहंकार तत्व की उत्पति होती है। यह अहंकार परमेश्वर की रजोरूपिणी इच्छा का ही दूसरा रूप है।[75] बुद्धि और

अहंकार तत्वों के उपादान तत्वों नें इतना ही अन्तर है कि त्रिगुण-वैषम्य की स्थिति में सत्व की वृद्धि होने पर बुद्धितत्व का आविर्भाव हुआ था। पुनः उसी में रजस्तत्व की अधिकता होने पर अहंकार की उत्पति होती है। रजोगुण की वृद्धि से अहंकार की उत्पति होने का यही रहस्य है कि रजोगुण अपनी चंचलता के कारण बाहर की ओर निकलने के लिए व्यग्र रहता है। एक स्थान पर स्थिर होकर रहना उसका स्वभाव नहीं। वह अपने को प्रकाशित करने की ही इच्छा करता रहता है। अपने को बाहर के विषयों में फेंक देना, उनमें अपने स्वरूप को ढूंढना और सब पदार्थों में अहन्ता का आरोप करना, यही तो उसका कार्य है। फलतः वह अहंकार के रूप में परिणत हो जाता है। अहंरार का भी यह स्वभाव है।

बुद्धि में पड़े हुए विषयों के निर्विकल्प या सविकल्प आभास को जीव के साथ सम्बद्ध करने वाली शक्ति का नाम ही वस्तुतः अहंकार है। बुद्धि-दर्पण में तो अनेक प्रकार के प्रतिविम्ब पड़े होते हैं किन्तु अहंकार के प्रभाव से जीव को यह अभिमान होता है कि में इन्हें जानता हूँ। देह प्राण बुद्धि आदि की क्रियाओं में भी पुरुष को यह अभिमान होता है कि मैं ही इनका कर्ता हूँ।[76] इस प्रकार के कल्पित अभिमान को ही जीव का अहंकार कहा जाता है।[77] सांख्य दर्शन में भी अहंकार का यही स्वरूप माना गया है।[78]

अहम् और अहंकार में अन्तर

अहंकार तत्व के विषय में जिज्ञासुओं को यह बात अच्छी प्रकार समझ लेनी चाहिए कि "अहम्" अन्य तत्व है और अहंकार अन्य वस्तु है। त्रिक द्रर्शन के अनुसार "अहम्" सबसे अधिक उपादेय वस्तु है और अहंकार हेय है। किन्तु कुछ दूसरे विचारक "अहम्" को भी हेय समझते हैं। वस्तुतः वे अहम् अहंकार के सूक्ष्म अन्तर का ग्रहण नहीं कर पाते।

वस्तुतः यह "अहम्" ही शिव का शूद्ध, असीम और परिपूर्ण स्वरूप है। समस्त विश्व को अहं रूप में देखना ही शिव-साधना का अन्यतम लक्ष्य है। "अहम्" जब तक शुद्ध "अहम्" रहता है तब तक यह परमेश्वर का स्वरूप बना रहता है। किन्तु यह बन्धनकारक उस समय होता है जब हम इस "अहम्" पर इदम् का आरोप कर देते हैं या अहम् को इदंपदवाच्य बुद्धि प्राण देह आदि प्रमेय तत्वों में देखने का प्रयास करने लगते हैं। तब यह "अहम्" शुद्ध न कह कर कृत्रिम हो जाता है। उस समय यह "अहम्" "अहम्" नहीं रहता अपितु अहंकार हो जाता है। अहकार में "कार" शब्द इसी कृत्रिमता का द्योतक है।[79] एकमात्र अहन्ता का विचार ही ग्राह्य है और इदन्ता का विचार ही त्याज्य है। समस्त विश्व को अहम्

समझना ही जीवन्मुक्ति है और "इदम्" समझना ही बन्धन है। जब विशुद्ध अहन्ता का विस्तार होता है तो समस्त भूत अहम् के रूप में आभासित होने लगते हैं। गीता के दसवें अध्याय में भगवान् ने इसी अहन्ता के विस्तार की व्याख्या की है।[80]

माया का प्रभाव इतना बलशाली है कि यह पुरुष अपने को शुद्ध अहम् के रूप में गृहीत नहीं कर पाता। वह उसे प्रमेय तत्व में मिलाकर ही देखना चाहता है। पुरुष का वास्तविक स्वरूप तो एकमात्र शुद्ध और परिपूर्ण अहम् ही है। किन्तु माया के प्रभाव से अशुद्ध होकर देह प्राण शून्य आदि को अहम् समझ बैठता है। तब यह अहम् अहम् न रहकर अहंकार बन जाता है। जड़ पदार्थों में जो अहम् का आभास होता है वह वास्तव में अहम् नहीं होता अपितु वह अहंकार होता है।

तो निष्कर्ष यह निकला कि माया के प्रभाव से शून्य प्राण देह बुद्धि आदि को ही अहम् समझना और इसके द्वारा की जाने वाली क्रियाओं को आत्मा की क्रियाएँ समझ बैठना ही जीव का अहंकार कहलाता है। यह अहंकार जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में कार्य करता है। बुद्धि और मन की तुलना में अहंकार की गति इसलिए अधिक मानी जाती है क्योंकि बुद्धि और मन की गति जाग्रत् और स्वप्न में ही होती है। सुषुप्ति में इन दोनों का अभाव हो जाता है, किन्तु अहंकार सुषुप्ति में भी कार्य करता रहता है। तभी तो सुषुप्ति में सुख की अनुभूति होती है। हाँ, तुरीया दशा में अंहकार का भी नाश हो जाता है। वहाँ तो शुद्ध "अहम्" का ही प्रकाश द्योतित हो उठता है। उस तुरीया से भिन्न सर्वत्र दशाओं में अहंकार का आभास त्याज्य माना गया है।[81]

मन (सोलहवां तत्व)

अहंकार के अनन्तर मन की उत्पत्ति होती है। संकल्प-विकल्प करना इसका कार्य है। यह परमेश्वर की तमोगुणमयी क्रियाशक्ति है।[82] बुद्धि की रचना में तत्व का अंश अधिक था, वह इसलिए चूंकि रजस् का अंश कुछ कम हो गया था। बुद्धि के पश्चात् रजोगुण का अंश बढ़ गया जिससे अहंकार की उत्पति हुई। इन दोनों गुणों में विकार आने से जो तमोगुण पृष्ठभूमि में चला गया था वह अगले क्षोभ की दशा में कुछ हरकत में आया। उस तमोगुण की सक्रियता से मनस्तत्व उत्पन्न हुआ।[83] मन चूंकि क्रियाशक्ति का रूप है इसलिए संकल्प-विकल्पात्मक क्रिलाएँ करता है और तमोगुण से उत्पन्न हुआ है अत: तमस्तत्व के प्रभाव से वह किसी निष्कर्ष पर नहीं पहुँच पाता। तमोगुण आवरणात्मक है। वही निर्णय-बोध में

अवरोध उत्पन्न करता है। मन चूँकि संकल्प-विकल्प दोनों प्रकार की क्रियाएँ करता है इसलिए कर्म और ज्ञान दोनों शक्तियों से युक्त माना गया है। वह कर्मेन्द्रिय भी है और ज्ञानेन्द्रिय भी है।[84]

मन को संकल्प और विकल्प दोनों क्रियाएँ करने वाला क्यों कहा गया ? इस रहस्य पर बहुत कम विद्वानों का ध्यान जाता है। वास्तव में तो मन विशुद्ध रूप से विकल्प का ही साधन है।[85] किन्तु विकल्प के साथ बीच बीच में संकल्प का प्रकाश भी चमक जाता है। संकल्प का अर्थ है निश्चय और विकल्प का अर्थ है संशय। पुरोवर्ति पिण्ड को देखकर अनेक सम्भावनाएँ अन्त:करण में उठती हैं कि यह स्थाणु है ? या तुरुष है ? या गाय है या स्तम्भ है ? कभी यह संकल्प होता है कि "यह स्थाणु ही है। पुन: तुरन्त ही यह विकल्पात्मक विचार उठता है कि नहीं यह स्थाणु नहीं अपितु कुछ और ही है। क्या है ? यह तो निश्चय नहीं हो पाता, किन्तु स्थाणु न होने का निश्चय हो जाता है। फिर विचार उठता है कि सम्भव है यह पूरुष हो। फिर उसके तुरन्त पश्चात् ही उसका विरोधी विचार उठता है। इस प्रकार कभी निश्चय होता है और कभी उस निश्चय का विरोधी विचार विकल्प उठता है। इसलिए मन को संकल्प-विकल्पात्मक अर्थात् उभयात्मक माना जाता है। अर्थात् मन के साथ बुद्धि भी मिली होती है। अनिश्चय के क्षण में बुद्धि का व्यापार चलता है।

लौकिक व्यवहार में मन का व्यापक होता है। बुद्धि के साथ अहंकार के द्वारा भी तो अनुभव होता है वह भी विकल्पमय ही होता है। देह प्राण आदि के विषय में तो "अहम्" की अनुभूति स्पष्ट ही विकल्पमयी होती है। यदि कोई विकल्पहीन अनुभूति है तो वह शुद्ध और असीम चैतन्य की अनुभूति है। शाम्भव और शाक्त प्राणियों की अनुभूति पूर्ण अहन्ता की अनुभूति होती है। उसमें विकल्प का अंश नहीं होता। किन्तु अशुद्ध सृष्टि के प्राणियों की अनुभूति विकल्प से रहित नहीं होती।

यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि बुद्धि मन और अहंकार इन तीनों अन्त:करणों का कार्य मिला जुला ही चलता है। बुद्धि के साथ मन और इन दोनों के साथ अहंकार इस तरह जुडा हुआ है कि एक को भी निकाल देने पर व्यवहार की कल्पना नहीं की जा सकती। प्रथम क्षण में इन्द्रियों के द्वार से चित पर जब विषय का प्रतिबिम्ब पड़ता है तो पहले यह आभास होता है कि यह कुछ है। उसके बाद उस वस्तु के विषय में कई प्रकार की सम्भावनाएँ उठती हैं कि यह गाय अश्व हस्ती पुरुष कुछ भी हो सकता है। यह मन का कार्य है। उसके पश्चात् उस वस्तु के विषय में नाम-रूप का

निश्चय हो जाने पर बुद्धि का कार्य पूर्ण होता है। इन दोनों के साथ अहंकार तो कार्य करता ही रहता है। इस प्रकार यह अन्त:करण की त्रिपुटी मिलकर कार्य करती है।[86] त्रिक दर्शन के मत में ये तीन ही अन्त करण हैं। कुछ लोग एक ही अन्त करण स्वीकार करते हैं। उसका प्रत्याख्यान आचार्य अभिनव गुप्त यह कह कर करते हैं कि अध्यवसाय अभिमान और कल्पना ये तीन भिन्न भिन्न क्रियाएँ हैं। इन क्रियाओं को एक नहीं माना जा सकता। अत: क्रियाभेद से तीन ही अन्त करण हैं एक नहीं। अब यदि कहो कि तब तो अद्वैतवादियों का क्रियाभेद से अन्त करण-चतुष्टय मानने का सिद्धान्त भी ठीक ही होना चाहिए, तो यह कहना अत्युक्ति है। वेदान्तियों ने स्मरण-क्रिया का कर्ता चित को माना है। किन्तु यह ठीक नहीं है। कल्पना से ही निश्चत और अभिमान को छोडकर अन्य सब क्रियाओं का संग्रह हो जाता है।[87] प्राण को भी अन्त करण नहीं माना जा सकता, क्योंकि करण प्रेर्यमाण होकर ही कार्य करता है। प्रेरणा प्रयत्नपूर्वक होती है। प्राण जड़ होने से इच्छा नहीं कर सकता। अत: प्राण अन्त:करण नहीं है।[88]

समीक्षा

अभी हमने देखा कि त्रिक दर्शन में तीन अन्त:करण माने गये हैं। बुद्धि की उत्पति सबसे पहले हुई। यह इनकी उत्पति का सर्वमान्य क्रम है। हमने यह भी देखा कि बुद्धि की रचना में सत्व-गुणों का अधिक उपयोग होता है। यहाँ पर विचारणीय यह है कि त्रिगुण की साम्यावस्था में क्षोभ होने पर सबसे पहले सत्व में ही वृद्धि क्यों होती है और उस सत्व के अंशों से सबसे पहले बुद्धि का ही निर्माण क्यों होता है? क्यों नही अहंकार का या मन का निर्माण होता है? इस प्रश्न पर किंचित् विचार किया जाता है।

सबसे पहले इसी प्रश्न पर विचार करते हैं कि सबसे पहले सत्व ही ऊपर क्यों आया? रजस् या तमस् पीछे क्यों रह गए? यह जानने से पहले हमें गुणों के स्वभाव पर दृष्टि डालनी पड़ेगी। सत्व गुण सबसे हलका है। प्राकाश करना उसका स्वभाव है। रजोगुण उससे भारी और तमस् सबसे भारी है। हल्की वस्तु का यह स्वभाव होता है कि जब कभी कहीं पर उष्मा से या अन्य कारणवश क्षोभ होता है तो सबसे पहले वही ऊपर की ओर भागती है। दूध में मन्थन करने पर घृत स्वत: ऊपर की ओर आ जाता है। प्रकाश में भी यही गुण है कि उसकी गति सबसे तीव्र है। अग्नि की ज्वाला से आगे उसका प्रकाश ही चलता है। यही कारण है कि गुण-

क्षोभ से सर्वप्रथम सत्व के अंश ही स्फुट रूप से चमक उठते हैं। उन्हीं सत्व के अंशों से बुद्धि की रचना होती है।

बुद्धि की रचना में ऐसा नहीं है कि केवल सत्वगुण ही उपयोगी हो रजस् और तमस् भी उपयोगी हैं। कोई भी वस्तु एक मात्र विशुद्ध गुण से निर्मित नहीं होती। तीनों ही गुणों का न्यूनाधिक उपयोग वस्तु की रचना में होता है। बुद्धि की रचना भी तीनों गुणों के सम्मिलित न्यून।धिक अंशों से होती है। सत्व के अंश सबसे अधिक प्रयुक्त होते हैं। रजस् के इंश उससे कम और तमस्तत्व के सबसे कम अंशों का उपयोग बुद्धि के निर्माण में होता है। अब यह कहना सम्भव नहीं कि सत्व के कितने अंशों का और रजस् तथा तमस् के कितने कितने अंशों का उपयाग होता है। यह हिसाब लगा सकना मनुष्य की सीमा से बाहर की बात है। वस्तु की विलक्षणता से गुणों के न्यूनाधिकभाय का ही अनुमान किया जा सकता है।

अब दूसरा बिचारणीय प्रश्न यह रह जाता है कि सबसे पहले बुद्धि की ही उत्पति क्यों होती है ? इसका एक समाधान तो ऊपर के विवेचन से ही हो जाता है क्योंकि मूलकारण में क्षोभ होने पर कुछ परिवर्तन के साथ सबसे पहले सत्व में बुद्धि होती है। उस सत्व से बुद्धि की रचना होती है। सत्व का जो स्वभाव लघुता और प्रकाश है वही स्वभाव बुद्धि का भी है। अध्यवसाय का कारण लघुता और प्रकाश ही है।

दूसरा कारण यह है कि वस्तु का यह स्वभाव है कि निर्माण के क्रम में वस्तु सूक्ष्मता से स्थूलता को ओर बढ़ती है। यह नियम क्यों है, इसकी व्याख्या नहीं की जा सकती। केवल वस्तु-स्थिति का कथन किया जा सकता है। अव्यक्त प्रकृति जब रचना की दिशा में प्रवृत होती है तो वह व्यक्त रूप में आ जाती है। जितने भी व्यक्त पदार्थ हैं उन सबमें बुद्धि सबसे सूक्ष्म है। वैसे तो अहंकार, मन और दसों इन्द्रियां भी सूक्ष्म हैं किन्त वे बुद्धि की अपेक्षा स्थूल हैं। स्थूल होकर भी अतीन्द्रियता की सीमा को नहीं लांघती। सबसे सूक्ष्म बुद्धि ही है। इसी सूक्ष्मता के कारण बुद्धि को मूल प्रकृति का आद्य कार्य माना जाता है। अन्यन्त सूक्ष्म होने पर भी उसका परिमाण प्रकृति की अपेक्षा स्थूल ही है, क्योंकि प्रकृति तो अव्यक्तावस्था है। इसी हेतु से बुद्धि को महान् भी कह दिया जाता है। सूक्ष्मता की दृष्टि से वह प्रकृति से महान् तो है ही। किन्तु अव्यक्त अवस्था से व्यक्त अवस्था में आने वाला यह सर्वप्रथम तत्व है। इसलिए यह प्रकृति का सबसे पहला कार्य माना जाता है।

बुद्धि के आद्य कार्य होने में एक कारण यह भी है कि अव्वत प्रकृति

की यह व्यक्त रचना पुरुष के लिए ही है। पुरुष को भोग प्रदान करना ही प्रक्रित का प्रयोजन है। पुरुष का प्रयोजन सबसे अधिक वही सिद्ध कर सकता है जो उसके अधिक निकट हो। बुद्धि ही पुरुष के अधिक निकट है। पुरुष के प्रतिबिम्ब के धारण करने की योग्यता भी बुद्धि में ही है। अत: सबसे पहला कार्य बुद्धि ही होना चाहिए। अहंकार और मन की उपयोगिता बुद्धि के पश्चात् ही होती है। इसलिए सांख्य के समान त्रिक दर्शन में भी बुद्धि को प्रकृति का प्रथम कार्य माना गया है।

रजोगुण सत्व की अपेक्षा स्थूल है किन्तु तमस् से सूक्ष्म है। इसलिए बुद्धि के पश्चात् अहंकार की रचना होती है। अहंकार की रजोगुण से उत्पति मानी गयी है। रजोगुण का स्वभाव इच्छा करना है। इच्छा ही अहम् भाव को जन्म देती है। यह इच्छाशक्ति जब रजोगुण से दूषित होती है तभी अहंकार अर्थात् कृत्रिम अहम् का जन्म होता है। गुणों के आविर्भाव से पहले तो इच्छा पूर्णरूप से शुद्ध थी। उसी इच्छा का नाम स्वातन्त्र्य था। उससे जो अहंविमर्श होता था वह शुद्ध ही था। इसलिए वह अकृत्रिम "अहम्" था। जब यह "अहम्" कृत्रिम् हो गया तो अहंकार हो गया। यह सूक्ष्म विवेचन त्रिक दर्शन से पहले किसी ने नहीं किया था।

मन को तमोमयी क्रियाशक्ति का परिवर्तित रूप माना गया है। त्रिक दर्शन का यह विषय भी विचारणीय है। मन तो चंचल है किन्त तमोगुण स्थिरता का कारण माना गया है। तब उसकी रचना में तमस् के अंशों की अधिकता क्यों मानी गयी ? इसका रहस्य यह है कि मन वस्तत: क्रियाशक्ति का ही नाम है। अत: उसकी चंचलता स्वाभाविक ही है। किन्तु साथ ही वह तमोमय भी है। इस कारण वह वस्तु का यर्थाथ और निश्चित तथा निर्णायक प्रकाशन नहीं कर पाता। तसम् के अंशों से उसकी उत्पति का यही रहस्य है।

ये तीनों ही अन्त:करण अणुपरिमाण वाले हैं। इन्हें विभु मानने की भूल नहीं करनी चाहिए। पातंजल योगसूत्र के भाष्यकार व्यासदेव ने चित को विभु स्वीकार किया है।[89] व्यासदेव ने अन्त:करण के स्थान पर चित शब्द का प्रयोग किया है। तो उनके मत में तीनों ही अन्त.करण विभु हैं। किन्त यह उचित नहीं। अन्त.करण को विभु मान लेने पर योगियों को ही नहीं अपितु सर्वसाधारण को भी इन्द्रियों से युगपत् ज्ञान होने का प्रसंग उपस्थित होगा। मन अणु है इसलिए एक समय में एक ही इन्द्रिय के साथ सम्बद्ध होता है। इसीलिए उसी इन्द्रिय से ज्ञान का ग्रहण हो सकता है

अन्य से नहीं। अन्त:करण को विभु मानने पर यह व्यवस्था नहीं बनेगी। अन्त:करण-त्रय को अणु-परिमाण मानना ही युक्तियुक्त है। उसकी व्यापकता को मानकर अनेक दोष आ पड़ेंगे जिनका निवारण असम्भव हो जाएगा। महर्षि कपिल ने अन्त:करण का अणुपरिमाण ही स्वीकार किया है।[90]

अन्त:करण-त्रय की उत्पत्ति साख्याचार्यों ने भी क्रमश: सत्व रजस् और तमस् के बढ़े अंशों से स्वीकार की है। किन्तु सांख्य के दृष्टिकोण में और त्रिक दर्शन के दृष्टिकोण में अन्तर है। सांख्यमत में तो समस्त व्यक्त सृष्टि का मूल आधार सत्वादि गुण ही है, इससे पहले कोई तत्व नहीं था। किन्तु त्रिक दर्शन ने सत्वादि गुणों का मूल भी परमेश्वर की तीन शक्तियों को ही माना है। सांख्य तो अव्यक्त से सूक्ष्म किसी तत्व को स्वीकार ही नहीं करता। किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार तो गुण बहुत स्थूल तत्व है। गुणों से सूक्ष्म तो पुरुष भी है, पुरुष से सूक्ष्म कंचुक तत्व है फिर उससे सूक्ष्म माया है। इस प्रकार पूर्व पूर्व के तत्व अति सूक्ष्म माने गए हैं। सबसे सूक्ष्म शिव ही हैं। सम्पूर्ण सृष्टि का मूल आधार प्रकृति को मानना तथा उसके अतिरिक्त किसी पुरुष-विशेष अथवा परमेश्वर को स्वीकार न करना तो महान् जडतावादी दृष्किोण है। यह शाश्वत और आत्यन्तिक श्रेय का मार्ग नहीं है। सत्वादी जड़ तत्व और पुरुषरूप चेतन तत्वों का भी तो उद्भव-स्थान वही शिव तत्व है। वही सबका लय-स्थान भी है और वही सबका स्वरूप भी है।

ज्ञानेन्द्रिय

ज्ञानशक्ति से बुद्धि की रचना, इच्छाशक्ति से अहंकार, तथा क्रिया-शक्ति से मल की उत्पति का विवेचन किया गया। शक्ति-संकोच का यह क्रम यहीं तक नहीं रुकता। अभी उसमें और संकोच आता है। ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति के संकोच की अगली भूमिका में ज्ञानेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और तन्मात्र की उत्पति होती है। बुद्धि और अहंकार में अहंकार ही परिवर्तन-शील है। बुद्धि का तो मात्र आवरण और आवरण भंग ही होता है जिसे बुद्धि की मन्दता और बुद्धि का विकास कहा जाता है। वास्तव में तो बुद्धि सब प्राणियों में समान है। मस्तिष्क बुद्धि का निवास-स्थान है। मस्तिष्क की अनुकूल तथा प्रतिकूल रचना ही बुद्धि की मन्दता, तीव्रता तथा स्वच्छ मलिन व्यवहार का कारण बनती है बुद्धि की रचना सत्वांशों से हुई है और निश्चयात्मकता ही उसका स्वरूप है, अत: उसमें परिवर्तन की योग्यता अत्यल्प है। तमस् में भी परिवर्तन अत्यल्प ही होता है। यह परिवर्तन की

क्रिया तो अहंकार में ही होती है क्योंकि उसकी रचना में रजस् के आधिकाधिक अंशों का उपयोग हुआ है। रजोगुण तेज:स्वरूप होने से अधिक परिवर्तनशील है। उसी अहंकार में विकार उत्पन्न होने पर मन की रचना हुई थी। उसी में और अधिक परिणाम होने पर ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और तन्मात्र की उत्पति होती है।

अब देखना यह है कि अहंकार में वह क्या परिवर्तन होता है जिससे इन्द्रियों की रचना बताई गयी है। गुणों के न्यूनाधिक भाव से अहंकार की प्रकृति तीन प्रकार की मानी है—सात्व, राजस तथा तामस।[91] सात्व अहंकार से बुद्धीन्द्रिय की रचना होती है। बुद्धीन्द्रिय की रचना में रजस् के अंश तो उतने ही होते हैं किन्तु सत्व के अंशों में कुछ वृद्धि और हो जाती है। उन्हीं बड़े हुए सत्वांशों से बुद्धीन्द्रियों की रचना होती है।[92] इसमें थोड़ा सा परिवर्तन होने से कर्मन्द्रियों और तन्मात्र की उत्पति होती है। वह थोड़ा सा परिवर्तन इतना ही है कि थोड़े से सत्वांश कम हो जाते हैं और उतने ही तमस् के अंश बढ़ जाते हैं। तो निष्कर्ष यह हुआ कि सात्व अहंकार से बुद्धीन्द्रियों की रचना होती है। यह दृष्टि सांख्याएर्यों की भी है त्रिक दर्शन की दृष्टि में थोड़ा यह और विशेष जड़ जाता है कि यह मन की रचना के साथ ही बुद्धीन्द्रियों की रचना भी मानना है। इसमें वह गीता के "मन: षष्ठानीन्द्रियाणि" इस वचन को प्रमाण मानना है।[93] बुद्धीन्द्रियाँ हैं—श्रोत, त्वक्, चक्षु, जिव्हा और नासिका।[94]

वहाँ यह बात पुन: स्मरणीय है कि इन्द्रियों का मूलकारण केवल सत्वादिगुण ही नहीं है अपितु ज्ञानशक्ति का संकोच ही कारण है। मन की रचना के पश्चात् चूँकि ज्ञानेन्द्रिय-पंचक कर्मेन्द्रिय-पंचक और तन्मात्रपंचक की उत्पति होने वाली है। अत: उनकी उत्पति के लिए शक्ति के वामदेवादि पाँच मुखों के संकोच के कारण माना गया है। शक्ति के पाँच मुख बताए गए हैं—क्रिया, ज्ञान, इच्छा, आनन्द और चित्। इन्हीं पाँच मुखों के दूसरे नाम क्रमश: हैं—वानदेव, अघोर, सद्योजात, तत्पुरुष और ईशान। वस्तुत: वामदेवादि उक्त शक्तियों के अधिष्ठातृदेव (Presiding Deities) हैं। अन्त:करण-त्रय की रचना में जितना शक्ति-संकोच हुआ था उसकी अपेक्षा उक्त पाँच शक्तियों में कुछ संकोच होने पर श्रोत्रादि पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ उत्पन्न हुई। यह संकोच अहंकार में परिवर्तन होने पर ही हुआ हैं। अहंकार में थोड़ा और परिवर्तन हुआ तो उक्त पाँच शक्तियों में थोड़ा और संकोच आया। उस संकोच से वाक् आदि पाँच तन्मात्राओं का जन्म हुआ।[96] कहने का सार यह है तत्वों की उत्पति में सर्वत्र शक्ति-संकोच ही

कारण है। ज्यों ज्यों सृष्टि आगे बढ़ती है त्यों त्यों अधिकाधिक शक्ति-संकोच होता जाता है।

श्रोत्र (सत्रहवां तत्व)

सभी ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशुद्ध विद्या की सहायक बन जाती हैं। अशुद्ध विद्या का कार्य है पुरुष की ज्ञानशक्ति को संकुचित करना। ज्ञानेन्द्रियाँ उस संकोच में कुछ और वृद्धि कर देती हैं। ये ज्ञानेन्द्रियाँ किन्हीं अंग-विशेषों के नाम नहीं हैं अपितु ये पुरुष की शक्तियाँ ही हैं जो लोक यात्रा में पुरुष के व्यवहारों की साधन बनती हैं।

श्रोत श्रवणशक्ति का नाम है। यह शब्द और शब्दात्मक विषय के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करके बुद्धि को समर्पित करता है यह स्थूल शब्द को ही सुन सकता है जिसे वैश्वरी वाणी से जन्य माना गया है। सूक्ष्म शब्द को सुनने का इसका सामर्थ्य नहीं है। यह श्रोत्र पुरुष के कर्णछिद्र में स्थित है। केवल स्थूल देह में ही नहीं अपितु सूक्ष्मशरीर में भी यह पुरुष का साथ देता है। अन्त करण त्रय, दश इन्द्रिय और पंच तन्मात्र इन अठारह तत्वों के सूक्ष्मरूप को सूक्ष्म देह कहते हैं। स्थूल शरीर से पृथक् हो जाने पर भी ये सभी ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष के ज्ञान का सीमित साधन बनती रहती हैं। इसलिए पुरुष सूक्ष्म देह में स्थित रहकर भी विषयों का ग्रहण कर सकता है।

त्वक् या स्पर्शन (अठारहवां तत्व)

शीतोष्ण कोमल कठोर स्निग्ध रुक्ष आदि स्पर्शों को जानने के सामर्थ्य को त्वक् कहते हैं। यह स्थूल शरीर के सभी अंगों के ऊपर के भाग में रहती है। शरीर के ऊपर जो एक पतली सी झिल्ली है उसी के नीचे यह त्वगिन्द्रिय रहती है। यह त्वक् देह के ऊपर सर्वत्र व्याप्त है। इसी त्वक् को लेकर एकेन्द्रियवाद का एक सिद्धान्त चल पड़ा था जिसकी सूचना हमें न्यायसूत्रों से मिलती है।[97] एकेन्द्रियवाद का अर्थ यह है कि मुख्य इन्द्रिय तो केवल त्वक् ही है। शेष नौ इन्द्रियाँ तो इसके अवान्तर भेद हैं। त्वक् के ऊपर ही ये चक्षु श्रोत आदि इन्द्रियाँ उभर आयी हैं। जैसे पृथ्वी पर उगे हुए वृक्ष बनस्पति तृण लता आदि पृथ्वी के विकार होने से पार्थिव कहलाते हैं, उसी प्रकार ये चक्षुरादि इन्द्रियाँ त्वक् के ही भिन्न भिन्न रूप हैं। ऐसा एकेन्द्रियवादियों का अभिप्राय है। किन्तु यह मत ठीक नहीं। सामर्थ्य भेद से इन्द्रियों का भेद माना जाता है। अनेक सामर्थ्य हैं अत: इन्द्रियाँ भी अनेक हैं। तो स्पर्श करने के सामर्थ्य को त्वगिन्द्रिय कहते हैं, यह भाव हुआ।

चक्षु (उन्नीसवां तत्व)

रूप, वर्ण आकृति, परिमाण आदि के जानने के सामर्थ्य को चक्षु कहते हैं। नेत्र के गोलकों का नाम चक्षु नहीं है अपितु इनके अन्दर सूक्ष्म कनीनिका में रहने वाला शक्ति-विशेष का नाम चक्षु है। श्वेत श्याम और रक्त वर्ण का यह जो नेत्र गोलक है यह तो रूप के प्रतिबिम्ब को धारण करने का उपकरण मात्र है। इसके ऊपर जब कफ आदि का आवरण आ जाता है तब वह प्रतिबिम्ब के ग्रहण में असमर्थ हो जाता है जिससे चक्षुरिन्द्रिय रूप का ग्रहण नहीं करती।

रसना (बीसवां तत्व)

मधुर अम्ल लवण आदि स्वादों को जानने की पुरुष की शक्ति रसना कहलाती है। यह रसनेन्द्रिय जिव्हा के अग्रभाग में निवास करती है। वात, पित्त, कफादि का वैषम्य रसनेन्द्रिय को प्रभावित करता है। पित्त से दूषित रसना मधुर शर्करा को भी कटुरूप में ग्रहण करती है।[98] यह भी ध्यान रखना चाहिए कि सम्पुर्ण जिव्हा का नाम रसनेन्द्रिय नहीं है। केवल अग्रभाग में ही यह छुपी रहती है।

घ्राण (इक्कीसवां तत्व)

पाँचवीं ज्ञानेन्द्रिय घ्राण है। यह गन्ध को जानने का साधन है। किसी वस्तु की सुगन्ध अथवा दुर्गन्ध का ज्ञान घ्राण से ही होता है। यह इन्द्रिय नष्ट हो जाती है।

ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ अपने अपने विषयों के प्रतिविम्ब को धारण करके उन्हें बुद्धि के दर्पण में डाल देती हैं। बुद्धि उन प्रतिबिम्बों को एक विशिष्ट आकार प्रदान करती है। दूसरी ओर से पुरुष भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित है। वह पुरुष अपने संकुचित ज्ञान-सामर्थ्य से उन आकारों को अपने विषय के रूप में ग्रहण कर लेता है। यही पुरुष का भोग कहलाता है। पुरुष का यही संकुचित ज्ञान सामर्थ्य उसकी अशूद्ध विद्या है।

कर्मेन्द्रिय

त्रिक दर्शन के अनुसार ज्ञानेन्द्रियाँ पुरुष की अशूद्ध विद्या के व्यापार में उपयोगी थी तो ये कर्मेन्द्रियाँ उसकी कला नामक कंचुक में उपयोगी हैं। संकुचित ज्ञान-सामर्थ्य का नाम अशुद्ध विद्या था तो संकुचित क्रिया-शक्ति का नाम कला है। अपने संकुचित क्रिया-सामर्थ्य से पुरुष जो कुछ कर लेता है वह कर्मेन्द्रियों से ही करता है।[99] ये कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं—वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थ। कर्मेन्द्रियों की रचना के समय थोड़े से तमस् के अंश बढ़ जाते हैं, ठीक उतने ही सत्व के अंश अल्प हो जाते हैं।

वैसे राजस् अहंकार ही इनका मूल कारण है। ज्ञानेन्द्रियों से कर्मेन्द्रियों में यह विलक्षणता है कि कर्मेन्द्रियाँ सम्पूर्ण देह में व्याप्त रहती हैं[100] जबकि ज्ञानेन्द्रियाँ स्वस्थान में रहकर ही विषयों का ग्रहण करती हैं।

वाक् (बाईसवां तत्व)

पुरुष का बोलने का सामर्थ्य वागिन्द्रिय है। यह पुरुष के स्थूल देह में मुख के अन्दर रहती है। दन्त ओष्ठ कण्ठ तालु मूर्धा जिव्हा और वायु इन सभी के सम्मिलित प्रयास से वागिन्द्रिय शब्द को जन्म देती है। यह जो नादात्मक वाक् है इसे वैरवरी वाणी समझना चाहिए। मध्यमा पश्यन्ती और परा वाक् इस वागिन्द्रिय के क्षेत्र से बाहर की वाणियाँ हैं। उन सूक्ष्म वाणियों की अभिव्यक्ति सिद्ध पुरुष ही निर्विकल्प समाधि में कर सकते हैं। ये पाँचों कर्मेन्द्रियां सूक्ष्म शरीर में भी पुरुष का साथ देती हैं।

पाँचों कर्मेन्द्रिय में केवल वागिन्द्रिय ही सबसे महत्वपूर्ण है। यदि यह सुप्रयुक्त है तो दिव्य कहलाती है और यदि कठोर है तो राक्षसी कहलाती है। महाकवि भवभूति ने दोनों प्रकार की वाणियों का वड़ा सुन्दर चित्र खींचा है। उन्होंने कहा है कि उन्मत्त और दृप्त पुरुषों की वाणी राक्षसी वाणी कहलाती है क्योंकि यह समस्त वैरों की योनि है और लोक का पराभव करने वाली हाती है।[101] किन्तु शुद्ध शान्त और सूनृत वाणी समस्त कामनाओं का दोहन करती है। दारिद्रय का नाश करती है, यश को जन्म देती है, शत्रुओं को दूर भगाती और मंगलो को उत्पन्न करती है। ऐसी वाणी को ही शास्त्रों में कामधेनु कहा गया है।[102]

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि सार्थक शब्द ही वागिन्द्रिय से प्रादुभूति होता है, शब्द सामान्य नहीं। शब्द-सामान्य तो दोनों हाथों के संयोग से तथा बांस आदि के विभाग से भी उत्पन्न हो सकता है। इसलिए वागिन्द्रिय का कार्य वचन माना गया है शब्द नहीं।[103]

पाणि (तेईसवां तत्व)

पुरुष के आदान या ग्रहण क्रिया के सामर्थ्य को पाणि कहते हैं। मनुष्य का हाथ पाणि इन्द्रिय का प्रधानाधिष्ठान है। प्रधान कहने का अभिप्राय यह है कि यह इन्द्रिय केवल हाथ में नहीं रहती, अपितु शरीर के अन्य अंगों में भी ग्रहण का सामर्थ्य है। जैसे प्राणी मुख से भी किसी वस्तु को पकड़ सकता है।[104] बगल में, पैरों के बीच में, पैरों की अंगुलियों में, ठोड़ी से, गले से तथा आंखों की पलकों से भी वस्तुओं का ग्रहण देखा जाता है। जिनके हाथ कट जाते हैं वे लोग उक्त अंगों से आदान क्रिया करते हुए देखे जाते हैं। इसलिए जहाँ जहाँ यह ग्रहण-सामर्थ्य है वहाँ वहाँ यह प्राणि

इन्द्रिय ही काम कर रही होती है। हाथ को इस इन्द्रिय का मुख्य स्थान इसलिए माना जाता है क्योंकि पाँच अंगुलियों की सहायता से वस्तु का आदान प्रदान आदि का व्यवहार सुचारु रूप से हो जाता है।[105] उतनी सुविधा से अन्य अंगों से नही हो पाता। वैसे तो हाथी अपनी सुंढ़ से ही ग्रहण करते हैं। पक्षी मुख से ही पकड़ते है। इसलिए इन सभी अंगों में पाणि का अवस्थान है।

आदान पाणि का मुख्य सामर्थ्य है। अन्य कार्य भी इससे किए जा सकते हैं। जैसे देना, प्रहार करना, इंगित करना, स्नेह करना आदि यह आदान पुरुष के लिए ही होता है, अत: यह पाणिन्द्रिय पुरुष का करण है।

पाद (चौबीसवां तत्व)

गमन करने वाली इन्द्रिय का नाम पाद है। गमन का अर्थ है आना, जाना, चलना, फिरना, उछलना, कूदना, गिरना, फैलना. सिकुडना, तैरना, झुकना, उठना आदि। ये सभी कार्य जिससे होते हैं वह पादेन्द्रिय है। यह इन्द्रिय मुख्य रूप से चरणों में रहती है किन्तु इसका कुछ अंश सम्पूर्ण देह में रहता है। जिनके चरण कट जाते हैं वे हाथों और पेट के बल खिसकते हैं, पक्षी पंखों से उड़ते हैं। सर्प चरणों के बिना ही चलता है। कीड़े मकोड़े जलजन्तु आदि कई प्रकार के संचरण करते हैं। इस प्रकार देह के सभी अंगों में गमन का सामर्थ्य रहता है। अत: पादेन्द्रिय सम्पूर्ण देह में व्याप्त है।[106] यह पहले कहा जा चुका है कि किसी अंग का नाम इन्द्रिय नहीं है अपितु सामर्थ्य-विशेष का नाम है इन्द्रिय है। अत: एक अंग में दो इन्द्रियाँ भी रहती हैं। हाथों से आदान भी हाता है ओर गमन भी उसये स्पर्श भी किया जा सकता है। वह पसीने का विसर्जन भी करता और आनन्द का भी अनुभव करता है। इस प्रकार हाथ में वाक् को छोड़कर चा ों इन्द्रियाँ रहती हैं। इसी प्रकार पैरों से गमन के साथ साथ आदान भी होता है। इससे इन्द्रियों का सांकर्य नहीं समझसा चाहिए।

पायु (पच्चीसवां तत्व)

विसर्जन अर्थात् मल त्याग करने का साधन बनी हुई पुरुष की शक्ति को पायु कहते हैं। अन्नपानादि के उपभोग करने से हमारे शरीर में मल एकत्र हो जाता है। मल को बाहर निकालना ही पड़ता है अन्यथा शरीर रुग्ण हो जाएगा। इस मल को जो शक्ति देह के बाहर फेंकती है वह पायु कहलाती है। मुख्य रूप से तो गुदा ही पायु का स्थान है किन्तु यह इन्द्रिय अन्य अंगो में भी रहती है। जैसे मूत्र का त्याग जननेन्द्रिय से किया जाता है। नाक, मुख, आँख, त्वचा में स्थित रोमछिद्र आदि से भी मल-त्याग

किया जाता है। ये सभी अंग पायु-इन्द्रिय के अधिष्ठान हैं।

उपस्थ (छब्बीसवां तत्व)

विषयानन्द को अभिव्यक्त करने का साधन बनी हुई पुरुष की शक्ति को उपस्थ कहते हैं। आनन्द के उपभोग की ओर पुरुष की प्रवृति स्वाभाविक है। यह आनन्द बाहर से नहीं आता अपितु देह के अन्दर ही वह प्रतिष्ठित है। किन्तु अनभिव्यक्त दशा में रहता है। उपस्थेन्द्रिय ही उसे अभिव्क्त करती है। प्रधानरूप से शिश्न या जननेन्द्रिय उसका आधिष्ठान है किन्तु अन्य अंगों में भी आनन्द की अभिव्यक्ति का सामर्थ्य विद्यमान है। अन्नपान रसादि का आनन्द मुख से अभिव्यक्त होता है। चुम्बन का आनन्द ओष्ठों से लिया जाता है। स्त्रियों की छातियों में भी आनन्द की अभिव्कित होती है। सुन्दर रूप का आनन्द आँखे लेती हैं। कोमल त्वचा के स्पर्श का सुख त्वचा ही लेती है। इन समस्त अंगों में उपस्थेन्द्रिय ही कार्य करती है। शिश्न को इस उपस्थेन्द्रिय का प्रधान अधिष्ठान इसलिए माना जाता है क्योंकि योनि के घर्षण से आनन्द की स्फुट अभिव्यक्ति शिश्न के द्वारा ही होती है। स्त्रियों की उपस्थेन्द्रिय मुख्य रूप में उनकी योनि में ही रहती है।

इस प्रकार ये पाँच ही कर्मेन्द्रिय हैं. क्योंकि पाँच ही प्रकार के कर्म हैं। इनके अतिरिक्त कोई कर्म नहीं है। अत: कोई करणान्तर भी स्वीकार नहीं किया गया है। अन्य सभी प्रकार के कर्म इन्हीं में अन्तर्भूत हो जाते हैं।[107]

जिज्ञासा हो सकती है कि उपस्थेन्द्रिय को कर्मेन्द्रियों में परिगणित क्यों किया गया ? आनन्द भी तो एक प्रकार का ज्ञान ही है। उसके साधन को ज्ञानेन्द्रिय कहना अधिक उचित है। अत: उपस्थ को कर्मेन्द्रिय नहीं अपितु ज्ञानेन्द्रिय कहा जाना चाहिए।

वस्तुत: यह शंका तो उचित ही है। वस्तुत; यह उपस्थेन्द्रिय अंशत: ज्ञानेन्द्रिय भी है मिन्तु अधिकांशत: कर्मेन्द्रिय ही है क्योंकि आनन्द की अभिव्यक्ति के लिए इसे सक्रिय होना पड़ता है। यह उपस्थ विषयानन्द की अभिव्यवित का साधन है, आत्मानन्द या विचारानन्द का नहीं। आत्मा या विचार का आनन्द तो कोई क्रिया किए बिना भी, आँखे बन्द करके, अंगों को हिलाए बिना भी किया जा सकता है। किन्तु बाह्य विषयों का तथा दैहिक आनन्द बिना क्रिया के अभिव्यक्त नहीं होता। इसीलिए इसे कर्मेन्द्रिय माना गया। ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय में जो भेदक धर्म माना गया है वह आन्तर क्रिया और बाह्य क्रिया को लेकर ही माना गया है ज्ञानेन्द्रियों का

कार्य तो रूपादि का केवल आलोचन करना है,[108] रूपादिमान् पदार्थों को उठाकर लाना नहीं है। यद्यपि आलोचना भी एक प्रकार की क्रिया ही है। किन्तु यह मानसिक क्रिया है। मानसिक क्रिया को कर्म नहीं कहा जाता। अन्यथा ज्ञान और ध्यान भी कर्म होने से नश्वरता की कोटि में आ जाएँगे। कर्मेन्द्रियों का कार्य वचन आदान विहरण विसर्जन और आनन्दन है जो बाह्य क्रियाओं से ही हो सकता है। इसलिए उपस्थेन्द्रिय कर्मेन्द्रिय ही है ज्ञानेन्द्रिय नहीं।

उक्त पाँच कर्मेन्द्रियाँ भी ज्ञानेन्द्रियों की तरह पूर्वोक्त वामदेवादि पाँच शक्तियों के ही संकुचित रूप हैं जो देह में स्थित रहकर पुरुष का कार्य सम्पादित करती हैं और इस व्याज से उसे निगडित करके संसार में फंसाये रखती हैं।

इन्द्रिय-विषयक आलोचन

इन्द्रियों की उत्पति और स्वरूप के विषय में त्रिक दर्शन का दृष्टि-कोण बहुत अश में सांख्य से समानता रखते हुए भी उससे किंचित् भिन्न है। सांख्य सत्वविशिष्ट राजस अहंकार से इन्द्रयों की उत्पत्ति मानता है। त्रिक दर्शन भी ऐसा स्वीकार करता है, किन्तु वह इसमें इतना और जोड़ता है कि केवल अहंकार से इन्द्रियों की उत्पति नहीं होती है अपितु इनको उत्पति भी परमेश्वर के पंचशक्तिरूप मुखों से हुई। हाँ माध्यम उनका अहंकार ही है। अत: इन्द्रियाँ आहंकारिक ही हैं। ऐसा ही सांख्याचार्य और कपिल भी स्वीकार करते हैं।[109]

सांख्याचार्यों की मान्यता का प्रकार यह है कि मूल उपादान तत्वों में परिणाम होकर जब वे एक ऐसे स्तर पर आते हैं जहाँ उनका नाम अहंकार होता है, इसमें कुछ अन्थ परिवर्तन व परिणाम होकर आगे तत्व की जो स्थिति होती है उसी का नाम "इन्द्रिय" कहा जाता है।[110] आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि इन्द्रियाँ आहंकारिक हैं इसीलिए विषय-ग्रहण में उनका नियम है कि श्रोत्र शब्द का ही ग्रहण करता है स्पर्शादि का नहीं और त्वक् एक स्पर्श का ही ग्रहण करती है अन्य का नहीं। इसी प्रकार घ्राण भी गन्ध का ही ग्रहण करती है स्पर्शादि का नहीं। अहंकार से जन्म लेने के कारण ही यह विषय-ग्रहण का नियम है।[111]

नैयायिक आदि कुछ दर्शनिक इन्द्रियों की उत्पति भूतों से मानते हैं अहंकार से नहीं।[112] उसका तर्क यह है कि चूंकि घ्राण पृथ्वी से उत्पन्न हुआ है इसलिए वह गन्ध का ही ग्राहक है रसादि का नहीं। श्रोत्र आकाश-रूप है इसलिए वह शब्द का ही ग्रहण करता है स्पर्शादि का नहीं। इसी

प्रकार अन्य इन्द्रियों की भौतिकता में भी यही प्रमाण है। अतः न्यायमत में इन्द्रियाँ भौतिक हैं।[113]

त्रिकाचार्य न्यायदर्शन के इस मत में श्रद्धा नहीं रखते।[114] उनका कथन है कि यदि इन्द्रियाँ भौतिक हैं तो त्वक् इन्द्रिय से वायु का भी ग्रहण होना चाहिए क्योंकि वायु से ही उसकी उत्पति हुई है, तथा पृथ्वी जल और अग्नि का ग्रहण त्वक् से नहीं होना चाहिए क्योंकि इनसे उसकी उत्पति नहीं हुई। किन्तु ऐसा स्वीकार करना नैयायिकों को अभींष्ट नहीं। वे तो त्वक् से केवल स्पर्श का ही ग्रहण मानते हैं वायु का नहीं।[115] इसी नियम से चक्षु भी केवल रूप के ही ग्रहण में समर्थ होनी चाहिए पृथ्वी आदि के ग्रहण में नहीं, क्योंकि तेज ही चक्षु की प्रकृति है।[116] इस प्रकार इन्द्रियों को भौतिक स्वीकार करने पर उक्त विसंगतियाँ आती हैं।

दूसरी बात यह है कि न्याय ने कर्म, सामान्य और समवाय इन तीन पदार्थों का इन्द्रिय-प्रत्यक्षत्व माना है। इन्द्रियों को भौतिक मानने पर उनकी यह मान्यता व्याहृत होगी क्योंकि कर्म सामान्य और समवाय भौतिक नहीं हैं। भौतिक इन्द्रियाँ भौतिक विषयों का ही ग्रहण कर सकती हैं अभौतिक का नहीं। अतः इन्द्रियों की उत्पत्ति अहंकार से ही स्वीकार की जानी चाहिए।[117]

वैसे यदि विचार किया जाए तो इन्द्रियों को भौतिक कहना अवैज्ञानिक भी है। प्राकृतिक सर्ग दो प्रकार का है—आध्यात्मिक तथा भौतिक। आध्यात्मिक रचना इन्द्रियों तक पूर्ण हो जाती है और भौतिक सृष्टि तन्मात्र से प्रारम्भ होती है। अध्यात्मसर्ग में सबसे अन्तिम रचना इन्द्रिय है। इसके पश्चात् तन्मात्र और भूतों की सृष्टि का प्रारम्भ होता है। दोनों सर्गों के तत्वों में पर्याप्त वैषम्य है। पहला साधन है दूसरा साध्य। इन्द्रियाँ ग्राहक हैं मो भूतसृष्टि ग्राह्य विषय है। अधिभूत-सृष्टि आध्यात्यिक सृष्टि का विषय है। यही दानों में भेद है। सूक्ष्म से स्थूल की उत्पति होती है, स्थूल से सूक्ष्म वी नहीं। इसलिए अहंकार से एकादश या दश इन्द्रियों की उत्पति मानना ही युक्तियुक्त है।

न्याय के ही समान एक पंचाधिकरण नाम के प्राचीन सांख्याचार्य भी इन्द्रियों की उत्पति भूतों से मानते हैं। उनकी इस मान्यता का आधार सम्भवतः अधिकारी-भेद रहा होगा। यह उपदेश उन्होंने उन मन्दबुद्धि जिज्ञासुओं के लिए किया होगा जो आधिभौतिक तत्वों की स्थूल विवेचना की जानकारी प्राप्त करना चाहते हैं। त्रिक दर्शन तो सैद्ध दर्शन है।

पारदृश्वा सिद्ध पुरुषों ने परमशिव के स्वरूप को सूक्ष्मता से समझकर सूक्ष्म मेधा वाले उत्तम अधिकारियों के लिए इसका विवेचन किया है। शक्ति-संकोच की प्रक्रिला से स्थूल विश्व का क्रमिक विकास होता है। परमशिव ज्यों ज्यों सृष्टि के विकास की दिशा में उन्मुख होते हैं त्यों त्यों वे सूक्ष्म से स्थूलता की ओर बढ़ते रहते हैं। यह स्थूलता पंचभूतों में पृथ्वी तत्व पर जाकर समाप्त होती है। अत: इन्द्रियों की उत्पति भूतों से कथमपि नहीं मानी जा सकती।[118]

अब यदि यह पूछा जाए कि इन्द्रियाँ भौतिक न सही, किन्तु इनकी आहंकारिता में क्या प्रमाण है? इसके उत्तर में आचार्य अभिनव गुप्त का कहना है कि इन्द्रियों की आहंकारिकता तो स्पष्ट ही द्योतित हो रही है। "अहं श्रृणोमि", अहं पश्मि", "अहं जिघ्रामि" इत्यादि व्यवहारों में जो अहन्ता का अनुगम हो रहा है वह अहंकार के ही कारण हो रहा है। इन्द्रियों की आहंकारिकता में यही सबसे बड़ा प्रमाण है।[119] अहंपरामर्श के अनुवेध से इन इन्द्रियों की कर्ता से अभिन्नता प्रकट होती है उसी अभिन्नता से इन्हें करण कहा जाता है। क्योंकि करण कर्ता से अत्यन्त पृथक् नहीं हुआ करता। यदि करण कर्ता से अत्यन्त पृथक् होगा तो वह प्रेरणा का विषय होने से कर्म ही कहलाएगा, करण नहीं कहला सकेगा।[120] यद्यपि करण कर्ता से व्यतिरिक्त दिखाई देता है किन्तु यह संकुचित प्रमाता उन करण बनाए हुए इन्द्रियों के साथ इस प्रकार तन्मयीभाव को प्राप्त कर लेता है कि अयन्त व्यतिरिक्त हस्तादि को अभिन्न मानकर ही व्यवहार करता हैं।[121]

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि वह स्वातन्त्र्यैकरस परमशिव अपने स्वातन्त्र्य की महिमा से अपने ही देह में भेद उत्पन्न करके कर्मभूत इन्द्रियों को शब्दादि विषय का साधन बना लेता हैं। इसमें उसकी अहन्ता का संस्पर्श ही सर्वत्र अनुस्यूत है।[122] इस प्रकार इन्द्रियाँ आहंकारिक ही हैं भौतिक नहीं।

तन्मात्र सर्ग

इन्द्रियों की रचना के पश्चात् तन्मात्रों की रचना का प्रारम्भ होता है। इन्द्रिय-रचना के साथ अध्यात्मक-सृष्टि की प्रक्रिया पूर्ण हुई। तन्मात्र के साथ अधिभुत सृष्टि का प्रारम्भ हो जाता है। तन्मात्र भी गुणमयी सृष्टि है। तन्मात्र की रचना में सत्वादि गुणों का क्या अनुपात रहता होगा इसका आकलन सम्भव नहीं। मूल रूप से पंच तन्मात्रों का मूल उपादन भी परमेश्वर की वही वामदेवादि पाँच शक्तियां हैं किन्तु सृष्टि-क्रम में इनकी

भी उत्पति अहंकार से ही हुई है। तन्मात्रों की रचना में त्रिक दर्शन का दृष्टिकोण सांख्यों के दृष्टीकोण जैसा ही है। सांख्य के अनुसार अधिभूत-रचना में तत्व और रजस् का न्यून उपयोग होता है और तमस्-तत्वों का अधिक उपयोग रहता है।

तन्मात्र वह तत्व है जो सत्वादि के विलक्षण संघटन के आधार पर प्रकाश में आता है। इस तत्व में पहुँच कर परमेश्वर की शक्ति स्थायी रूप प्राप्त कर लेती है। स्थायी का अर्थ अनश्वर नहीं है। शक्ति तो अनश्वर होती ही है। स्थायी का अर्थ यहाँ उस स्थिति से है जिसमें लौकिक व्यवहार व्यवस्थित रूप से चलता है। जिसमें एक नियम होता है तथा जिसमें कुछ समय के लिए एकरूपता सी आ जाती है।

तन्मात्र की उत्पति तामस अहंकार से मानी गयी है।[123] तन्मात्रों की स्थिरता तथा जड़ता से उनकी तामस अहंकार से उत्पति का अनुमान किया जाता है। अहंकाररूप कारण-सामग्री के साथ अधिक समस्-तत्वों का संघटन हो जाने से उस समस्त कारण-सामग्री को तामस अहंकार कहा जाता है। सात्विक अहंकार से ज्ञानेन्द्रियों की उत्पति हुई थी, राजस् अहंकार से कर्मेन्द्रियों की रचना हुई थी और तामस अहंकार से तन्मात्रों की रचना होती है।

ये तन्मात्र हैं क्या ? यह जानने के लिए हमें तन्मात्र-शब्द के अर्थ पर ध्यान देना होगा। तन्मात्र शब्द का अर्थ है "उतना ही"। अर्थात् "केवल वही" तत्व तन्मात्र है सो बस वही या उतना ही हो, उससे अधिक नहीं। जिसकी रचना इन्द्रियों के पश्चात् उनके विषय के रूप में होने वाली है ये विषय हैं शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध। ये विषय दो प्रकार के होते हैं सूक्ष्म और स्थूल। दूसरे शब्दों में इन्हें अव्यवहार्य और व्यवहार्य कहा जा सकता है। इनमें सूक्ष्म विषय ही तन्मात्र कहलाते हैं। स्थूल होकर तो ये तन्मात्र से अधिक हो जाते हैं क्योंकि तब इनमें मिलावट हो जाती है। मिलावट होकर ही तो इनमें स्थूलता आती है। अर्थात् शब्द जब शब्द ही रहता है उसके अतिरिक्त कुछ नहीं होता तब वह तन्मात्र कहलाता है। तत्वों की यह स्थिति इन्द्रियों की ग्रहणशक्ति से बाहर होती है। इस अवस्था तक इनमें ग्राह्यता नहीं आयी होती। यद्यपि तन्मात्र इन्द्रियों के विषय तो हैं किन्तु विषयविषयीभाव अभी इनमें उत्पन्न नहीं होता। विषयविषयिता तो इनमें अगली भूमिका में आयेगी जब ये स्थूलता का धारण कर लेगे। ये तन्मात्र इतने सूक्ष्म हैं कि इन्द्रियाँ इन्हें देख ही नहीं सकती। तन्मात्र ही क्या उससे भी स्थूल ऐसे पदार्थ है जिन्हें

इन्द्रियाँ ग्रहण नहीं कर पाती। पानी की एक बुंद में असंख्य शरीरधारी जीवाणु रहते हैं किन्तु कितनी ही तीव्र दृष्टिवाला पुरुष उन्हें नहीं देख पाता। सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र से उन्हें चलता फिरता देखा जा सकता है। किन्तु तन्मात्र इतने सूक्ष्म तत्व हैं कि उन्हें आधुनिक साइंस के द्वारा बनाए गए श्रैष्ट से क्षेष्ट सूक्ष्मवीक्षण यन्त्र भी नहीं देख सकते। यद्यपि इन्द्रियों की तुलना में तन्मात्र कथंचित् स्थूल हैं किन्तु ग्राह्ययता की सीमा तक नहीं। आखिरकार तन्मात्र तो फिर तन्मात्र ही हैं। यदि उनमें ग्राह्यता आ गयी तो ये तन्मात्र ही क्यों रहेंगे।

तन्मात्र स्थूल महाभूतों की रचना से पहले की अवस्था है। यह भूतों की प्रारम्भिक अवस्था है। अत: सूक्ष्मातिसूक्ष्त होते हुए भी इनको अधिभूत रचना की कोटि में ही रखा जाता है।

निष्कर्ष यह है कि तन्मात्र तत्व की वह अवस्था है जो अति सूक्ष्म अतीन्द्रिय तथा अव्यहार्य है। एक ओर से वह इन्द्रियों का ऐसा विषय है जो इस समय तो अग्राह्य है किन्तु अगली भूमिका में जो इन्द्रियों का विषय बनेगा। दूसरी ओर से वह भूतों की रचना की प्रारम्भिक एवं सूक्ष्म भूमिका है। क्रम से पंच तन्मात्रों के स्वरूप पर विचार किया जाता है।

शब्द (तन्मात्र सत्ताईसवां तत्व)

अभी कहा गया है कि तन्मात्र तम: प्रधान अहंकार से उत्पन्न हुए है।[124] ये संख्या में पांच हैं—शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध। इन्हें ही गुण या विषय भी कहा जाता है। इनकी आहंकारिकता में इनकी प्रकाश्यता कारण है। ये प्रकाश्य हैं प्रकाशक नहीं। पूर्वोक्त शब्दादि विषयों के दो रूप हैं अविशेष और विशेष। जब तक ये अविशेष रहते हैं तभी तक तन्मात्र कहलाते हैं। जब ये विशेष हो जाते हैं तो पृथिव्यादि भूतों के गुण बन जाते हैं। अविशेष का अर्थ है सूक्ष्म और विशेष का अर्थ है स्थूल।

सबसे प्रथम तन्मात्र शब्द है। शब्द तन्मात्र का अर्थ है—केवल शब्द। सभी विशेषताओं से रहित, सामान्याकार एवं सूक्ष्म, अवैद्य या अश्राव्य शब्द शब्दतन्मात्र है। तन्मात्र के रूप में यह शब्द सामान्याकार के साथ एकाकार भी होता हैं। इसमें संख्या नहीं होती। एक शब्द दो शब्द तीन शब्द आदि व्यवहार उस अवस्था में नहीं होते। नाद, ध्वनि, प्रतिध्वनि, संयोगज, विभागज वर्ण पद, वाक्य, तार, मन्द्र, मन्द, रोचक आल्हादक, दीपक सार्थक, निरर्थक आदि शब्दात्मक वैशिष्ट्म शब्द-तन्मात्र में नहीं होते। तन्मात्र तो सर्वथा प्रविभागवर्जित सूक्ष्मतर विषय होता है।[125] श्रोत्रेन्द्रिय शब्द तन्मात्र को नहीं सुन सकती। आकाश का सूक्ष्मरूप भी शब्द तन्मात्र

ही है। विवेष सदैव अविवेषनिष्ठ ही होता है।[126] अत: महाकाश इसी शब्द तन्मात्र में लीन रहता है। लीन भी क्या रहता है वह तो सूक्ष्मावस्था में शब्द तन्मात्र रूप ही होता है। परमेश्वर की चिच्छक्ति से ही शब्द और उसके समस्त व्यापार का उदय हुआ है, किन्तु तम: प्रधान होने से यह प्रकाशक नहीं होता। जितना भी लौकिक और वैदिक वाग्व्यापार है वह इसी शब्द तन्मात्र में समाया हुआ है। मधुर, कटु, उच्च, मन्द आदि स्वर-भेद भी इसी में समाविष्ट हैं। इन समस्त शब्द भेदों में जो एक शब्दत्व-सामान्य है वही शब्द-तन्मात्र है। स्थूलावस्था को प्राप्त होकर यह शब्द-तन्मात्र आकाश का गुण बन जाता है।

स्पर्श-तन्मात्र (अट्ठाईसवां तत्व)

स्पर्श-तन्मात्र त्वगिन्द्रिय का सूक्ष्मतर विषय है। शीत, उष्ण, सुखद स्पर्श दु:खद आदि विशेषताओं से रहित केवल सामान्याकार स्पर्शत्व का नाम ही स्पर्श तन्मात्र है। त्वगिन्द्रिय इसका ग्रहण नहीं कर सकती। यह अविशेषरूप सूक्ष्मतर विषय है जिसमें स्पर्शवान् वस्तुओं की स्पर्शानुभूतियां समाविष्ट हैं। यह वायु-नामक महाभूत का मूलरूप है। स्थूल हो र यह स्पर्श वायु का गुण कहलाता है।

रूप-तन्मात्र (उनत्तीसवां तत्व)

चक्षु से ग्राह्य विषय रूप कहलाता है, किन्तु यह चक्षुर्ग्राह्य रूप उसकी तन्मात्रावस्था नहीं है अपितु विशिष्ट अवस्था है। रूपतन्मात्र तो बस रूप ही हैं और कुछ नहीं। चक्षु उसका ग्रहण नहीं कर सकती। श्वेत, रक्त, श्याम हरित पीत कपिश आदि रंग इसी रूपतन्मात्र के स्थूल रूप हैं, किन्तु रूपतन्मात्र में यह विभाग नहीं होते। कुरूप सुरूप, भद्दा, सुन्दर, मनोहर, उद्वेजक आदि भेद व्यवहार भी उसमें नहीं होता। तेजस्तत्व की उत्पत्ति इसी रूपतन्मात्र से होती है।

रसतन्मात्र (तीसवां तत्व)

जिव्हा का जो स्थूल विषय रस है उसके सूक्ष्म रूप को रस तन्मात्र कहते है। यह रस आनन्द का पर्यायवाची नहीं है अपितु भोजन आदि के खाने से जिव्हा को जो एक प्रकार की अनुभूति होती है उसी का नाम है। आनन्द तो सभी इन्द्रियों से लिया जाता है। किन्तु यह रस जिव्हा से ही ग्राह्य है। मधुर अम्ल,लवण, कटु, तिक्त, कषाय आदि इस रस के भेद हैं। काव्य के नव रसों का समावेश इसमें नहीं होता। किन्तु मधुर आदि रस रस-तन्मात्र नहीं हैं अपितु रस-तन्मात्र के स्थूल रूप हैं। रस-तन्मात्र में तो माधुर्यादि विशेषों का उदय नहीं हुआ होता। इसीलिए जिव्हा से उसका

ग्रहण भी नहीं हो सकता। समस्त जलीय सृष्टि इसी रसतन्मात्र में निहित रहती है। इसीलिए यह जल का गुण कहलाता है।

गन्ध-तन्मात्र (इकत्तीसवां तत्व)

पृथ्वी में जो सुरभि, असुरभि आदि गन्धों का समुदाय है उसमें जो एक गन्धत्व साम्रान्य है वह गन्धतन्मात्र है।[127] गन्ध-तन्मात्र में सौरभ असौरभ का भेद नहीं होता। यह भेद तो बाद में उत्पन्न होता है जब वह विशेषात्मकता को प्राप्त कर लेता है। अविशेषावस्था में तो केवल सूक्ष्म-गन्धमात्र ही होता है। समस्त विशेषताओं से रहित, भेदों से शून्य व्यवहार ग्राह्यता से बहुत दूर। स्थूलावस्था में यह घ्रणेन्द्रिय का बिषय और पृथ्वी का विशेष गुण बनता है। उस अवस्था में ही तीव्र गन्ध, मनद गन्ध, घृत की गन्ध, रक्त की गन्ध पक्वान्न, मदिरा आदि की गन्ध, सुगन्ध दुर्गन्द आदि भेदों का व्यवहार होता है।

इस प्रकार ये पांच ही तन्मात्र हैं। सामान्य रूप होने से ये तन्मात्र व्यापक हैं, क्योंकि विशेषता का सम्पर्क होने से ही व्याप्यता आती है।[128] सभी तन्मात्र देश और काल से अनवच्छिन्न होते है क्योंकि वे अकृतक हैं। अकृतक होने के कारण ये तन्मात्र नित्य भी हैं, क्योंकि कृतक कभी नित्य नहीं हुआ करता।[129] किन्तु पूर्णरूप से ये नित्य भी नहीं हैं किन्तु नाश का अर्थ सर्वथा अभाव नहीं है अपितु अपने कारण में लीन होना ही नाश है। अन्दर रहने वाले अर्थ का बाहर अभासित होना कार्यत्व हैं और पुनः उसकी वही पर विश्ररन्ति होना उसका नाश है। इसलिए तन्मात्र कूटस्थ नित्य नहीं है अपितु परिणामि नित्य है।[130]

तन्मात्र पांच ही क्यों ?

यह अभी कहा गया है कि प्रकृति की एक निश्चित व्यवस्था और अलक्षित नियम रचना के आधार पर सत्वादि गुणों का संघटन जब किसी विशेष स्तर में आकर अपने एक स्थायी आकार को ग्रहण कर लेता है तो वह तन्मात्र कहलाता है। किन्तु ये तन्मात्र पांच ही क्यों हैं ? किस आधार पर इन्हें नियत सख्या में सीमित कर दिया गया ? यह एक विचारणीय विषय है। हमारी समझ में इसका जो कारण पंडित उदयवीर शास्त्री ने सांख्य सिद्धान्त में बताया है वही युक्तियुक्त प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि "पृथिव्यादि भूत अन्य अनेक प्रकार के पदार्थों के उत्पादन में निमित्त रहते हैं, यह बात सर्वथा वैज्ञानिक है। अन्न, फल, मूल, औषधि वनस्पति आदि विभिन्न पदार्थ सब पांच-भौतिक हैं जो प्राणी की भोग्य-सामग्री के अंग हैं। प्राणियों के यू विभिन्न प्रकार के शरीर पांच भौतिक हैं जो

आत्माओं के भोगसाधन हैं। पाँच भूतों की अपने रूप में स्थिति ऐसी ही सत्य है, जैसे कोई भी अन्य पदार्थ अपने रूप में सत्य हो सकता है। दर्शन-शास्त्र में पाँच भूतों को विशेष महत्व दिए जाने का यही कारण प्रतीत होता है कि तत्व की परिणाम परम्परा में यह एक ऐसे स्तर पर आकर बैठा है जिसका प्राणी के लिए जगत्-व्यवहार में और अपने लिए प्रयोग में सीधा सम्पर्क है। प्राणी का जीवन और उसके समस्त बाह्य साधन इन्हीं भूत-भौतिक परिणामों पर अवलम्बित रहते हैं। इस प्रकार पञ्चभूतों की रचना के आधार पर उनके कारणभूत उतने तन्मात्र-वर्ग के लिए व्यवहार की सुविधा के निमित्त पाँच संख्या का प्रवाद प्रचलित है, ऐसा समझना चाहिए।[131]

तामस अहंकार से ही तन्मात्र क्यों ?

यहाँ एक शंका यह है कि जब बुद्धीन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय की रचना सात्विक अहंकार से हो सकती है तो तन्मात्र वर्ग की रचना उससे क्यों नहीं हो सकती ? उसकी उत्पत्ति भी सात्विक अहंकार से ही मान लो। क्यों तामस अहंकार से उसकी रचना मानते हो ?[132] इसका उत्तर आचार्य अभिनव गुप्त ने यह दिया है कि तन्मात्र की रचना आवरणात्मक ग्राह्य विषय का उपक्रम है। इस विषय में किसी का भी विवाद नहीं है। चूँकि यह ग्राह्य है इसलिए प्रकाश्य भी है। प्रकाशकता ग्राह्य विषय में नहीं हुआ करती। इसलिए सात्विक अहंकार से उसकी उत्पत्ति भला कैसे हो सकती है ? सत्व का स्वभाव तो प्रकाश करना है। यद्यपि सत्व के अंशों का भी किंचित् उपयोग उसमें होता है किन्तु अत्यल्प मात्रा में यदि सत्व का सर्वथा ही अभाव तन्मात्रवर्ग में होता हो तो उसमें प्रकाशकता के साथ साथ प्रकाश्यता का भी अभाव होता। प्रकाशित होने की योग्यता भी उसी में होती है जिसमें कुछ अपना भी प्रकाश हो। तमस् वर्ग पूर्व के दोनों वर्गों से विलक्षण स्वभाव वाला है। प्रकाश्य होने से वह तामस है अतः भूतादि अहंकार से ही उसकी उत्पत्ति मानना युक्तियुक्त है।[133]

इस प्रकार तन्मात्रों के विषय में जैसा दृष्टिकोण सांख्य दर्शन का है वैसा ही दृष्टिकोण त्रिक दर्शन का भी है। केवल न्यायदर्शन से ही इसका विरोध है नैयायिक भूतों से शब्दादि की उत्पत्ति मानते हैं। अर्थात् उनके मत में आकाश से शब्द की उत्पत्ति हुई है, शब्द से आकाश की नहीं। वहाँ तन्मात्रों की चर्चा ही नहीं हुई। किन्तु त्रिक दर्शन का स्पष्ट निर्देश है कि :

विशेषाणां यतोऽवश्यं दशा प्रागविशेषिणी ॥ त० 9/282

अर्थात् विशेषों की पूर्वावस्था अविशेष हुआ करती है। भूतवर्ग

विशेष स्थूल कहलाता है। उसकी पूर्वावस्था ये तन्मात्र अविशेष कहलाते हैं। अत: तन्मात्र ही भूतों के कारण हैं।

महाभूत सर्ग

पूर्वोक्त पाँच तन्मात्रों के अनन्तर पाँच महाभूतों की सृष्टि होती है। महाभूतों के रूप में आकर भगवान् भूतेश परमशिव अत्यन्त निकृष्ट स्वरूप वाले हो जाते हैं।[134] आकाश, वायु, तेजस्, जल और पृथ्वी ये पाँच महाभूत कहलाते हैं। इन भूतों की कारण-सामग्री तन्मात्र ही हैं। तन्मात्रों से ही इनका उदय होता है। शब्द-तन्मात्र से आकाश की उत्पति होती है। स्पर्श-तन्मात्र से वायु की, रूप-तन्मात्र से तेज की, रस-तन्मात्र से जल की और गन्धतन्मात्र से पृथ्वी की उत्पति होती है। ये रस-तन्मात्र किस प्रकार भूतों में परिणत हो जाते हैं इसका रहस्य तो वह जगत्स्रष्टा ही जान सकता है। प्राणियों के ज्ञान की सीमा से यह रहस्य अप्राप्त है। भूतों की सृष्टि का क्रम भी यही है जो अभी बताया गया है। अर्थात् सबसे पहले आकाश की, फिर वायु की तथा इसके पश्चात् तेज, जल और पृथ्वी की उत्पति होती है।[135]

यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भूतों के रचनाक्रम में पूर्वरचित भूतों की जो कारण-सामग्री है वह कुछ अंश तक परवर्ती भूतों की रचना में भी प्रवृत्त होती है। अधिक भाग तो अन्य कारण-सामग्री का ही होता है। इसीलिए पूर्ववती भूतों की विशेषताओं का परवर्ती भूतों में प्रभाव रहता है। किन्तु परवर्ती भूतों की कारण-सामग्री की विशेषता पूर्ववर्ती भूत में नही आती। यही वस्तुस्थिति है उदाहरण के लिए सर्वप्रथम शब्द-तन्मात्र से आकाश की रचना होती है इसलिए आकाश में शब्द की ही विशेशता है। आकाश की कारण-सामग्री की न्यूनता में और अन्य कारण-सामग्री की अधिकता से वायु की रचना होती है इसलिए वायु में शब्द और स्पर्श दो गुण हैं। इसी प्रकार तेज में तीन, जल में चार और पृथ्वी में पाँच गुण होते हैं।[136] यह सब रचना के क्रम और तत्वों की कारण सामग्री के कारण होता है।

तन्मात्रों के समान महाभूत भी गुणमयी सृष्टि ही है। मूलरूप में तो यहाँ भी वामदेवादि पाँच शक्तियाँ ही कार्य कर रही हैं, किन्तु इनका तात्कालिक उपादान-कारण ये पाँच तन्मात्राएँ ही हैं। तन्मात्रों में क्षोभ होने पर वे भूतरूप में परिणत हो जाती हैं। यह क्षोभ स्वत: न होकर उस भूतभावन परमेश्वर की स्वतंत्र इच्छा के कारण ही होता है। यहाँ क्रम से प्रत्येक भूत के स्यरूप और उसकी विशेशता पर चर्चा की जा रही है।

आकाश तत्व (बत्तीसवां तत्व)

शब्दादि पाँच तन्मात्राओं से भूतादि की युगपत् रचना नहीं होती। अपितु क्रमश: होती है। सबसे पहले शब्द-तन्मात्र में परमेश्वर की इच्छा से क्षोभ होता है। क्षोभ का अर्थ है—कार्यजनन की ओर उसकी उन्मुखता।[137] जब शब्द-तन्मात्र आकाश की रचना की ओर उन्मुख होता है तो यह विभिन्न विशेषरूपों वाली ध्वनियों को धारण करता हुआ आकाश के रूप में परिणत होता है।[138] चूंकि यह प्रथम भूत की सृष्टि है इसलिए आकाश केवल स्थूल शब्दगुण की ही विशेशता का प्रादुर्भाव होता है अन्य स्पर्शादि का नहीं होता।[138] अब यह कहना और जानना तो प्राणी के वश की बात नहीं कि आकाश की रचना के समय शब्द-तन्मात्र में किस प्रकार का विकास आता है, उसमें अन्य क्या क्या सामग्री बढ़ती है और किस सामग्री की न्यूनता होती है। किन्तु इतना कहा जा सकता है कि आकाश की रचना करने की योग्यता शब्द-तन्मात्र में अवश्य ही है। यह आकाश वही है जिसे आधुनिक विज्ञान में ईथर (Ether) कहा जाता है।

जब शब्द तन्मात्र से आकाश की रचना हो जाती है तो शब्द तन्मात्र कहीं दिखाई नहीं देता, ठीक उसी प्रकार जैसे दूध से दही बन जाने पर दूध दिखाई नहीं देता। पूरा का पूरा शब्द-तन्मात्र ही आकाशरूप में परिणत हो जाता है। शब्द तन्मात्र अवकाशात्मक है और आकाश भी अवकाशात्मक है। शब्द की अवकाशात्मकता में हेतु यह है कि वह वाच्यरूप अर्थ की स्थिति को धारण करने में समर्थ है।[140] जिस प्रकार वह वाच्याध्यास को अवकाश देता है उसी प्रकार उसका कार्यरूप यह आकाश भी सबको अवकाश देता है। इसलिए शब्द-तन्मात्र से आकाश की उत्पति को मानने का सिद्धान्त युक्तियुक्त ही है।

अब बात रह जाती है आकाश को एकान्तनित्य मानने की। तो त्रिक दर्शन के अनुसार यह बात जान लेनी चाहिए कि यहाँ सभी पदार्थ नित्य हैं और सभी अनित्य भी हैं। नित्य इसलिए हैं क्योंकि छत्तीस के छत्तीस पदार्थ सत्कार्यवाद के अनुसार परमशिव में पहले से ही विद्यमान हैं। बस सर्गकाल में उनका बाहर अवभासन मात्र होता है। अनित्य इसलिए है क्योंकि इनका अपने कारणरूप शिव में लय होता है। जो बाहर अवभासित होता है उसका फिर अपने कारण में लय भी होता है। इस दृष्टि से आकाश भी नित्य ही है। चूंकि उसका शब्द-तन्मात्र से आविर्भाव हुआ है इसलिए उसका लय भी उसी में होता है। इस कारण वह अनित्य भी है। इस प्रकार त्रिक दर्शन में उत्पति और नाश का अर्थ कारण से

बहिरवभासन और कारण में लय ही है। इस विवेचन से न्याय दर्शन आकाश के एकान्त नित्यत्व पक्ष का निराकरण समझना चाहिए।

वायु (तैंतीसवा तत्व)

आकाश के पश्चात् स्पर्श-तन्मात्र से वायु महाभूत की रचना होती है। क्षोभ को प्राप्त हुआ स्पर्श-तन्मात्र ही वायु रूप में परिणत हो जाता है।[141] वायुतत्व की रचना में स्पर्श-तन्मात्र के साथ अंशत: शब्द-तन्मात्र का भी उपयोग होता है। इसलिए वायु में शब्द और स्पर्श इन दो गुणों की विशेशता पायी जाती है।[142] स्पर्श उसका मुख्य गुण है और शब्द आंशिक गुण है। त्वगिन्द्रय से वायु का सम्पर्क होते ही स्पर्श की सद्य: अनुभूति होती है। अन्य घट पटादि के सम्पर्क भी त्वक् को जो स्पर्शानुभूति होती है वह भी वायु के कारण ही होती है। उन पदार्थों में अनुस्यूत होकर वायु ही स्पृष्ट होने की योग्यता प्रदान करता है। चूंकि उनका स्पर्श ज्ञात होता है इसलिए उनमें वायुतत्व अनुप्रविष्ठ है, ऐसा जानना चाहिए। वायु के बहने पर जो सनसनाहठ की आवाज होती है वह उसका शब्दगुण है। यह शब्दगुणत्व वायु में शब्दतन्मात्र से आया है। क्योंकि स्पर्श से पहले शब्द ही भुतरचना में प्रवृत हुआ था, इसलिए उसकी विशेषता की वायु में अनुगति होना अनिवार्य है।

प्रतिपक्षी पूछ सकता है कि अन्य कुछ दार्शनिक तो शब्द को मात्र आकाश का ही गुण मानते हैं, फिर आप उसे वायु का भी गुण कैसे मानते हो? तो इसका उत्तर यह है कि शब्द मुख्य रूप से तो आकाश का ही गुण है, किन्तु चूंकि वायु कभी भी आकाश के बिना अपने रूप को धारण नहीं करता इसलिए आकाश के सम्पर्क से वायु में भी शब्दगुण की विशेशता आ जाती है।[143] इसी कारण वायु को मातरिश्वा कहा जाता है। उत्तरोत्तर के भूतों में पूर्व पूर्व की स्थिति अनिवार्य है। अत: पूर्व भूत के गुण को उत्तर भूत में संक्रमित होने से रोका नहीं जा सकता। अत: जहाँ स्पर्श होगा वहाँ शब्द भी अवश्य होगा। इसी प्रकार यहाँ वायु की स्थिति है वहां आकाश तो होगा हो। आकाश में ही वायु फैल सकता है। इसीलिए वायु और व्योम का परस्पर अवियोग माना गया है।[144] तो भाव यह हुआ कि शब्द-प्रधान रूप से आकाश का ही गुण है किन्तु साहचर्य से वह वायु का भी गुण है।[145] इस प्रकार शब्द और स्पर्श दो ही गुण वायु के हैं।[146]

तेजस (चौतीसवां तत्व)

रूपतन्मात्र से तेजस्तत्व की उत्पत्ति होती है। किन्तु अकेला रूप-तन्मात्र ही तेजस् की रचना में पर्याप्त नहीं है अपितु पूर्व के शब्द और

स्पर्श दोनों तन्मात्रों के साथ जब रूप तन्मात्र में कार्य-जननोन्मुखता आती है तभी तेजस् की रचना होती है। ये तीनों सम्मिलित ही तेजस् की कारण सामग्री है। इसी का नाम अग्नि भी है। पूर्व के शब्द और स्पर्श तन्मात्र का न्यून और रूप का अधिक उपयोग तेजस की रचना में होता है। इसलिए उसमें प्रधानरूप से रूपगुण की विशेषता है तथा शब्द और स्पर्श उपचरित हैं।[147] अग्नि का स्पर्श उष्ण है। जब वह ईंधन को जलाता है तो चट चट की या भड़ भड़ की ध्वनि करता है। इसलिए लोक में कहा जाता है अग्नि भडभड़ा रही है या भडभड करके जल रही है। यह व्यवहार उसकी शब्द विशेषता को प्रकट करता है।

यह अग्नि हमें दो रूपों में दिखाई देती है। उद्भूत रूप में और अनुद्भूत भूत में। उसके उद्भूत रूप में उष्णता अधिक होती है, अनुद्भूत अग्नि में उष्णता होतो तो है किन्तु अत्यल्प रूप में। त्वगिन्द्रिय केवल उद्भूत उष्पस्र्श का ग्रहण करती है। अनुद्भूत उष्णता त्वगिन्द्रिय से गृहीत नहीं की जाती। लौकिक पदार्थों में उष्णता का अभाव कभी नहीं होता। शीतल जल में भी अनुद्भूत तेज रहता है।

तेज का रूप भास्वर-शुक्ल माना जाता है। भास्वर-शुक्ल का अर्थ है चमकने वाला श्वेत। यह भास्वर-शुक्ल रूप उद्भूत अग्नि का ही है। अनुद्भूत का रूप तो हो ही नहीं सकता। लोकप्रचलित श्वेत श्याम रक्त हरित नील पीत कपिश आदि जितने भी रंग में वे भी सब अग्नि-तत्व से ही प्रकट हुए हैं। रूप और रंग इन दोनों शब्दों के अर्थ में अन्तर है। रूप वह होता है जिसका ग्रहण चक्षुरिन्द्रिय से होता है, चाहे वह काला हो, नीला, हरित हो या पीत। वही रूप जब विभिन्न जलीय और पार्थिव वस्तुओं से सम्पृक्त होकर विभिन्नता धारण कर लेता है तो रंग कहलाता है : वह चित को रञ्जित करता है इसलिए रँग कहलाता है। इस प्रकार रूप ही किंचित् वैशिष्ट्य के साथ रंग कहलाता है। सब रंगों में रूप का ही विलास है। रञ्जकता अग्नि से ही आती है। कच्चा आम्रफल हरित होता है। पकने पर पीला हो जाता है। यह पकना और पकाना अग्नि का ही कार्य है। जलती हुई अग्नि की पीली नीली लाल रंग की ज्वालाओं में जो रूप-परिवर्तन होता है वह भी पार्थिव परमाणुओं के सम्पर्क से अग्नि द्वारा ही किया जाता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि तेजस का रूप रूपवान् वस्तुओं के साथ ही चक्षुरिन्द्रिय से गृहीत किया जाता है पृथक् से नहीं। सभी अपने गुणियों के साथ ही इन्द्रियों से गृहीत किए जाते है। तेज का रूप जल और पृथ्वी में ही दिखाई देता है वायु और आकाश में नहीं। वायु

और आकाश में रूप होता ही नहीं। किन्तु तेज की स्थिति आकाश और वायु के बिना सम्भव नहीं है। वात-रहित स्थान में अग्नि जल नहीं सकती इसी प्रकार आकाश के अभाव में चारों ही भूत स्थित नहीं हो सकते। इसीलिए अग्नि और वायु का परस्पर अवियोग माना गया है। अग्नि का मरुत्सरवा नाम इसी तथ्य की ओर इंगित करता है।

निष्कर्ष यह हुआ कि रूप-तन्मात्र तेजस्तत्व की मुख्य कारण सामग्री है, आकाश और वायु अत्यल्प उपयोगी हैं। इसलिए तेजस्तत्व शब्द स्पर्श रूप इन तीन गुणों से युक्त है। शब्द और स्पर्श उपचरित गुण हैं, रूप उसका मुख्य गुण है।[148] रूप को आलोक या प्रकाश भी कहा जाता है।

आपस् या जल (पैंतीसवां तत्व)

शब्द स्पर्श रूप और रस इन चारों की क्षुभित असस्था से जल का उद्भव होता है। पूर्व की भाँति यहाँ भी जल का मुख्य मूल उपादन रस-तन्मात्र है। शब्द स्पर्श और रूप उसके सहचरित कारण हैं। इसलिए जल में शब्द, स्पर्श, रूप और रस इन चार[149] गुणों की विशेषता रहती है। रस उसका मुख्य गुण है और शब्दादि तीन अमुख्य गुण हैं। रसनेन्द्रिय जिसका ग्रहण करती है वह गुण रस कहलाता है। मधुर अम्ल, लवण, कटु, तिक्त कषाय ये रस के छ: प्रकार हैं। रसों का यह भेद पृथ्वी के सम्पर्क से आता है किन्तु है यह जल के कारण ही। जल में शीत स्पर्श है और अभास्वर-शक्ल रूप है शब्द तो अनेक प्रकार के हैं। इस प्रकार ये चार ही गुण जल के हैं।

जल के सन्दर्भ में एक बात विशेषरूप से ज्ञातव्य है, वह है जल का द्रवत्व। जल में द्रवत्व सांसिद्धिक माना जाता है। न्याय दर्शन भी ऐसा मानता है और त्रिक दर्शन का भी यही मत है। जल के सांसिद्धिकत्व का क्या अर्थ है? सांसिद्धिक का अर्थ है स्वाभाविक या स्वत: सिद्ध। तो अर्थ यह निकला कि जल में जो दवत्व या तरलता है या पिघलने का गुण है वह उसका स्वभाव सिद्ध धर्म है, उसकी अपनी ही विशेषता है। ऐसा अर्थ होने पर शंका होती है कि यदि जल में द्रवत्व स्वाभाविक है तो काठिन्य किसका गुण है। पानी जम कर हिम बन जाता है तब उसमें दवत्व नहीं रहता अपितु काठिन्य आ जाता है। यह काठिन्य कहाँ से आया? यदि वह काठिन्य पृथ्वी का गुण है तो गरम करने पर काठिन्य कहाँ चला जाता है? पार्थिव अंश तो उसमें पहले से ही है। इसलिए जल के सांसिद्धिक द्रवत्व का वह अर्थ नहीं है जैसा प्राय: समझा जाता है।

जल के सांसिद्धिक द्रवत्व का अर्थ यह है कि द्रवत्व होता तो जल में

ही है। जब भी द्रवत्व होगा जल में ही होगा किन्तु वह द्रवत्व जल के द्वारा नहीं होता अपितु अग्नि के द्वारा होता है। गरम होकर हिम तो क्या लोहा भी तरल हो जाता है। लोहे की यह तरलता भी जल की ही तरलता है। लोहे में स्थित जल के अंश ही तरल बन जाते हैं किन्तु उस तरलता का कारण जल नहीं अपितु अग्नि है। द्रवत्व तो जल में सांसिद्धिक ही हुआ, क्योंकि जल के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं दवत्व नहीं होता किन्तु वह होता है अग्नि के ताप से। यही जल के द्रवत्व का सांसिद्धिकत्व है।

पृथ्वी (छत्तीसवां तत्व)

शब्द, स्पर्श, रूप और रस तन्मात्र के सहित गन्धतन्मात्र में क्षोभ होने पर पृथ्वी तत्व का आविर्भाव होता है। गन्ध-तन्मात्र उसका मुख्य उपादन है, शेष चारों अत्यल्प उपयोगी हैं। पृथ्वी का मुख्य गुण भी इसी कारण गन्ध ही है। शब्दादि चार उसके सहचारवश उपचरित गुण हैं। जहाँ जहाँ भी गन्ध है वहाँ वहाँ पृथ्वी ही व्याप्त है। यह गन्धवत्ता ही पृथ्वी का लक्षण है।[150] यह गन्ध भी उद्भूत और अनुभूत भेद से दो प्रकार की है। पुष्प धृत चन्दन इत्र आदि में उद्भूत गन्ध है। पाषाणादि में अनुद्भूत गन्ध है। पाषाण सुवर्ण आदि की जब पाकादि के द्वारा भस्म बनाई जाती है तब उनमें गन्ध उद्भूत हो उठती है। शब्दादि अन्य गुण तो उसमें स्पष्ट ही परिलक्षित होते हैं। इस प्रकार पृथ्वी पंचगुण-संयुक्त कहलाती है। इसीलिए सदा ही इसका ज्ञान किया जा सकता है।[151] यह सृष्टि-क्रम का अन्तिम तत्व है। यहाँ पहुँच कर शिव का रूप अत्यन्त संकुचित हो जाता है।

निष्कर्ष एवं समीक्षा

भूतों के उक्त सृष्टिक्रम से यह बात सिद्ध हुई कि पृथ्वी की उत्पति सबके अन्त में हुई है इसलिए पृथ्वी में पाँच गुण हैं, जल में चार, अग्नि में तीन मरुत् में दो और आकाश में केवल एक गुण है। पृथ्वी में गन्ध रूप और रस तो अनेक प्रकार के होते हैं जैसे सुरभि—असुरभि भेद से दो प्रकार का गन्ध, शुक्ल पीतादि रूप और मधुरादि षड्विध रस पृथ्वी में देखे जाते हैं, स्पर्श पाकज होता है और अनुष्णाशीत होता है। शब्द पृथ्वी में अनेक प्रकार के होते हैं जैसे खट खट, पट पट टन टन आदि।[151] जल में शुक्ल रूप है, माधुर्य रस हैं, शीत स्पर्श है और छल छल कल कल विभिन्न शब्द हैं।[153] अग्नि में भास्कर-शुक्ल रूप है। उष्ण स्पर्श है और धम धम चट चट भड भड आदि शब्द हैं।[154] मरुत् में उपाकज अशीत तथा अनुष्ण स्पर्श है तथा सन सन आदि शब्द होते हैं।[155] आकाश में एक ही गुण है शब्द

और वह शब्द दो प्रकार का है वर्णात्मक और ध्वन्यात्मक ।[156]

भूतों के इन धर्मों से धर्मीरूप भूत पृथक् नहीं होता, अपितु धर्मरूप ही होता है । गन्धादि धर्मी से भिन्न होकर पृथ्वी का ज्ञान नही होता । अत: गन्धादि धर्म ही पृथ्वी आदि हैं । गन्धादि धर्मी में से यदि एक का भी ग्रहण किया जाए तो समस्त पृथ्वी आदि का बोध होता है । इससे सिद्ध होता है कि गन्धादि धर्म और पृथ्वी आदि धर्मी अव्यतिरिक्त हैं ।[157] पृथ्वी आदि के समस्त धर्मों का बोध हम जैसे साधारण पुरुषों को क्रमश: होता है और योगियों को युगपत् हो सकता है । जैसे वेष्टित वस्त्र को फैलाने पर वस्त्र नील, पीत आदि गुण क्रमश: ज्ञात होने हैं किन्तु पहले से फैले हुए वस्त्र के रंगों का ज्ञान एक साथ ही हो जाता है ।[158]

यहाँ शंका हो सकती है कि यदि पृथ्वी आदि भूत और उसके गन्धादि धर्म रूप हैं और अपृथंक् हैं तो उनका बोध क्रम से क्यों होता है ? सभी को युगपत् ही बोध होना चाहिए ? इसके उत्तर में कहा गया है कि यह क्रम या अक्रम का विभाग उपायभेद से किया गया है । योगाभ्यास आदि उपायों से यह बोध अक्रम से हो सकता है और साधारण पुरुषों को क्रम से होता है ।[159]

उपर्युक्त पाँचों भूतों की उत्पति का जो क्रम बताया गया है वह सूक्ष्मता से स्थूलता की दिशा में बढ़ने के कारण है । आकाश से लेकर पृथ्वी तक स्थूलता अधिकाधिक बढ़ती जाती है । जो भूत जितना अधिक स्थूल होता जाता है वह परिमाण में उतना ही अल्प होता जाता है । पृथ्वी सबसे अधिक स्थूल है इसलिए परिमाण में सबसे कम विशाल है । सबसे थोड़ी स्थूलता आकाश में है इसलिए सबसे अधिक विशाल परिमाण उसी का है ।

प्रकृति से लेकर पृथ्वी पर्यन्त इन चौबीस तत्वों को गुणमयी सृष्टि कहा जाता है । इनकी रचना करने के लिए भगवान् ईश्वर-भट्टारक प्रकृति में श्रीकण्ठ के रूप में प्रकट हो जाते हैं । ये भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही भगवान् उमापतिनाथ की सहायता से प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके गुण-मयी सृष्टि का विकास करते हैं । यह सृष्टि पूर्वकल्पों में किए गए जीवों के कर्मानुसार चलती है । सांख्य दर्शन के अनुसार यही सृष्टि मूल सृष्टि है । इससे पहले कोई तत्व उसके मत में नहीं होता । सांख्यमत में यह गुणमयी सष्टि स्वतन्त्र भी है । त्रिकगुणात्मक प्रकृति स्वयम् ही इसे बनाती है और मिटाती है । किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार यह सष्टि मूल सृष्टि नहीं है । मूल उपादान तो परमशिव ही है । प्रकृति से पहले भी चौदह तत्वों का

निर्माण परमशिव से हो चुका है। न ही यह सृष्टि स्वतन्त्र है। गुणमयी यह सृष्टि जीवों के कर्मों पर टिकी हुई है तथा परमेश्वर की इच्छा के अधीन रहकर ही भगवान् श्रीकण्ठनाथ इसका सृजन करते हैं। अत: यह परतन्त्र सृष्ठि है। स्वतन्त्र सृष्टि तो शिव-तत्व से लेकर शुद्धविद्या तक की शुद्ध सृष्टि ही है। स्वयम् परमेश्वर ही अपने भाव-जगत् में उसका निर्माण करते रहते हैं तो उसका लय भी साथ साथ ही करने रहते हैं। उस शुद्ध सृष्टि के आधार पर अन्य सृष्टियाँ हुआ करती हैं।

पूर्वोक्त गणमय चौबीस तत्वों की उत्पति और विकास के क्रम में तथा उनके स्वरूप के विषय में त्रिक दर्शन का दृष्टिकोण सांख्यों से मिलता जुलता है। जहाँ थोड़ा बहुत भेद है वह मूलकारण को लेकर ही है। उसका विवेचन साथ साथ किया जा चुका है। अत: इस विषय में विशेष तर्कानुसन्धान की आवश्यकता नहीं है। हाँ अद्वैतवादियों का पञ्चीकरण का सिद्धान्त यहाँ मान्य नहीं है। जब आकाशादि क्रम से एक दो तीन चार और पाँच गुणों से युक्त हैं तो पञ्चीकरण सिद्धान्त की सार्थकता नहीं रह जाती। यदि ये पञ्चीकृत होते तो आकाश भी पंचगुण-सम्पन्न होता। किन्तु आकाश में रूप रसादि की लेशमात्र भी विशेषता नहीं पायी जाती। अत: पञ्चीकरण का सिद्धन्त केवल मिथ्या कल्पना है।

पूर्वोक्त छत्तीस तत्वों में सर्वत्र परमशिव ही अनुगत है।[160] अत: सभी शिवरूप हैं। छत्तीस तत्वों का समूह पूर्णतया शिवमय होने से सत्य है। यह उसका विश्वमय रूप है।

लोक रचना

शिव से लेकर पृथ्वीपर्यन्त छत्तीस तत्वों की सृष्टि का कार्य पूर्ण हो जाने पर लोकरचना का कार्य प्रारम्भ होता है। यहाँ से ब्रह्मा जी विभिन्न पदार्थों और विभिन्न लोकों की सृष्टि में व्यापृत हो जाते हैं। सबसे पहले आकाश, दिशा और परमाणु इन नित्य द्रव्यों का निर्माण हो जाता है। इसके अनन्तर ब्रह्मा जी परमाणुओं को बुद्धिपूर्वक यिभिन्न प्रकार से जोड़ जोड़ कर पृथ्वी चन्द सूर्य नक्षत्र आदि लोकों की रचना कर डालते हैं। फिर जीवों के कर्मानुसार वे मनुष्य, देव, असुर, पशु पक्षी सरीसृप कीट पतंग आदि शरीरों का और उनके भाग्य विषयों का सृजन करते हैं। लोकरचना के इस कार्य में दक्ष, कश्यप, प्रजापति मनु इन्द्रादि देव भी ब्रह्मा जी की सहायता करते हैं। ब्रह्मा जी ही अपने द्वारा बनायी हुई लोक सृष्टि का विष्णु बनकर पालन करते हैं और रुद्र के रूप में इसका संहार कर डालते हैं।

त्रिक दर्शन की इस षट्त्रिशदात्मक लोकसृष्टि में ही समस्त दर्शन-धाराओं के सिद्धान्त समाविष्ट हैं। सभी दर्शनों की स्थितियाँ त्रिक दर्शन की ही विभिन्न भूमिकाएँ हैं।[161] ब्रह्मा जी के द्वारा प्रारम्भ की गयी सृष्टि को आधार बनाकर नैयायिकों और वैशेषिकों ने आरम्भवाद या उत्पतिवाद की कल्पना की है। आरम्भवाद का अर्थ है कि कार्य अपने कारणों से पहले से नहीं रहता। उसकी नूतन उत्पत्ति होती है। तो यह तो सत्य ही है कि ब्रह्मा जी विभित्न लोक-लोकान्तरों की नूतन सृष्टि जीवों के विचित्र कर्मों को दृष्टि में रखते हुए करते हैं।[162]

सांख्यों ने जो परिणामवाद की कल्पना की है वह श्रीकण्ठनाथ की गुणमयी सृष्ठि के आधार पर की है। भगवान् श्रीकण्टनाथ ही त्रिगुण में क्षोभ परिणाम उत्पन्न करके तेईस तत्वों का आविर्भाव करते हैं। इस दृष्टि से सांख्यों का परिणामवाद भी सत्य ही है।

अद्वैतवादियों का मत विवर्तवाद के नाम से जाना जाता है। विवर्त-वाद का अर्थ है कि वस्तु में न कोई परिणाम या परिवर्तन होता है और न ही उसकी उत्पति होती है अपितु परिवर्तन की या उत्पति की एक दृष्टि बनती है। तात्विक परिवर्तन हुए बिना ही जो परिवर्तन की दृष्टि बनती है उसी का नाम विवर्त है। द्रष्टा ही तत्व है। दृष्टि मिथ्या है। यह सम्पूर्ण जगत् विवर्त होने से मिथ्या है।[163] अद्वैतवादियों की यह विवर्तवाद की कल्पना भगवान् अनत्तनाथ के द्वारा अभिव्यक्त की गयी मायीय अशुद्ध सृष्टि पर आधारित है।

इस प्रकार उपर्युक्त सिद्धान्त भी अंशत: सत्य ही है। किन्तु परम-शिव के द्वारा उत्पादित भावजगत् की शुद्ध सृष्टि तक किसी भी दर्शनशास्त्र की दृष्टि नहीं पहुँच सकी। उस शुद्धसृष्टि का साक्षात्कार तो परमेश्वर के तीव्र शक्तिपात का पात्र बने हुए त्रिकशास्त्र के सिद्ध पुरुषों को ही हुआ। उन्हीं सिद्ध पुरुषों ने आगमशास्त्र के उपदेशों से इस तथ्य का प्रवचन किया। इसलिए यह त्रिक दर्शन "सिद्ध मतम्" कहलाता है।[164]

छत्तीस तत्वों का वर्गीकरण

त्रिक दर्शन के अनुसार ये छत्तीस ही तत्व हैं। इससे ऊपर जो परमशिव अनुत्तर तत्व हैं उसे सैंतीसवाँ तत्व मान लिया गया है। उसी में इन छत्तीस तत्वों का उदय और लय हुआ करता है। वस्तुत: इस सैंतीसवें तत्व को तत्व न कहकर तत्वातीत कहना चाहिए। तत्वातीत होने से ही वह अनुत्तर कहलाता है। किन्तु वह वस्तुभूत है। इसलिए तत्व कहा जाता है। वह परम तत्व है। इस सैंतीसवें तत्व की समझबूझ के साक्षी के रूप

में अड़तीसवें तत्व की भी कल्पना त्रिकाचार्यों ने की है, किन्तु सैंतीसवें और अड़तीसवें तत्व में कोई स्वरूपगत भेद नहीं है। अतः साधारणतया तत्वों की संख्या छत्तीस ही है।[165]

उपर्युक्त छत्तीस तत्वों का वर्गीकरण त्रिक दर्शन में चार प्रकार से किया जाता है :

1. भावत्रयात्मक वर्ग
2. नरशक्ति शिवात्मक वर्ग
3. पञ्चकलात्मक वर्ग और
4. अण्डचतुष्टयात्मक वर्ग।

1. भावत्रयात्मक

छतीस तत्वों को आत्मतत्व विद्यातत्व और शिवतत्व इन तीन भावों में वर्गीकृत किया गया है। पृथ्वी से लेकर माया पर्यन्त तीस तत्वों को आत्मतत्व कहा जाता है क्योंकि पशु प्रमाता रूप आत्माओं के निमित्त ही इस वर्ग की रचना हुई है। शुद्धविद्या से लेकर सदाशिव पर्यन्त तीन तत्वों को विद्यातत्व के अन्तर्गत रखा गया है। क्योंकि इनका स्वरूप केवल है विद्यात्मक ही होता हैं, देहेन्द्रिय प्राण आदि से इनको कोई सम्पर्क नहीं होता। शक्ति और शिव के वर्ग को शिव तत्व कहते हैं। इस प्रकार तीन भावनाओं के आधार पर यह वर्गीकरण किया गया है।[166]

2. नर शक्ति शिवात्मक

त्रिक दर्शन के अनुसार नर शक्ति और शिव ये तीन ही मुख्य तत्व हैं। इन्हीं तीनों में छत्तीस तत्वों का समावेश है। जीव और समस्त जड़ प्रपञ्च नर कहलाता है। परम तत्व शिव कहलाता है तथा मध्य का तत्व शक्ति है। शक्ति के विलास से ही परमशिव अपनी शक्ति को प्रकट करने की इच्छा से जीव-रूप में उतरता रहता है फिर उसी के विलास से जीव अपनी भूली हुई शक्ति को पुनः पहचान कर शिवभाव पर आरुढ हो जाता है। इस प्रकार शक्ति वह तत्व है जो शिव को जीवभाव पर भी उतारता है और वही शिवभाव पर चढ़ने का भी मार्ग बनता है।[167]

3. पञ्चकलात्मक विभाग

छत्तीस तत्वों को पाँच कलाओं में भी वर्गीकृत किया जाता है। तत्वों के सूक्ष्मरूप को कला कहा जाता है और स्थूल रूपों को भुवन कहा जाता है। ये पाँच कलाएँ हैं :

1. निवृत्ति कला,
2. प्रतिष्ठा कला,

3. विद्या कला,
4. शान्ता कला और
5. शान्त्यतीता कला ।

1. निवृत्ति कला

पृथ्वी तत्व को व्याप्त करने वाली कला का नाम निवृत्ति कला है। यहाँ पहुँच कर परमेश्वर की सृष्टि पूर्ण हो जाती है, इससे आगे नहीं बढ़ती। यह उसकी शक्ति का सबसे अधिक संकुचित रूप है। परमेश्वर की तत्व सृष्टि की लीला पृथ्वी पर पहुँच कर निवृत हो जाती है। यहाँ से पुन: ऊपर की ओर शक्ति का संकोच घटता जाता है।[168]

2. प्रतिष्ठा कला

जल से लेकर प्रकृति-तत्व पर्यन्त तत्वों को व्याप्त करने वाली कला प्रतिष्ठा-कला कहलाती है। इसी कला पर स्थूल और सूक्ष्म सृष्टि प्रतिष्ठित है।[169]

3. विद्या कला

पुरुष-तत्व से माया तत्व तक की सृष्टि विद्या-कला कहलाती है।[170] इसको विद्याकला इसलिए कहा जाता है क्योंकि यहाँ वेद्यता न होकर विद्यातत्व ही रहता है। वेद्य तत्वों की सृष्टि अभी हुई ही नहीं होती। इस कला में वेद्यभाव छिपा सा रहता है। संवित् की ही अधिकता रहती है। इस कला के तत्वों का सम्बन्ध जीव के साथ ही होता है, शुद्ध विद्या के प्राणियों से नहीं होता।

4. शान्ता कला

शुद्ध विद्या से लेकर शक्तितत्व पर्यन्त ठहरने वाली कला का नाम शान्ता कला है। माया और उसके पंचकंचुकों का प्रभाव यहाँ शान्त हो जाता है। यह शुद्ध सृष्टि की कला है।[171]

5. शान्त्यतीता

शान्ता कला से ऊपर शिवतत्वरूपिणी कला को शान्त्यातीता कला कहा जाता है।[172] इससे ऊपर जो अनुत्तर तत्व है वह कलातीत है।

4. अण्ड-चतुष्टयात्मक विभाग

छत्तीस तत्वों की सृष्टि का वर्गीकरण अण्ड-चतुष्टय के रूप में भी किया जाता है। ये चार अण्ड हैं—शक्त्यण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड और पृथिव्यण्ड।[173] शान्ता कला को शाक्ताण्ड कहा जाता है। पराहन्ता चमत्कार ही जिसका सार है ऐसे प्रमातृ—प्रमेयरूप विश्व में रहने वाली पारमेश्वरी शक्ति ही शाक्ताण्ड कहलाती है।[174] विद्याकला को मायीय

अण्ड भी कहते हैं। यह मलत्रय के स्वभाव वाला, समस्त प्रमाताओं का मोहमय बन्धनरूप होता है। इसलिए पुरुष-पर्यन्त मायाण्ड कहलाता है।[175] प्रतिष्टा-कला प्राक्त अण्ड कहलाती है। सत्वरजस्तमोमयी तथा कार्यकारण रूप प्ररिणत प्रकृति ही प्रकृत्यण्ड कहलाती है।[176] निवृत्तिकला का नाम पार्थिव अण्ड है।[177]

इस प्रकार ब्रह्मा जी इन छत्तीस तत्वों की सहायता से विभिन्न लोकों की सृष्टि करते हैं। भगवान् विष्णु इसकी स्थिति बनाए रखते हैं और भगवान् रुद अपने गुणों की सहायता से समय समय पर इसका संहार करते रहते हैं। प्रकृति से लेकर पृथिवी-पर्यन्त तक पृथ्वी सूर्यचन्द आदि लोक को तदन्तरालवर्ती स्थूल और सूक्ष्म शरीरों को उनके उपभोग-योग्य विषयों को गुणमयी सृष्टि के अन्तर्गत रखा गया है। प्रकृति से ऊपर माया-तत्व तक की सृष्टि मायीय सृष्टि है तथा इससे ऊपर की शुद्ध सृष्टि शाक्त सृष्टि कहलाती है। छत्तीस तत्वों का यही रहस्य है।

संदर्भ सूची

1. माया कला रागविद्ये कालो नियतिरेव च।
कंचुकानि षडुक्तानि संविदस्तत्स्थितौ पशुः ॥ तं० 9/204

2. मायाकला शुद्धविद्या रागः कालो नियन्त्रणा।
षडेतान्यावृतिवशात कंचकानि मितात्मनः ॥ तं० वि० 9/204

3. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मवन्धनः।
....
मायातो भेदिषु क्लेशकर्मादिकलुषः। ई० प्र० 3/2/2-3

4. चित्तत्वं मायाया हित्वा भिन्न एवावभाति यः।
देहे बुद्धावथ प्राणे कल्पिते नभसीव वा ॥
प्रमातृत्वेनाहमिति विमर्शोऽन्यव्यपोहनात्।
विकल्प एव स पर प्रतियोग्यवभासजः ॥ ई० प्र० 1/6/4-5

5. एतेन कलादिना कंचकेनावृतोऽयं शक्तिदारिद्रयमनुभूय कलादिमुखेनैव स्ववैभवात् प्रतिवितीर्ण किंचिदंशः पशुरित्युच्यते।
ष० त्रि० त० सं० वृत्ति—12

6. भेदस्थितेः शक्तिमतः शक्तित्त्वं नोपदिश्यते।
एषां गुणानां करणकार्यत्व परिणामिनाम् ॥ ई० प्र० 4/1/5

7. स्वांगरूपेषु भावेषु पत्युर्ज्ञानं क्रिया च या ।
माया तृतीये त एव पशोः सत्त्वं रजस्तमः ।। ई० प्र० 4-1-4
8. सतानन्दः क्रिया पत्युस्तदभावोऽपि वा पशोः ।
द्वयात्मा तदरजो दुःख श्लेषि सत्त्वतमो मयम् ।। ई० प्र० 4/1/6
9. प्रिय पुत्रादेरेकथन एव हि प्रकाश सुखम् एक धन एवाप्रकाशो मोहः
......तदैव दुःखम् —ई० प्र० वि० 4/1/6
10 तन्मात्रोदयरूपेण मनोऽहं बुद्धिवर्तिना ।
पुर्यष्टकेन संरुद्धस्तदुत्थं प्रत्ययोद्भवम् ।। स्पन्दकारिका 49
11. एषां ग्रह्यो विषय सूक्ष्म प्रविभागवर्जितो यः स्यात् ।
तन्मात्रपञ्चकं तत् शब्द :स्पर्शो महो रसो गन्ध.।। प० सा० 21
12. अनुद्भिन्न विशेषतया सा गन्धादिरेव केवलस्तन्मात्र इत्युक्तम् ।
तं० वि० 9/281
13. पृथिव्यां सौरभान्यादि विचित्रै गन्धमण्डले ।
यत्सामान्यं हि गन्धत्वं गन्धतन्मात्र नाम तत् ।। तं० 9/280-281
14. सदा त्वेकत्र संरूढस्तदा तस्य लयोदयौ ।
नियच्छन् भोक्तृताभेति ततश्चक्रेश्वरो भवेत् ।। स्प० का० 51
15. यो निश्चयः पशुजनस्य जडोऽस्मि कर्म
संपाशितोऽस्मि मालिनोऽस्मि परेरितोऽस्मि ।
इत्येतदन्यदृढ निश्चय लाभ सिद्धया
सद्य.पतिर्भवति विश्ववपुश्चिदात्मा ।। तं० सा० आह्न्कि 4
16. सा जडा भेदरूपत्वात् कार्य चास्या जडं यतः । ई० प्र० 3/1/7
17. अयमेव हि जडस्य स्वभावो त् इदमत्र इदानीं भाति इति
परिच्छिन्नतया प्रकाश्यत इति – तं० वि० 9/152
18. माया परिग्रहवपात् बोधो मलिनः पुमान् पशुर्भवति ।
काल कला नियतिवशात् रागाविद्यावशेन संबद्धः पा० सा० 16
19, देह पुर्यष्टकाद्येषु वेद्येषु किल वेदनम् ।
एतत् षट्क संसकोचं यदवेद्यमसावणः ।। तं० 9/205
20. जीव प्राणधारणे—धातुपाठ 1/379
21. परस्या एव संविनश्चोक्तयुक्त्या मायावशात् पुंस्त्वं तत जातम् ।...
पुंस्तत्त्वं तत एवाभूत् पुस्प्रत्यय निबन्धनम् । तं० वि० 9/205
22. यत्रैव यो दृष्टगुणः स तत्र कुम्भादिवन्निष्प्रतिपक्षमेतत् ।
तथापि देहाद् बहिरात्मतत्व मतत्ववादोपहताः पठन्ति ।।
स्यादवाद मंजरी

23. इच्छाद्वेषप्रयत्न सुख दु:ख ज्ञानान्यात्मनो लिंगम् ।
न्याय सुत्र 1/1/10

24. स्वरूपैक प्रतिष्ठान: परित्यक्तोऽखिलेर्गुणैः —न्याय मंजरी

25. (क) मुक्तये य: शिलात्वाय शास्त्रमूचे सचेतसाम् ।
गोतमं तमवेक्ष्यैव यथा वित्थ तथैव स: ।।
नैषधीय चरित 1/7/75

(ख) वरं वृदावने रम्ये श्रृगालत्वं वृणोम्यहम् ।
कोक्त मोक्षातु सुखलेश विवर्जितात् ।। भा० द० पृ० 212

26. अनमेयत्वमेवास्तु लिगेनेच्छादिनाऽऽत्तन: —न्याय मंजरी

27. यत्साक्षाद परोक्षाद् ब्रह्म —छ०

28. प्राणाणान निनेषीन्मेष जीवन मनोगति इन्द्रियान्तर विकारसुख
दुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिंगानि वैशेषिक सूत्र 3/2/4

29. जन्म मरण करणानां प्रति नियमादयुगपत्प्रवृत्तेश्च ।
पुरुष बहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्य विपयर्याच्चैव ।। सां० का० 18

30. चिदंशेन द्रष्टृत्वं......अचिदंशेन ज्ञान-सुखादिरूपेण परिणामित्वम् ।
अद्वैत ब्रह्मसिद्धि

31. आस्त्यात्मा जीवाख्यं शरीरेन्द्रिय पन्जराध्यक्ष: कर्मफलसम्बन्धी ।
ब्र० सू० शां० भा० 1/3/17

32. आत्मन्येव जगत्सर्व दृष्टिमात्रं सतत्वकम् ।
उद्भूय स्थितिमास्थाय विनश्यति मुहर्मूहु: ।'
वेदान्त मुक्तावली श्लोक 22

33. भुङ्क्ते परवशो भोगं तदभावात्संसरत्यत: ।
संसृतिप्रलयस्यास्य कारणं सम्प्रचक्ष्महे ।। स्प० का० 50

34. शब्दराशि समुत्थस्य शक्तिवर्गस्य भोग्यताम् ।
कलाविलुप्तविभवो गत: सन् स पशु: स्मृत: ।। तदैव 45

35. चतुर्विधं तु पिण्डस्थमबुद्धं बुद्धमेव च ।
प्रबुद्धां सुप्रबुद्धं च पदस्थं च चतुर्विधम् ।। मा० वि० तं० 2/43

36. स्पन्दकारिका—नीलकण्ठ गुरटू, पृ० 83

37. एवमस्यात्मन: काले कस्मिश्चिद् योग्यतावशात् ।
शैवी संबध्यते शक्ति: शान्ता मुक्तिफलप्रदा ।।
तत्सम्बन्धात्तत: शश्चित् तत्क्षणादपवृज्यते ।
अज्ञानेन सहैकत्वं कस्यचिद् विनिवर्तते ।। मा० वि० तं 1/42-43

38. रुद्रशक्तिसमाविष्ट: स यियासु: शिवेच्छया ।

भुक्ति मुक्ति प्रसिद्ध्यर्थं नीयते सद्गुरु प्रति ।।
तमाराध्य ततस्तुष्टाद्दीक्षामासाद्य शांकरीम् ।
तत्क्षणाद्वोप भोगाद् वा देहपाताच्छिवं व्रजेत ।।
मा० वि० तं० 1/44-45

39. योगदीक्षां समासाद्य ज्ञात्वा योगं समभ्यसेत् ।
योगसिद्धिमवाप्नोति तदन्ते शाश्वतं पदम् ।। तदैव 1/46

40. अनेन क्रमयोगेन सम्प्राप्त: परमं पदम् ।
न भूय: पशुतामेति शुद्धे स्वात्मनि तिष्ठति ।। मा० वि० 1/47

41. तस्योपलब्धि: सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य तदाद्यन्ते परस्य तु ।। स्प० का० 17

42. (क) कलोद्वलितमेतच्च चित्तत्वं कर्तृतामयम् ।
अचिद्रूपस्य शून्यादेर्मितं गुणतया स्थितम् ।। ई. प्र. 2/2/11

(ख) इदानीं विशेष भागो य: किंचिदित्युक्तो ज्ञेय: कार्यश्च तं यावत् सा कला स्वात्मन: पृथक् कुरुते, तावदेष एव सुख दु:ख मोहात्मक भोग्य विशेषानुस्यूतस्य सामान्य मात्रस्य तदगुण सामान्यापरनाम्न: प्रकृति तत्वस्य सर्ग: ।
तं. सा. पृ; 83

43. (क) इच्छादित्रिसमष्टि: शक्ति:शान्तास्य संकुचद्रूपा सा ।
संकलितेच्छाद्यात्मक सत्त्वादिक साम्यरूपिणी तु सती ।
बुद्ध्यादि सामरस्यस्वरूपचितात्मिका मता प्रकृति: ।।
प० त्रि० त० सं० 13

(ख) सत्त्वरजस्तमसां यत् सुखदु:खमाहोत्मकं सामान्यं रूपम्, अंगागिभावो यत्र नोपलभ्यते सा मूल कारणं प्रकृति:
प० सा० वि० 19

44. न वैषम्यमनापन्नं कारणं कार्यसूतये । तं० सा० पृ० 85

45. (क) वत्सविवृद्धि निमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिाज्ञस्य ।
पुरुष विमोक्ष निमितं तथा प्रवृति: प्रधानस्य ।। सां० का० 57

(ख) अचेतनत्वेऽपि क्षीरवच्चेष्टितं प्रधानस्य सां सू० 3/59

46. स च क्षोभ:प्रकृतेस्तत्वेशाधिष्ठानादेव. अन्यथा नियतं पुरुषं प्रति इति न सिध्यते —तं० सा० पृ० 85

47. स्थूलतामात्रमेव स्यान्न तु लोकोपकारिणी ।
रचना नियमेन स्याद् विचित्रा जातिरूपिणी ।। ईश्वरसिद्धि 32-33

48. (क) ईश्वरेच्छावशक्षुब्ध लौलिकं पुरुष प्रति _

भोक्तृत्वाय स्वतन्त्रेश प्रकृतिं क्षोमयेद् भृशम् ।। तं० 9/225

(ख) स्वतन्त्रेश इति श्रीकण्ठनाथः तदुक्तम्—
ऐवं विधं प्रधानं तदब्रह्मणा सहितं पुरा ।
श्रीकण्ठ किरणाघ्रातं व्यक्तिमायाति तत्क्षणात् ।।
तं० वि० 9/225

49. श्री श्रीकण्ठनाथचाधिगत तत्वः श्रीमदनन्तनाथात्
—ई० प्र० वि० वि० खण्ड 3 पृ० 45

50. (क) ममापि च पुरा दीक्षा तथा चैवाभिषेचनम् ।
श्रीकण्ठेन पुरा दतं तन्त्र सर्वार्थसाधकम् ।। स्व० तं० 8/35

(ख) ममापीति कैलासवासिन स्तन्त्रप्रवक्तुतर्भवत् उमापतेरुक्तिः
तदैव

(ग) कैलासाद्रौ भ्रमन् देवो मूर्त्या श्रीकण्ठरूपया ।
अनुग्रहायावतीर्णश्चोदयामास भूतये ।। शि० दृ० 7/109

51. एवभात्मन्यसत्कल्पा प्रकाशस्यैव सन्तमयी ।
जड़ाः प्रकाश एवास्ति स्वात्मनः स्वपरात्मभिः ।।
अजडप्रमातृ सिद्धि 13

52. अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति रनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका या ।
कार्यानुमेया सुधियैव माया यया जगत्सर्वमिदं प्रसूयते ।।
विवेक चूडामणि श्लोक 110

53. तजोजुषे जन्मनि सत्ववृतये स्थितौ प्रजानां प्रलये तमः स्पृशो ।
अजाय सर्ग स्थितिनाश हेतवे त्रयीमयाम त्रिगुणात्मने तमः ।।
कादम्बरी

54. (क) प्रीत्य प्रीति विषादात्मका :—सां. का. 12

(ख) सत्वं लघु प्रकाशकम् —सां. का. 13

55. तदेवं यस्यां शुद्धमुप संवृत प्रमेयजातं भवति दशायां संहाराख्यायां तत्यामधिष्ठातृदेवतात्वं... भजमानो भट्टारक ईश्वर एव रुद्रो भगवान्, यो मायापदेऽपि प्राणापानात्मक धर्माधर्म सूर्येन्दु दिननिशादि विमुक्तमध्यमज्योति रूप प्रमातृस्वरूप स्पर्शाद् उन्मीलित तृतीय नेत्र । ई. प्र. वि. 3/2/1

56. मोक्ष्यते जन्ममरण लक्षणात् संसारात् ।
स्वप्न जाग्रददुःख नानुभविष्यति । उपदेश सामग्री 2/48

57. स उपाधिद्वयोपरमे सुषुप्तवस्थायाम्पाधिकृत विशेषाभावात् स्वात्मनि

प्रलीन इवेति । एवं ह्यणीतो भवति इत्युच्यते ।

ब्र. सू. शां. भा. 1/1/9

58. प्रीतिः सुखम् प्रीत्यात्मकः सत्वगुणः । अप्रीतिर्दुःखम् अप्रीत्यात्मको रजोगुणः विषादोमोहः विषादात्मकस्तमोगुणः इति ।

सां. त. का. 12

59: सता सौम्य तदा सम्पन्नो भवति ।
स्वमपीतो भवति । तस्मादेनं स्वपितीत्याचक्षते ।
स्वं ह्यपीतो भवति । छ. उ. 6/8/1

60. चिदानन्दमय ब्रह्म प्रतिबिम्ब समन्विता ।
तमोरजः सत्वगुण प्रकृतिर्द्विविधा च सा ।
सत्त्वशुद्धयाविशुद्धिभ्यां मायाविद्ये च ते मते ।।

पंचदर्शी 1/15-16

61. त एते क्षोभमापन्ना गुणाः कार्यं प्रतन्वते ।
अक्षुब्धस्य विजातीयं न स्यात् कार्यमदः पुरा ।। तं 9/223

62. सान्तःकरण बुद्धि सर्वं पिषयमवगाहते सरूमात् ।
तस्मात् त्रिविधं करगं द्वारि, द्वाराणि शैषाणि ।। सां० का० 35

63. साधकतमं करणम्—अष्टाध्यायी

64. अन्तःकरण त्रिविधम् —सां० का० 33

65. मनोबुद्धिरहंकारश्चितं करणमान्तरम् ।
संशयो निश्चयो गर्वः समरणं विषया इमे ।।

वेदान्तपरिभाषा पृ० 85

66. (क) ज्ञानापि सत्वरूपा निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धि :

ष० त्रि० त० स० 15

(ख) तत्व परिणामिनी ज्ञानशक्तिरेव अर्धाध्यवसाय लक्षणा बुद्धि तदैव

67. गुणभ्यो बुद्धितत्वं तत् सर्वतो निर्मलं ततः ।
पुम्प्रकाशः स वेषोऽत्र प्रतिबिम्बत्वमाच्र्छति ।। तं० 9/227

68. तस्मात् तत्सयोगादचेतनं चेतनावदिव लिंगम् ।
गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेय भवत्युदासीनः ।। सां० का० 20

69. (क) निर्णयबोधस्य कारणं बुद्धिः —ष० त्रि० त० स० 15

(ख) निश्चयः इदमेतादृक् इति —परमार्थसार विवृति—19

70. द्विधा हि बुद्धेर्बहिर्विषप्रतिबिम्बम् अक्षद्वारकमतद्द्वारकं च ।
तत्राद्यं प्रत्यक्षादौ, अन्यच्च तत्प्रेक्षादौ । आदिशब्दात् स्वप्नादि ।

अत्र हि स्वयमुपस्थापित एवार्थोऽस्वा: परिस्फुरे दिति भावः।
तत् तादृशी अक्षानक्षाहिता वेद्य प्रतिबिम्ब सहिष्णुलक्षणा वृत्ति।
बुद्धेर्विषयावभासको बोधो भवेत्। तं० वि० 228

71. (क) आत्मसंवित्प्रकाशस्य बोधोऽसौ तज्जडोऽप्यलम्। तं० 329
(ख) प्रकाशो विषयाकारो देवद्वारो न वा क्वचित्।
पुंबोधव्यक्तिभूमित्वात् बोधो वृत्तिर्मतेर्मता ॥
तं० वि० 9/229

72. असंवेद्यबुद्धिवाद इति सांख्याभ्युपगतः। अयं चात्र प्रयोग: बुद्धि संवेद्या करणत्वात्, यत् करणं तत् संवेद्यं यथा मन: यन्न संवेद्यं तन्न करणं यथा प्रधानम् बुद्धिश्च करणम् तस्मात् संवेद्या इति

73. तुल्ये गुणान्वितत्वे तु सवेद्यं चित्तमिष्यते।
बुद्धिश्चापि ह्यसंवेद्या धन्या तार्किकता तव ॥ तं० वि० 9/259

74. बुद्धेरहंकृत् नादृक्षे प्रतिबिम्बत पुंस्कृतिः। तं० 9/230

75. इच्छास्य रजोरूपाहंकृतिरासीदहं प्रतीतिकरी। ष० त्रि० त० स० 14

76. प्रकृतेः क्रियामाणानि गुणैः कर्माणि सर्वश:।
अहंकारविमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥ भ० गी० 3/27

77. ग्राह्यग्राहिकाभिमानरूपो हंकार। ई० प्र० वि० 1/2/1

78. अभिमानोऽहंकार: सां० का० 24

79. बुद्धितत्वादहंकारो येन बुद्धिप्रतिबिम्बिते वेद्यसम्पर्के कलुषे पुंप्रकाशे नात्मनि अत्माभिमान: शुक्तौ रजताभिमानवत्। अत एव कार इत्यनेन कृतकत्वमस्योक्तम्। तं० सा० पृ० 86

80. यच्चापि सर्वभूतानाँ बीजं तदहमर्जुन।
नवदस्ति विना यात्स्यान्मया भूत चराचरम् ॥ भ० गी० 10/39

81. त्वया निराकृतं सर्वं हेयमेतत् तदेव तु।
त्वन्मयं समुपादेयमित्ययं सारसंग्रह: ॥ शिवस्तोत्रावलि 12/12

82. तस्य क्रिया तमोमयमूर्तिर्मन उच्यते विकल्पकरी।
ष० त्रि० त० स० 15

83. तम: परिणामिनी क्रियाशक्ति:। तदैव

84. उभयात्मकमत्र मन: संकल्पकम्। सां. का. 27

85. विकल्पकरण लक्षणं मनस्तत्व मुच्यते। ष. त्रि. त. स. वि. 15

86. तत्र बुद्धिरध्यवसायसामान्यमात्ररूपा। ग्रह्यग्राहकाभिमान

रूपोंऽहंकार: । संकल्पादिकरणं मन: । इत्यन्त: करणं त्रिधा ।
ई. प्र. वि. 3/1/11

87. (क) अवसायोऽभिमानश्च कल्पना चेति न क्रिया ।
एकरूपा ततस्त्रित्वं युक्तमन्त: कृतो स्फुटम् ॥ तं 9/238

(ख) कलपिर्मति: स्यतिश्चैव जाता भिन्नार्थवाचका: ।
इच्छासरम्भ बोधार्थीस्तेनान्त: करणं त्रिभा ॥ तं वि. 9/238

88. प्राणश्च नान्त:करणं जडत्वात् प्रेरणात्मन: । तं 9/237

89. वृत्तिरेवास्य विभुनश्चितस्य संकोच विकासनी —व्यासभाष्य 4/10

90. (क) अणुपरिमाणं तत् कृतिश्रुते । सां० सू० 3/14

(ख) न व्यापमत्वं मनस: करणत्वादिन्द्रियत्वाद्वा ।
सां० सू० 5/69

(ग) सक्रियत्वाद् गतिश्रुते: । सा० सू० 5/70

91. इत्ययं करणस्कन्धोऽहंकारस्य निरूपित: ।
त्रिधाऽस्य प्रकृतिस्कन्ध सात्त्वराजस तामस: ॥ तं० 9/233

92. सत्त्व प्रधानाहंकाराद् भौक्त्रंशस्पर्शिन: स्फुटम् ।
मनोबूद्धध्यक्षषट्कं तु जातं भेदस्तु कथ्यते ॥ तं० 9/234

93. "मन:षष्ठानीन्द्रिशाणि" इति श्रुतेर्मनोयुक्तानि बुद्धिन्द्रियाणि ।
तं० वि० 9/234

94. श्रोत्रं त्वक् चक्षुषी जिव्हा नासा च मनसा सह ।
प्रकाशान्वयत: सत्त्वात्तैजसश्च स सात्विक: ॥ तदैव

95. वामादि पंचभेद: स एव संकुचितविग्रहो देव: ।
ज्ञान क्रियो पराग प्रधान्याद् विविध विषय रूपोऽभूत् ॥
ष० त्रि० स० 16

96, श्रोत्रं चक्षु: स्पर्शन: जिव्हा घ्राणानि बोध करणानि ।
शब्दस्पर्श रूप रसगन्धाश्चेति भूतसूक्ष्माणि ॥ तदैव 17

97. न्याय सूत्र 3/1/52-62

98. पित्तेन दूने रसने सिताऽपि तिक्तायते हसं कुलावतंस ॥
नैषधीय चरित

99. तेनाशुद्धैव विद्याऽस्य सामान्यं करणं पुरा ।
ज्ञप्तौ कृतौ तु सामान्यं कला करणमुश्यते ॥ तं० 9/246

100, (क) सर्वदेह व्यापकानि च कर्मेन्द्रियाणि अहंकार विशेषात्मानि ।
ई० प्र० वि० 3/1/11
(ख) तस्मान् कर्मेन्द्रियाण्याहु स्त्वग्वद् व्याप्तहृणि मुख्यत: ॥
तं० 9260

101. ऋषयो राक्षसीमाहुर्वाचमुन्मत्त दृप्तयो: ।
सा योनि: सर्ववैराणां सा हि लोकस्य निष्कृति: ॥
उत्तर राम चरितम् 5/29

102. कामं दुग्धे विप्रकर्षत्यलक्ष्ममीं कीर्ति सूते दुह्र्दो निष्प्रलाति ।
शुद्धां शान्तां मातरं मंगलानां धेनु धीरा: सूनृतां वाचमाहु: ॥
तदेव 5/30

103. वचनकरी वागासीत् —ष० त्रि० त० स० 19

104. तेन विच्छिन्न हस्तो बाहुभ्यामाददान: पाणिनैवादत्ते ।
ई० प्र० वि० 3/1/11

105. (क) तेन छिन्न करस्याति हस्त: कर्मेन्द्रियात्मक: ।
तस्य प्रधानाधिष्ठानं परं पंचागुलि: कर: ॥ तं० 9/255
(ख) मुखेनापि यदादानं तत्र यत् करणं स्थितम् ।
स पाणिरेव करणं बिना किं संभवेत् क्रिया ॥ तं० 9/256

106. तदेषां पाणिना विहरणमपि पावेन चादानमपि—इत्यन्योन्यस्य वृत्ति सांशर्यं कुतस्त्यम् ? इत्याशक्याह—
एतत्कर्तव्यचक्रं तदासांकर्मेण कुर्वते ।
अक्षाणि सहवृत्या तु बुद्धयष्ते संकरं जड़ा: ॥ तं० 9/270

107. नहि एतदतिरिक्तं कर्मान्तरं किंचित् संभवेत् । अत एव कर्मान्तराभावात् करणान्तरमपि न प्रकल्प्यम् । एतावतैव तत्स्वीकारसिद्धे. ।
तं० वि० 9/268

108. रूपादिषु पञ्चानामालोचन मात्र भिष्यते वृत्ति: ।
वचनादान विहरणोत्सर्गनन्दाश्च पञ्चानाम् ॥ सां० का० 28

109. सात्त्विक मेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहंकारात् —सांख्यसूत्र 2/18

110. सांख्य सिद्धान्त —उदयवीर शास्त्री, पृ० 286

111. एवं चाहकारिकत्वादेव एषां विषयेषु नियमो यच्छोत्रं शब्दमैवैकं गृण्हाति न स्पर्शादि, त्वक् च स्पर्शमेवैकं नेतरत्, यावत् घ्राणं गन्धमेवैकमिति । तं० वि० 9/240

112. घ्राण रसन चक्षुस्त्वक् श्रोत्राणिन्द्रियाणि भूतेभ्य:—न्यायसूत्र 1/1/12

113. तेन पार्थिवत्वात् घ्राणं गन्धस्यैव ग्राहकं न रसादेर्यावदाकाशरूपत्वात् श्रोत्रं शब्दस्ययैव ग्राहकं न स्पर्शादेरिति —तदैव

114. भौतिकत्वमतोऽप्यस्तु नियराद् विषयेष्वलम् ।। तं० 241

115. एषां विषयेषु नियमात यद भौतिकत्वमपि अन्यैरुक्तम् तदलमस्तु... एवं हि उच्यमाने वायुरपि त्वगिन्द्रिय ग्राह्य स्वात् तत्प्रकृतिकत्वात् तस्य न चेष्यते भवद्भि: वायोरग्राह्यत्वेनाभ्युपगमात् । —तदैव

116. एवं चक्षुरपि तेजो द्रव्यं तदगतमेव च रूपं गृहणीयात् न पृथिव्याद्यपि तेज. प्रकृतित्वादस्य । तदैव

117. एवंकर्मणि सामान्ये येन्द्रिय प्रत्यक्षत्वं न स्यात् इन्द्रियाणां भौतिकत्वात्, एषां चातदात्मकत्वात्, दृश्यते चैतत्सर्व. तस्मान्न भौतिकानीन्द्रियाणि । तदैव

118. भौतिकानीन्द्रियाणीति पंचाधिकरणमतम् । सांख्य सिद्धान्त पृ 288

119. अहं श्रुणोमि पश्यामि जिघ्रामीत्यादि संविदि ।
अहन्तानुगमादाहंकारिकत्वं स्फुटं स्थितम् ।। तं० 9/242

120. (क) करणत्वमतो युक्तं कर्त्रंशस्पृक्त्वयोगत: ।
कर्तु विभिन्नं करण प्रेर्यत्वात् करणं कुत: ।। तं० 9/243

(ख) तत् प्रेर्यत्वात् करणमेव कुतो भवेत् अपितु प्रेरणाविषयत्वात् कर्मेत्यर्थ: । तं० वि० 9/243

121. करणीकृत तत्स्वांश तन्मलीभावनावशातुं ।
करणीकुरुतेऽत्यन्तं व्यतिरिक्त कुठारवत् ।। तं० 9/245

122. तस्तात् स्वातन्त्र्येगेन कर्ता स्वं भेदयन् वपु: ।
कर्मांश स्पर्शिनं स्वांशं करणीकुरुते स्वयम् ।। तं० 9/244

123. तम: प्रधानाहंकाराद् भोक्त्रंशच्छादनात्मन: ।
भूतादि नाम्नस्तेन्मात्र पंचक भूतकारणम ।। तं० 9/272

124. तान्मात्रस्तु गणो ध्वान्तप्रधानाया अहंकृते. । तं० 9/279

125. शब्द: स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पंचम: ।
गुणा विशिष्टास्तन्मात्रास्तन्मात्रपदयोजिता: ।।
प्रकाशकमकृदवर्गवैलक्षण्यात् तमोभवा: ।।
प्रकाशश्यत्वाच्च भूतादिरहंकारोऽत्र तामस: ।। तं० वि० 9/271

126. (क) अविशेषनिष्ठैरेव हि विशेषभांव्यम् । तं० वि० 9/281
(ख) विशेषाणां यतोऽवश्यं दशा प्रागविशेषिणी । तं० 9/282

127. (क) पृथिव्यां सौरभान्यादि विचित्रे गन्धमण्डले ।
यत्सामान्यं हि गन्धत्वं गन्धतन्मात्रनाम तत् ।। तं० 9/280

(ख) धृतक्षतजपक्वान्न मदिरागन्ध संयुता । तदैव

128. व्वापकं तत एवोक्तं सहेतुत्वात्तु न ध्रवम् ।
स्वकारणे तिरोभूतिर्ध्वंसो यत्तेन नाध्रुवम् ।। तं० 9/281

129. कृतकं हि न जातु नित्यं भवेत् । तं० वि० तदैव

130. यस्मादस्मन्मते स्वास्मिन्नेव कारणे प्रलीनत्वं नाम नाशो यदन्त विपरिर्बतिन एवार्थस्य बहिरवभासो नाम कार्यत्वम्, पुनस्तत्रैव विश्रान्ति र्नाश इति । तेन नैतत् कूटस्थनित्यान् अपितु परिणामि नित्यम् । तदैव

131, सांख्य सिद्धान्त, पृ. 304

132. ननु बुद्धिकर्मेन्द्रिय-वर्गद्वयत् तान्मात्रोऽपि वर्ग: सात्त्विकादेवा—हंकारात् कथं नोदियात् ? तं. वि. 9/280

133. (क) अत्राविवाद: सर्वस्य ग्राह्योपक्रम एय हि । तं. 9/280

(ख) नहि अत्र कश्चित् विप्रतिद्यते यतु वरणात्मनो ग्राह्यस्याय-मुपक्रम इति । अत एवायं प्रकाश्यो न तु प्रकाशक: तदस्य सात्विकादसं—कारात् कयमुत्पत्ति: स्यात् । तदैव

(ग) मात्रावर्गोऽप्यहंकाराद् वर्गद्वय विलक्षण: ।
प्रकाश्यस्तामसस्तस्माज्जातो भूतादि संज्ञितात् ।। तदैव

134. अयमेवातिनिकृष्टो जातो भूतात्मनाऽपि भूतेश:
गगनमनिलश्च तेज: सलिवं भूमिश्च पंचभूतानि ।। ष. त्रि. त, सं 18

135. तत्र शब्दतन्मात्रादाकाशम् स्पर्शतन्भात्राद् वायु: रूपतन्यात्रातेज:, रसतन्मात्रादाप:, गन्धतन्मात्राद् पृथ्वी । सांख्यकारिका माठर—वृत्ति कारिका 22

136. शब्दादिभ्य: पंचभ्य आकाशादीनि पंचमहभूतानि पूर्वपूर्वानुप्रवेशादेक-द्वि त्रि चतुष्पन्चगुणान्युत्पद्यन्ते । सां. का. माठरवृत्ति 38

137. क्षुभितमिति कार्यंजननोन्मुखमित्यर्थ: । तं. वि. 9/283

138. क्षुभितं शब्दतन्मात्रं चित्राकरा: श्रुतिर्दधत् ।
नभ: शब्दोऽवकाशात्मा वाच्याध्यास सहो यत: ।। तं. 9/283

139. इत्यनेनास्य शब्दैकगुणत्वम् —तं. वि. 9/283

140. यत: शब्दोऽवकाशात्मा अवकाशात्मत्वात् नभसोऽनुगुणं कारणमित्यर्थ: अवकाशात्मत्वेऽपि अस्य हेतु: वाच्याध्यास सह इति । तेन यथा शब्द:

स्वात्मनि वाच्स्य अध्यासमहत्वादवकाशतां ददाति तथा
तत्कार्यमाकाशोऽपि सर्वस्येति । तदैव

141. तदेतत् स्पर्श तन्मात्रयोगात् प्रक्षोभमागतम् ।
वायुतामेति तेनात्र शब्दस्पर्शोभयात्मता ।। तं. 9/284

142. तेनैति शब्दस्पर्शतन्मात्र कारणत्वेन हेतुना शब्दस्पर्शोभयात्मता—तदैव

143. अन्ये त्वाहुर्ध्वनिः खैक गुणस्तदपि युज्यते ।
यतो वायुर्निज रूपं लभते न बिनाम्बरात् ।। तं. 9/286

144. उत्तरोत्तरभूतेषु पूर्वं पूर्वस्थितिर्यतः ।
तत् एव मरुद्व्योम्नोरवियोगो मिथः स्मृतः ।। तं. 9/286-287

145. अतश्च तत्सचरितस्याकाशस्यैवार्थं मुख्यतया गुणः वायोस्तु
तत्साहचर्यादुपचरित इति । तं. वि. 9/287

146, शब्दस्पर्शाभ्यां पवन । परमार्थसार पृ. 54

147. शब्दस्पर्शौ तु रूपेण समं प्रक्षोभमागतौ ।
तेजस्तत्त्वं त्रिभिधर्मं प्राहुः पूर्वदेव तत् ।। तं. 9/287-288

148. (क) शब्दस्पर्शालोक गुणैः क्षुभितैरनलोद्भवः ।
त्रिगुणत्वमतस्तस्य प्रशंसन्ति त्रयीविदः ।। तं. वि. 9/288

(ख) तेजस्यपि शब्दस्पर्शो उपचरितौ रूपं तु मुख्यः । तदैव

149. शब्द स्पर्शरूपरसैः क्षुभितैर्वारिसम्भवः ।
चतस्रः शक्तयस्तेन वारिणो वरवर्णिनि ।। तदैव

150: गन्धत्वं भूमेर्लक्षणम् —तदैव

151. शब्दादिभिः पञ्चभिश्च क्षुभितैर्भूसमुद्भवः ।
तेन सर्वगुणाभूमिः सर्वदेव विभाव्यते ।। तं. वि. 9/288

152. तत्रानेक प्रकाशः स्युर्गन्धरूपरसाः क्षितौ ।
संस्पर्शः पाकजोऽनुणाशीतः शब्दो विचित्रकः । तं. 9/294

153. शौक्ल्यं माधुर्यशीतत्वे चित्राशब्दाश्च वारिणि । 9/295

154. शुक्ल भास्वरतोष्णत्व चित्रा शब्दाश्च पावके । तं 9/296

155. अपाकजश्चाशीतीष्णा ध्वानश्चित्रश्च मारुते । तदैव

156. वर्णात्मको ध्वनिः शब्दप्रतिबिम्बान्यथाम्बरे । तं. 9/297

157. (क) गन्धादीनामन्यतमस्य ग्रहे हि धरादि बुद्धि जयिते नान्यथा ।
इति गन्धादिभ्यो धरादीनामव्यतिरिक्तत्वम्
—तं. वि. 9/289

(ख) तेन धर्मातिरिक्तोऽत्र धर्मीनाम न कश्चन । तं 9/293

158. (क) रूपाख्यो गुणो यथायथमुदवेष्ट्यमाने गुणिनि पटे क्रमेणोपलभ्यते, तथा धरादेरेकत्वादेक रूपा अपि गन्धादयो धर्मा धरादौ अस्मदादिभि: क्रमेणोपयभ्यन्ते । तं वि. 9/290

(ख) विस्तृतपटादौ विचित्रस्यापि युगपदुलम्भात् । तदैव

159. गन्धादिशब्दपर्यन्त चित्ररूपधरा तत: ।
उपाय भेदाद् भात्येषा क्रमाक्रमविभागत: ॥ तं. 9/292

160, परमशिवतत्त्वस्य सर्वत्र अनुगतत्वात् विश्वमतदुतीर्णं यामल कौलस्वरूपमेव भक्तानाम् । ष. त्रि. त. स. वृत्ति—21

161. तद्भूमिका: सर्वदर्शन स्थितय: प्रत्यभिज्ञाहृदय —सूत्र 8

162. भारतौय दर्शन—बलदेव उपाध्याय पृ. 256

163, त्रयमेवं भवेन्मिथ्या गुणत्रयविनिर्मितम् ।
अस्य द्रष्टा गुणातीतो नित्योह्येकश्चिदात्मक: ॥
अपरोक्षानुभूति का. 58

164. तस्मत्तयोर्मलतैव मतं हि सैद्धम् । मातृका चक्रविवेक 1/16
(स्वतन्त्रानन्द द्वारा रचित)

165. सर्वावच्छेदशून्य शिवतत्त्वं षट्त्रिशम् । तद्यदोपदिश्यते भाव्यते व यत् तत्प्रतिष्ठास्पदं तत् सप्त त्रिशम् । तास्मिन्नपि भाव्यमानेऽष्टात्रिशम् । न चानवस्था । तस्य भाव्यमानस्वानवच्छिन्नस्वातन्त्र्ययोगिनो वेद्यीकरणे सप्तत्रिश एव पर्यवसानात । तं. सा. पृ. 111

166. (क) विज्ञानाकलपर्यन्तमात्म तत्त्वमुदाहृतम् ।
ईश्वरान्तं च विद्याह्वं शेषं शिव पदं विदू ॥
मा. वि. तं. 2/17

(ख) मायान्तमात्मतत्त्वस्य, सदाशिवान्तं विद्यातत्त्वस्य शिवान्तं च शक्तितत्त्वस्य व्याप्ति: । त. वि. खण्ड । पृ. 297

167. (क) नरशक्ति शिवावेशि विश्वमेमत् सदा स्थितम् ।
प. त्री. वि. पृ. 80

(ख) नर शक्ति शिवात्मकं ह्रीदं सर्वं त्रिकरूपमेव । —तदैव

168. पृथ्व्यां निवृत्ति:, निवर्तते यतस्तत्त्व-सर्ग: । तन्त्रसार पृ. 109

169. जलादि प्रधानान्ते वर्गे प्रतिष्ठा ।
कारणतया प्यायन पूरण कारित्वात् । तदैव

170. पुमादिमायान्ते विद्या वेद्य तिरोभावे संविदाधिक्यात् । तदैव

171. शुद्धविद्यादिशक्त्यन्ते शान्ता । कंचुक तंरगोपशमात् ।
तं. सा. पृ. 110

172. शिवतत्वे शान्तयतीता —तदैव

173. निजशक्तिवैभव भराद् अण्ड चतुष्टयमिदं विभागेन ।
शक्तिर्माया प्रकृतिः पृथ्वी चेति प्रभावितं प्रभुणा ।।
प. सा. कारिका 4

174. विश्वस्य प्रमातु प्रमेयरूपस्य पराहन्ता चमत्कारस्यापि स्वस्वरूपापोहना माख्यातिमयी निषेधव्यापाररूपा या परमेश्वरी शक्तिः सैव आच्छाकत्वेन बन्धकतया शक्त्यण्डम् इत्युच्यते । प. सा, पृ. 10

175. मल त्रयस्वभावं मोहमयं भेदेकप्रवणतया सर्वप्रमातृणां बन्धरूपं पुंस्तत्वपर्यन्तदलं मायाख्यमण्डम् । तदैव

171. सत्त्वरजस्तमोमली प्रकृतिः कार्यकरणात्मना परिणता सती पशु प्रमातहर्णा भोग्यरूपा सुखः दुख माहरूपतया बन्धयित्री प्रकृतियभिधानमण्डम् । तदैव

177. मनुष्यस्थावरान्तां प्रमातृणां प्रतिकार रूपतया स्थूल कंन्चुकमयी बन्धयित्री इति कृत्वा पृथ्व्यमण्डम् । तदैव पृ. 12

7

शिवाद्वयवाद

षट् त्रिंशत् तत्वों के रूप में सर्वत्र शिव ही अवभासित हो रहा है जो कुछ भी है शिव से भिन्न यहाँ कुछ भी नहीं। ब्रह्माद्वैतवादियों ने आत्मा में अनात्मा का अध्यास मानकर अनात्म पदार्थों की काल्पनिक और व्यावहारिक सत्ता स्वीकार की है अत: अंशत: वहाँ भी द्वैत आ ही गया है किन्तु यहाँ त्रिक दर्शन के अनुसार शिव में अशिव का अध्यास नही होता, क्योंकि अशिव कुछ है ही नहीं। अशिव-रूप में यदि कुछ अवभासित होता है तो वह शिव ही है। क्योंकि आभासित होना ही तो शिवता है। प्रकाश और विमर्श का सामरस्य ही तो शिव है। प्रकाश का स्वभाव ही है आभासित होना। अत: यदि कुछ शिव से भिन्न किसी को कुछ प्रतीत होता है तो वह शिव से भिन्न कहाँ रहा ? अवभासित होना और उसे अशिव कहना यह तो वदतोव्याघात है। छत्तीस तत्वों की समग्रता ही शिव नहीं है अपितु एक एक तत्व भी शिव ही है। एक एक तत्व में भी षट्त्रिंशत् तत्वों का समावेश है।[1] षट् त्रिंशत् तत्व कहो या एक तत्व कहो वह शिव का ही पर्याय है। इसी को शिवाद्वयवाद कहा जाता है। यही है पूर्ण अद्वयवाद। आचार्य शंकर के अद्वैतवाद को पूर्ण अद्वैतवाद नहीं कहा जा सकता क्योंकि वहाँ माया और मायाजन्य अध्यास को लेकर आंशिक द्वैतभाव बना रहता है। किन्तु शिवाद्वयवाद में तो माया भी शिव ही है। माया से जन्य तत्व-समूह भी शिव है, अध्यास भी शिव है। पृथ्वी भी शिव है एवं पृथ्वी का एक कण भी शिव है। अत: त्रिक दर्शन का यह शिवाद्वयवाद ही पूर्ण अद्वयवाद है।

इस शिवाद्वयवाद को शक्ति और शक्तिमान् के अभेद से भी परि-

भमाषित किया जाता है । अण्डचतुष्टयात्मक[2] इस भुवन में दो ही तो तत्व हैं—शक्ति और शक्तिमान् । यह समस्त संसार ही उसकी शक्तियाँ है और वह परमशिव शक्तिमान् है ।[3] शक्ति और शक्तिमान् में पूर्ण अभेद माना गया है । पर और अपर रूपों में सर्वत्र उसी की छाया है । चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया ये पाँच शक्तियाँ ही उसका परस्वरूप बनाती हैं ।[4] शुद्ध और अशुद्ध सृष्टि उसका अपर स्वरूप हैं । इन दोनों स्वरूपों में कोई भेद नहीं है । ये एक ही तत्व के दो पहलू हैं । जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में उसके इस स्वरूप में कोई अन्तर नहीं आता ।[5] शिव सब अवस्थाओं में शिव ही रहता है । वह सबका आलय है । चर और अचर रूप में वही स्थित है ।[6]

कर्ता और कार्य का भेद, तथा भोक्ता और भोग्य का भेद शिवाद्वय-वाद को शिथिल सा करता हुआ प्रतीत होता है । किन्तु यह भेद वस्तुतः भेद नहीं है बल्कि ये दो तत्व उसके प्रकाश विमर्शात्मक स्वरूप के दो पहलू हैं । वह स्वयम् ही कर्ता है और स्वयम् ही कार्य भी है, स्वयम् ही कारण सामग्री भी है । भोक्ता भी वही है और भोग्य भी वही ।[7] तभी तो वह अनुत्तर है । उससे कुछ उत्तर=भिन्न होता तो भेद हो सकता था और अद्वयवाद को क्षति हो सकती थी । जब वह अनुत्तर है तो कर्ता और कार्य तथा भोक्ता और भोग्य को लेकर भेद का प्रश्न ही नहीं उठता । हाँ यह बात आश्चर्यजनक सी प्रतीत अवश्य होती है कि प्रकाश-वपुः एक ही परमेश्वर अति-विचित्र नाना तनु-करण और भुवनों के सन्तान को धारण करके किस प्रकार अन्य सा हो जाता है । हम मायातिरोहित-मति पशुओं को ही यह आश्चर्य होता है । सिद्ध पुरुषों को इसमें आश्चर्यजनक नहीं लगता ।

परमेश्वर की शक्तियों का विलास यह विश्व बड़ा विचित्र है। संसार में अन्तन्त प्राणी हैं, रुद्र क्षेत्रज्ञ सुर असुर तिर्यगादि । उन सबका देह कितना विचित्र है, नाना मुख हस्त पानादि की रचना कितनी कुशलता के साथ की गयी है, विशिष्ट संस्थान-रूप आकृतियों के भेद में कितनी विचित्रता है इसका लेखा जोखा रखना किसी के वश की बात नहीं है ।

परमेश्वर की शक्तियाँ जब करण-वर्ग का रूप धारण कर लेती हैं तो सातिशय निरतिशय आदि विचित्र रूपों में परिलक्षित होती हैं। रुद्र प्रमाताओं की इन्द्रियाँ निरतिशय होती हैं क्योंकि सर्वज्ञत्वादि गुणों से विशिष्ट इन इन्द्रियों से एक क्षण में ही सब कुछ जाना जा सकता है ।क्षेत्रज्ञ प्राणियों की इन्द्रियाँ सातिशय होती हैं । क्षेत्रज्ञ प्राणियों में योगी, मनुष्य, सुर, असुर तथा अन्य सब प्रकार के प्राणी आ जाते हैं । इनकी इन्द्रियाँ परमेश्वर की

नियति-शक्ति से नियन्त्रित होती हैं। केवल घटादि पदार्थ का ही ज्ञान उनसे हो सकता है। सब कुछ उनसे नहीं जाना जा सकता। योगी का करण-वर्ग किसी सीमा तक नियतिशक्ति का उल्लंघन करके दूर व्यवहित और विप्रकृष्ट पदार्थों का ज्ञान कर लेता है। दूसरे प्रमाताओं के हृदयगत सुखादि भावों का ज्ञान कर सकता है। मनुष्यों की इन्द्रियाँ पर्याप्त संकुचित होती हैं। तिर्यक् प्राणियों की इन्द्रियाँ नियति-शक्ति से नियन्त्रित होने पर भी किसी किसी क्षेत्र में मनुष्यों की अपेक्षा उनमें अधिक सामर्थ्य देखा जाता है। जैसे गौवें व्यवहित होने पर भी अपने घर देख लेती हैं। अश्व रात्रि में भी मार्ग देख लेते हैं। गृध्र शत-योजन से भी मांस को देख लेते हैं। पक्षी मक्षिका मच्छर तक भी आकाश में उड़ लेते हैं। सर्प छाती के बल बहुत तेज दौड़ लेते हैं और आंखों से सुनते हैं। ऊंट दूर से ही गढ़डे के अन्दर से केवल श्वास के द्वारा साँप को खींच लेते हैं। इस प्रकार सर्वत्र इन्द्रियों का वैचित्र्य देखा जाता है।

विभिन्न भुवनों की स्थिति भी बड़ी विस्मयकारिणी है। भू: भुव: स्व मह: जन: और तपोलोक तथा सत्यलोक कितने विस्तीर्ण हैं और अपरिमित ऐश्वर्यो से परिपूर्ण हैं कि उनकी कल्पना भी नही की जा सकती इसी प्रकार अतल वितल सुतल तलातल महातल रसातल और पाताल इन सप्त अधोलोकों की चर्चा भी शास्त्रों में की गयी है। कैसी उसकी स्थिति होगी, कैसे प्राणी होते होंगे, कैसा ऐश्वर्य होगा कोई नहीं जानता। यह विचित्र-तनु-करण और भुवनों से युक्त विश्व उसी शिव का भोग्य है। इस भोग्य विश्व का भोक्ता स्वेच्छा से पशुभाव को ग्रहण किए हुए वही शिव है।[8] मलत्रय से मलिन इस देह में प्रविष्ट होकर वह शिव परवश सा बना हुआ सुख दु:ख का अनुभव करता है। नट की भूमिका धारण करते हुए निजनिर्मित इस भोग्य विश्व में स्वयम् ही शिव भोक्ता देही बन जाता है। भोक्तृभोग्य लक्षण वाले इस प्रभातृ प्रमेय के युगल को खिलौने के समान समुत्थापित कर वही भगवान् शिव भेद-प्रधान व्यवहार को चलाता है। परमेश्वर का यही निरतिशय स्वातन्त्र्य है कि वह अपने परिपूर्ण स्वरूप का परित्याग न करते हुए ही पशुभाव को प्राप्त होकर भी चिदानन्दैक धन शिव ही बना रहता है।[9] इसी का नाम है शिवाद्वयवाद।

तो उक्त विवेचन का सार यह हुआ कि एक ही चिदानन्दैकथन परमेश्वर स्वेच्छा से उन उन रूपों में आभासित हो रहा है। यहाँ यह बात पुन: मन को उन्मथित करती है कि एक तत्व नानारूप किस प्रकार हो जाता है ? यदि चित्स्वभाव वह पर-प्रमाता मायादि प्रमातृ प्रमेय के

वैचित्र्य से नाना होकर अनेक हो गया तो फिर उसे अनेक ही कहा जाना चाहिए. क्यों उसे एक या अद्वय कहने का आग्रह किया जाता है ? एक और अनेक में तो छाया और आतप के समान विरोध है। पदार्थ अनेक भी हो और एक भी हो यह तो विरुद्धधर्माध्यास है। विरुद्धधर्माध्यास का ही दूसरा नाम भेद होता है।[10] ऐसी स्थिति में शिवाद्वयवाद निरापद तो न रहा।

इस आक्षेप के उत्तर में त्रिक आचार्यों का कहना है कि एक तत्व का अनेक रूपों में प्रतिभासित होना और फिर भी एक ही बने रहना विरुद्ध-धर्माध्यास नहीं है। एक ही स्फटिकमणि सहस्रों नीलादि उपाधियों के वैचित्र्य को अपने अन्दर धारण करता है किन्तु फिर भी उसकी स्फटिकता की हानि नहीं होती।[11] "यह स्फटिक मणि है" ऐसी अबाधित प्रतीति सबको होती है। "लाक्षा आदि इस स्फटिक मणि में स्फुरित हो रहे हैं। ऐसा ही व्यवहार भी होता है। लाक्षादि उपाधि जैसे पट को अपने वैशिष्ट्य से युक्त कर देती है वैसा स्फटिक को नहीं करती। इसीलिए स्फटिक के स्वरूप का विप्रलोप नहीं होता। स्फटिकमणि का यही मणित्व है और यही उसका अमलत्व है कि वह विभिन्न उपाधि के आकारों को धारण करता है और फिर भी स्वस्वरूप से प्रथित होता है। यही स्थिति परमशिव की भी है। वह चिदैकधन स्वतन्त्र परमेश्वर अकेला ही स्वच्छ स्वात्मकदर्पण में देव, मनुष्य, पशु पक्षी तथा स्थावर पदार्थों का और रुद्रक्षेत्रज्ञादि स्वनिर्मित विशिष्ट रूपों का धारण करता है, फिर भी उनसे समुत्तीर्ण रहकर नानारूपों को भी "अहम्" इस प्रकार के अखण्ड-चमत्कारों पंबृहित रूप का विमर्श करता है। उसकी एकता और अखण्डता का खण्डन करने वाला देश या काल का भेद है ही नहीं, जिससे विरुद्ध धर्माध्यास कहा जा सके। नानाविध वर्णों से चित्रित चित्र भी दूसरों के द्वारा एक ही माना गया है।[12] यदि देश और काल संविद्रूप उस पममेश्वर से भिन्न होते तो निश्चित ही विरुद्धर्माध्यास उत्पन्न हो सकता था। किन्तु देश और काल की सत्ता तो संवित् के प्रकाश से ही होती है। देश और काल का ही दूसरा नाम मूर्तिविचित्र्य और क्रिया-वैचित्र्य है। प्रमाता के दृष्टिकोण से ही इनकी सत्ता सिद्ध होती है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि स्वभाव होते हुए भी चिन्मूर्ति भगवान् महेश्वर एक ही है।[13]

यहां शंका हो सकती है कि तनु-करण भुवनादि भेद को प्राप्त हुआ एक परमेश्वर ही यदि अनेकरूप हो जाता है तब तो देह आदि के विनष्ट हो जाने पर उसी का विनाश हो जाना चाहिए और उसके उत्पन्न होने पर

उसी की उत्पति मानी जानी चाहिए। "जायते अस्ति विपरिणमते वर्धते अपक्षीयते विनश्यति" ये जो भाव पदार्थों के षड् विकार हैं ये भी उसी के विकार माने जाएंगे। पुण्य पापादि कर्म-वैचित्र्य से स्वर्ग नरकादि का भोग भी उसे ही प्राप्त होगा। फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि शिव के स्वरूप का विप्रलोप नहीं होता ?

वस्तुत: यह शंका माया-व्यामोहित पुरुषों की ही है। इसका समाधान चन्द्रबिम्ब के दृष्टान्त से किया जा सकता है। चन्द्रमा आकाश में स्थित है और अचलस्वभाव है, किन्तु जब वह चंचल जल-प्रवाह के अन्दर प्रतिबिम्बित होता है तो चन्द्रमा भी दिखाई देता है। उसी समय दूसरे स्थिर ज़लाशय में उसका प्रतिबिम्ब स्थिर होता है। अर्थात् एक ही समय में चन्द्रबिम्ब चल भी है और अचल भी है। सभी प्रमाताओं के द्वारा ऐसा ही जाना जाता है किन्तु परमार्थ में वह ऐसा नहीं है। गगनस्थ चन्द्रमा तो इन दोनों से भिन्न है। जलगत देश काल गगनस्थ चन्द्रमा के स्वरूप को स्पृष्ट नहीं करते। केवल जल ही चल या अचल होता है, किन्तु जल की चलता और अचलता उसमें प्रतिबिम्बित चन्द्रबिम्ब की मानी जाती है। चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब गंगाजल में पड़े या कीचड़ में पड़े, चन्द्रमा के अपने स्वरूप की कोई क्षति नहीं होती। इसी प्रकार चैतन्यस्वभाव यह आत्मा स्वयंनिर्मित तनु-करण भुवनसमूह के क्षीण या उत्पन्न होते पर क्षीण या उत्पन्न हो गया, ऐसा तो माया-व्यामोहित लोग ही व्यवहार करते हैं, किन्तु वस्तुत: तो आत्मा न उत्पन्न होता है और न मरता है। गीता में भी ऐसा ही कहा गया है।[14]

इसलिए स्वतन्त्र महेशान यह आत्मा समस्त प्रमातातों के अनुभविता के रूप में प्रथित होता हुआ उस उस अवस्था का लोप होने पर या उत्पन्न होने पर स्वस्वरूप में ही स्थित रहता है। संविन्स्वरूप उस महेश्वर की अतनन्त दुर्घटकारिणी यही तो महेश्वरता है कि वह पशु-प्रमाता के रूप में स्वर्ग नरकादि के भोगों का भोक्ता होते हुए भी संवित्स्वरूप ही बना रहता है। यह पशुभाव भी तभी तो सत्ता को प्राप्त करता है जब भगवान् अपने प्रकाश से उसे प्रकाशित करते हैं। इससे उस महेश्वर का स्वरूप-विप्रलोप कहाँ हुआ। उत्पति और संहार तो निर्मित वस्तु का होता है। चित्स्वभाव भगवान् महेश्वर तो नित्य है। उनकी उत्पति और विनाश भला कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार निष्कर्ष यह हुआ कि एक ही शिव ग्राह्य-ग्राहक-रूप में नाना रूप और स्वभावों को स्वेच्छा से स्वीकार करता है। पुन: वही

सर्वानुभूविता के रूप में एक हो जाता है। इसलिए शिवाद्वयवाद की लेशमात्र भी हानि नहीं होती।[15]

जडाजडत्व समीक्षा

लोक में अनुभूयमान जड और चेतन का भेद शिवाद्वयवाद को उच्छिन्न सा करता हुआ प्रतीत होता है। शंका होती है कि विश्व प्रपञ्चस्वभाव संविन्मात्रस्वरूप परमशिव ही यदि सबका आत्मा है तो लोष्ठादि में भी वह स्वात्मरूप से प्रतीत क्यों नहीं होता? यदि लोष्ठादि में भी उसी रूप में विराजमान है तो प्रत्यक्ष भासमान जडाजड-व्यवस्था कैसे संगत होगी। लोकव्यवहार भी जड़ और चेतन का भेद मानकर ही चलता है उसकी क्या दशा होगी।

इस शंका के निवारणार्थ आचार्य अभिनव गुप्त कहते हैं कि राहु आकाश देश में सर्वत्र परिभ्रमण करता है किन्तु दिखाई नहीं देता। वही चन्द्रग्रहण के समय प्रथित होता हुआ सबके द्वारा देखा जाता है। अन्यथा इससे पहले तो स्थित होता हुआ भी अस्थित सा ही था। इसी प्रकार परमेश्वर सर्वान्तिर्यामी रूप से स्थित होता हुआ भी, स्वानुभवैकगम्य होने से प्रत्यक्ष परिदृश्यमान होते हुए भी सबको उस रूप में उपलब्ध नहीं होता किन्तु जब वही पुर्यष्टक-प्रमाताओं के बुद्धिदर्पण में विषयों की व्यवस्था के काल में शब्दादि विषयों को स्वीकार करता है, तथा "श्रृणोमि पश्यामि" इस प्रकार अहं प्रतीति का विषय बनता है तब वह ग्राहक-स्वभाव होने के कारण लोष्ठादि में भी स्फुट रूप से प्रकाशित हो उटता है।[16] वह स्वानुभवैकरूप होने से सबके द्वारा जाना जाता है। हां इतना अवश्य है कि लोष्ठादि में वह अत्यन्त तमोगुणमय होने से स्थित होता हुआ भी उसी प्रकार अस्थित जैसा प्रतीत होता है जैसे आकाश में राहु अस्थित सा प्रतीत होता है।

यह समस्त जडाजड भाव-वर्ग परमेश्वर का स्वात्मकल्प है किन्तु यह मायाशक्ति से इस भाववर्ग में कुछ पुर्यष्टक स्वरूप वेद्यखण्डों को अहन्ता की व्यवस्था में अभिषिक्त करके वेदक बना देता है और कुछ को वेद्य बना देता है। इन्हीं वेदक और वेद्य की अपेक्षा से यह जडाजड की व्यवस्था वाला भेद-व्यवहार चलता है। इसमें किसी प्रकार की वाधा नहीं है। इसलिए लोष्ठादि वेद्य होने से जड कहलाते हैं और पुर्यष्टक-प्रमाता वेदक होने से अजड अर्थात् चेतन कहलाता है। परमार्थरूप से परमेश्वर की अपेक्षा करके यह जडाजड का व्यवहार नहीं है।[17] परमार्थरूप से तो परमशिव संवित् है। संसारदशा में वही अपनी इच्छा से वेदक और वेद्य के

रूप में अजड और जड बन जाता है। किसी भी दशा में परमेश्वर के स्वस्वरूप का लोप नहीं होता। अत: यह जडाजड व्यवहार अद्वयवाद को किसी प्रकार की क्षति नहीं पहुंचाता।

इस प्रकार जडाजड व्यवस्था की वयाख्या हो जाने पर एक शंका पुन: मन को मथित करने लगती है। शंका यह है कि यदि परमात्मा समस्त प्रमाताओं की बुद्धि में समान रूप से प्रस्फुरित हो रहा है तो संसार के सभी प्रमाता स्पात्मवित् क्यों नहीं हैं ? यदि स्वात्मवित् नहीं होने चाहिए तो फिर किसी भी प्रमाता को उसका ज्ञान नहीं होना चाहिए। किन्तु लोक में देखा जाता है कि यहाँ कुछ प्रमाता तो स्वात्मा के ज्ञान से सर्वज्ञत्व और सर्वकर्तृत्व आदि सामर्थ्यों से युक्त होकर जीवन्मुक्त विचर रहे हैं। कुछ प्रमाता स्वात्मज्ञानी तो नहीं हैं किन्तु आत्मज्ञान की योग्यता उनमें है। ऐसे आरुरुक्ष पुरुष भी यहाँ दिखाई देते हैं। तीसरी कोटि के प्रमाता स्वात्मज्ञान से सर्वथा रहित होने से धर्माधर्म के निमित्त भूत शुभाशुभ कर्मों से निगडित होकर संसारी कहलाते हैं।[18] यह भेद कैसे संगत होगा ?

इस शंका के उत्तर में त्रिक दर्शन के मनीशियों का कहना है कि इस भेद का आधार परमेश्वर का विश्रृंखल शक्तिपात है। जैसे मालिन्य से रहित दर्पण में मुख अपने सुरूप के साथ दृष्टिगत होता है मलयुक्त में नहीं। वैसे ही शिव के शक्तिपात से विमल बुद्धितत्व में ही संविदरूप परमेश्वर प्रतिभासित होता है।[19] निर्मल दर्पण सभी देशों को स्वीकृत कर लेता है। सकल दर्पण में वही मुख विपरीतरूप से भासता है। वह मुख के सुरूप आदि गुणों को स्वीकार करने में समर्थ ही नहीं है। अपितु इसके विपरीत मलिन दर्पण में मुख को मलिन देखकर प्रमाता लज्जा का ही अनुभव करता है। इसी प्रकार परमेश्वर का अनुग्रहरूप शक्तिपात जब प्रमाता के प्रतिभादर्पण को परिमार्जित कर देता है तब उसमें से आणव मायीय और कार्म मलों की वासना पूर्णरूप से निश्शेष हो जाती है। उन उत्तम प्रमाताओं के निर्मल प्रतिभादर्पण में उतने ही अंश में सर्वज्ञत्वादि गुण गण-प्रकाशरूप स्वात्मा प्रतिभासित हो जाता है जिससे वे संसार में रहते हुए भी स्वात्मस्वरूप से प्रथन से मुक्तकल्प होकर एचं सर्वज्ञत्वादि गुणों से युक्त होकर विचरण करते हैं। कुछ प्रताताओं का बुद्धितत्व परमेश्वर की मायाशक्ति के प्रभाव से आणवादि मल से आच्छादित होता है। उस बुद्धितत्व में प्रकाशरूप परमात्मा भासित तो होता है किन्तु मालिन्य के कारण आभासरहित सा तो होता है जिससे वे सोसारिक पशु कहलाते है। कुछ प्रमाता मध्यम कोटि के होते हैं अर्थात् उस पर परमेश्वर

का तीव्र शक्तिपात तो नहीं हुआ होता किन्तु उसकी तिरोधानशक्ति का प्रभाव भी प्रबलरूप से उनकी बुद्धि पर नही होता। वे उत्थान की ओर चढ़ना प्रारम्भ कर देते हैं। ऐसे प्रताता आरुरक्षु कहलाते हैं। इस प्रकार तीव्र मन्द और मन्दतर शक्तिपात के भेद से प्रमातृभेद लोक में दिखाई देता हैं।[20]

यह बात विवेष रूप से अवधारणीय है कि शक्तिपात के अतिरिक्त अन्य कोई अश्वमेधादि या जपध्यान आदि उपाय मुक्ति का हेतु नहीं है। चूँकि परमेश्वर माया से समुत्तीर्ण है अतः मायाजन्य भेद-प्रधान कोई भी वस्तु उसकी प्राप्ति का साधन नहीं बन सकती। यही बात गीता में कही गयी है :

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया ॥ 11/53

केवल परमेश्वर का अनुग्रह ही निर्मल बुद्धि प्रमाताओं का अकृत्रिम मुक्ति-हेतु है। यही बात त्रिक शास्त्रियों ने स्वीकार की है, शक्तिपात से विशेषित बुद्धि अन्य किसी उपाय की अपेक्षा करती ही नहीं है क्योंकि शक्तिपात ही पर्याप्त है।[21] पशु-प्रमाताओं के लिए तो परमेश्वर की तिरोधान-शक्ति संसरण का हेतु बनती है जिससे वे स्वस्वरूप से अनभिज्ञ रहते हुए शुभाशुभ कर्म में लगे रहते हैं और सुख-दुखादि का भोग करते हुए संसार में ही आवर्तन और निर्वर्तन करते रहते हैं।

इस प्रकार पूर्वोक्त शंका का समाधान हुआ कि स्वात्मा यद्यपि सर्व-प्रमाताओं को बुद्धि में समान रूप से प्रस्फुरित हो रहा है किन्तु फिर भी परमेश्सर की प्रकाशकृत अनुग्रहशक्ति और अप्रकाशरूप तिरोधान-शक्ति की विश्रृखलता के कारण मुक्त आरुरक्षु और बद्ध प्रमाताओं का प्रविभाग होता है। यही बात सिद्ध पुरुषों ने कही है।

बध्नाति काचिदपि शक्तिरनन्तशक्ते.क्षेत्रज्ञमप्रतिहता भवपाश जाले.।
ज्ञानासिना च विनिकृत्य गुणानशेषा नन्या करोत्यभिमुखं पुरुषं विमुक्तो ॥ प० सा० विवृति पृ० 30

अर्थात् उस अनन्तशक्ति परमेश्वर की कोई अप्रतिहत तिरोधान शक्ति तो क्षेत्रज्ञ को भवपाश के समूहों से बाधती है और दूसरी अनुग्रह-शक्ति उस क्षेत्रज्ञ के बन्धनों को ज्ञानकृपाणें से काट कर उस मुक्ति की ओर अभिमुख करती है।

निष्कर्ष

इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि चर और अचर के रूप में प्रमाण और प्रमेय के रूप में वेदक और वेद्य के रूप में, ग्राहय और ग्राहक के रूप में,

तथा देश काल और आकार के रूप में एक संविद्रूप शिव ही प्रकाशित हो रहा है। जो कुछ है सब कुछ शिव ही है। सब कुछ शिव है इसलिए सब कुछ सत्य है मिथ्या कुछ नहीं। मिथ्या भी यदि कुछ है तो वह भी शिव ही है।

संवित् ही परमशिव का स्वरूम है जिसे हम जड कहते हैं वह भी संवित ही है क्योंकि जड वस्तु की सत्ता भी तभी सिद्ध होती है जब वह चेतन प्रमाताओं की संवित् के अन्दर आभासित होता है।[22] इसलिए चेतन प्राणी की संवित् में आभासित होता हुआ अचर पदार्थ भी संवित् ही होता है। संवित् ही तो संकोच के स्तर पर उतर कर जड पदार्थ के रूप को धारण करती है। यदि जड़ पदार्थ संविद्रूप न होता तो वह प्रकाशित ही न होता।[23] हाँ इतना अवश्य है जड स्तर पर संवित का संकोच चेतन प्राणियों की अपेक्षा अधिक होता है, किन्तु यह संकोच परमेश्वर की इच्छा से, उसी के भीतर और उसी का होता है।[24] देश काल और आकार का अवभास उसी संवित के स्पन्दन से होता है। इसलिए सृष्टि भी संवित है और संहार भी संवित है। इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि यह संविद्रूप अनुत्तर परमशिव सर्वदा सर्वथा शुद्ध असीम और परिपूर्ण है। त्रिक दर्शन का यही शिवाद्वयवाद या ईश्वाद्वयवाद है। इस शिवाद्वयवाद की पूर्ण अनुभूति जब शिव की ही अनुग्रहशक्ति से उत्कृष्ट साधक को हो जाती है तो तभी वास्तविक मोक्ष की प्राप्ति होती है। तभी वह कृतकृत्य होता है।

विभिन्न द्वैत अद्वैत मतों की समीक्षा

परमतत्व के अन्वेषण के प्रसंग में मानव-मस्तिष्क सदा ही प्रयत्नशील रहा है। उसके अन्तःकरण में अपने विषय में, प्रत्यक्ष दृश्यमान इस जगत् के विषय में और किसी इन्द्रियातीत तत्व के विषय में रहस्य जानने की इच्छा सदा से ही रही है। अनेक बुद्धिमान् महानुभावों ने उन जिज्ञासाओं का समाधान भी अपनी साधना और चिन्तन की क्षमता के अनुसार खोजा है। अपनी आत्मा का और जगत् की सत्ता का अनुभव तो पामर पुरुषों को भी होता है। उन साधकों ने इससे आगे सोचना प्रारम्भ किया। चिन्तन की इस प्रक्रिया में उन्हें आत्मा की सत्ता के साथ आत्मा का साक्षात्कार भी होने लगा। वे उसी में तन्मयता की विभिन्न दशाओं में उन साधना की तीव्रता और मन्दता के आधार पर आत्मा का विभिन्न भूमिकाओं का साक्षात्कार हुआ। जिस साधक को आत्मा की जिस भूमिका का साक्षात्कार हुआ, उसने उसी साक्षात्कार के संस्कार के अनुसार आत्मा का वैसा ही स्वरूप निर्धारित करने का प्रयास किया। उनके वाक्-कौशल

और बुद्धिबल ने भी इस कार्य में उनकी पर्याप्त सहायता की। आत्मा का साक्षात्कार करने वाले वे महानुभाव ऋषि कहलाये।[25] उनके आत्म-सम्बन्धी उक्त बिचार उनके दर्शन या सिद्धान्त कहलाए। न्याय सांख्य आदि षड् वैदिक दर्शन, विशिष्टाद्वैत आदि वैष्णव दर्शन, पाशुपत आदि शैव दर्शन तथा चार्वाक जैन बौद्ध ये नास्तिक दर्शन उक्त ऋषियों के आत्मा आदि तत्वों के साक्षात्कार सम्बन्धी विचार ही हैं।

इन दर्शनों में आत्म-स्वरूप का भिन्न भिन्न प्रकार से विवेचन हुआ है। यह स्वाभाविक भी था। भिन्न भिन्न प्रकार के साक्षात्कार के कारण उन ऋषियों को आत्मतत्व का स्वरूप भी भिन्न भिन्न प्रकार से अनुभूत हुआ! इसलिए उनके उपदेशों और दृष्टिकोणों में पर्याप्त भेद प्रकट हुआ। इसका दूसरा कारण उन ऋषियों के बुद्धिबल और वाक् कौशल की असमानता भी रहा। सब ऋषियों को बुद्धि और वाणी-चातुर्य एक जैसा नहीं होता। किसी भूमिका का साक्षात्कार कर लेने पर भी बुद्धि द्वारा उसे समझने में और वाणी द्वारा अभिव्यक्त करने में पर्याप्त भेद होता है। इस प्रकार यह दर्शनविद्या अनेक रूपों में प्रस्फुटित होती रही है।

त्रिक दर्शन की दृष्टि में न्याय आदि दर्शनों के विभिन्न सिद्धान्तों को सर्वथा मिथ्या नहीं माना गया। वे भी अशंतः सत्य ही हैं, किन्तु शिवाद्वयवाद के अनुसार शिव से भिन्न तो यहाँ कुछ भी नहीं है। इसलिए द्वैत निर्विशेषाद्वैत और विशिष्टाद्वैत के सिद्धान्त भी आत्मा की किसी न किसी अवान्तर भूमिका पर ही प्रतिष्ठित हैं। ये अनुपयोगी भी नही हैं। मानव को स्वप्न सुषुप्ति या तुर्या की किसी न किसी भूमिका पर पहुँचा ही सकते हैं। हां ये पूर्ण नहीं क्योंकि द्वैत की अवस्था किंचित् अंश में इनमें बनी ही रहती है। पूर्ण तो शिवाद्वयवाद का प्रतिपादक यह त्रिक दर्शन ही है, क्योंक ज्ञान और क्रिया की यमलता ही आत्म-तत्व को पूण और अद्वय बनाती है और सैद्वदर्शन[26] में इनकी यमलता का ही प्रतिपादन किया गया है।

मीमांसकों का स्वर्गवाद

पूर्व मीमांसक पूर्णरूप से द्वैतवादी दर्शन है। "स्वर्णकामो यजेत" उनकी यह कर्मकान्डीय मान्यता इहलोक और परलोक का भेद माने बिना सिद्ध नहीं हो सकती। मीमांसकों का यह सिद्धान्त मनुष्य को कुछ अधिक काल के लिए दिव्य ऐश्वयों की प्राप्ति तो करा सकता है किन्तु शाश्वत सुख की प्राप्ति नहीं करा सकता। शास्त्रों के मर्म को समझने में भी मीमांसा विद्या उपयोगी है। किन्तु कर्मों से मिलने वाला दिव्य सुख आखिर

है तो नश्वर ही अत: त्रिक दार्शनिक इससे पूर्ण सन्तुष्ट नहीं होते ।

न्याय का अपवर्गवाद

न्याय और वैशेषिक दर्शन भी पूर्णरूप से भेदवादी दर्शन हैं। वह सात पदार्थों में से सामान्य विशेष और समवाय पदार्थों को नित्य मानता है । नब द्रव्यों में से न्याय दर्शन पृथ्वी जल अग्नि वायू और मन इन पाँच द्रव्यों को नित्य और अनित्य दोनों ही स्वीकार करता है, किन्तु आकाश काल, दिशा, आत्मा और पृथ्वी आदि चार भूतों के परमाणु ये पाँच तत्व एकान्त नित्य हैं ।[27] मुख्यरूप से न्याय वैशेषिक की दृष्टि में यह भेद आत्मा और अनात्मा का ही है । इस भेदवाद के रहते न तो अपवर्ग हो सकता है और न मुक्तात्मा को शाश्वत तथा आत्यन्तिक आनन्द की प्राप्ति हो सकती और स्वरूप-प्रतिष्ठा के बिना आत्मा आनन्दमय नहीं हो सकता ।

दूसरी बात यह है कि न्यायमत में आत्मा का स्वरूप चैतन्यरहित माना गया है । आत्मा के जो बुद्धि आदि विशेष गुण हैं उनका भी मोक्ष में अभाव हो जाता है ।[28] इस प्रकार शून्य गगन के समान अथवा शिलाशकल के समान जड़ आत्मा अकर्मण्य हो जाता है । यह एक अनर्थ ही है कि आत्मा को जड़ बना दिया गया ।

त्रिक दर्शन की दृष्टि में न्याय का उक्त ऐकान्त नित्यत्ववाद तथा अपवर्गवाद प्राणी को नित्य सुख की ओर नहीं ले जाता । अपवर्ग की वह अवस्था वस्तुत: सुषुप्ति की ही एक निकृष्ठ भूमिका है । इस अवस्था में पड़े हुए जीवों को भगवान् श्रीकण्टनाथ गुणमयी सृष्टि के समय जगाकर पुन: संसृति के चक्कर में डाल देते हैं । अत: यह पूर्ण मुक्ति की दशा नही है । किन्तु इस अपवर्गावस्था को सर्वथा असत्य भी नहीं कहा जा सकता । यह अवस्था भी सत्य है किन्तु तभी तक सत्य है जब तक भगवान् श्रीकण्ट मूल प्रकृति में क्षोभ उत्पन्न करके नूतन सृष्टि का विकास नहीं करते । क्षोभ होने पर तो अपवर्गावस्था में पड़े हुए प्राणियों को फिर से संसार में लौटना ही पड़ेगा । अत: अपवर्ग अंशत: सत्य है ।

न्याय दर्शन का परमाणुवाद भी रमणीय नहीं । वह भी अंशत: ही सत्य है । परमाण को एकान्त नित्य नहीं माना जा सकता । पंच महाभूतों की रचना के पश्चात् ही परमाणुओं की सृष्टि होती है । उन्हीं से भगवान् ब्रह्मा जी त्रिलोकी की रचना करते हैं । इस प्रकार न्याय का आरम्भवाद, परमाणुवाद तथा अपवर्ग सिद्धान्त पुरुष को चरम लक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता ।

सांख्यों का द्वैतवाद

सांख्यों का प्रकृति परिणामवाद का सिद्धान्त भी द्वैतवाद पर ही प्रतिष्ठित है। द्वैतवादियों की श्रेणी में सांख्य अग्रणी हैं। इसीलिए आचार्य शंकर ने भी सांख्य को प्रधानमल्ल समझकर उसको परास्त करने का प्रयास किया हैं। इसके मत में दो ही तत्व हैं—जड प्रकृति और चेतन तत्व पुरुष। सांख्यों के अणुसार पुरुष को भोग और मोक्ष देने के प्रति प्रकृति की प्रवृति स्वाभाविक है।[29] मूल प्रकृति में स्वतः ही क्षोभ होता है, जिससे तेइस तत्वों की रचना होती है। सांख्यों ने गुणमयी सृष्टि की जो क्रम और रचना प्रक्रिया बतायी है, त्रिक दर्शन का उससे कोई विरोध नहीं। किन्तु मूल प्रकृति में स्वतः क्षोभ मानने का सिद्धान्त को मान्य नहीं है। प्रकृति जड़ है वह स्वयम् क्षुब्ध नहीं हो सकती और न ही उसमें स्वतः प्रवृत्ति सम्भव है। भगवान् श्रीकण्ठनाथ ही उसमें क्षोभ उत्पन्न करते हैं।[30] और वे ही उसे पुरुष के भोग के लिए प्रवृत करते हैं। फिर इस द्वैतभावना के रहते पुरुष को विवेक होना और मुक्त होना भी सम्भव नहीं है। सांख्यों की कैवल्यदशा भी एक प्रकार की प्रगाढ़ सुषुप्ति ही है। अपवर्ग की तरह यह भी यथार्थ और सदातन मुक्ति नहीं है। प्रकृति के क्षोभ के समय भगवान् श्रीकण्ठनाथ उन कैवल्यावस्थाक पुरुषों को जगाकर अन्य प्राधियों के साथ ही संसृति-प्रवाह में फेंक देते हैं।[31]

सांख्या दर्शन प्रकृति के प्रेरक और नियामक के रूप में किसी ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नहीं करता. किन्तु किसी चेतन और सर्वज्ञा अधिष्ठाता को स्वीकार किए बिना सांख्यों का प्रधान कारणवाद का सिद्धान्त चल नहीं सकता। योग दर्शन ने यद्यपि ईश्वर की सत्ता को स्वीकार तो अवश्य किया है किन्तु उसे एक पुरुष विशेष ही माना है।[32] उसका उपयोग भी केवल समाधिसिद्धि में ही बताया है।[33] जगत् की रचना पालन और संहार में उसकी कोई भूमिका नहीं है। न ही उसमें प्रकृति को प्रेरित करने की शक्ति है। अतः त्रिक दर्शन की दृष्टि में सांख्यों का यह प्रकृतिकारणवाद तथा द्वैतवाद का सिद्धान्त चरमलक्ष्य तक नहीं पहुँचा सकता।

बौद्धों का आभासवाद

बौद्धों का आभासवाद सत्य के कुछ और निकट ले जा सकता है, किन्तु वह पूर्णरूप से अनात्मवादी है अतः पूर्ण सत्य के अन्वेषण में उन्होंने भी पूर्ण प्रयास नहीं किया। बौद्धों के अनुसार संसार केवल आभासित होता है, इसकी वास्तविक सत्ता नहीं है। इस मत में केवल विज्ञान ही सत् है जो

क्षण क्षण में उदय और अस्त को प्राप्त होते रहते हैं। कोई भी विज्ञान एक क्षण से अधिक नहीं टिकता। अनन्त क्षणिक वस्तुओं को परम्पराओं में जो एकता का भ्रम होता है वह कल्पनामात्र और भ्रम है। क्षणिक विज्ञान ही सत् है। यह विज्ञान दो प्रकार का है—आलय-विज्ञान तथा प्रवृति-विज्ञान। क्षणिक चित्त में जो "अहम्" की कल्पना का आधार है वह आलय-विज्ञान है और आन्तर तथा बाह्य विषयों के प्रतिबिम्बों में प्रमेयता की कल्पना प्रवृत्ति-विज्ञान है।[34] इसी आलय-विज्ञान और प्रवृतिविज्ञान को पञ्चस्कन्धात्मक आत्मस्थानीय कहा गया है। इसके अतिरिक्त अन्य कोई नित्य आत्मा बौद्धमत में स्वीकृत नहीं किया गया। वासना का क्षय होने पर वह चित्त या विज्ञान पूर्ण रूप से उच्छिन्न हो जाता है। विज्ञानों का यह क्षय ही निर्वाण है। यह निर्वाण वैसा ही अभावात्मक है जैसे दीपक के बुझ जाने पर उसका अभाव हो जाता है।[35]

त्रिक दर्शन के अनुसार बौद्धों का यह विज्ञानवाद तथा क्षणिकवाद का सिद्धान्त बहुत सीमा तक यदार्थ ही है। किन्तु अनात्मवाद का सिद्धान्त उपहासास्पद है। उन क्षणिक विज्ञानों का और उनकी वासना का जब तक कोई अपरिणामी और अक्षणिक चेतन आधार नहीं माना जाएगा तब तक लोक व्यवहार चल ही नहीं सकता। दो क्षशिक विज्ञानों को जोड़ने वाला कोई स्थिर आत्मा अवश्य ही मानना चाहिए, अन्यथा स्मृति-कल्पना प्रत्यभिज्ञा आदि व्यापार चल नहीं सकते और इन व्यापारों के बिना लोक-यात्रा भी सुचारु रूप से नहीं चल सकती।[36] संसार के लेन देन पठन पाठन आदि अनन्त व्यवहारों का आधार स्मृति ही है। यदि सब क्षणिक ही हों तो स्मृति भी क्षणिक ही होगी। उस अवस्था में न कोई किसी को पहचानेगा और न कोई लेन देन होगा। इस प्रकार बौद्धों का अनात्मवाद शैवों को रुचिकर नहीं है।

बौद्धों का निर्वाण भी वास्तविक मोक्ष नहीं। यह भी एक प्रगाढ निद्रा की सी अवस्था है। सुषुप्ति में केवल प्रमेय विषयों के प्रति प्रमाता का ज्ञान-क्रियात्मक व्यापार ही लुप्त होता है, प्रमाता का लोप नही होता। किन्तु अप्रबुद्ध साधक यह समझ बैठते हैं कि हम ही लुप्त हो गये।[37] इस प्रकार का यह निर्वाणवाद त्रिक दर्शन की दृष्टि में मुक्ति का आभास ही है। भगवान् की माया उन निर्वाणपद-प्राप्त लोगों को संसार में ही घुमाती रहती है।

आचार्य शंकर का अद्वैतवाद

त्रिक दर्शन के शिवाद्वयवाद के सामने आचार्य शंकर का अद्वैतवाद भी कुछ ही अंशों में सत्य है। पूर्ण अद्वैत वह भी नहीं है। शांकर मत में ब्रह्म की ही पारमार्थिक सत्ता है जो कि सर्वथा सब प्रकार के गुणों सामर्थ्यों और वैशिष्ट्य से रहित है। प्रकृति माया अविद्या और जीव की सत्ता का केवल आभास ही होता है। इन तत्वों की कोई वास्तविक सत्ता नहीं है, किन्तु अनादिकाल से ये संसार की सत्ता को बनाए हुए हैं। इस प्रकार आचार्य शंकर के मत में संसार को चलाने के लिए माया को सहायक कारण माना गया है।

त्रिक दर्शन में पारमार्थिक सत्ता शिव की ही स्वीकार की गयी है जो नित्य, शक्तिविशिष्ट और स्वतन्त्र है। उसे जगन्निर्माण के लिए किसी माया अविद्या आदि की अपेक्षा नहीं है। अपेक्षा होगी तो वह परतन्त्र हो जाएगा। त्रिक दर्शन के अनुसार तो परमेश्वरता ही परब्रह्म का स्वभाव है। उसी के आधार पर विवर्त, आभास, परिणाम और उत्पति ठहरी हुई है। अद्वैत वेदान्त के एश्वर्य हीन तथा अशक्त ब्रह्म में और बौद्धों के विज्ञान या शून्य में कोई विशेष अन्तर नहीं है। अत: त्रिक आचार्यों को शांकर मत रुचिकर नहीं लगता।[38]

वैष्णवों का नारायणवाद

वैष्णव दर्शनों के प्रमुख चार सिद्धान्त है। रामानुज का विशिष्टाद्वैत, निम्बार्क का द्वैताद्वैत, मध्व का द्वैत और बल्लभाचार्य का शुद्धाद्वैत। इन दर्शनों में परब्रह्म को नारायण, वासुदेव या श्रीकृष्ण कहा गया है। भगवान् नारायण अनन्त दिव्य कल्याणगुणों से विभूषित है।[39] विद्या और अविद्या उसकी दो शक्तियाँ हैं। जीव और जगत् उस परब्रह्म नारायण के शरीर हैं किन्तु उससे पृथक् हैं और नित्य हैं। जीवों के कर्म तथा अज्ञान भी अनादि हैं। इन सभी दर्शनों में विभिन्न प्रकार का द्वैतभाव किसी न किसी रूप में बना रहता है।

वैष्णव दर्शनों के अनुसार भगवान् नारायण का एक विशेष धाम है जिसे वैकुण्ठ कहा जाता है।[40] उसमें एक दिव्य मणिमण्डप है जिसके नीचे चतुष्पात् पर्यंक है जिस पर भगवान् चतुर्भज विराजमान होते हैं। मुक्त जीव भी उसी धाम में दिव्य शरीर धारण करके भगवान् की सेवा करते रहते हैं और दिव्य सुत्रों का उपभोग करते हैं।

त्रिक दर्शन के आचर्यों की दृष्टि में वैष्णवों के उक्त सभी सिद्धान्त संसार की भूमिका पर ही प्रतिष्ठत हैं। वे अद्वयवाद के निकट भी नहीं

हैं। जिनकी मुक्त अवस्था में मोक्ष का भी एक विशिष्ट और नित्य लोक हो, मुक्तात्मा का शरीर भी हो, विषय भी हों, जवि और जगत् की भी नित्य पृथक् सत्ता हो उस अवस्था को परमपद या मुक्तावस्था कैसे कहा जा सकता है। त्रिक दर्शन की दृष्टि में तो यह संसार की ही अवस्था है। लोक, शरीर, विषय और जीव ये सब तत्व संसार में ही हुआ करते हैं। अद्वयवाद की तो इसमें गन्ध भी नहीं है। इसे तो सुषुप्ति की दशा भी नहीं कहा जा सकता। सुषप्ति में भी कुछ काल के लिए प्रपंच का लय तो हो ही जाता है अत: उसमें भी कुछ आनन्द की अनुभूति हो ही जाती है किन्तु वैष्णवों की मुक्ति तो विषयानन्द की कोटि से भिन्न नहीं है।

शैव की ही कुछ अन्य शाखाएँ भी हैं जैसे पाशुपत शैव सिद्धान्त, वीर शैव आदि जिनकी चर्चा प्रथम अध्याय में की जा चुकी है। वे दर्शन भी जीवों के कर्मों को और अज्ञान को अनादि स्वीकार करते हैं। अत: वे भी पूर्ण अद्वयवादी नहीं हैं। वे सभी शैव दर्शनों की द्वैतवादी शाखा के सिद्धान्त हैं। अत: वे अंशत: ही सत्य हैं। पूर्ण अद्वयवादी तो त्रिक दर्शर ही है। इसीलिए वही प्राणी का पूर्ण श्रेय कर सकता है, मनुष्य को उसके चरम लक्ष्य तक पहुँचा सकता है। जहाँ तक द्वैत की थोड़ी सी भी गन्ध है वहाँ तक अपूर्णता रहेगी। अपूर्णता का ही नाम बन्धन है। जहाँ बन्धन का लेश भी विद्यमान हो वहाँ परिपूर्ण मुक्ति कैसे हो सकती है।

जैन दर्शन में भी यही दोष है कि वह जीवों के कर्मों को अनादि कहता है। त्रिक दर्शन को यह सिद्धान्त मान्य नहीं है। जब सभी कुछ शिवरूप ही है तो कर्म उससे पृथक कहाँ रहे। फिर यदि वह सृष्टि रचना में जीवों के कर्मों की अपेक्षा करने लगा तो वह स्वतन्त्र और परमेश्वर ही कहाँ रहा? यही तो उसका परमैश्वर्य है कि वह अन्य-निरपेक्ष होकर ही सृष्टि को रचता है। जैन भी मुक्त तीर्थंकरों का एक विशेष लोक मानते हैं जिसे सिद्धशील कहा जाता है। वह लोक भी स्वप्न-जगत् का ही कोई लोक होगा। अत: उस लोक की प्राप्ति को भी पूर्ण मुक्ति नहीं कहा जा सकता।

त्रिक दर्शन के शिवाद्वयवाद की तुलना में पूर्वोक्त द्वैत और अद्वैत-परक सिद्धान्त तुच्छ ही सिद्ध होते हैं। परम सिद्ध पुरुषों के इस पूर्ण अद्वयवाद की तुलना विश्व का कोई सिद्धान्त नहीं कर सकता। अत: शिवाद्वयवाद हीं सर्वतोभावेन मोक्षाभिलाषियों के लिए ग्राह्य है।

शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद

वीर-शैवों का शक्तिविशिष्टाद्वैत सिद्धान्त भी त्रिक दर्शन के शिवा-

द्वयवाद से बहुत मिलता जुलता है। उसमें भी शक्ति और शिव में अभेद माना गया है। छत्तीस तत्वों को यह भी स्वीकार करता है। संसार सत्य है।[41] कछुए के पाद-प्रसारण और पाद-संकोचन के समान सृष्टि का विकास और संकोच होता है। इसके मत में जीव शिव का अंश है। शक्ति दो प्रकार की है—सूक्ष्मचिचिदिशिष्ट और स्थूल चिदचिद्विशिष्ट।[42] प्रथम शक्ति से शिव का बोध होता है और दूसरी से जीव का। इस प्रकार शक्तिविशिष्ट परमेश्वर और शक्तिविशिष्ट जीव एक ही हैं। चराचर जगत् परमात्मा का रूप ही है। शक्ति परब्रह्मरूप शिव में लीन होकर रहती है। वह नित्य है। समवाय-सम्बन्ध से शिव में रहती है।[43]

उक्त समानता के आधार पर ऐसा प्रतीत होता है जैसे शक्ति-विशिष्टाद्वैत और शिवाद्वयवाद एक ही है। वस्तुतः ऐसा नहीं है। शक्ति-विशिष्टाद्वैतमत में भी भेद का अंश विद्यमान रहता है। विशिष्ट पद से ही यह भेद परिलक्षित हो रहा है। अर्थात् परमात्मा शक्तिविशिष्ट है केवल शक्ति नहीं है। यह जगत् भी उस शक्ति-विशिष्ट परमात्मा का परिणाम है। आधुनिक चिन्तक दास-गुप्ता ने भी वही स्वीकार किया है।[44] शक्ति शिव में रहती अवश्य है किन्तु नित्य पृथक् तत्व है।[45] जगत् को भी वीर शैव नित्य कहते हैं। परमशिव को यहाँ स्थूल और लिंग शब्दों से भी कहा गया है।[46] इन शब्दों के अर्थों से भी यही प्रकट होता है कि शक्ति-विशिष्टाद्वैतवाद भी भेदाभेद को ही स्वीकार करता है पूर्ण अभेद को नहीं। पूर्ण अभेद तो त्रिक दर्शन को ही मान्य है।

कामेश्वर-कामेश्वरी

शिव और शक्ति को कामेश्वर और कामेश्वरी भी कहा जाता है। परमेश्वर की स्वातन्त्र्यरूप इच्छा को ही काम कहते हैं। काम कोई अन्य तत्व नहीं है। जगद्रचना में प्रवृत होते समय परमशिव ही कामरूप हो जाते हैं। कामेश्वर का विग्रह 'कामस्य ईश्वरः" ऐसा नहीं करना चाहिए, अपितु काम एव ईश्वरः, तथा कामश्चासौ ईश्वरश्च कामेश्वरः ऐसा विग्रह करना चाहिए। तो जो कामेश्वर है वही कामेश्वरी भी है। क्योंकि कामेश्वर और कामेश्वरी का सामरस्य ही परमशिव है। शिव ही कामेश्वर है और शक्ति ही कामेश्वरी है। यह हम प्रतिपादित कर चुके हैं कि शिव और शक्ति में लेश मात्र भी भेद नहीं है। यह बात हम फिर दोहराना चाहते हैं कि शिव और शक्ति स्वयम् में दो तत्व नहीं हैं, अपितु ये दो दृष्किोण हैं। एक ही तत्व के दो पहलू हैं। इधर से देखो तो शिव है और उधर से देखो तो वही शक्ति भी है। वह पूर्ण अद्वैत है। त्रिक दर्शन

का यह अद्वैत शांकरवेदान्त के अद्वैत जैसा नहीं है जो माया के एक ही झोंके से द्वैत में गिर पड़ता है। उसको धराशायी करने के लिए तो क्रिया का स्पर्शलेश ही पर्याप्त है। वह तो जीव और जगत् की माया से भी दूर भागता है। किन्तु त्रिक दर्शन में तो सभी कुछ परमशिव है – सत्य भी और मिथ्या भी, क्रिया भी और निष्क्रियता भी, व्यवहार भी और प्रतिभास भी, सब कुछ एक ही तत्व है। यहाँ द्वय और अद्वय दोनों परमशिव के ही रूप हैं।[47]

जब शिव को ज्ञानरूप और शक्ति को क्रियारूप कहा जाता है तो आपातरूप से दोनों में भेद सा प्रतीत होता है—जैसे ज्ञान कोई अन्य तत्व हो और क्रिया कोई उसमें भिन्न तत्व हो। किन्तु वस्तुतः ज्ञान और क्रिया एक ही हैं। ज्ञान का दूसरा नाम क्रिया है। जानना भी एक क्रिया ही है। तभी तो वर्तमान भूत और भविष्यत् काल का और प्रथम मध्यम तथा उत्तम पुरुष का सम्बन्ध क्रिया के साथ होता है। उपर्युक्त काल और पुरुष के सम्बन्ध के अभाव में जानने की क्रिया हो ही नहीं सकती। इस प्रकार ज्ञान एक जानने की क्रिया ही है। जड़ पदार्थों में जो क्रिया होती है उनमें भी चेतन प्राणियों का ही कर्तृत्व कार्य करता है। क्योंकि ज्ञान के बिना क्रिया होती ही नहीं।

तो निष्कर्ष यह हुआ कि यहाँ ज्ञान है वहाँ क्रिया भी है और जहाँ क्रिया है वहाँ ज्ञान भी है। अब यदि कहा जाए कि यदि ज्ञान और क्रिया एक ही है तो इन्हें एक ही नाम से क्यों नहीं कहा जाता? क्यों इन्हें दो नामों से कहा जाता है? यह तो स्पष्ट ही भेद की अवस्था है? तो शिवाद्वयवादियों के लिए यह आक्षेप कोई महत्व नहीं रखता। प्रथम तो ज्ञान और क्रिया में कोई भेद है ही नहीं। यदि कोई भेद है भी तो वह भेद भी तो शिव ही है। हम तो द्वैत और अद्वैत दोनों को ही शिवरूप मानते हैं। ज्ञान और क्रिया में दृष्टिकोण का भेद तो है ही। क्रिया क्या है—ज्ञान का धनी-भाव। और ज्ञान क्या है—क्रिया का द्रवीभाव।[48] तो परिपूर्ण परमशिव ज्ञान-स्वरूप भी है और क्रिया-स्वरूप भी। ज्ञान और क्रिया का ही दूसरा नाम प्रकाश और विमर्श है।[49] दोनों का सामरस्य ही परमशिव है। यद्यपि सामरस्य और अभेद शब्दों के अर्थ में थोड़ा भेद प्रतीत होता है। जैसे सामरस्य का अर्थ है—दोनों में असमानता का अभाव। और अभेद का अर्थ है—भेद का अभाव। किन्तु इस अर्थभेद से शिवाद्वयवाद में कोई अन्तर नहीं पड़ता। शिव और शक्ति का सामरस्य भी परमशिव है और दोनों का अभेद भी वह है।

एक दृष्टि से वह शिव या कामेश्वर है तो दूसरी दृष्टि से वही शक्ति या कामेश्वरी है। यही दोनों का सामरस्य है और यही परमशिव है। कामेश्वर और कामेश्वरी का यह रूप तान्त्रि को बहुत प्रिय है, क्योंकि यह मुक्ति का निरापद मार्ग है। यह कामतत्व ही सृष्टि का बीज है। गत् का उदय भी इसी से होता है और लय भी उसी में होता है। काम ही विश्वमय है और वही वियवरेत्तीर्ण है। विश्वमयता और विय-वोत्तीर्णता में भी किसी प्रकार का भेद नहीं समझना चाहिए। उसी प्रकार जिस प्रकार ज्ञान और क्रिया में कोई भेद नहीं है। परमशिव एक साथ ही विश्वोत्तीर्ण भी है और विश्वमय भी। त्रिक दर्शन का यही निष्कृष्ट सिद्धान्त है।[50]

संदर्भ सूची

1. एकैकत्र च तत्वेऽपि षट्त्रिंशत्ततत्वरूपता। पा. सा. पृ, 15
2. शाक्त अण्ड, मायाण्ड, प्रकृत्यण्ड और पार्थिवाण्ड —प. सा. पृ. 9
3. शक्तिश्च शक्तिमांश्चैव पदार्थद्वयमुच्यते।
शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं शक्तिमांस्तु महेश्वरः .। प. सा. पृ. 10
4. परं पूर्ण चिनानन्देच्छाज्ञान क्रिया शक्ति निर्भरमनुत्तर स्वरूपम्।
प. सा. पृ. 3
5. जाग्रादि विभेदेऽपि तदधिन्ने प्रसर्पति।
निवर्तते निजान्नैव स्वरूपादुपलब्धृतः ॥ स्पन्दकारिका 1/3
6. पर परस्थं गहनादनादि मेकं निविष्टं बहुधा गुहासु।
सर्वालयं सर्वचराचरस्थं त्वामेव शम्भुं शरणं प्रपद्ये ॥ प. स. 1
7. (क) कर्ताऽसि विश्वस्य यतः स्वयं वै विभो ततः सर्वमिदं त्वमेव।
प. सा. पृ 4
(ख) भोक्तैव भोग्यभावेन सदा सर्वत्र संस्थित। तदैव
8. तत्रान्तर्विश्वमिदं विचित्र तनु करण भुवन सन्तानम्।
भोक्ता च तत्र देही शिव एव गृहीत पशुभावः ॥ प. सा· 1/5
9. तस्मात् एतदेव परमेश्वरस्य स्वातन्त्र्यं निरतिशयं यत पूर्णस्वरूपता परित्यागेन...पशुभावमापन्नो पि...स्वाह्मणि प्रस्फुरन् चिदानन्दैकथनः शिव एव। प. सा पृ. 17

10. अयमेव भेदो भेदहेतु र्भावानां यत् विरुद्धधर्माध्यास: कारणभेदो वा ।
प. मा. पृ. 17

11. नानाविधवर्णाना रूपं धत्ते यथाऽमल: स्फटिक: ।
सुरमानुष पशु पादपरूपत्वं तद्‌वदीशोऽपि ।। प. सा. 6

12. नीलादिश्चित्र विज्ञाने ज्ञानोपाधिरनन्यभाक् ।
अशक्य दर्शनस्तं हि पतत्यर्थे विवेचयन् ।। प्रमाणवार्तिक

13. यावता तयो: संवित्प्रकाशनैव स्वात्मसत्ता सिद्धि: इति सिद्ध एवं
अनेकस्वभावोऽपि एक एव महेश्वर: चिन्मूर्ति: । प. सा. वि. पृ. 20

14. न जायते म्रियते वा कदाचित नायं भूत्वा भविता वा न भूय: ।
अजो नित्य: शाश्वतोऽयं पुराण: न हन्यते हन्यते हन्यमाने शरीरे ।।
भ. गी.

15. तस्मात् एक एव आत्मा ग्रहय-ग्राहकतया नानारूपस्वभाव: सनु
पुनरपि सर्वानुभवितृतया सर्वस्य एकतया प्रथते, इति न काचित्
अद्वयवादक्षति: । प. सा. पृ. 23-24

16 राहुरदृश्यौऽपि यथा शशिबिम्बस्य: प्रकाशते तद्वत् ।
सर्वगतोऽप्ययमात्मा विषयाश्रयणेन धीमुकुरे ।। प. सा. 8

17. एवमयं भगवाम् मायाशक्त्या स्वात्मकल्पेऽपि भाववर्गे कांश्चित्
पुर्यष्टक स्वरूपान् वेद्यखण्डानपि अहन्ता व्येवस्थारसाभिषिक्तान्
वेदकी करोति, कांश्चित् वेद्योकरोति, यदपेक्षया अयं जडाजड
व्यवस्थारूपो भेदव्यवहार: सुस्थित एवापपद्यते । तेन लोष्ठादि:
वेद्यत्वाज्जड: वेदकत्वात् पुर्यष्टकप्रमाताऽपि अजड: । न पुन:
परमार्थेन परमेश्वरापेक्षया जडाजडव्यवहार: । प. सा. पृ. 25-26

18. यत् पुन: संसारावस्थायामपि केचन स्वात्मज्ञानात् जीवमुक्ता: ।
सर्वज्ञत्व सर्वकृत्वशालिन:. केचन स्वात्मज्ञानयोग्या आरुरुक्षव
दृश्यन्ते अपरे स्वात्मज्ञानरहिता: सन्तो धर्माधर्म निमित्त शुभाशुभ
कर्मनिगड प्रबन्ध बद्धा: संसारणि एव, इति कथमेतत् संगच्छते ?
—तदैव

19. आदर्शे मलरहिते यद्‌वद् वदनं विभाति तदवदयम् ।
शिवशक्तिपातविमले धीतत्वे भाति भारूप: ।। प. सा. 9

20. इत्थं तीव्र मन्द मन्दतरादिभेदेन शक्तिपातवैचित्र्यं सर्वत्रापि अह्यम् ।
प. सा. विवृति पृ. 28-29

21. तस्मात् एकमेवात्र परमेश्वरानुग्रह: कारणम् अकृत्रिमं भव्य बुद्धिनाम्।।
यदुक्तम्—

ईशितु: शक्तिपातांशे ख्यापयित्री स्वतन्त्रताम् ।
धी: कारणकला घ्राता नैव किंचिदपेक्षते ।। प. सा. पृ॰ 29

22. एवात्मन्यसत्कल्या. प्रकाशस्यैव सन्त्यमी ।
जडा: प्रकाश एवास्ति स्वात्मन: स्वपरात्मभि: ।। अ. प्र. सि. 13

23. (क) प्रागिवार्थोऽप्रकाश: स्यात् प्रकाशात्मतया विना ।
ई. प्र. 1/5/2

(ख) अप्रकाशस्य प्रसिद्धिरेव न काचित् । ई. प्र. वि. 1/5/4

24. (क) अर्कन्दु दीपाद्यवभास भिन्नं न भात्यति व्याप्तनया ततश्च ।
प्रकाशरूपं तदियत् प्रकाश्य प्रकाशिताख्या व्यवहार एव ।।
परमार्थ चर्चा

(ख) तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद् बहि: ।। ई. प्र. 1/6/7

25. साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूतु: । निरुक्त यास्क 1/20/2

26. ज्ञानस्य सिध्यति विना क्रियया न रूपं तस्यास्तथैव न हि तेन विनोपलम्भ: ।
तस्मात्तयोर्यमलतैव मत हि सैद्धं पूर्वपरत्वकलनं त्विह पूर्वपक्ष: ।।
मातृका चक्र विवेक 1/16

27. द्रष्टव्य—तर्क संग्रह और केशव मिश्र की तर्क भाषा ।

28. ननु तस्यामवस्थायां कीदृगात्मावशिष्यते ।
स्वरूपैकप्रतिष्ठान: परित्यक्तो खिलै गुणै: ।:
ऊर्मिषटकातिगं रूपं तदस्याहुर्मनीषिणः ।
संसारबन्धनाधीन दु:ख क्लेशाद्यदूषितम् ।। न्याय मंजरी 1/1/22

29. वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृतिरज्ञस्य ।
पुरुष विमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्ति: प्रधानस्य ।। सां. का. 57

30. स च क्षोभ: प्रकृतेस्तत्वाधिष्ठानादेव । तं. सा. 5/85

31. लोक यात्रानुसन्धानवतीं प्रज्ञां बिना न हि ।
तथा चिकीर्षा च बिना विचित्ररचनोद्भव: ।। ईश्वरसिद्धि 31

32. क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट: पुरुषविशेष ईश्वर: यो. सू. 1/26

33. समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् —यो. सू. 1/23

34. तत्स्यादालयविज्ञानं यद्भवेदहमात्मकम् ।
तत्स्यात् प्रवृतिविज्ञानं यन्नीलादिकमुल्लिख्वेत् ।।
स. द. सं. (बौद्ध दर्शन)

35. दीपो यणा निर्वृतिमभ्यपेतो......।

एवं कृती निवृतिमभ्युपेतो......।। सौन्दरनन्द 16-28

36. एवमन्योन्यभिन्नानामपस्पर वेदिनाम् ।
ज्ञानानामनुमन्धानजन्मा नश्येज्जनस्थिति: ।।
न चेदन्त: कृतानन्त विश्वरूपो महेश्वर: ।
स्यादेकश्चिदवपुर्ज्ञानस्मृत्यपोहन शक्तिमान् ।। ई. प्र. 1/3/6-7

37. अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम् ।
कार्यता क्षयणि तत्र कर्तृत्वं पुनरक्षयम् ।।
कार्योन्मुख: प्रयन्नो य: केवलं सोऽत्र लुप्यते ।
तस्मिल्लुप्ते विलुप्तोऽस्मीत्यबुध: प्रतिपद्यते ।। स्प. का. 14-15

38. ब्रह्म बृहद् व्यापकं बृहितं च न तु वेदान्तपाठकामीकृत केवल शून्यवादाविदूरवर्ति ब्रह्मदर्शन इव । प. त्री. त्रि. पृ. 221

39. वासुदेव: परं ब्रह्म कलयाण गुणसंयुत: ।
भुवनामधिष्ठानं कर्ता जीवनियामक: ।। स. द. सं.—रामानुजदर्शन

40. श्री वैकुण्ठमुपेत्य नित्यमजडं तस्मिन परब्रह्मण: ।
सायुज्यं समवाप्य नन्दति समं तेनैव धन्य: पुमान् ।। भ. द. पृ.651

41. शिवतत्त्वात् समुत्पन्मं जगदस्मान्न भिद्यते ।
फेनोर्मिबुद्धबुद्धाकारो यथा सिन्धोर्न भिद्यते । सि. शि. म.

42. अनाद्यविद्या सम्बन्धात तदंशो जीव नामक: । तदैव

43. तदीय परमा शक्ति: सच्चिदानन्दलक्षणा ।
समस्त लोक निर्माण समवायत्व रूपिणी ।।
तदिच्छयाऽभवत्साक्षात् तत्स्वरूपानुकारिणी ।। तदैव

44. Though God transformcrs Himself into ıhe manifold world...only a part of God may be regarded as being transformed into the material world.
H. I, Phi Vol. 5 Page 185

45. शक्तिरप्रतिमा साक्षात् शिवेन सहधर्मिणी ।
साक्षिणी सत्यसम्पूर्णाऽनिर्विकल्पा महेश्वरी ।।
शक्ति विशिष्टाद्वैत दर्शनम् पृ. 20

46. (क) स्थकार: स्थलवार्चा स्यात् लकारो लयवाचक: ।
तयो: कारणभूतं यत् तदेव स्थलमुच्यते ।। तदैव पृ. 50
(ख) लयं गच्छति यत्रैव जगदेतच्चराचरम् ।

पुनः पुनः समुत्पत्ति तल्लिंग ब्रह्म शाश्वतम् ।।
सि. शि. म. 6/36

47. इदं द्वैतमिदं नेति तदिदं च द्वयाद्वयम् ।
इति यत्र समं भापि तद्द्वयमुदाहृतम् ।। मा. वि. वा. 1/627

48. ज्ञानं गृहीतकठिनत्व गुणं क्रिया स्यात् ।
ज्ञानं भवेद् विरलिमाश्रयिणी क्रियैव ।। मा. च. वि. 1/15

49. प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्म विमर्श क्रिया ।
ई. प्र. वि. 1/8/11

50. विश्वोत्तीर्णमात्मतत्वमिति तान्त्रिकाः विश्वसयमिति कुलाद्याम्नाय-निविष्टाः । विश्वोत्तीर्णं विश्वमयं चेति त्रिकादि दर्शनविदः ।
प्र हृ. 8

8

अज्ञान

त्रिक शास्त्रों में संसार का मूल कारण अज्ञान है और मोक्ष का कारण ज्ञान है।[1] ज्ञान और अज्ञान का संक्षेप में यही लक्षण है। यह अज्ञान भी परमशिव की इच्छा से उन्हीं के अन्दर प्रादुर्भुत हुआ है। अत: वे ही इसके कारण हैं। अज्ञान का ही दूसरा नाम मल है।[2] ज्ञान के अभाव को अज्ञान नहीं समझना चाहिए, अपितु यह अपूर्ण ज्ञान है, जिसका स्वरूप है परमेश्वर के स्वातन्त्र्य का गोपन तथा आत्मा और अनात्मा का अन्याभिमान।[3] यही आणव मल कहलाता है।[4] परमेश्वर तो स्वतन्त्र नित्य और शुद्ध प्रकारूप है, किन्तु वही ज्ञान-संकोच के कारण जीवदशा में अवतीर्ण होकर स्वयम् को अस्वतन्त्र परिमित अनित्य अशुद्ध और जड़ समझने लगता है। शरीर आदि जड़ वस्तुओं को ही अपना स्वरूप समझ बैठता है। उसकी ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति में भी संकोच आता है जिस कारण वह स्वयम् को सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् न समझकर अल्पज्ञ और अल्पशक्तिमान् समझता है।

अज्ञान को भावरूप द्रव्य ही समझना चाहिए, ज्ञान का अभाय मात्र नहीं। ज्ञान का अभाव मानने पर तो लोष्ठ आदि में इसकी अतिप्रसक्ति होगी।[5] अर्थात् ज्ञान का अभाव तो लोष्ठादि में भी है किन्तु वहाँ वह लोष्ठ के ज्ञान का संकोच नहीं करता। लोष्ठ में ज्ञान होता ही नहीं तो संकोच कैसा ? अज्ञान का प्रभाव तो पुरुष और उसकी बुद्धि पर ही होता है। हाँ इतना अवश्य है कि वह अज्ञान ज्ञेय वस्तु के विषय में ही होता है, किन्तु होता है पुरुष को। जड़ वस्तु को अज्ञान नहीं होता। तो भाव यह हुआ कि अज्ञान भी एक प्रकार का ज्ञान ही है। यह अपूर्ण ज्ञान

है। समग्ररूप से ज्ञेय तत्व का ज्ञान नहीं होता।[6] इसीलिए शिव-सूत्र में ज्ञान और अज्ञान दोनों को ही बन्धन माना गया है। द्वैत का ज्ञान भी अज्ञान है, वह तुच्छ होने से उच्छेद्य है।[7] क्योंकि वही मोक्ष का अवरोधक है। स्वरूप का प्रथन ही मोक्ष है। मोक्ष कोई भिन्न तत्व नहीं है।[8] इसी प्रकार अज्ञान भी कोई तत्वान्तर नहीं है अपितु यह विद्या नाम का कंचुक ही है जो स्वातन्त्र्यात्मक परमेश्वर के सर्वज्ञत्व पर अल्पज्ञत्व का आवरण डाल देता है। शांकर वेदान्तियों ने इसे माया का पर्याय माना है। उसे ही त्रिगुणात्मिका प्रकृति और अविद्या भी कहा है तथा भेद और अभेद से व्याख्येय न होने से अनिर्वचनीय कहा है।[9] त्रिक दर्शन के आचार्यों ने अद्वैतवेदान्तियों की उक्त माया या अविद्या का उपहास किया है।

अज्ञान का निर्वचन जब अपूर्ण ज्ञान कहकर किया जा सकता है तो वह अनिर्वचनीय कहाँ रहा। इसी प्रकार एक ही प्रमाता में भेद और अभेद दोनों का आभास हो सकता है। भेदाभेद से उसे अनिर्वचनीय कहकर वेदान्तियों ने दूसरों को तो धोखा दिया ही है, स्वयम् अपने आपको भी धोखा दिया है।[10]

अज्ञान के भेद

आश्रयभेद से अज्ञान दो प्रकार का है—पौरुष अज्ञान और बौद्ध अज्ञान। पुरुष को आश्रय बनाकर स्थित रहने वाला अज्ञान पौरुष अज्ञान है। यह अज्ञान पुरुष का स्वभाव बनकर रहता है। इसी का नाम आणव मल है। यह पुरुष की शिवता का आवरण कर उसे पशु-भूमिका पर उतार लेता है। अतः यह मूल अज्ञान है। अज्ञान का दूसरा आश्रय बुद्धि है।[11] पौरुष अज्ञान से प्रभावित बुद्धि भी ज्ञान-संकोच को प्राप्त कर अशुद्ध विकल्पों की कल्पना करती रहती है। विकल्प शुद्धाशुद्ध भेद से दो प्रकार का होता है। वस्तु को शिवरूप समझना शुद्ध विकल्प कहलाता है और उसे प्रमेय रूप में ही समझना अशुद्ध विकल्प है। जीव के अशुद्ध विकल्पों को करते रहने का जो स्वभाव है उसे बौद्ध अज्ञाअ कहते हैं। वैसे शुद्ध विकल्प भी अन्तिम लक्ष्य नहीं होता। उसे भी छोड़ना पडता है। विकल्प आखिर विकल्प ही है। शुद्ध हो या अशुद्ध दोनों ही त्याज्य हैं।[12]

इस प्रकार षट् कंचुकों से मलिन अणु में प्रतिबिम्बत बुद्धि से जब इस प्रकार का विकल्प होता है कि में इस प्रकार इस प्रमेय को जानता हूँ तो उस प्रकार के विकल्पों से युक्त ज्ञान ही बौद्ध अज्ञान होता है।[13] यह बौद्ध अज्ञान ही पुरुष के अज्ञान को पुष्ट करता है। अतः पौरुष अज्ञान पोषणीय है, क्योंकि कामशोकादि को धारण करने वाला पुरुष तन्मयता

को प्रात्त होकर बुद्धि से उपस्थापित अर्थसाक्षात्कारात्मक विकल्पों का ज्ञान प्राप्त करता है ।[14] बौद्ध अज्ञान के द्वारा ही पुरुष अपनी बुद्धि से देह इन्द्रिय आदि जड़ प्रमेय तत्वों को ही अपना स्वरूप समझता हुआ सांसारिक व्यवहारों को चलाता रहता है । जगत् के पदार्थों को वह शिवरूप नहीं समझता, अपितु उन्हें बाह्यरूप में ही घट पठ आदि समझता है । बौद्ध अज्ञान पौरुष अज्ञान का पोषक है । इस प्रकार इन दोनों में परस्पर पोष्य-पोषकभाव सम्बन्ध है ।

ज्ञान से अज्ञान की निवृत्ति

अज्ञान की तरह ज्ञान भी दो प्रकार का है—पौरुष तथा बौद्ध । पौरुष ज्ञान से पौरुष अज्ञान का नाश होता है और बौद्ध ज्ञान से बौद्ध अज्ञान का नाश होता है । जब पशु के त्रिविध मल संस्कार-सहित नष्ट हो जाते है, बन्धन शिथिल हो जाते हैं, तथा परम-चैतन्य के साथ एकात्मता प्रात्त हो जाती है तब उसे जो पराहन्ता विमर्शात्मक निर्विकल्पक ज्ञान प्राप्त होता है वह पौरुष ज्ञान कहलाता है । पौरुष ज्ञान उत्पन्न होने से उसकी बुद्धि भी उसी का अनुवर्तन करती हुई जब यह विकल्पशून्य चिन्तन करने लगती है कि—सर्वो ममायं विभव: अर्थात् यह सब प्रमेय वस्तु समूह और प्रमेयात्मक व्यवहार मेरा ही बाह्य ऐश्वर्य है तो इस प्रकार का ज्ञान बौद्ध ज्ञान कहा जाता है ।[15] इन दोनों ज्ञानों में भी पोष्यपोषकभाव सम्बन्ध है । अर्थात् पौरुष ज्ञान पोष्य है और बौद्ध ज्ञान उसका पोषक है । पौरुष ज्ञान पुरुष का मूल स्वरूपात्मक ज्ञान है तथा कहने, सुनने, पढने, पढ़ाने तथा लिखने लिखाने के काम आने वाला जो ज्ञान है वह बौद्ध ज्ञान है ।

पौरुष ज्ञान दीक्षा से प्रात्त होता है और बौद्ध ज्ञान अभ्यास से प्रात्त होता है । पौरुष ज्ञान से ही पौरुष अज्ञान का नाश होता है । पौरुष ज्ञान तब तक प्राप्त नहीं होता जब तक मलों का प्रक्षालन न किया जाए. क्योंकि मल ही उसके प्रतिबन्धक हैं । जब गुरु दीक्षा के द्वारा शिष्य पर अनुग्रह करता है तभी से मलों का बन्धन ढीला पड़ने लगता है और धीरे धीरे वे पूरी तरह घुल जाते हैं । मल घुल जाने पर बौद्ध ज्ञान भी निर्मल हो जाता है । बौद्ध ज्ञान का होना मोक्ष के लिए अत्यन्त अनिवार्य है । पौरुष मलों के घुल जाने पर यदि बौद्धिक विकल्प बने रहें तो पौरुष मल का पुन: प्ररोह हो सकता है ।[16] अत: बौद्ध ज्ञान से बौद्ध विकल्पों का नाश करना अत्यावश्यक है जब बौद्धज्ञान के द्वारा बौद्ध अज्ञान का विकल्पसंसार नष्ट कर दिया जाता है तभी जीवन्मुक्ति करतलगत प्रतीत होती हैं ।[17]

बौद्ध ज्ञान के बिना पुरुष को अपने ज्ञान की यथार्थता पर पूर्ण विश्वास नहीं जमता। उसकी यथार्थता पर विश्वास बौद्ध ज्ञान से ही होता है। आखिर बुद्धि ही तो प्रमुख साधन है। साधन-विकल हो वह समर्थ कैसे अनुभव कर हकता है।

इस प्रकार दोनों ही ज्ञान उपयोगी हैं। पुरुष की आत्मा भी स्वच्छा हो और बुद्धि भी निर्मल हो तभी अज्ञान का समूल नाश हो सकता है और तभी वह परिपूर्ण बन सकता है। उक्त ज्ञान जब क्रियात्मक होकर जीवन का अंग बन जाता है तब वह विज्ञात कहलाता है। यह बौद्ध विज्ञान ही क्रियात्मक होकर पुरुष के ज्ञान को दृढ़ करता है। वस्तु को केवल यथार्थरूप से जानना ही पर्यात्त नहीं होता। उसे जीवन में चरितार्थ भी करना पडता है। बौद्ध ज्ञान ही उसे चरितार्थ करता है। यद्यपि पौरुय ज्ञान ही मूल ज्ञान है तो भी उसे दृढ़ होने के लिए बुद्धि का अवलम्ब अवश्य ही चाहिए।

मल का स्वरूप

अज्ञान का ही दूसरा नाम मल है।[18] मल धारणे धातु[19] से मल शब्द बना है जिसका अर्थ है पकड़ने वाला। यह पुरुष को इस प्रकार पकड लेता है कि प्रयत्न करने पर भी छूट नहीं पाता। इसी को पाश भी कहते हैं।

आत्मा का स्वरूप तो नितान्त शुद्ध, असीम. परिपूर्ण स्वतन्त्र और संविद्रूप ही होता है। सब कुछ जानना और सब कुछ कर डालना उस संवित् का स्वभाव है जिसे स्वातन्त्र्य कहते हैं। स्वातन्त्र्य के दो रूप हैं—ज्ञान-स्वातन्त्र्य और क्रिया-स्वायन्त्र्य। वह आत्मा शुद्ध और परिपूर्ण संवित् की दशा में स्वयम् अपनी ही महिमा से चमकता रहता है। यह उसका ज्ञान-स्वातन्त्र्य है। इस प्रकार अभिव्यक्त होते हुए वह अपने स्वरूप का विमर्शन भी करता रहता है। यह उसका क्रिया-स्वातन्त्र्य है। दूसरी तरफ उसके ज्ञान का सामर्थ्य कहीं व्याहत नहीं होता। वह सब कुछ जान सकता है। यह भी उसका ज्ञान-स्वातन्त्र्य है। तथा वह जब चाहे जो कुछ भी कर सकता है। उसके लिए कुछ भी दुर्घट नहीं है। यह भी उसका क्रिया-स्वातन्त्र्य है।[20] अर्थात् प्रकाशरूपता उसका पूर्ण-ज्ञातृत्व है और विमर्शरूपता पूर्ण-कर्तृत्व है।[21] यह पूर्ण-कर्तृत्व ही उसकी परमेश्वरता है। चूंकि उससे भिन्न कुछ नहीं है, यही उसका परमाद्वैत है। संसार की समस्त क्रियाएँ उसी की तो क्रियाएँ हैं।

इस प्रकार परिपूर्ण कार्तृत्व और परिपूर्ण कर्तत्व के होते हुए भी

परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के विलास से उमंग में आकर अपने स्वभाव को अपने से ही छिपाकर फिर उसे पहचानने की क्रीड़ा करना चाहता है। ऐसा करने में उसे आनन्द आता है। इसलिए वह अपनी मायाशक्ति के द्वारा अपने प्रकाशविमर्शात्मक स्वरूप को, अपने पूर्ण ज्ञातृत्व और पूर्ण कर्तृत्व को, अद्वैपरूपता को तथा स्वातन्त्र्य को भुला डालता है। इस भुला डालने की क्रिया में उसके ज्ञान में संकोच आ जाता है। इस ज्ञान-संकोच का नाम ही त्रिक दर्शन में मल है। यह एक अपूर्ण ज्ञान है। इसी का नाम अज्ञान हैं। आगे चलकर यह मल तीन रूपों में प्रकट होता है।

मल के तीन भेद

पशु-भूमिका में भिन्न भिन्न भूमिकाओं में अवस्थित रहने के कारण तथा भिन्न भिन्न रूपों में अभिव्यक्त होने के कारण यह मल तीन प्रकार का हो जाता है—आणव मल, मायीय मल और कार्म मल।

आणव मल

अणु नाम जीव का है। अणु का अर्थ है संकुचित। असीम संविद्रूप परमेश्वर ही जब ज्ञान और क्रिया की दृष्टि से संकुचित हो जाता है तो वह अणु कहलाता है। उसी को पशु भी कहते हैं। मुण्डकोपनिषद में भी आत्मा को अणु कहा गया है।[22] उस अणु आत्मा से सम्बन्ध रखने वाले मल को आणव मल कहलाता है। इसके दो रूप हैं—ज्ञान स्वातत्र्य की हानि और स्वातन्त्र्य का अबोध।[23]

वस्तुत: स्वस्वरूप की हानि ही आणवमल का स्वरूप है। यह स्वरूप की हानि दो प्रकार से होती है—अपने प्रकाशरूप स्वभाव को भूलने और स्वयम् को निष्क्रिय और ऐष्वर्यहीन समझने से। परमेश्वर अपने ज्ञानरूप स्वातन्त्र्य को भूलकर कभी शून्य को, कभी प्राण को कहीं इन्द्रिय को और कहीं बुद्धि को अपना अहम्=स्वरूप समझ बैठता है। अपने को शुद्ध प्रकाशरूप नही समझता। संकुचित जड वस्तुओं में ही अपने आपको ढूंढता है। यह प्रथम प्रकार का आणव मल है।

कुछ पुरुषों को अपनी प्रकाशरूपता का ज्ञान तो होता है किन्तु वे अपने क्रियास्वातन्त्र्य को भूल जाते हैं। अपने क्रियाशक्तिरूप स्वातन्त्र्य को भूलकर निष्क्रिय और ऐश्वर्यहीन समझते हैं। वे यह नहीं समझते कि मैं सर्वकर्ता हूँ, सब कुछ कर सकता हूँ। यह दूसरे प्रकार का आणवमल है। पहले प्रकार के अणव मल में प्रकाशरूपता का संकोच होता है और दूसरे आणव मल में उसके विमर्श का संकोच होता है। इस प्रकार ये दोनों ही प्रकार के आणव मल संवित् के स्वरूप को छिपा लेते हैं।

मायीय मल

भेदज्ञान का नाम मायीय मल है। माया के ही प्रभाव से पुरुष वेद्यवस्तु को अपने से भिन्न देखता है।[24] जब प्रमाता सृष्टि-विकास की लीला के प्रभाव से जगत् को, परमेश्वर को, अन्य प्राणियों को और जड़ प्रमेय पदार्थों को अपने संविद्रूपात्मक स्वरूप से भिन्न समझता है तो यह मायीय मल कहलाता है। त्रिक नर्शन में भेद-प्रथा को ही माया कहते हैं। देह और भुवनों का विस्तार मायीय कार्य कहा जाता है।[25] देह भुवनादि जड पदार्थ संवित् से भिन्न जैसे प्रतीत होते हैं। इस भेदमय दृष्टिकोण को ही मायीयमल कहा जाता है। आणव और कार्ममल में भी माया का सूक्ष्म प्रभाव ही कार्य करता है। अतः वे भी मायीय मल के ही भेद हैं।[26] किन्तु उन्हें पृथक् इसलिए कहा गया है क्योंकि उनमें संकोच का प्रकार कुछ विशिष्ट है।

कार्ममल

जीव को अपने द्वारा किए हुए कर्मों में जो कर्तृत्व का अभिमान होता है वह कार्ममल है। परमेश्वर तो त्रैलोक्य के कर्ता हैं। उनके अतिरिक्त कोई दूसरा कर्ता नहीं है। किन्तु जब वह संकोच की विकास-लीला में जीवरूप में प्रकट होता है तो उसे अपनी सर्वकर्तृता भूल जाती है। इसलिए वह अपने देह इन्द्रिय से किए गए कुछ ही कर्मों को अपना कर्म कहता है। वैसे तो उन देहादि से किए गए परिमित कर्मों का कर्ता भी वही है किन्तु क्रियाशक्ति के संकोच के कारण जीव उन कर्मों का कर्ता शिव को नहीं मानता, अपितु उन्हें अपना कर्म कहता है। वास्तव में जीव उन कर्मों का कर्ता नहीं होता।[27] यदि वह कर्ता है तो विश्व के निखिल कर्मों का कर्ता भी वही है किन्तु संकोच के प्रभाव से उन्हें सीमित कर्मों के प्रति ही अपनी कर्तृता का अभिमान होता है। यह कर्तृत्व का अभिमान मिथ्या है। जब वह कर्तृत्व का अभिमान करता है तो कर्मों के फल का उत्तरदायित्व भी उसी पर होता है। इसलिए विभिन्न कर्मवासनाएँ उसे विभिन्न योनियों में जन्म लेने के लिए बाध्य करती हैं और इस प्रकार संसार के बखेड़े में उलझाए रखती हैं। यही किंचित्कर्तृत्व का अभिमान और ये कर्म वासनाएँ ही अणु का कार्ममल कहलाती हैं।[28]

यह तीन प्रकार का मल संसार के सब प्राणियों में न्यूनाधिकभाव से रहता है। कुछ उत्कृष्ट प्राणियों में यह मल बिलकुल नहीं होता। इस प्रकार मल के भाव के अभाव तथा न्यूनाधिक भाव को लेकर प्राणियों के सात भेद होते हैं—अकल, मन्त्र-महेश्वर, मन्त्रेश्वर, विद्येश्वर, विज्ञानाकल,

प्रलयाकल और सकल। इनका विवेचन तत्वों के प्रसंग में पिछले अध्यायों में किया जा चुका है। 1. अकल प्राणी सर्वथा मलरहित होते हैं। 2. मन्त्र-महेश्वर प्राणियों में मल के आविर्भाव के प्रति केवल उन्मुखता होती है। 3. मन्त्रेश्वर प्राणियों में मल के अंकुरित होने की सी स्थिति की अभिव्यक्ति होती है। 4. विद्येश्वर प्राणियों में मल का केवल आविर्भाव होता है। 5. विज्ञानाकल प्राणियों में मल का हल्का सा विकास होता है। 6. प्रलयाकलो में उसका थोड़ा सा और विकास हो जाता है और 7. सकल प्राणियों में मल का पूर्ण विकास हो जाता है।

मुक्ति

अभी कहा गया है कि मल का ही दूसरा नाम अज्ञान है जो संवित् पर आवरण डालकर अणु को ज्ञानशून्य और निष्क्रिय समझने के लिए विवश कर देता है। आश्रयभेद से मल के दो भेद किए गए हैं—पौरुष और बौद्ध। पौरुष मल का प्रक्षालन दीक्षा करती है और बौद्ध मल का नाश बौद्धज्ञान से होता है। स्वरूप भेद से मल आणव मायीय और कर्म भेद से तीन प्रकार का बताया गया है। उक्त सभी प्रकार के मलों का पूर्ण प्रक्षालन हो जाने पर आत्मा का स्वरूप अपने अकृत्रिम रूप में चमक उठता है। स्वरूप का यह प्रथन ही शैव दर्शनों में मोक्ष कहा जाता है।[29] यही शैवों का परम पद है जो समस्त अध्वाओं से रहित होता है।[30] मुक्त पुरुष पुनः सृष्टि में नहीं आता।[31] बौद्ध न्याय सांख्य आदि दार्शनिकों की जो मुक्ति है वह वास्तविक मुक्ति नहीं है। उसे आंशिक मुक्ति ही कहना चाहिए परमार्थिक नहीं। उन तथाकथित मुक्तों को भगवान् श्रीकण्ठ अपने नवीन दिन के प्रारम्भ में पुनः सृष्टि में डाल देते हैं।[32]

त्रिक दर्शन में मुक्ति का लक्षण पृथक् से नहीं किया गया। आत्मा का जो स्वरूप है वही मोक्ष का भी स्वरूप है।[33] आत्मा का स्वरूप संवित् है। उस संवित् से भिन्न तुच्छ या परमार्थिक कोई भी तत्व नहीं है।[34] यदि तुच्छ है तो वह बन्धन ही है। और यदि अतुच्छ है तो वह आत्मा ही है। बन्ध भी आत्मा से पृथक् कहाँ है। संवित् का संकोच ही तो बन्ध है और संवित् का संकोच संवित् से भिन्न नहीं होता।

मुक्त पुरुष

मुक्ति का स्वरूप तो संवित् का प्रथन ही है किन्तु यह मुक्ति विभिन्न रूपों में दिखाई देती है। जैसे जीवन्मुक्ति विदेहमुक्ति देहस्थता आदि। स्वरूप का पूर्ण प्रथन न भी हो, जितने अंश में भी वह हो जाता है उतने ही अंश में मुक्ति मानी जा सकती है। इसलिए वेदान्तियों की मुक्ति भी अंशतः

मुक्ति ही है। भले ही वह पारमार्थिक मुक्ति नहीं है।

जीवन्मुक्त

जिस साधक के तीनों मल पूर्णरूप से धुल जाते हैं उसे अपनी शुद्ध संविद्रूपता पर दृढ़ विश्वास हो जाता है। उसकी परमेश्वरता नैसर्गिक रूप में अभिव्यक्त हो उठती है। वह समस्त संसार को अपनी परमेश्वरता का ही विलास समझता है। ऐसा पुरुष सिद्ध कहलाता है। वह पुरुष जीवित रहते हुए ही मुक्त कहलाता है। वह संसार के बन्धनों में फँसता नहीं है। उसके लिए यह जगत् ऐन्द्रजालिका का इन्द्रजाल सदृश प्रतीत होता है।[35] जगत् को वह अपना ही खेल समझता है। यद्यपि वह शीतोष्ण क्षुत्पिपासा हर्ष विषाद आदि द्वन्द्वों का अनुभव करता है क्योंकि वह देह इन्द्रिय प्राण तथा अन्तःकरण का स्वभाव है। किन्तु सांसारिक द्वन्द्वों के अनुभव का प्रभाव उसके हृदय पर नहीं पड़ता। जीवन में घटनाएँ घटती हैं और चली जाती हैं। क्षण भर उनकी अनुभूति हुई और अगले ही क्षण विलीन हो गयी। जब तक प्रारब्धकर्मवश देह जीवित है तब तक संसाररूपी नाटक का आस्वादन करता हुआ वह सांसारिक व्यवहारों को अनिच्छा से चलाता रहता है, क्योंकि यह उसकी विवशता है। किन्तु ये व्यवहार उसके लिए कोई महत्त्व नहीं रखते। वह तो मंदिर की सी अवस्था का अनुभव करता है। कभी कभी वह अन्य साधकों पर अनुग्रह भी कर देता है। यह उसकी जीवन-मुक्ति की अवस्था है। देहपात होने पर वह शिव के साथ एक हो जाता है। एक तो वह था ही। बस कल्पित भेद को मिटाकर शिवपद पर आरूढ़ हो जाता है। यही विदेहमुक्ति कहलाती है

दिव्य शरीरिणी मुक्ति

पूर्वोक्त जीवन्मुक्तों को देहपात के अनन्तर कभी कभी दिव्य सूक्ष्म देह मिल जाया करता है जो अत्यन्त दिव्य शुद्ध सत्त्व का बना होता है। उस देह में जरा मरण रोगादि क्लेशों का अभाव होता है। उस देह में स्थित रहकर वे महापुरुष ईश्वर की इच्छा से संसार में निग्रह और अनुग्रह की लीला को चलाते हैं। इस लीला को चिरकाल तक चलाने के पश्चात् उनका यह दिव्य देह भी छूट जाता है। किन्तु जब तक वह दिव्य देह रहता है तब तक उस मुक्ति को दिव्य शरीरिणी मुक्ति कहते हैं और उस मुक्ति में स्थित पुरुषों को मुक्त शिव कहते हैं। यह भी एक उत्कृष्ट प्रकार की जीवन्मुक्ति ही है।

इस दशा में मुक्त शिव परमेश्वर की सृष्टि आदि क्रीडाओं का अनुभव अंशतः ही करते हैं। अपने वास्तविक स्वरूप का ही आनन्द इन्हें अधिक

अनुभूत होता है। इन्हें अपनी परमेश्वरता पर दृढ विश्वास होता है। उक्त दिव्य देह के छूट जाने पर ये मुक्त शिव भी परिपूर्ण अभेद में लीन हो जाते हैं।

ये मुक्त शिव तीन प्रकार के होते हैं। शिव, रुद्र और भैरव। भेद भेदाभेद और अभेद इन तीन दृष्टिकोणों के आधार पर मुक्तशिवों को तीन श्रेणियों में रखा गया है। अपनी अपनी योग्यता और अधिकार के अनुसार साधक किसी एक दृष्टिकोण का आश्रय लेकर साधना करते हैं। साधना के सफल होने पर ये दृष्टिकोण बने ही रहते हैं। शिव भेददृष्टि-प्रधान सिद्ध पुरुष होते हैं। रुद्र-कोटि के मुक्त-शिव भेदाभेदमय दृष्टिकोण को धारण करते हैं और अभेददृष्टि प्रधान सिद्ध पुरुष भैरव कहलाते हैं। अकल प्राणी भैरव हैं। मन्त्रमहेश्वर और मन्त्रेश्वर प्राणी रुद्र कहलाते हैं तथा विधेश्वर प्राणी शिव कहलाते हैं। शैव आगत भी भेद भेदाभेद और अभेद के दृष्टि-कोण से तीन प्रकार के बताए गए हैं--शिवागत रुद्रागम और भैरवागम।[36]

मर्त्यशरीरिणी मुक्ति

जीवन्मुक्ति का एक प्रकार मर्त्यशरीरिणी मुक्ति भी है। साधना की उत्कृष्टता के आधार पर कभी कभी जीवन्मुक्ति सिद्ध पुरुषों को इस मर्त्य देह में रहते हुए ही सृष्टि स्थिति संहार आदि का सामर्थ्य प्रकट हो जाता है। इसी देह में ये चिरकाल तक जब तक चाहें तब तक रह सकते हैं। अनन्त ज्ञान-विज्ञान की प्राप्ति से इन्हें अपनी परमेश्वरता पर पूर्ण विश्वास हो जाता है। इनकी यह अवस्था मर्त्यशरीरिणी मुक्त कहलाती है और इस अवस्था में स्थित सिद्ध पुरुष देहस्थ शिव कहलाते हैं। महामुनि दुर्वासा, नारद, दत्तात्रेय परशुराम आदि सिद्ध पुरुष ऐसे ही जीवन्मुक्त चिरजीवी हैं।

विदेह मुक्ति

पूर्वोक्त मुक्त शिव देहस्थ शिव और साधारण मर्त्यशरीर में स्थित जीवन्मुक्त देहपात के अनन्तर पूर्ण अभेद में लीन हो जाते हैं। उनकी यह मुक्ति विदेहमुक्ति कहलाती है। जीवन्मुक्ति के ऐश्वर्य की तुलना में विदेह-मुक्तों का ऐश्वर्य असीम होता है।[37] विदेह मुक्तों को त्रैलोक्य में प्रसृत पार-मेश्वरी पन्चकृत्यात्मिका लीला का असीम चमत्कार अनुभूत होने लगता है। इस प्रकार की असीम पराहन्तारूप परिपूर्ण चमत्कार से भरी हुई विदेह मुक्ति का पाना ही मानव जीवन का लक्ष्य है। किसी न किसी समय यहीं पर पहुँच कर वह कृतकृत्य होता है। यहीं पर पहुँच कर उसकी क्रीड़ा पूर्ण होती है।

अनुपाय विवेचन

शून्य तथा गौण ज्ञान की अवस्था में जीव को साधना के बल से जो शिवात्मकता की प्राप्ति हो जाती है उसे समावेश कहा जाता है। समावेश त्रिक दर्शन का पारिभाषिक शब्द है। साधना के पथ पर चलते हुए साधक को अपनी मुख्य कर्तृता तथा चिदात्मक बोध की अनुभूति हो जाती है। वह परतन्त्रता के भाव को दबा देता है। उसमें शिवरूपता आ जाती है। इस अवस्था का नाम समावेश है।[38] त्रिक आचार में इसी का अभ्यास किया जाता है। एक बार जब शिवता का समावेश साधक के चित्त में हो जाता है तो फिर साधना की उच्चतम भूमिकाएँ स्वयमेव प्रकट होती जाती हैं।

समावेश की प्राप्ति कभी कभी बिना उपाय के भी गुरु की कृपा से या ईश्वर के अनुग्रह से स्वयमेव हो जाती है।[39] उस उपाय निरपेक्ष सामवेश को अनुपाय या निरुपाय कहते हैं। यह अनुपाय समावेश उत्कृष्टतर अधिकारी को होता है एवं इच्छाशक्ति के बिना ही हो जाता है। सिद्ध गुरु उसे केवल इतना निर्देश करता है कि यह जो कुछ है वह एक मात्र चिद्रूप तत्त्व है। यह काल से कलित-गृहीत तथा देश से अवच्छिन्न नहीं है। वह चिद्रूप तत्व पूर्णतया निर्मल. नियति से अनियन्त्रित, शब्दप्रकाशन के अयोग्य, प्रमाणों से अगम्य, स्वतन्त्र तथा आनन्दघन है। वह तत्व तुम ही हो। तुम्हें प्रकाशित करने के लिए किसी उपाय की आवश्यकता नहीं है। तुम स्वयं परिपूर्ण परमेश्वर हो। तुम अपने भीतर ही अपनी परमेश्वरता का विमर्शन करो। जो स्वयं प्रकाश परमेश्वर है उसमें उपाय क्या करेगा।" इस प्रकार गुरु के वाक्यों को सुनकर गुरु के तीव्र शक्तिपात से सद्य: ही शिष्य को समावेश की प्राप्ति हो जाती है। यह समावेश अनुपाय होता है।[40]

यह समावेश कभी कभी सिद्धों के अथवा योगिनियों के दर्शनमात्र से हो जाता है। कभी उनके द्वारा दिए हुए चरू के खाने से, दृष्टि पात से, हस्तस्पर्श से तथा इसी प्रकार किसी अन्य हेतु से, किसी मन्त्रजप, पूजा अर्चना के बिना ही तथा तीव्र योगाभ्यास के बिना ही साधक में शिवता का समावेश हो जाता है।[41] शिवता के समावेश का पुन: पुन: अभ्यास करने से साधक के हृदय पर शिवता का संस्कार इतना दृढ़ हो जाता है कि विषय वासनाओं की आँधी फिर उसे डिगा नहीं सकती।

त्रिक दर्शन की मान्यता है कि शिव का भान उपायों से नहीं होता। अपितु उपायों का भान ही उसके अनुग्रह से होता है।[42] भला घट से सूर्य

का भान कैसे हो सकता है। सूर्य से ही घट का प्रकाशन होता है।[43] इस प्रकार विचार करते हुए ही साधक उपायों का अभ्यास किए बिना ही शिवता में समाविष्ट हो जाता है। अनुपाय में नञ् का अर्थ सर्वथा अभाव नहीं है अपितु ईषद् अर्थ है। अनुपाय का अर्थ है ईषदुपाय। अर्थात् कुछ न कुछ उपाय तो समावेश के लिए करना ही पड़ता है। वह उपाय बस इतना ही है कि सिद्ध गुरु के दो चार वाक्यों का श्रवण करना पड़ता है। दूसरा उपाय चरूभोजन हस्तस्पर्श आदि है। इन उपायों में भी मुख्य भूमिका गुरु की ही है। इस प्रकार अत्यल्प उपाय वाला होने से इसे अनुपाय कह दिया गया है। इतना अल्प उपाय वस्तुतः न होने के ही समान है। "अनुदरा कन्या" इस प्रयोग के समान ही अनुपाय का भी अर्थ समझना चाहिए।[44]

इस प्रकार अनुपाय-समावेश से शिष्य सद्यः ही जीवन्मुक्ति का पात्र बन जाता है। इसी कारण त्रिक आचार में यह सर्वोत्तम योग माना जाता है।

उपाय-विवेचन

अनुपाय-समावेश महान् दुर्लभ है। इसमें साधक कुछ नहीं करता। सिद्ध गुरुओं का अनुग्रह ही इसमें परम हेतु है। इसलिए जिन साधकों की स्थिति इस अनुपाय योग पर नहीं होती उनके लिए कुछ अन्य उपाय त्रिक-दर्शन की आचारमीमांसा में बताए गए हैं। ये उपाय हैं—शाम्भव, शाक्त और आणव।[45] शाम्भव अभेदोपाय है। शाक्त भेदाभेदात्मक उपाय है और आणवोपाय भेदोपाय है।[46]

शाम्भोपाय

शिवतत्व प्रकाशरूप है। अखण्डमण्डलाकार उस शिव में जब साधक सहसा प्रवेश करने में समर्थ नहीं हो पाता तो वह उसकी केवल स्वातन्त्र्य-शक्ति को ही सर्वत्र प्रसृत देखते हुए निर्विकल्प भैरवपद में समाविष्ट होने का प्रवास करते हैं।[47] इसका नाम शाम्भवोपाय है। इस उपाय में देह इन्द्रिय प्राण मन अथवा बुद्धि के द्वारा कोई भी क्रिया नहीं की जाती है। केवल गुरु ही उसको उपदेश से पुनः पुनः उद्बोधन करता है। और साधक उसको हृदय में धारण करता जाता है। बार बार के उद्बोधन और धारण से साधक के मन में शिवता का समावेश हो लाता है। यही शाम्भवोपाय है। यह शाम्भवोपाव ही परिपक्व होकर अनुपाय बन जाता है। अनुपाय की अपरिपक्व अवस्था ही शाम्भवोपाय है। यह तो चित्त को निश्चल करने का एक अभ्यास मात्र है। यह अभ्यास भी इच्छा-प्रधान है क्रिया-

प्रधान नहीं ।

चैतन्य तो सर्वदा प्रकाशशील तत्व है । वह चमकता ही रहता है किन्तु उसकी प्रकाशमानता चित्त के विकल्पात्मक आभासों के नीचे दबकर लुप्त सी हो जाती है । जैसे स्फटिकमणि की निर्मलता विविध रूपों के प्रतिबिम्बों से तिरोहित सी हो जाती है । प्रतिबिम्बों के हट जाने से स्फटिक पुनः अपने स्वाभाविक रूप में चमकने लगता है । वैसे ही चित्त के विकल्पों के दूर हो जाने से चित्तशक्ति चित्त की सहायता के बिना ही प्रकाशित हो जाती है । उसका साक्षात्कार होने लगता है । उस साक्षात्कार का कर्ता कर्म और करण वह चैतन्य ही होता है । वह चित्त प्राण आदि के द्वारा न किसी का ग्रहण करता है और न किसी का त्याग करता है । निवातस्थ दीप के समान चैतन्य सर्वथा निश्चल स्वरूप में ही अवस्थित होता है । यही शाम्भवयोग है । इसी का नाम भैरवसमावेश है ।[48] इसमें चित्त की सहयता भी नहीं ली जाती । आत्मदेव केवल अपनी इच्छा से ही स्वस्थिति में ठहरने का अभ्यास करता है । इसलिए इसे इच्छोपाय भी कहते हैं ।

शाक्तोपाय

जिन साधकों का चित्त शाम्भव-योग में स्थिर नहीं होता, उन साधकों के लिए त्रिक दर्शन में शाक्त-उपाय का उपदेश किया गया है । यह भेदाभेदोपाय है जो श्रेष्ठता की दृष्टि से मध्यम कोटि का माना जामा है । इसी का नाम ज्ञान-योग भावनायोग आदि भी हैं । इस योग में अशुद्ध विकल्पों को शुद्ध विकल्पों के अभ्यास से नष्ट किया जाता है ।[49] अशुद्ध विकल्प ही अणु-प्रमाताओं को भवपाश में जकड़े रहते हैं । अशुद्ध विकल्प उन विचारों को कहते हैं जिनके अनुसार मनुष्य बुद्धि के स्तर पर देह प्राण आदि को ही अपना स्वरूप समझता है, शुद्ध संवित् को अपना स्वरूप नहीं समझता । संसार को अपने से भिन्न रूप में देखता है । स्वयम् का भी अल्पज्ञ, अल्पकर्ता, अल्पशक्ति और ऐश्वर्यविहीन समझता है, सर्वत्र सर्वकर्ता सर्वशक्तिमान् और सर्वेश्वर नहीं समझता ।

शुद्ध विकल्प इसके विपरीत होते हैं । जैसे—मैं तो शुद्ध संवित् ही हूँ । परमेयवरता मेरा स्वरूप है । समस्त विश्व भी मैं ही हूँ । यह प्रपञ्च मुझमें ही स्थित है । मेरी ही शक्तियों का विलास यह चराचर जगत् है । इस प्रकार के बुद्धिगत विचार शुद्ध विकल्प कहलाते हैं । जिन साधकों का चित्त अशुद्ध विकल्पों के मल से दूषित होता है वे शुद्ध विकल्पों से उनका नाश करते हैं । इसी का नाम शाक्तोपाय या शाक्त योग है ।

शाम्भव योग में चित्त का भी आलम्बन नहीं लिया जाता। वहाँ चित्त का भी लय हो जाता है। अत: वह निरालम्बन-योग है। किन्तु शाक्तोपाय में चित्त ही साधक का आलम्बन होता है। चित्त स्वयम् ही शुद्ध विकल्पों के ज्ञान का अभ्यास करता रहता है। इसमें उच्चार का अभ्यास नहीं किया जाता। केवल चित्त अपने ही भीतर संवित् के वास्तविक स्वरूप के विषय में यथार्थ कल्पनाओं को दृढ़ता से अंकित करता है। इसमें जो समावेश होता है वही शाक्तोपाय है।[50] तब साधक को यह ज्ञान हो जाता है कि परिच्छिन्न स्वभाव वाले पदार्थों से लेकर शिव-पर्यन्त जो तत्व हैं उनसे समुत्तीर्ण परसंवित्‌रूप परमेश्वर ही परमार्थ तत्व हैं। वही मैं हूँ। अत: विश्वोत्तीर्ण भी मैं हूँ और विश्वात्मा भी मैं हूँ[51] इसी का नाम भावना है[53]

शक्तोपाय के प्रकार

यह शाक्तयोग अनेक प्रकार से शुद्ध विकल्पों को चित्त पर अंकित करता है। उसमें से कुछ प्रकार हैं—याग, होम, जप, व्रत और योग।[53] ये सभी प्रकार शुद्ध विकल्प-ज्ञान के ही विभिन्न रूप हैं। इन सभी के द्वारा यथार्थ ज्ञान को चित्त पर दृढता से अंकित किया जा सकता है।

1. याग

"समस्त भावों की स्थिति परमेश्वर में ही है। इससे भिन्न कुछ भी नहीं है।" इस शुद्ध विकल्प को चित्त पर दृढता से अरूढ करने के लिए समस्त भावों को परमेश्वर में ही अर्पित कर देना याग कहलाता है।[54]

2. होम

समस्त पदार्थ परमेश्वर के तेज से बने हैं ? इस विकल्प को चित्त पर आरूढ करने के लिए परमेश्वर की संविद्‌रूप अग्नि में समस्त भावों का विलय कर देना होम है।[55]

3. जप

वह परिपूर्ण एवं असीम परमेश्वर मेरा अपना ही स्वरूप है। इस भावना का पुन: परामर्शन करना जप है।[56]

4. व्रत:

परमेश्वर के साथ समता के अभिमान से समस्त घटपटादि पदार्थों को तथा देहादि जड़ भावों को भी परमेश्वररूप में ही पुन: पुन: देखना व्रत है।[57]

5 योग

"परमेश्वर तो समस्त विकल्पों से शून्य है। वह कभी किसी विकल्प

का विषय बन ही नहीं सकता। वह तो परमेश्वर रूप में ही सदा सर्वत्र प्रकाशमान रहता है। इस प्रकार उसी के स्वरूपात्मक विकल्पों का अनुसन्धान करना योग कहलाता है।[58]

उपर्युक्त प्रकारों से परमेश्वेर के समावेश को दृढ करने वाले शुद्ध विकल्प साधक के मन पर इस प्रकार अंकित हो जाते हैं कि उसकी सत्यता पर उसे पक्का विश्वास हो जाता है। इस शाक्तयोग के कुछ अन्य प्रकार भी हैं। जैसे—स्नान, पुजन और ध्यान।

6. **स्नान**[59]

न मुझे किसी प्रकार का कोई बन्धन है और न किसी प्रकार का मोक्ष हो होगा। बन्धन और मोक्ष का विचार दोनों मल ही हैं।" इस प्रकार की भावना करके मल को धोकर चित्त को निर्मल बनाना स्नान कहलाता है। यह स्नान दो प्रकार का है—जल-स्नान और शुद्धि-स्नान। "सुख हो या दु:ख हो सभी अवस्थाओं में "मैं शिव हूँ" ऐसा मानकर मन में हर्षित होना जल स्नान हैं।[60] ' चिच्छक्ति निर्मल है। जगत् भी चिन्मय ही है, और में स्ववम् भी वही हूँ" इस प्रकार की आस्थारूपी जल से स्नान कर शुद्ध होना शुद्धिस्नान कहलाता है।[61]

7. **पूजन**

पूजा करने से मुझे कोई सन्तुष्टि नहीं होती। पूजा न करूं तो इससे मुझे कोई खेद भी नहीं होता। क्योंकि पूजक पूज्य और पूजा तो मैं स्वयम् ही हूँ। मेरी पूजा तो सर्वत्र सर्वदा होती रहती है।" ऐसी भावना बार बार करना पूजन कहलाता है।[62]

8. **ध्यान**

जिस जिस इन्द्रिय से अर्थ का ग्रहण किया जाता है उस उस अर्थ में शिवता का ही दर्शन करना ध्यान कहलाता है।[63]।

इसी प्रकार विचेष्टन यजन व्यापार वर्तन आदि कुछ अन्य प्रकार भी शुद्ध विकल्पों की दृढता के लिए त्रिक दर्शन में बनाए गये हैं। अधिकतर इन्हीं प्रकारों का प्रचलन हैं। इन सभी विकल्प ज्ञानों का अभ्यास करना शाक्तयोग है। इसके अभ्यास से अशुद्ध विकल्प मन में उठने बन्द हो जाते हैं और शिवता का समावेश हो जाता है। एक बार यदि प्रमाणों से, शास्त्रों से या गुरुवाक्य से किसी प्रकार शिवता का ज्ञान हो जाए तो फिर किसी करण की या भावना की आवश्यता नहीं रह जाती।[64]

शाक्तोपाय के इन प्रकारों की उच्चता को न तो शून्यवादी बौद्ध ही प्राप्त कर सके हैं, न विज्ञानवादी बौद्ध पहूँच सके हैं और ब्रह्मवादी

वेदान्तियों ने ही उस गरिमा को प्राप्त किया है।

आणवोपाय

शाम्भव और शाक्त ये दोनों उपाय बहुत ही दुष्कर हैं। विरल महापुरुष ही इनके अधिकारी हुआ करते हैं। जिन साधकों की चेतना पर मल का आवरण बद्धमूल होता है उनका चित्त शाक्तयोग पर भी स्थिर नहीं होता। उनके लिए त्रिक दर्शन की आचारमीमांसा में आणवोपाय या आणययोग का उपदेश किया गया है। अणु का अर्थ है अत्यधिक संकुचित ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति वाला पशु-प्रमाता। उसके लिए सरलतम उपाय ही उपयोगी हो सकता है। अत: आणवोपाय में चित्त को अपने से भिन्न किसी वाह्य प्रमेय वस्तु पर या देह के अन्दर किसी अंगविशेष पर एकाग्र करना होता है। उन प्रमेय वस्तुओं पर चित्त को स्थिर करके भावना के द्वारा उनको परमेश्वररूप में ही समझने का अभ्यास किया जाता है। यही आणवोपाय है। इस तरह से जो ज्ञान अणुतत्व को प्राप्त हो गया था वह पुन: विशदरूप में चमक उठता है।[65]

यह आणवोपाय पूर्व के दोनों उपायों से सरल है। सरल इस दृष्टि से कहा जाता है क्योंकि इसमें चित्त का कोई न कोई आलम्बन होता है। शाम्भव उपाय में चित्त का कोई आलम्बन नहीं होता। वह निरालम्बन ही माना गया है। चित्त का वहाँ लय हो जाता है। शाक्त उपाय में चित्त काम तो करता है किन्तु उसका आलम्बन आत्म-परमेश्वर ही बना रहता है। चित्त का केवल निर्मलीकरण किया जाता है। बह्यदेश में या किसी प्रमेय-विशेष में स्थिर नहीं किया जाता। वहाँ केवल अपने वास्तविक स्वरूप का ही विमर्शनकिया जाता है। किन्तु आणवोपाय में चित्त की उपयोगिता है। चित्त का स्थिरीकरण की यह प्रक्रिया सरलता से हो जाती है। अत: यह आणवोपाय आलम्बन होने से अपेक्षाकृत सरल माना गया है।

दूसरी बात यह है कि शाम्भवयोग में केवल इच्छा से ही उसकी साधना करनी होती है। शाक्तोपाय ज्ञान-प्रधान है क्योंकि केवल बुद्धि के के द्वारा शुद्ध विकल्पमय ज्ञानों से अशुद्ध विकल्पों का क्षय करना ही वहाँ अभीष्ट होता है। किन्तु आणवोपाय क्रिया-प्रधान है। भावनारूप क्रिया के द्वारा प्रमेय पदार्थ को पृथक् पृथक् धारणा में ठहरा कर चित्त को अद्वैत स्वात्मस्वरूप शिवभाव में स्थापित करने का अभ्यास किया जाता है। इस प्रकार शाम्भवोपाय को इच्छायोग, शाक्तोपाय को ज्ञानयोग और आणवोपाय को क्रियायोग कहा जाता है।

त्रिक दर्शन का यह क्रियायोग धारणा ध्यान और समाधि से सम्बन्ध

रखता है । पातन्जलयोग में केवल तप स्वाध्याय और ईश्वर-प्राणिधान को ही क्रियायोग कहा गया है ।[66] अत: पतन्जलि का यह क्रियायोग त्रिक-दर्शन के इस आणवोपाय से बहुत स्थूल है । वस्तुत: धारणा भी एक प्रकार की मानसी क्रिया ही है । इस दृस्टि से आणवोपाय को क्रियायोग कह दिया गया है । वैसे वह पतन्जलि के क्रियायोग से बहुत सूक्ष्म कोटि का योग है।

आणवोपाय के भेद

शाम्भवोपाय अभेदोपाय कहलाता है । शाक्तयोग को भेदाभेदोपाय कहा जाता है । और इस आणवोपाय का नाम भेदोपाय है । इसे भेदोपाय कहने का कारण यह है कि इस उपाय में प्रमेय तत्वों को अपने से भिन्न समझकर उनमें चित्त की धारणा की जाती है । प्रमेय तत्व चार प्रकार का है—बुद्धि, प्राण, देह और बाह्य प्रमेय जगत् । प्रमेय भेद से यह आणवोपाय चार प्रकार का है—ध्यानयोग, उच्चारयोग, करणयोग तथा स्थान-योग ।[67]

ध्यानयोग

बुद्धि को आलम्बन बनाकर जब चित्त को एकाग्र करने का अभ्यास किया जाता है तब वह ध्यानयोग कहलाता है । इस योग में प्रमाता प्रमेय और प्रमाण के त्रिक को जो कि क्रमश: अग्नि सूर्य और सोम के रूप हैं, एक संघट्ट के रूप में देखने का अभ्यास किया जाता है ।[68] इस अभ्यास से साधकों को ईश्वरीय कृत्यों के प्रति स्वातन्त्र्य की अभिव्यक्ति हो जाती है और शिवभाव का आणव समावेश हो जाता है ।

उच्चार योग

जब पुरुष तत्व पर और पंच प्राणों पर चित्त की धारणा की जाती है तब यह अभ्यास उच्चारयोग कहलाता है । उच्चार का अर्थ है, प्राण को आलम्बन बनाकर चित्त को परमेश्वर में संचारित करना । इसे प्राणायाम नहीं समझना चाहिए । प्राणायाम तो बाह्य क्रिया है । यह उच्चारयोग एक आन्तर क्रिया है ।

इस उच्चारयोग के अभ्यास से छ: प्रकार का आनन्द अभिव्यक्त हो उठता है—निजानन्द, निरानन्द, परानन्द, ब्रह्मानन्द, महानन्द और चिदानन्द । पुरुषतत्व की भावना करने से निजानन्द अभिव्यख्त हो उठता है ।[69] विषयशून्यता की भावना से वही निरानन्द हो जाता है ।[70] प्राण के भीतर अपान के द्वारा जब अनन्त प्रमेयों की कल्पना की जाती है तब परानन्द की अभिव्यक्ति होती है ।[71] इसी प्रकार समान वायु पर विश्रान्ति की भावना से ब्रह्मानन्द[72], उदान की भावना से महानन्द[73] और व्यान की

विश्रान्ति से चिदानन्द[74] की अनुभूति साधक को होती है।

उक्त छ: आनन्दों की अनुभति के पश्चात् साधक जब प्राणशक्ति को परिपूर्णरूप में देखने लगता है तब एक अन्य असीम आनन्द की अभी-व्यक्ति होती है जिसे जगदानन्द कहा जाता है।[75] यह आनन्द साधक के लिए जड़ चेतनात्मक सकल विश्व में चमक उठता है। जगदानन्द की अमभूति के साथ ही इस उच्चारयोग की पूर्णता होती है जिसे प्राणयोग भी कहा जाता है।

उच्चार-योग की सिद्धि होने पर उसके पाँच बाह्य लक्षण प्रकट हो जाते हैं—1. आनन्द की अनुभूति[76], 2. प्लुति (उछलना)[77], 3. कम्प[78] 4. निद्रा[79], 5. घूर्णि।[80]

करण योग

जब साधक अपने देह में तथा देह के अन्दर स्थित अनेक नाडी-चक्रों में निखिल ब्रह्माण्डों की भावना करता हुआ उन्हें साक्षात् परमेश्वर के ही रूप में देखता है तो यह अभ्यास करण-योग कहा जाता है। आणवोपाय का यह तीसरा स्तर है।[81] इसमें मुद्राओं का भी प्रयोग किया जाता है। कुण्डलिनी-योग भी इसी के अन्तर्गत आता है। इसी का नाम वर्णयोग भी है क्योंकि इस योग में प्राणशक्ति के अन्दर एक प्रकार का नाद होता है जिसे कानों को बन्द करके सुना जा सकता है। इस नादयोग का अभ्यास करने से साधक को शिवभाव का समावेश शीघ्र हो जाता है।[82]

स्थान योग

बाह्य विषयों पर चित्त को विश्रान्त करने का नाम स्थान-योग या स्थानकल्पना है। जो साधक पूर्वोक्त ध्यानयोग, उच्चारयोग, करणयोग का अभ्यास न कर सके उनके लिए इस स्थानकल्पना का उपदेश त्रिक दर्शन में किया गया है। इसमें तीन बाह्यस्थानों पर धारना की जाती है—प्राण-वायु पर या स्थूल देह में या बाह्य जगत् में।[83] उच्चारयोग में भी प्राण-धारणा की जाती है किन्तु वह आभ्यन्तर प्राण है जिसके प्राणापान समान उदान और व्यान ये पाँच भेद हैं। इस स्थान-कल्पना का का विषय जो प्राण है वह नासिकाछिद्र से द्वादश अंगुल बाहर आकाश की ओर चलने वाला और द्वावश अंगुल अन्दर की ओर चलने वाला प्राणवायु है। इन्हीं दोनों प्राणों को बाह्य द्वादशान्त और आभ्यन्तर द्वादशान्त कहा जाता है। इन दोनों स्थानों पर धारणा करने से कुछ ही दिनों में चित्त के विकल्पों का क्षय होने लगता है और शीघ्र ही आणव समावेश हो जाता है।[84]

समीक्षा

त्रिकदर्शन में मान्य अज्ञान के स्वरूप पर यदि निष्पक्ष होकर सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाए तो इसकी यथार्थता हमारी समझ में आ जाती है। अज्ञान का विस्तार से विवेचन शांकर वेदान्त में भी किया गया है। यद्यपि आचार्य शंकर ने भी ज्ञान को ज्ञानभाव न मानकर भावरूप ही स्वीकार किया है किन्तु भावरूप कहकर भी उसे अनिर्वचनीय कह दिया है, यह बात समझ में नहीं आती। जब वह भावरूप है तो वह सत् क्यों नहीं हो सकता ? सत् और असत से विलक्षण तो तृतीय कोटी नहीं होती। या तो इसे भावरूप ही न माना जाए अथवा उसे सत् स्वीकार किया जाए। भला जो आबालवृद्ध सभी के प्रत्यक्ष अनुभव का विषय बनता है वह असत् कैसे हो सकता है। फिर अज्ञान तो मल का ही दूसरा नाम है। वह तो सभी को अनुभूत होता है। अत: उसे सदरूप ही मानना उचित है। यह तो सत्य है कि यह अज्ञान संसार का मूल कारण है।[85] ऐसा ही शंकर कहते हैं और यही त्रिक दर्शन भी है। किन्तु यह अज्ञान संसार का वैसा कारण नहीं है जैसा शंकर कहते हैं।

आचार्य शंकर तो अज्ञान को संसार का परिणामी उपादान कारण कहते हैं। ब्रह्म साक्षात् उसका उपादान नहीं किन्तु त्रिक दर्शन के अनुसार तो परम शिव ही साक्षात् जगत् के उपादान हैं। वे स्वयं ही निर्माता हैं और स्वयम् ही निर्मित होते हैं। वे ही विश्व हैं और वे ही विश्वोत्तीर्ण हैं। अत: अज्ञान भी उन्हीं का रूप है। उसकी उत्पत्ति भी उन्हीं से हुई है। तो जो परमशिव अज्ञान का भी कारण है वह संसार का कारण क्यों नहीं हो सकता। अकेला अज्ञान संसार का कारण कैसे हो सकता है। त्रिक आचार्यों ने जो अज्ञान को संसृति का मूल कहा है उसका अभिप्राय दूसरा है। उसका भाव यह है कि जीव के संसार भाव को अज्ञान ही टिकाए रखता है। जब तक इस मलरूप अज्ञान का नाश नहीं होता तब तक जीव की संसार भावना नष्ट नहीं होती और वह जीव स्वरूपानुभव की दिशा में प्रवृत्त नही होता। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि यह संसार अज्ञान से उत्पन्न हुआ है। भला जो अज्ञान स्वयम् ही सत् नहीं वह प्रत्यक्ष दृश्यमान इस सदरूप जगत् की उत्पत्तिकरण कैसे हो सकता है।

इसी प्रकार एकमात्र ज्ञान को मोक्ष का कारण कहने का अभिप्राय भी इतना ही है कि निजस्वरूप को पहचानना ही मोक्ष है। इसका यह अर्थ कदापि नहीं कि केवल ज्ञान से मुक्ति होती है और क्रियात्मकता का इसमें कोई सहयोग नहीं। अकेले ज्ञान से मुक्ति नहीं हो सकती। जब कोई

साधक क्रियात्मतया अपने शिवभाव का साक्षात् अनुभव करता है तभी उसे अपनी शिवता पर दृढ़ विश्वास होता है। क्योंकि आत्मा का स्वरूप केवल ज्ञान ही नहीं है अपितु क्रिया भी है। केवल ज्ञान से तो अपनी ज्ञानात्मकता पर विश्वास हो सकता है। विमर्श-रूप क्रियात्मकता की अनुभूति तो क्रियात्मक योग से ही होती है। इस प्रकार त्रिक दर्शन का अज्ञान ही युक्ति-युक्त है।

आचार्य शंकर ने अज्ञान और माया को एक ही तत्त्व स्वीकार किया है। यह बात भी तर्कयुक्त नहीं लगती। अज्ञान का सम्बन्ध पुरुष और उसकी बुद्धि से है जबकि माया परमेश्वर की शक्ति है जिससे वह अशुद्ध सृष्टि के तत्त्वों का आविर्भाव करते हैं। इस दृष्टि से माया कारण है, अज्ञान उसका कार्य है। दोनों को एक कथमपि नहीं माना जा सकता। दूसरी ओर आचार्य शंकर माया को एक तरफ असत्त्वभूत कहते हैं और दूसरी ओर उसे अनादि स्वीकार करते हैं। यह तो स्पष्ट ही परस्पर विरुद्ध कथन है।

शिवता के समावेश के लिए त्रिक दर्शन में जिन अनुपाय, साम्भवोपाय, शाक्तोपाय, आणवोपाय आदि योगों का विवेचन किया गया है उनकी तुलना का कोई भी उपाय किसी दर्शन में नहीं मिलता। शंकर वेदान्त में सबसे उत्कृष्ट उपाय को ज्ञानयोग कहते हैं किन्तु इसे त्रिक दर्शन के शाक्तोपाय के समकक्ष माना जा सकता है, यद्यपि पूर्ण तुलना इससे नहीं की जा सकती। त्रिक दर्शन तो ज्ञानयोग से भी दो सोपान ऊपर शाम्भवोपाय और अनुपाय को स्वीकार करता है। इतनी ऊँचाई अद्वैत वेदान्ती छू भी नहीं सके।

पातन्जल योग की भी समस्या साधना चित्त के द्वारा ही होती है। उसका समस्त अभ्यास चित्त को निरुद्धवृत्ति बनाना ही है। किन्तु शाम्भवोपाय और अनुपाय में तो चित्त का उपयोग होता ही नहीं, क्योंकि वहाँ चित्त का भी लय हो जाता है। अत: इसे त्रिक दर्शन के आणवोपाय के स्तर पर ही रखा जा सकता है। यह तो शाक्तोपाय से भी बहुत नीचे का योगहै। अत: यह कहा जा सकता है कि योगपद्धति के अणवेषण में त्रिक दर्शन जिस उन्नत भूमिका तक पहुँचा है वहाँ तक कोई दर्शन नहीं पहुँच सका। वास्तव में यह सिद्ध पुरुषों का दर्शन है। सिद्ध पुरुष ही इसके रहस्य को पहुँच सकते हैं। अन्य दार्शनिक विद्वानों के पास ज्ञान और क्रिया का ही मात्र सम्बल था। या यूँ कहिये कि योगाभ्यास के लिए वे ज्ञानोपाय और क्रियोपाय को ही अपना अवलम्ब बना सके। वे यह सोच भी नहीं सकते थे कि

बुद्धि, प्राण मन अथवा क्रिया के बिना केवल इच्छा से भी शिवता की प्राप्ति हो सकती है। शाम्भवयोग तो केवल इच्छा पर ही अबलम्बित है। शाम्भ-वयोग से भी ऊपर अनुपाय समावेश तो इच्छाशक्ति के प्रयोग के बिना ही हो जाता है। अत: अनुपाय और शाम्भवोपाय के लिए तो निश्चित ही साधकजगत् इस सैद्ध दर्शन का ऋणी है।

अन्य दर्शनों की साधनाएँ साधक को तपस्वी या क्रियायोगी बना सकती हैं, ज्ञानयोगी बना सकती हैं, वर्णाश्रम धर्मों का पालक कर्मयोगी बना सकती हैं। विशुद्ध योगी नहीं बना सकती। योगी तो साम्भवोपायी या अनुपायी ही हो सकता है। योगी तो बस योगी ही होता है अन्य कुछ नहीं। योगी के साथ जब हम कोई विशेषण (qualification) लगा देते हैं तो वह साधक योग को किसी विशिष्ट विधा (particular branch) का ही विशेषज्ञ या सिद्ध हो सकता है, पूर्ण योगी नहीं कहला सकता। भगवान् ने गीता में कहा है कि :

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्यश्चाधिको मत:।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद् योगी भवार्जुन ।। भ०गी० 6/46

हे अर्जुन ! योगी तो तपस्वी अर्थात् क्रियायोगियों से भी श्रेष्ठ योगी है। योगी तो ज्ञानयोगी से भी बड़ा है, कर्मी अर्थात् वर्णाश्रम का पालन करने वाले कर्मयोगियों से भी योगी महान् है। इसलिए हे अर्जुन ! तू केवल योगी बन, बस केवल योगी !"

उक्त श्लोक में योगी पद से शाम्भवयोगी ही अभिप्रेत है, क्योंकि शाम्भवयोगी ही शुद्ध योगी है। वह योगाभ्यास के बिना भी बस इच्छा से ही योगी है। भगवती गिरजा ने भगवान् शिव को प्राप्ति के लिए जो साधना की थी वह वास्तव में शाम्भवोपाय ही था, जिसका वर्णन महाकवि कालीदास ने किया है।

शांकर वेदान्ती ज्ञानयोगी की उच्च भूमिका में भी परमेश्वर के स्व-भाव को अपनी बुद्धि पर आरोपित नहीं करते। वे केवल प्रशान्त ब्रह्मवाद अथवा अजातवाद के संस्कारों को ही बुद्धि पर जमाने का प्रयास करते हैं। किन्तु त्रिक आचार के साधक परमेश्वरता के संस्कार को ही अंकित करने का प्रयास करते हैं। अत: वेदान्तियों का ज्ञानयोग शैवों के शाक्तयोग से भी बहुत निचले स्तर का है।

शून्यवादी और विज्ञानवादी बौद्धों का योग तो वेदान्त से भी बहुत निम्न कोटि का है। नागार्जुन का सर्वदृष्टिप्रहाणवाद तो एक अतिचिन्तन है। उसकी तुलना में शैवों का यह शाक्तोपाय अति सरल सुबोध और

सरल ज्ञानयोग है ।

अध्वविचार

समावेश के मार्ग को अध्वा कहा जाता है । यह अध्वा दो प्रकार का है—कालाध्वा तथा देशाध्वा । कालाध्वा शब्दात्मक होता है और देशाध्वा अर्थात्मक । समस्त आणव मार्ग शब्द और अर्थ में ही स्थित हैं ।

कालाध्वा

शब्द के तीन रूप हैं—वर्ण, मन्त्र और पद । इसलिए कालाध्वा भी तीन प्रकार का है—वर्णात्मक, मन्त्रात्मक और पदात्मक । शब्दाध्वा और प्रमाणाध्वा भी इसी के नाम हैं । काल की गणना क्षण से प्रारम्भ होती है। काल के सूक्ष्मतर भाग को क्षण कहते हैं । सूक्ष्मतम भाग की तो गणना की नहीं जा सकती । क्षण ही जाना जाता है । अत: काल की गणना का प्रारम्भ क्षण से किया जाता है । क्षण के परिमाण की भी कल्पना की जाती है । उसकी ठीक ठीक अवधि का नियमत नहीं किया जा सकता ।

क्षण की अवधि का नियामक ज्ञान होता है । जिनकी देर तक चित्त का एक परिस्पन्द अर्थात् एक ज्ञान या विचार स्थित रहता है उतना समय एक क्षण कहलाता है ।[86]ज्ञान के इस परिमाण के अतिरिक्त क्षण की इयन्ता का निर्वचन करना सम्भव नहीं ।[87] काल को ज्ञान से ही मापा जाता है । ज्ञान सदैव शब्दात्मक ही होता है । भर्तृहरि भी यही कहते हैं कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं जो शब्द के बिना होता है । ज्ञान तो शब्दानुविद्ध होकर ही भासित होता है ।[88] अत: काल की धारणा शब्दमयी कही गयी है । शब्द का सूक्ष्म रूप वर्ण होता है । वर्णों के संयोग से बीजमन्त्र निर्मित होते हैं । अत: बीजमन्त्र वर्ण की अपेक्षा कुछ स्थूल हैं । मन्त्रों के समूह से पद बनता है । यह दोनों से स्थूल है ।

जिसके द्वारा अर्थ का बोध होता है उसे पद कहते है । इसलिए पद प्रमाणरूप है । वही पद अपनी प्रमाणात्मकता छोड़ कर जब अन्तर्मुख हो जाता है और अक्षुब्ध रूप को प्राप्त करता है तब वही मन्त्र कहलाता है और तब वह प्रमाता बन जाता है । मन्त्र अन्त: परामर्शात्मक प्रमातृ रूप शब्द है । मन्त्र और पद दोनों ही विमर्शात्मक हैं । इन दोनों से कुछ अंश में भिन्न जो पूर्णतारूप प्रमिति है वही वर्ण है ।[89] इन तीनों की धारणा से साधक क्षण, घटिका, प्रहर, अहोरात्र, मास, वर्ष, युग मन्वन्तर कल्प आदि काल की गणना को व्याप्त कर लेता है । वह इस निखिल कालाध्वा को अपने प्राणसंचार में ही देखता हुआ, धीरे-धीरे ब्रह्मा रुद्र आदि तत्त्वेश्वरों के काल को भावना से व्याप्त कर लेता है और पुन:स्वयंम् अपनी ही परमे-

श्वरता को पहचानते हुए काल के संकोच से मुक्त हो जाता है।

देशाध्वा

देशाध्वा के भी तीन रूप होते हैं—कला तत्व और भुवन। इन्हीं का नाम अर्थ है। कला, तत्त्व और भुवन इस त्रिक का ही नाम देशाध्वा है। इसी को अर्थाध्वा भी कहते हैं। छत्तीस तत्वों के सूक्ष्म आकार को कला कहा जाता है। ये कलाएँ पाँच हैं—शान्तातीता, शान्ता, विद्या, प्रतिष्ठा और निवृत्ति। पृथ्वी में निवृत्ति कला है। क्योंकि यहाँ तत्वसर्ग निवृत्त हो जाता है। जल से प्रकृति पर्यन्त प्रतिष्ठा कला है क्योंकि स्थूल जगत् उसी में प्रतिष्ठित है। पुरुष से लेकर माया पर्यन्त विद्या कला है क्योंकि उसमें वैद्यों का तिरोभाव और संवित् का आधिक्य होता है। शुद्ध विद्या से शक्ति पर्यन्त शान्ता कला कहलाती है क्योंकि उसमें कंचुक की तरंगे शान्त हो जाती हैं। शिव-तत्व में शान्तातीता कला है। इस प्रकार पाँच ही कलाएँ हैं।[90]

एक एक कला में कई कई भुवन होते हैं। इनकी संख्या एक सौ अठारह मानी गयी है। इन पाँच कलाओं, छत्तीस तत्वों और एक सौ अठारह भुवनों को लेकर साधक धारणा करता है। धारणा के द्वारा साधक उन कलाओं, तत्वों और भुवनों को परमेश्वर के रूप में ही अनुभव करता है। समस्त देशाध्वा को शरीर में, शरीर को प्राण में, प्राणों को बुद्धि में, बुद्धि को शून्य में और शून्य को संवित् में विलीन करके साधक अभ्यास द्वारा अपनी परिपूर्ण संविद्रूपता को पहचान लेता है।[91]

इस प्रकार वर्णमन्त्र पदात्मा कालाध्वा और कालातत्व भुवनात्मक देशाध्वा है। प्रथम शब्दमय है और दूसरा अर्थमय है। प्रथम प्रमाणरूप है और दूसरा प्रमेयरूप है। इन्हीं छः तत्वों को त्रिक दर्शन में षडध्वधारणा कहा जाता है।

क्रम निरूपण

त्रिक दर्शन में काल-क्रम का बड़ा सूक्ष्म वर्णन किया गया है। जगत् के सभी व्यवहार क्रम से ही होते हैं। अक्रम से कुछ नहीं होता। क्योंकि समस्त तत्त्व काल में ही समाविष्ट हैं। सभी व्यवहार कालावच्छिन्न हैं, गीता में तो काल को परमात्मा का ही वाचक माना गया है, वह इसलिए कि एक परमेश्वर ही कालानवच्छिन्न हैं।

कालिक व्यवहार क्रमिकता पर आश्रित रहता है। यह क्रम दो प्रकार का है। सूक्ष्म और स्थूल। सूक्ष्म क्रम चित्त के परिस्पन्दों का माना जाता है। चित्त का एक परिस्पन्द एक क्षण का माना जाता है। वस्तुतः यह

क्षण भी स्थूल क्रम ही है। स्थूल क्रम उसे कहा जाता है कि जो बूद्धि की पकड़ में आ जाता है अथवा जिससे व्यवहार चलाया जा सकता है। तो क्षण भी स्थूल ही हुआ क्योंकि चित्त के एक परिस्पन्द से उसको मापा जा सकता है। सूक्ष्म क्रम की कलना = माप सम्भव नहीं है।

जाग्रत स्वप्न और सुषुप्ति इन तीन दशाओं में काल के क्रम को नापने का एक मात्र आधार हमारे पास चित्त ही है। उक्त तीनों दशाओं में चित्त की गति भिन्न भिन्न प्रकार की होती है।जाग्रत् में मन्द गति होती है, स्वप्न में कुछ तेज होती है और सुषुप्ति में बहुत तीव्र होती है।सुषुप्ति में चित्त इतनी तीव्रता से चलता है कि वह रथचक्र की नाभि समान ठहरा हुआ सा प्रतीत होता है। तुरीयावस्था में इससे भी अधिक तीव्र गति होती है। यद्यपि सुषुप्ति और तुरया में चित्त क्रम से ही गति करता है किन्तु इन दोनों दशाओं में काल की कलना का आभास नहीं हो पाता। तीव्रता के कारण क्रम का ज्ञान नहीं होता। शतपत्रवेध न्याय से बस उसकी कल्पना ही करनी पड़ती है। कमल के सौ पत्तों को यदि सुई से बेधा जाए तो सुई झट से एक ही क्षण में पार चली जाती हुई प्रतीत होती है। यद्यपि सुई ने प्रत्येक पत्ते को क्रम से ही पार किया है किन्तु उस क्रम का आभास नहीं हो पाता। इसी प्रकार सुषुप्ति और तुरीया अवस्था में भी चित्त की गति का क्रम होता है किन्तु काल के अन्तराल को पकड़ पाना किसी के लिए भी सम्भव नहीं है। काल-कलना वहाँ सम्भव नही है। इसलिए उस काल को "अकल्प काल" कहा गया है।[92]

इस प्रकार काल अत्यन्त सूक्ष्म है। उसकी गणना नहीं की जा सकती। क्षण घटिका आदि की जो गणना हमने की है वह वस्तुत: काल की गणना नही है अपितु वह प्रमेय पदार्थों की गणना है। अपने व्यवहार-सौकर्य के लिए हमने अकल्य और अखण्ड काल को क्रमयुवत और खण्ड-युक्त मान लिया है। इस प्रकार काल की गणना क्षण से प्रारम्भ होती है। कालिक व्यवहार में क्षण की सबसे सूक्ष्म कालांश है। क्षण का क्रम ही बुद्धि में आरूढ़ होता है। इससे सूक्ष्म क्रम तो बस कल्पना का ही विषय है। परिमाण का विषय वह नहीं हो सकता। आणवोपाय के साधक इसी क्षणात्मक क्रम की धारणा करते हैं, जिसकी सिद्धि होने पर वे काल के संकोच से मुक्त हो जाते हैं।

दीक्षा

जब साधक शाम्भव, शाक्त और आणव इन तीनों उपायों की योग्यता न रखता हो तब उसके समावेश के लिए त्रिक दर्शन में विभिन्न

बाह्य विधि विधानों का विवेचन किया गया है। उन्हीं बाह्याचारों में दीक्षा भी एक आचार है। गुरु अपने शिष्य को विद्या देने से पूर्व दीक्षित करता है। उसे अपने साम्प्रदाय में प्रविष्ट करने से पहले संस्कृत करता है। इस संस्कार में श्वेत पुष्प आदि बाह्य वस्तुओं का भी उपयोग किया जाता है।[93] शिष्य से कुछ नियमों के पालन की प्रतिज्ञा करायी जाती है। उसे यागगृह में अधिवास दिया जाता है। ये दीक्षाएँ अनेक प्रकार की होती हैं। इनका विस्तार से विवेचन तन्त्रालोक में और तन्त्रसार में देखना चाहिए।

त्रिक आचार्यों की मान्यता है कि अदीक्षित पुरुषों के सम्मुख शिव-पद्धति का व्याख्यान नहीं करना चाहिए।[94] दीक्षा के बिना स्वल्पधी पुरुषों को मन्त्रों पर विचार नहीं करना चाहिए। वे तो केवल शास्त्र को प्रमाण मानकर उन पर श्रद्धा कर सकते हैं।[95] यदि शिव-शास्त्र के विधान को जानने वाला योग्य गुरु शिष्य को विधिवत् दीक्षित कर दे तो शिव-समावेश के विरोधी कठिन से कठिन मलरूप बन्धनों का नाश सद्य: ही हो जाता है।वास्तव में दीक्षा ही मोक्ष प्रदान करती हैं और दीक्षा ही शिव के धाम को प्राप्त कराती है।[96] दीक्षा शब्द दा और क्षि इन दो धातुओं से मिलकर बना है। यह वह ज्ञान प्रदान करती है जिससे कर्म वासनाएँ क्षीण हो जाती हैं। इस प्रकार दान और क्षपण करने के कारण दीक्षा कहलाती है।[97]

दीक्षा का मार्ग आणवोपाय के सबसे स्थूल मार्ग स्थान-कल्पना से भी नीचे का उपाय है। जनसाधारण की रुचि प्राय: बाह्य क्रिया-कलाप में ही अधिक होती है। अत: दीक्षा आदि का विधान उन्हीं के लिए है। यदि शैवी साधना में स्वाभाविक रुचि नहीं है तब तो साधक को दीक्षा का ही आश्रय लेना चाहिए।

दीक्षाएँ अनेक प्रकार की हैं। जैसे—समय दीक्षा,—इसमें गरु शिष्य को आगम-सम्मत समयों = नियमों का उपदेश करता है और उससे उनका पालन कराता है। समयों के पालन से शिष्यों में ज्ञान प्राप्त करने की योग-यता आ जाती है। समय-दीक्षा प्राप्त होने पर शास्त्रों का अध्ययन पूजन जप ध्यान आदि का अधिकार मिल जाता है। इस दीक्षा के द्वारा परतत्त्व की ओर चलन का मार्ग खुल जाता है।

2. **पुत्रक दीक्षा :** समय-दीक्षा प्राप्त कर समयी शिष्य पुत्रक-दीक्षा प्राप्त करता है। पुत्रक-दीक्षा में सर्वप्रथम त्रिशूल की पूजा की जाती है। तद-नन्तर योगिनी-पूजा वागीश्वरी पूजा तथा क्षेत्रपाल आदि देवताचक्र का पूजन किया जाता है। इन क्रियाओं को सम्पन्न करा कर गुरु उस शिष्य को अपना पुत्र बना लेता है। तदनन्तर उसे शिवसाधना के रहस्य समझाता

है। समय और पुत्रक के नियमों का विवेचन तन्त्रालोक में देखना चाहिए।
3. **सद्योनिर्वाणदायिनी दीक्षा** : जो शिष्य जरा और रोगों से पीड़ित है तथा जिनके मलों का परिपाक अच्छी प्रकार हो गया है उसकी मृत्यु को सन्निकट जानकर आचार्य उसको सद्योनिवार्णदायिनी दीक्षा प्रदान करते हैं।
4, **परोक्ष दीक्षा** : जिस शिष्य ने गुरु की सेवा की है किन्तु दीक्षा प्राप्त करने से पहले मर गया है. या कहीं चला गया है, या अभिचार-कर्म से मारा गया है तो गुरु उसे दीक्षा दे देता है। इसी का नाम मृतोद्धार दीक्षा भी कहा जाता है।
5. **प्राणोत्क्रमण दीक्षा** : कोई शिष्य यदि मृत्युशय्या पर लेटा है किन्तु उसके प्राण नहीं निकल पा रहे हैं तो गरु उसके उद्धार के लिए उसे दीक्षित करता है जिससे शिष्य का शरीर सद्यः छूट जाता है।

इसी प्रकार उच्चारदीक्षा, मरणासन्न दीक्षा, श्राद्धदीक्षा, लिंगोद्धरण दीक्षा आदि का विवेचन तन्त्रसार में देखना चाहिए।

याग निरूपण

याग भी शिव-समावेश का एक क्रिया-प्रधान उपाय है। दीक्षा-रूपी कृपाण से जिनके संशयपाश छिन्न हो गये हैं तथा जो मन्त्र के रहस्य को अच्छी प्रकार समझ चुके हैं ऐसे साधक विविध यज्ञों से यजन करते हैं।[98] बाह्य क्रिया-कलाप का विधान याग में भी पर्याप्त किया जाता है। याग दो प्रकार का है—बहिर्याग और अन्तर्याग। द्रव्ययाग द्रव्यहौम बहिर्याग है। बहिर्याग स्थण्डिल पर, वीर-पात्र में, रक्त-वस्त्र के ऊपर तथा लिंगादि विशेषों में किया जाता है।[99] इसमें मन्त्र का जप-विशेष प्रक्रिया है। अन्तर्याग को कुलयाग भी कहा जाता है। यह छः प्रकार का है—शक्ति में, स्वदेह में, यामल में, प्राण में और संवित् में। इनमें उत्तरोत्तर याग श्रेष्ठ है। अन्तर्याग मानसयाग भी कहलाता हैं।[100]

स्वरूप-प्राप्ति के लिए बहिर्याग और अन्तर्याग दोनों ही करणीय है। अन्तर्याग किए बिना बहिर्याग करने पर उत्तम फल प्राप्त नहीं होता है। तथा उस याग से मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती। किन्तु साथ ही बहिर्याग भी आवश्यक है क्योंकि उससे आन्तरवृत्तियों का विकास होता है और परिच्छिन्नता दूर होती है। योगमार्ग पर चलने वालों के लिए बाह्ययन आन्तर क्रम में चढ़ने के लिए एक सोपान है। पुरुष में वर्तमान पशुभाव को हटाने के लिए अन्तर्याग करना चाहिए। बाह्यविधि ही किसी समय आन्तर क्रम में परिवर्तित हो जाती है। इसीलिए दोनों ही याग करणीय हैं।[101]

समीक्षा

त्रिक दर्शन की पूर्वोक्त षडध्व धारणाओं एवं शाक्तोपाय तथा शाम्भवोपाय की तुलना जब हम अन्य दर्शनों के योगमार्ग से करते हैं तो हमें यह स्पष्टतया अनुभव होता है कि त्रिक दर्शन के उक्त उपायों का अभ्यास बड़े सुख के साथ, कष्टमय प्रयत्न के बिना ही आयासरहित होकर किया जा सकता है। इसीलिए आचार्य उत्पल देव ने सत्य ही इसे सुघट और नूतन मार्ग कहा है।[102] नूतन इस दृष्टि से क्योंकि समावेश के अभ्यास की चर्चा किसी अन्य दर्शन में नही पायी जाती। फिर अनुपाय और शाम्भव उपाय तो सर्वथा ही नयी योगपद्धतियाँ है जहाँ चित्त की ही उपयोगिता को सर्वथा नाकार दिया गया है। इस दृष्टि त्रिकआचार सचमुच बड़ा स्पृहणीय बन गया हैं।

त्रिक आचार की सुघटता इस अर्थ में भी है क्योंकि जब प्रत्यभिज्ञा कर लेने मात्र से आत्मज्ञान की प्राप्ति हो जाती है तो यमनियमादि अष्टांग योग के क्लेशों का सहना व्यर्थ हो जाता। वास्तव में इनकी अनुपयोगिता ही सिद्ध होती है क्योंकि समावेश का अथवा प्रत्यभिज्ञा का यह मार्ग बड़ा ही स्पष्ट, आयास-शून्य लम्बी चौड़ी क्रियाओं से रहित तथा महान् फल देने वाला है।[103] प्राणायाम आदि से युक्त अष्टांग-योग का मार्ग तो बड़ा आयासकारी और कृत्रिम है। त्रिक शास्त्र का परमशिव तो स्वयम् ही अकृतक योग है। अन्य योग को शिवरूप अकृत्रिम योग की सोलहवीं कला के बराबर भी नहीं।[104] इस कथन में कोई अत्युक्ति भी दिखाई नहीं देती। बलात् एवं हठात् आचरित किए गए अष्टांगयोग का फल सन्दिग्ध हो सकता है। थोड़ी सी भी असावधानी से मनुष्य पतित हो सकता है तथा उससे लाभ की जगह हानि उठानी पड़ सकती है किन्तु शाम्भव आदि उपाय सर्वथा निरापद हैं। इसमें पतन की सम्भावना ही नहीं होती। जिस मार्ग में सभी कुछ शिव है, उससे भिन्न कुछ है ही नहीं तो पतन होगा कहां से और पतन होगा किसका ?

अनुपाय से लेकर आणवोपाय तक निखिल शैवी साधना को त्रिक-दर्शन में भी योग ही कहा जाता है, किन्तु त्रिक आचार का योग अन्य दर्शनों से भिन्न स्वरूप वाला है। पातन्जल दर्शन में चित्तवृत्तिनिरोध को योग कहा गया है।[105] किन्तु त्रिक दर्शन में जीव का शिव के साथ एकत्व हो जाना ही योग का लक्षण है। यह एकत्व चाहे किसी भी उपाय से हो वह उपाय योग ही कहलाएगा। उपाय साधना का नाम है जिसका पहले अपादान करके पश्चात् त्याग किया जाता है।[106] वृत्तियों का निरोध एक

महान् दुष्कर कार्य है। सम्पूर्ण वृत्तिनिरोध सम्भव भी है या नहीं कुछ कहा नहीं जा सकता। उसकी अपेक्षा यह उपाय और अनुपाय नाम का योग अत्यन्त सरल और सुकर साधन है। आणव आदि उपायों का पहले उपादान = ग्रहण किया जाता है, पुन: समावेश के सिद्ध हो जाने पर उन सब उपायों का और अन्य क्रिया-कलापों का परित्याग कर दिया जाता है। इसलिए उन्हें उपाय कहा जाता है

दूसरी बात यह है कि चित्त की वृत्तियों का निरोध स्वेच्छा से करना सम्भव नहीं है। उन्हें बलत्कार से दबाना पड़ता है। किन्तु काश्मीर शैव दर्शन के आचार्य बलत्कार से चित्तवृत्ति-निरोध को उचित नहीं मानते। उनका कहना है कि चित्त तो एक तीव्रगामी बलवान् अश्व है। उसे सहसा रोका नहीं जा सकता। बलात् रोका जाए तो उससे हानि की ही सम्भावना अधिक रहती है। जैसे तेज गति से दौड़ते हुए एक अश्व को यदि बलपूर्वक रोका जाता है तो वह कुणित होकर इधर उधर भागता है। इससे अश्व की ही हानि होती है क्योंकि वह अपनी शक्ति के वेग को सहसा रोक नहीं पाता। परिणाम यह होता है कि उसकी गति उच्छृंखल होकर कुमार्ग की ओर दौड़ पड़ती है। यही दशा चित्त की भी है। चित्त को बलात् रोकने से उसके और अधिक विभ्रान्त और चंचल हो जाने की सम्भावना रहती है।[107] हानि होने पर चित्त की उस योग में अनास्था हो जाती है। इसलिए वह मार्ग ठीक नहीं है। इस शैवी साधना में चित्त की वृत्ति को रोका नहीं जाता, अपितु उस वृत्ति को शिवभाव की भावना में लगाया जाता है। चित्त का स्वभाव ही यह है कि कुछ न कुछ चिन्तन अवश्य करता है। तो फिर उसी के स्वभाव के अनुसार उसे किसी विषय में ही क्यों न लगाया जाए। यही सोचकर चित्त की वृत्ति को शिव-भाव में आयोजित किया जाता है।

उक्त शिवभावना का अभ्यास जब दृढ़ हो जाता है तो वह भावना भी छूट जाती है। जैसे चटाई में लब संकुचित होने का संस्कार पक्का हो जाता है तो उसे रस्सी से बांधे बिना भी वह स्वमेव संकुचित ही रहती है। उसे फैलाने का प्रयास किया जाता है तब भी संस्कारवश पुन: उसी रूप में सिमट जाती है। इसी प्रकार जब चित्त में शिव-भावना दृढ़ हो जाती है तो वह भावना का प्रयास भी स्वत: ही छूट जाता है और उस भावना की सहायता के बिना ही परिपूर्ण शिव-भावना का समावेश स्वत: हो जाता है। उस समावेश में चित्त भी अपनी समस्त वृत्तियों के साथ विलीन हो जाता है। वृत्ति-निरोध की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। इस दृष्टि से त्रिक दर्शन

के अनुपाय शाम्भवोपाय शाक्तोपाय तथा आणवोपाय ये चारों ही उपाय योग कहलाते हैं क्योंकि इनमें से किसी एक के द्वारा भी जीव का शिव के साथ ऐक्य स्थापित हो जाता है।

त्रिक आचार के योग की एक अन्य विशेषता भी है। यह वह है कि यह योग शिवसाधकों में सिद्धियों और विभूतियों के प्रति मोह या आकर्षण उत्पन्न नहीं करता। विभूतियाँ माया से उपरंजित होती हैं अत: इनके प्रति साधक का मोह हो ही जाता है। यह मोह साधक को साधना से विरत करता है। अत: इन्हें हेय माना गया है। विभूतियाँ तो मूढ़ लोगों की अल्प-बुद्धि के समान ही होती हैं। अल्पकाल के अभ्यास से ये सिद्धियाँ प्राप्त भी हो जाती हैं और ऐन्द्रजालिक की माया के समान शीघ्र ही नष्ट भी हो जाती हैं। ये सिद्धियाँ योगियों को उसके लक्ष्य से च्युत कर देती हैं और भटकाकर बहुत दूर ले जाती हैं। इसलिए योग के रहस्यवेत्ता विद्वान् लोग साधकों को इनसे दूर रहने का ही परामर्श देते हैं। त्रिक दर्शन के उपायों में इन सिद्धियों का कोई महत्व नहीं है।

त्रिक-आचार के उपदेष्टा भगवान् शंकर का इस विषय में यह कहना है कि भोगासक्त लोग कभी कभी भोगप्राप्त करके बहुत प्रसन्न हो जाते हैं और कभी कभी शोकसंतप्त होकर मानसिक संतुलन खो बैठते हैं। ऐसे लोग योगाभ्यास से कुछ सिद्धियाँ प्राप्त तो कर लेते हैं किन्तु वे सिद्धियाँ उनकी वासना को बढ़ा देती हैं। इन वासनाओं पर विजय पाने के लिए और अधिक कठोर योगाभ्यास की आवश्यकता होती है किन्तु सिद्धियाँ के प्रति जो आकर्षण है वह साधक को उस दिशा में बढ़ने नहीं देता। फल यह होता है कि वासना बढ़ती ही जाती है।[108]

त्रिक-आचार्यों का यह कथन वास्तव में सत्य है। स्वयम् योग-भाष्यकार व्यास ने यह कहा है कि योगाभ्यास के बल से दिव्य ऐश्वर्य स्वत: प्राप्त हो जाते हैं। देवगण स्वयम् उपस्थित होकर उससे कहते हैं कि यहाँ दिव्य-लोक में निवास कीजिए। यह कमनीय भोग है, कमनीय कन्या है, यह जरामृत्यबाधक रसायन है। यह आकाशगामी यान है, ये कल्पद्रुम है, पुण्यसलिला मन्दाकिनी है, अनुकूल दिव्य अप्सराएँ हैं। तुम्हारा वज्रोपम शरीर है। तुमने अपने पुण्यों से ही यह सब उपार्जित किया है। "किन्तु देवगणों के उक्त निमन्त्रण को तृणवत् समझकर ठुकरा देना चाहिए।[109] यदि योगी का मन उन दिव्य भोगों के प्रति जरा सा भी चलायमान हो गया तो दीर्घकाल की योग सम्पत्ति एक क्षण में नष्ट हो जाएगी। इसलिए त्रिक दर्शन के आचार्य इन योगसिद्धियों के प्रति आकृष्ट नहीं होते। त्रिक

दर्शन के शाम्भवादि उपायों में इस प्रकार के पतन का भय नहीं रहता। स्वच्छन्द तन्त्र में कहा गया है :

यस्य ज्ञेमयो भाव: स्थिर: पूर्ण: समन्तत: ।
मनो न चलते तस्य सर्वावस्थागतश्च तु ॥

अर्थात् जिस शिव-साधक का भाव सब ओर से स्थिर पूर्ण हो गया है वह कनकामिनी जैसे तुच्छ भोग्य वस्तुओं में मूढ़ता को प्राप्त नहीं होता। वह चाहे किसी भी अवस्था में रहे उसका मन चलायमान नहीं होता।

इस प्रकार कहा जा सकता है कि त्रिक दर्शन का पूर्वोक्त उपायात्मक योग ही सर्वश्रेष्ठ, सर्वातिशायी और निरापद होने के कारण सर्वात्मना ग्राह्य है ।

संदर्भ सूची

1. इह तावत्समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृतेर्हेतु र्ज्ञानं मोक्षैककारणम् ॥ तं० आ० 1/22
2. मलमज्ञानमिच्छान्ति संसाराकुंरकारणम् । तदैव 1/23
3. अज्ञानं तिमिरं पारमेश्वर-स्वातन्त्र्यमात्र-समुल्लसित स्वरूपगोपनासतत्वम् आत्मानात्मनोरन्यथाभिमान स्वभावं अपूर्ण ज्ञानं तदैव आणवममलम् । तं० वि० 1/23
4. अज्ञानं किल वन्धहेतुरुचित शास्त्रे मलं तत्स्मृतम् । तं० सा० पृ० 5
5. अज्ञानमिति न ज्ञानाभावश्चाश्चातिप्रसंगत: ।
स हि लोष्ठादिकेऽप्यसित न च तवयास्ति संसृति: ॥ तं० 1/25
6. अतो ज्ञेयस्य तत्वस्य सामस्त्येनाप्रथात्मकम् ।
ज्ञानमेव तदज्ञानं शिवसूत्रेषु भाषितम् ॥ तं० 1/26
चैतन्यमात्मा ज्ञातं च बन्ध इत्यत्र सुत्रयो: ।
संश्लेषेतर योगाभ्यामयमर्थ: प्रदर्शित: ॥ तं० 1/27
7. द्वैतप्रथा तदज्ञानं तुच्छत्वाद बन्ध उच्यते ।
तत एय समुच्छेद्यमित्यावृत्ता निरूपितम् ॥ तं० 1/30
8. मोक्षो हि नाम नैवाम्य: स्वरूप प्रथनं हि स: । तं० वि० 1/31
9. (क) अव्यक्तनाम्नी परमेश शक्तिरनाद्य विद्या त्रिगुणात्मिका या ।

कार्यानुमेवा सुधियैव माया यया जगत् सर्वमिदं प्रसूयते ।।
विवेक चूड़ामणि 110

(ख) सन्नाप्यसन्नाऽप्युभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्यु-
भयात्मिका नो ।

सागाप्यनंगाप्युभयात्मिका नो महादभुताऽनिर्वचनीय रूपा ।।
वि० चू० 111

10. अतएवभेदाभेदयो निरोधं दुःसमर्थमभिमन्थमानैरेकेरविद्यात्वेन अनिर्वाच्यत्वम, अपरैश्च अभासलग्नतया सांवृतत्वमभिदधद्भिः आत्मा परश्च वंचितः । ई० प्र० वि० 2/3/14

11. ज्ञानाज्ञन स्वरूपं यदुक्तं प्रत्येकमप्यदः ।
द्विधा पौरुष बौद्धत्व भिदोक्तं शिवशासने ।।
तत्र पुसा यदज्ञानं मलाख्यं तज्जमप्यथा ।
स्वपूर्ण चित्क्रियारूप शिवतावरणात्कम् ।।
संकोचि यत् क्रियारूपं तत्पशोरपि कल्पितम् ।
तज्ज्ञानं न बुद्ध्यंशोऽध्यवसायाद्यभावत ।। तं० 1/36-38

12. परमार्थ विकल्पेऽपि नावलीयेत पण्डितः ।
को हि भेदो विकल्पस्य शुभे वाप्यथवाऽशुभे ।। तं० वि० 1/24

13. अहमित्यमिदं वेद्मीत्येवमध्यवसायिनी ।
षट्कंचुकाबिलाणुत्थ प्रतिबिम्बनतं यदा ।।
धीर्जायिते तदा तादृग् ज्ञानमज्ञान शब्दितम् ।
बौद्धं तस्य च तत्पौरुमं पोषणीर्य च पोष्ट्र च ।। तं० 1/39-40

14. पोषणीयं कार्यमित्यर्थः । कामशोकाद्यावेशभाजो हि तत्मयतानु-सन्धानादिना तत्दर्शसाक्षात्कारात्मकमविकल्पकं ज्ञानमुदियात् ।
तं० वि० 1/40

15. क्षीणे तु पशु संस्कारे पुंसः प्राप्त परक्षिथते ।
विकस्वरं तद्विज्ञानं पौरुषं निर्विकल्पकम् ।।
विकस्वराविकल्पात्म ज्ञानौचित्येन यावसा ।
तद् बौद्धं यस्य तत्पौंस्नं प्रग्वत्पोष्यं च पोष्ट्र च ।। तं० 1/41-42

16. दीक्षया गलितेऽप्यन्तरज्ञाने पौरुषात्मानि ।
धीगतस्यानिवृत्तत्वाद् विकल्पो हि सम्भवेत् ।।
देहसद्भावपर्गन्तमात्म भावो यतो धियि ।
देहान्तेऽपि न मोक्षः स्यात् पौरुषाज्ञानहानितः ।। तं० 1/48-49

17. बौद्ध ज्ञानेन तु यदा बौद्धमज्ञानजृम्भितम् ।

विलीयते तदा जीवन्मुक्तिः करतले स्थिता ।। तं० 1/44

18. मलमज्ञानमिच्छन्ति संकाराकुर कारणम् । तं० 1/23
19. मल धारणे—मलते मलते—धातु पाठ 1/332
20. परमं यत् स्वातन्त्र्यं दुर्घटसम्पादनं महेशस्य । प० सा० 15
21. स एव ह्यहम्भावात्मा विमर्शो देवस्य क्रीड़ादिमयस्य शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञान-क्रिये । प्रकाशरूपता ज्ञानं तत्रैव स्वातन्त्र्यात्ता विमर्शः क्रिया । ई० प्र० वि० 1/8/11
22. अणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः —मुण्डक० 1/3/11
23. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्याप्यबोधता ।
    द्विधाणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ।। तं० वि० 1/23
24. भिन्नवेद्य प्रथाऽत्रेव मायाख्यम् । तदेव
25. मायाकृतत्वेन मायीयता मलत्रयस्यापि । ई० प्र० वि० 2/2/5
26. तस्य या एवमिति विचित्ररूपेच्छा सैव क्रिया इति सम्बन्धः ।
    तेन महेश्वर एव भगवान् विश्वकर्ता । ई० प्र० वि० 2/4/21
27. तथापि समस्तेतर निर्माणमध्य एवेदमपि परमेश्वरेणैव निर्मितं यद-विचलस्तस्य कुम्भारपशोर्मिथ्या कर्तृत्वाभिमानः प्रतिमुव इवाधर्मण-ताभिमानः । ई० प्र० वि० 2/4/9
28. एवमेवतदायुष्मंस्तथा ह्येवाविजानताम् ।
    न किंचन फलं क्वापि शुभाशुभ समुदंभवम् ।।
    इत्थं ये तु न जानन्ति भुन्जते ते विपश्चितः ।
    तदेव कर्मसज्ञं तु मलज्ञानमूलकम् ।। मा० वि० वा० 1/314-315
29. मौक्षो हि नाम मैवान्यः स्वरूप प्रथनं हि सः । तं० वि० 1/31
30. सर्वाध्वनोऽपिनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् । तं० वि० 1/34
31. शैवः सिद्धो भाति मूर्ध्नातिरेषांमुक्तः सृष्टौ पुनरभ्येति नाथः । तदैव
32. सांख्य वेदादि संसिद्धान् श्रीकण्ठस्तदहर्मुखे ।
    सृजत्येव पुनस्तेन न सम्यंग् मक्तिरीदृशी ।। तदैव
33. यदेव आत्मनो लक्षणं तदेव मोक्षस्ल इति तन्नान्तरीयकत्वादेव अस्य लक्षणसिद्धेः पृथक् लक्षणं न कृतम् । तं० वि० 1/31
34. स्वतन्त्रात्मातिरिक्तस्तु तुच्छोऽनुच्छोऽपि कश्चन ।
    न मोक्षो नाम तन्नास्य पृथङ् नामापि गृह्यते ।। तं 1/31
35. तदेवं व्यपोहिते व्यामोहे स्थितेऽपि तत्संस्कारमात्र विधृते शरीरादौ अनात्मताभिमान पुरस्सर एवात्मताभिमाने घटादौ च प्रकाशमान एयानात्मताभिमाने ज्ञातेन्द्रजाल तत्त्वस्य पश्यतोऽपीन्द्रजालं यथा न

तत्त्वतो व्यामोहस्ततथा प्रत्यभिज्ञातात्मतत्त्वस्य ।
ई० प्र० वि० 2/3/17

36. इत्थं तन्त्रं रुद्रशिव भैरवाख्यं सिथतं त्रिधा ।
वस्तुतो हि त्रिधैवेयं ज्ञानसत्ता विजृम्भते ।'
भेदाभेदेन भेदेन तथा चाभेद सान्धिना ।।
मा० वि० वा० 1/391-392

37. ते तु यदीयैश्वर्य विप्रुड्भिरीश्वरीभूता:, स भगवान् अनवच्छिन्न-प्रकाशानन्द स्वरूप स्वातन्त्र्य परमार्थो महेश्वर: ।
ई० प्र० वि० 1/1/1

38. मुख्यत्वं कर्तृतायाश्च बोधस्य च चिदात्मन: ।
शून्यादौ तद्गुणे ज्ञानं तत्समावेशलक्षणम् ।। ई० प्र० 3/2/12

39. यदा खलु दृढ शक्तिपाताविद्ध: स्वयमेव इत्यं विवेचयति सकृदेव गुरुवचनमवधार्य, तदा पुनरूपाय-विरसितो नित्योदित: अस्य यमावेश:
तं० सा० पृ० 8

40. तस्मात् समस्तमिदमेकचिन्मात्रतत्वं कालेनाकालितम् देशेनापरिच्छिन्नम् उपाधिभिरम्लानम् आकृतिभिरनियन्त्रिम्, शब्दैरसंदिष्टम् प्रमाणैरप्रपन्चितम्,...स्वतन्त्रम् आनन्दघनं तत्वम्, तदैव चाहं तत्रैवान्तर्मेवि विश्वं प्रतिबिम्बितम्, एवं दृढ विविन्चानस्य शश्वदेव पारमेश्वर: समामेशो निरूपायक एव । तस्य च न मन्त्रपूजाध्यान चर्यादि नियन्त्रणा काचित् । तं० सा० पृष्ट 9

41. सिद्धानां योगिनीनां च दर्शन चरुभोनम् ।
मथनं संक्रम: शास्त्रे साधनं गुरुसेवनम् ।।
इत्याद्यो निरूपायस्य सक्षेपोऽयं वरारने । तं० वि० 2/2

42. उपायैर्न शिवो भाति भान्ति ते तप्रसादत: ।
स एवाहं स्वप्रकाशो भासे विश्वस्वरूपक: ।।
इत्याकर्ण्य गुरोर्वाक्यं सकृत्केचन निश्चिता: ।
बिना भूयोऽनुसन्धानं भांन्ति संविन्मया: स्थिता: ।। तदैव

43. उपाय जालं न शिवं प्रकाशयेद घटेन किं भाति सहस्रदीधिति: ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शन: स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत् क्षणात् ।।
तं० सा० पृ० 9

44. अनुदरा कन्या इति वदल्पार्थत्वेऽपि भावात् अल्पोपायत्वमित्यर्थ: । प्राप्तव्ये हि प्राप्ते किं नाम निरर्थकैरायासकारिभि र्भावनादिभिरिति भाव: तं० वि० 2/2

45. सोपायत्वेऽपि इच्छा वा ज्ञानं वा क्रियावोभ्यपाय इति त्रैविध्यं शाम्भवशाक्ताणवभेदेन समावेशस्य। तं० सा० पृ० 7

46. अभेदोपायमत्रोक्तं शाम्भवं शाक्तमुख्यते।
भेदाभेदात्मकोपायं भेदापायं तथाणवम्।। तं० 1/230

47. यदेतत्प्रकाशरूपं शिवतत्व मुक्तं तत्र अखण्डमण्डले यदा प्रवेष्टुं न शक्नोति तदा स्वातन्त्र्यशक्तिमेवाधिकां पश्यन् निर्विकल्पकमेव भैरवसमावेशमनुभवति। तं० सा० पृष्ठ 10

48. निराधारं मनः कृत्वा विकल्पान्न विकल्पयेत्।
तदात्मपरमात्मत्वे भैरवो मृगलोचने।। वि० भै० 108

49. विकल्पबलादेव जन्तवोबद्धमात्मानं अभिमन्यन्ते। स अभिमानः संसारप्रतिवन्धहेतुः। प्रतिद्वन्द्विरूपो विकल्प उदितः संसार-प्रतिबन्धहेतुः अतः प्रतिद्वन्द्विरूपो विकल्प उदितः संसारहेतुं दलयितुम् इत्यभ्युदय हेतुः —तं० सा० पृष्ठ 21

50. उच्चाररहितं वस्तु चेतसैव विचिन्तयन्।
यं समावेशमभ्येति शाक्तः सोऽत्राभिधीयते।। मा० वि० तं० 2/22

51. स च एवं रूपः समस्तेभ्येः परिच्छिन्नस्वभावेभ्यः शिवान्तेभ्यस्तत्वे-भ्यो यदुत्तीर्णं अपरिणिन्न संविन्मात्ररूपं, तदैव च परमार्थः तत् वस्तुव्यवस्थानं तद् विश्वस्योजः तेन प्राणिति विश्वम्, तदैव चाहं अतो विश्वोत्तीर्णो विश्वात्मा चाहम् इति। तं० सा० पृ० 21

52. स च भावना भण्यते। अस्फुटत्वात् भूतमयर्थमभूतमिव स्फुटत्वापादनेन भावयते ययेति —तदैव

53. सत्तर्क एव साक्षात् तत्रोपायः। स च बहुप्रकारतया संस्क्रयो भवति। तद्यथा यागो होमो जपो व्रतं योग इति। तं० सा० पृ० 25

54. तत्र भावानां सर्वेषां परमेश्वर एव स्थितिः। नान्यत् व्यतिरिक्त-मस्ति, इति विकल्परूढि प्रसिद्धये परमेश्वर एव सर्वभावार्पणं यागः।
तदैव

55. सर्वे भावाः परमेश्वरतेजोमया इति रूढि विकल्पप्रद्धिये: परमेश्वर-संविदनलतेजसि समस्तभावग्रास रसिकताभिमते तत्तेजोमात्रावशेषत्व-सह समस्तभाव विलापनं होमः। तं० सा० पृ० 26

56. एव विधं तत्परं तत्वं स्वस्वभावभूतम्, इत्यन्तः परामर्शन जपः।
—तदैव

57. परमेश्वरसमताभिमानेन देहस्यापि घटादेरपि अवलोकनं व्रतम्
—तं० सा० पृ० 27

58. तत्स्वरूपानुसन्धाआत्मा विकल्पविशेषो योग: : तदैव

59: न मे बन्धो न मे मोक्षस्तौ मलत्वेन संस्थितौ ।
प्रतिपत्यानया स्नाम निर्मलीकरणं मतम् ।। शिवदृष्टि 7/87

60. दु:खे वापि सुखे वापि सर्वासु प्रतिपत्तिषु ।
शिबोऽस्मीति मनोल्हादो जलस्नानं परं मतम् ।। शिव दृष्टि 88

61. चिन्निर्मला तन्मयं हि जगदस्सि तथाविध: ।
इत्यास्था जलशौचेन शुद्धिस्नानं तथोदितम् ।। तदैव 89

62. पूजनान्नास्ति मे तुष्टिर्नास्ति खेदो ह्यपूनात् ।
पूजकैरविभेदेन सदा पूजेति पूजनम् ।। तदैव 97

63. येन येनेन्द्रियेणार्थो गृह्यते तत्र तत्र सा ।
शिवता लक्षिता सत्या तद्ध्वानमपि वर्ण्यते ।।
यस्यां यस्यां प्रतीतौ तु शिवोऽस्भीति मनोगम: ।
तस्यां तथैव चिन्तायां तद्ध्यानमणि जल्पितम् ।। तदैव 79-80

64. एक वारं प्रमाणेन शास्त्रद्वा गुवाक्यत: ।
ज्ञाते शिवन्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना ।।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा ।
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावना करणादिना ।।
सर्वदा पिपृमात्रादि तुल्यदाढ्र्येन सत्यता ।। ई० प्र० वि० 1/1/1

65. यदा तूपायान्तरमसौ स्वसंस्काराथ विकल्पोऽपेक्षते, तदा बुद्धिप्राण-देहघटादिकान् परिमितरूपान् उपायत्वेन गृण्हन् अणत्वं प्राप्त आणवं ज्ञानमाविर्भावयति । तं० सा० पृष्ठ 35

66. तप: स्वाध्वायेश्वर प्राधिधानानि क्रियायोग: पा० यो० सू० 2/1

67. उच्चारकरण ध्यान वर्ण स्थान प्रकल्पनै: ।
यो भवेत् स ममावेश: सम्यगाणव उच्यते ।। मा. वि. तं. 2/21

68. तत्र प्रमातृ प्रमाण प्रमेयरूपस्य बन्ह्यर्कसोमत्रितयस्य संघट्टं ध्यायेत् । यावदसौ महाभैरवाग्नि: ध्यानवायसमिद्धाकार: सम्पद्यते ।
तं. सा. पृष्ट 36

69. निजानन्दे प्रमात्रंश मात्रे हृदि पुरा स्थिति: । तं. 5/44

70. शून्यतामात्र विश्रान्ते निरानन्दं विभावयेत् । तदैव

71. प्राणोदये प्रमेये तु परानन्द विभावयेत् । तदैव

72. समानभूमिमागम्य ब्रह्मानन्दमयो भवेत् । तदैव

73. उदानबन्हौ विश्रान्नो महानन्द विभावयेत् । तं. 5/47

74. निरूपाधिर्महाव्याप्ति र्व्यानाख्योपाधि वर्जिता ।

तदा खलु चिदानन्दो यो जडानुपबृंहितः ।। तं 5/42

75. तदैव जगदानन्दमस्मभ्यं शम्भुरूचिवान् ।
तत्र विश्रान्तिराधेया हृदयोच्चारयोगतः ।। तं. 5/22

76. अत्र भावनया देह गतोपायैः परे पथि ।
विविक्षोः पूर्णतास्पर्शात् प्राणानन्दः प्रजायते ।। तं. 5/101

77. ततोऽपि विद्युदापातसदृशे देहवर्जिते ।
धाम्नि क्षणं समावेशात् उद्भवः प्रस्फुटं प्लुतिः ।। तं. 5/102

78. जल पांसुवदभ्यस्त संविद्देहैक्य हानितः ।
स्वबलाक्रमणादेह शैथिल्यात् कम्पमाप्नुयात् ।। तं. 5/103

79. गलिते देह तादात्म्य निश्चयेऽन्तुर्मुखत्वतः ।
निद्रायते पुरा यावन्नरूढः संविदात्मनि ।। तं. 5/104

80. ततः सत्यपदे रूढो विश्वात्मत्वेन संविदम् ।
संविदन् घूर्णते घूर्णिर्महाव्याप्तिर्यतः स्मृता ।। तं. 5/105

81. इह ग्रह्मादिभिः सप्तभिः प्रकारैर्भिन्न करणं नाम बोधपूर्वकमभ्यासं प्राहुः । बोध्यन्यग्भावेन स्वात्मैकतानतामापन्नं बोधमेव कथितवन्तः ।
तं. वि. 5/129

82. अस्मिन्नेवोच्चारे स्फुरन् अव्यक्तानुकृतिप्रायो ध्वनिर्वर्णः ।
तदभ्यासात् परसंवित्तिलाभः । तं. सा. पृष्ठ 42

83. अर्थ बाह्यविधिः । स एव स्थानकल्पनशब्देनोक्तः ।
तत्रत्रिधा स्थानम्—प्राणवायुः शरीरं बाह्यं च । तं. सा. पृ. 45

84. यथा यथा यत्र यत्र द्वादशान्ते मनः क्षिपेत् ।
प्रतिक्षणं क्षीणंसृत्ते वैलक्षण्यं दिनैर्भवेत् ।। वि. भै. 51

85. इह तावत् समस्तेषु शास्त्रेषु परिगीयते ।
अज्ञानं संसृतेर्मूरं ज्ञानं मोक्षैक कारणम् ।। तं 1/22

86. कालस्तु भेदकस्तस्य स तु सूक्ष्मः क्षणो मतः ।
सौक्षम्यस्य चावधिर्ज्ञानं यावत्तिस्ठति स क्षणः ।। तं 7/25

87. अन्यथा न स निर्वक्तु निपुणैरपि पार्यते । तं. 7/26

88. न सोऽस्ति प्रन्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते ।। वाक्यपदीयम्

89. अखिल कालाध्वानं प्राणोदय एव पश्यन् सृष्टिसंहारोश्च विचित्रान् निःसंख्यास्तत्रैव आकलमन्, आत्मन एव पारमैश्वर्यं प्रत्यभिजानन् मुक्त एव भवति । तं. सा. पृष्ठ 61

90. पृथिव्यां निवृत्तिः निवर्तते यतस्तत्वसर्ग इति । जलादिप्रधानान्ते वर्गे

प्रतिष्ठा ।'''पुमादिमायान्ते विद्या ।'''शुद्धविद्यादिशक्त्यन्ते शान्ता कंचुक तरंगोपशमात् । शिवतत्वे शान्तातीता । एवं पंचेव कला: षट्त्रिंशत्तत्वानि । तं. सा. पृष्ठ 110

91. तं समस्तमध्वानं देहे विलाप्य, देहं च प्राणे, तं धियि तां शून्ये, तत् संवेदने निर्भर परिपूर्ण संवित् सम्पद्यते । तं. सा. पृष्ठ 63

92. यतत् सामनस्यं तद् ब्रह्म । अस्मात् सामनस्यात् अकल्पात् कालात् निमेषोन्मेष मात्रतया प्रोक्या शेष काल प्रसर त्रिलय वक्रभ्रमोदय: ।
तं. सा. पृष्ठ 56

93. दीक्षा में उपयुक्त होने वाली वस्तुएँ—श्वेत पुष्प, तिल. ब्रीहि, धृत, आम्रपल्लव, कुश, सिद्धार्थ, खड़ी, करणी, कर्तरी, पाशबन्धनसूत्र बार्धानी. शिवकुम्भ, 24 समिधा, सपत्र शाखा, दन्तकाष्ठ, चरूस्थाली, सुक सुव, चावल, दूध, मण्डल की रचना के लिए पाँच प्रकार का रंगीन चूण, शिष्य की आखें बन्द करने के लिए वस्त्र खण्ड आदि ।

94- अदीक्षिताना पुरतो नोच्चरेच्छिवपद्धतिम् । तं. वि. 1/44

95. न मीमांस्या विचार्या वा मन्त्रा: स्वल्पधिया नरै: ।
प्रमाणमागमं कृत्वा श्रद्धातव्या विचक्षण: ।। तं. वि. 1/46

96. तस्मात् प्रविततात् बन्धात् परस्थानविरोधकात् ।
दीक्षव मोचयत्वर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि ।। त. 1/43

97. दीयते ज्ञानसद्भाय: क्षीयन्त कर्मवासना: ।
दानक्षपण संयुक्ता दीक्षा तेनेह कीर्तिता ।। तदैव

98. यजन्ति विविधैर्यज्ञैर्मन्त्रत्वविशारदा: ।
गुरुतन्त्राद्यनुज्ञात दीक्षासिच्छिन्न संशया: ।। तं. वि. 1/46

99. तत्र बह्य स्थण्डिलम् आनन्दपूर्ण बीरपात्रम अरूण: पट: पूर्वोक्तमपि वा लिंगादि । तं. सार—आ. 22

100. स च षोढा बाह्ये, शक्तौ, स्यदेहे, यामले, प्राणे संविदि चेति । तत्र चोत्तरोत्तर उत्कृष्ट: । —तदैव

101. एवमन्तर्यागमाज्ञादेव वस्तुत: कृतकृत्यता । सत्यत: तदाविष्टस्य तथापि हिरपि कार्यो यागो वच्छेदहानायैव, योऽपि तथा समावेश भाक् न भवति तस्य मुख्यो बहिर्याग: तदभ्यासात् समावेशलाभो यतस्तस्यापि तु पशुता तिरोधानाय अन्तर्याग: । तन्त्रसार आ. 13

102. इतिप्रकटितो मया सुघट एष मार्गो नवो
महागुरुभिरुच्यते स्म शिव-दृष्टिशास्त्रे यथा ।
तदत्र निदधत्पदं भुवन कर्तृतामात्मनो

त्रिभाव्य शिवतामयीमनिशमाविशन् सिद्धयति ।। ई. प्र- 4/1/16

103. स्फुटोपायमनायाममनारम्भं महाफलम् ।
श्रोतुमिच्छामि देवेश योगं योगविदां वर ।। ई. प्र. कृष्णानन्दसागर
पृ. 314

104. प्राणायामादिकैरंगैर्योगाः स्युः कृत्रिमा यतः ।
तेन नाकृतकस्यास्य कलामर्हन्ति षोडशीम् ।। तदैव

105. योगश्चित्तवृत्तिनिरोध: —पा. यो. सु.1/2

106. उपादायाणि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते । तं. आलोक

107, स्वं पन्थानं ह्यस्येव मनसो ये निरुन्धेते ।
तेषां तत्खण्डनायोगात् धावत्युत्पथ कोटिभिः ।।
मा. वि. वा. 2/109

108. न चैतदप्रसन्नेन शंकरेणोपदिश्यते ।
कंथचिदुपजब्धेऽपि वासना न प्रजापते ।।
वासनामात्रलाभेऽपि योऽप्रमतो न जायते ।
तमनित्येषु भोगेषु योजयन्वि विनायकाः ।। ई. प्र. वि. पृ. 315

109. (क) स्थान्युनिमन्त्रणे संगस्मयाकरणं पुनरनिष्ट प्रसंगात्
पा· यो. सू. 3/51

(ख) "भो इहास्यतामिह रम्यताम् कमनीयोऽयं भोगः कमनीयेयं कन्या, रसायनमिदं जरामृत्यू बाधते, वैहायसमिदं यातममी कल्पद्रुमाः पुण्या मन्दकिरी सिद्धा महर्षयः, उत्तमा अनुकूला अप्सरसो दिव्ये श्रोत्रचक्षुषी वज्रोपमः कायः स्वगुणैं सर्वमिद मुपार्जित मायुष्मता । प्रतिपद्यताम् इदमक्षयमजरममरस्थानं देवानां प्रियम् । इति । एवमभिधीयमानः हंगदोषान् भावयेत्
—व्यास भाष्य 3/51

9

उपसंहार

त्रिक दर्शन की तत्वमीमांसा की विशेषता

त्रिक दर्शन तत्वसंख्या की दृष्टि से अन्य समस्त दर्शनों से समृद्ध है। छत्तीस तत्व अन्यत्र नहीं पाए जाते। इस दर्शन की सर्वतो-विलक्षण विशेषता यह है कि इन छत्तीस तत्वों में कोई भी तत्व मिथ्या नहीं है। सभी सत्य हैं सभी सनातन हैं। दूसरी विशेषता है तत्वों का मौलिक विवेचन। त्रिक आचार्यों ने तत्वों के मूल कारण का जैसा अन्वेषण और उनके स्वरूप का जैसा व्याख्यान किया है अन्य दर्शनों ने उसे छुआ भी नहीं। सांख्य की पहुँच त्रिगुण से आगे नहीं है। अन्य शास्त्रों ने भी त्रिगुण का आश्रय लिया है किन्तु त्रिगुण की उत्पत्ति कहाँ से और कैसे हुई यह सोचने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी। त्रिक-दर्शन ने त्रिगुण के कारण के भी कारण की उत्पत्ति का रहस्य खोज निकाला है। पुरुष और प्रकृति के ऊपर के तत्वों की खोज त्रिक दर्शन के अतिरिक्त किसी ने नहीं की।

संसार जिस रूप में दिखाई दे रहा है यह उसी रूप में सत्य है। इसमें दिखाई देने वाला उत्कृष्ट से उत्कृष्ट और निकृष्ट से निकृष्ट तत्व भी शिवरूप ही है। इस तथ्य का रहस्य स्वातन्त्र्य-सिद्धांत में छिपा हुआ है। संसार कर्म अविद्या माया संस्कार आदि पदार्थों के आदि और अनादि होने का विचार त्रिक आचार्यों ने ही युक्तियुक्त ढंग से किया है। देशकाल के सम्बन्ध पर भी इसी दर्शन में विचार हुआ है।

अन्य शास्त्र किसी न किसी वाद से जुड़े हुए हैं, जैसे विवर्तवाद उत्पत्तिवाद परिणामवाद आदि, किन्तु त्रिक दर्शन वाद से नहीं अपितु सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है। अन्य दर्शन किसी ऐसे तत्व की कल्पना पहले कर लेते हैं जिनकी सिद्धि प्रमाणों से नहीं हुई होती, पुनः उसी कल्पित तत्व का अवलम्ब लेकर जगत् की उत्पत्ति पर विचार करते हैं। त्रिक दर्शन ऐसा नहीं करता। वह तो पहले उस तत्व का प्रतिपादन करता है जो स्वतः सिद्ध है। फिर जो वस्तु जिस भूमिका में वर्तमान है उसकी उसी भूमिका में सत्ता को स्वीकार करके उसका निरूपण करता है। इसलिए यह सिद्धान्त का प्रतिपादक है वाद का नहीं। "वाद" वह होता है

जो पश्चात् सिद्ध होता है सिद्धान्त उसे कहते हैं जो स्वत: सिद्ध होता है।

त्रिक दर्शन के तत्व भी सनातन हैं और सिद्धान्त भी। परमेश्वर की शुद्धसृष्टि पर तो किसी दार्शनिक ने विचार ही नहीं किया था। शैव दार्शनिकों ने शुद्ध तत्वों का अन्वेषण कर सचमुच दर्शन जगत् में एक क्रान्ति का सूत्रपात किया है। दूसरी ओर अकल से लेकर सकल तक सात प्रमाताओं की कल्पना भी सर्वथा नूतन है।

सिद्धान्तों का स्वातन्त्र्य भी स्पष्ट ही देखने में आता हैं। परमेश्वर सदा से स्वतन्त्र रहा है स्वतन्त्र ही रहेगा। परतन्त्र बनने की लीला भी उसकी अनादि काल से चल रही है, चलती ही रहेगी। अपने स्वभाव को भूलकर पति से पशु, सर्वज्ञ से अल्पज्ञ, सर्वेश्वर से अनीश्वर, नित्यमुक्त से मुक्त और भूमा से संकुचित बनने का नाटक वह सदा से करता चला आ रहा है। सदा ही करता रहेगा। विस्मृति के पश्चात् निज स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान भी वह सदा से करता आ रहा है आगे भी करता रहेगा। यही त्रिक-शास्त्र के सिद्धान्तों की सनातनता है।

त्रिक-दर्शन की एक अन्य विशेषता भी है। वह है समन्वयवादी दृष्टि-कोण। यद्यपि यह पूर्ण अद्वयवादी दर्शन है फिर भी भेदावादी और भेदा-भेदवादी शास्त्रों को भी यह असत्य नहीं कहता। कपिल, कणाद, गौतम, पतन्जलि, बादरायण, बुद्ध महावीर आदि सभी आप्त पुरुष हैं, सभी उच्च-कोटि के सिद्ध पुरुष हैं। उनके वचन मिथ्या कैसे हो सकते हैं। त्रिक दर्शन ही इनके सिद्धान्तों में समन्वय करता है। इन सभी महापुरुषों की दृष्टि किसी न किसी भूमिका की ही दृष्टि है। अत: वह सत्य ही है। भले ही वह अन्तिम सत्य नहीं है किन्तु जितनी भी सत्य है वह उतने ही अर्थ में ग्राह्य भी है। त्रिक दर्शन इन दर्शनों की सत्यता की प्रतिपादन उन्हें सुषुप्ति और तुर्या दशा की पृथक् पृथक् भूमिकाओं की स्थिति मानकर करता है। क्योंकि द्वैत या अद्वैत सब उसी के स्वातन्त्र्य में तो प्रतिष्ठित हैं। अत: अन्य शास्त्र त्रिक दर्शन के ही सिद्धान्तों का खण्ड़श: प्रतिपादन करते हैं किन्तु त्रिक दर्शन में उनका परिपूर्ण विकास हुआ है।

तत्वज्ञान की उपयोगिता

जिज्ञासा होती है कि छत्तीस तत्वों के ज्ञान से लाभ क्या होगा? क्या प्रयोजन है इनको जानने का? तो इसके उत्तर में त्रिक शास्त्र के आचार्यों का यह स्पष्ट कथन है कि तत्वज्ञान से पुरुष अपने स्वतन्त्र संविद्-रूप को जान र शिव ही हो जाता है। शुद्ध संवित् ही शिव है। तत्वों के ज्ञान के साधक यह प्रत्यभिज्ञान करता है कि यह सब तो मेरा अपना ही

स्वरूप है। छत्तीस तत्वों के रूप में मैं ही तो फैला हुआ हूँ। यह प्रत्यभिज्ञा होते ही साधक कृतकृत्य हो जाता है।

प्रमाणों से, शास्त्राध्ययन से या गुरुवाक्य से अथवा शक्तिपात से या आणव आदि उपायों से यदि एक बार यह दृढ़ निश्चय हो जाए कि यह तत्व-प्रपन्च शिवमय ही है तब उस साधक के लिए कोई करणीय शेष नहीं रह जाता। जैसे यदि सुवर्ण की परीक्षा कर लेने पर यह ज्ञान हो जाए कि वह सुवर्ण ही है तो फिर उसे निकषोपल पर घिसने की अथवा अग्नि में तपाने की आवश्यकता नहीं रह जाती है। इसी प्रकार तत्वज्ञान हो जाने पर कृतकृत्यता समाप्त हो जाती है। क्या माता पिता का ज्ञान हो जाने पर उनको जानने के लिए किसी प्रमाण का आवश्यकता होती है? यह तो जन्मना ही सिद्ध है कि ये हमारे माता पिता हैं।[1]

यदि यह कहो कि आत्मा तो परम स्वातन्त्र्यरूप ही है उसका प्रत्यभिज्ञान करने और न करने से क्या अन्तर पड़ता है। बीज अंकुरोत्पादन में समर्थ है। सहकारियों के सहाय्य से वह अंकुर को उत्पन्न करेगा ही। उसका प्रत्यभिज्ञान किया जाए या न किया जाए। प्रत्यभिज्ञान न करने से क्या वह अंकुर को उत्पन्न नहीं करेगा? तो यह कहना ठीक नहीं। आचार्य अभिनव गुप्त का उत्तर है कि अर्थ-क्रिया दो प्रकार की होती है। एक तो बाह्य अर्थ-क्रिया है जो अंकुरादि के रूप में दिखाई देती है। दूसरी प्रमातृ-विश्रान्ति के चमत्कार के सार से युक्त प्रीत्यादिरूप होती है। पहली अर्थ-क्रिया में तो वास्तव में प्रत्यभिज्ञान की आवश्यकता नहीं होती किन्तु दूसरी अर्थक्रियाओं में तो प्रत्यभिज्ञान की अपेक्षा रहती ही है। मैं ही महेश्वर हूँ ऐसी आत्म-विश्रान्तिरूप प्रत्यभिज्ञा ही जीवन्मुक्ति प्रदान करती है। तत्व-ज्ञान का यही प्रयोजन है।[2]

तत्वों का होना उतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना तत्वों का प्रत्यभि-ज्ञान। प्रत्यभिज्ञान न हो तो वस्तु का होना न होना समान है। दमयन्ती के निकट नल खड़ा हुआ है किन्तु दमयन्ती उसे पहचानती नहीं है यही तेरा प्रियतम है। उसको साधारण जन मानकर सन्तुष्टि प्राप्त नहीं कर सकी। उसी प्रकार यह अपना आत्मा स्वयम् महेश्वररूप है किन्तु प्रत्य-भिज्ञान न होने के कारण अपना ऐश्वर्य दिखाने में समर्थ नहीं होता। इस-लिए तत्वों का ज्ञान आवश्यक है।

त्रिक दर्शन की लोकोपयोगिता

त्रिक दर्शन के सिद्धान्त महान् लोकोपयोगी हैं। यह निराशावादी दर्शन नहीं है, न ही संसार को असत्य मानता है। भुक्ति और मुक्ति दोनों में समानरूप से श्रद्धा रखता है। भारतीय दर्शन की अन्य शाखाओं पर

प्राय: यह दोष लगाया जाता है कि यह जीवन से पलायन सिखाता है। संसार को दु:खमय बताकर उससे दूर भागने के लिए कहता है। समस्याओं से उलझने के स्थान पर समस्याओं से बचकर निकलने का उपदेश करता है।

उपर्युक्त आपेक्ष किसी सीमा तक सत्य भी है। भारतीय दर्शन भौतिक सम्मृद्धि के प्रति, राष्ट्र और समाज की राजनीतिक आर्थिक आदि समस्याओं के प्रति तथा देश की सामूहिक प्रगति के प्रति मन में औदासीन्य उत्पन्न करता है। यही कारण है कि भारत में भौतिक प्रगति के प्रर्याप्त साधन होते हुए भी भारत पर्याप्त उन्नति नहीं कर रहा है। नयी नयी समस्याएँ नित्य प्रति जन्म ले रही हैं। हमारा रक्षाकवच भी अमेद्य नहीं है। युद्धोपकरण और शास्त्रों के लिए भी हमें दूसरे देशों का मुंह ताकना पड़ रहा है। हमारे मोक्ष-शास्त्र मात्र अध्ययन-अध्यापन की वस्तु बनकर रह गए हैं। प्रयोग-विज्ञान के प्रति हमारे मन में उत्साह नहीं है।

एक मात्र यह त्रिक दर्शन ही है जो सांसारिक अभ्युदय और नि:श्रेयस दोनों को साथ लेकर चलता है। यदि वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप इस दर्शन का अध्ययअ किया जाए तो यह आमुष्मिक और ऐहिक उन्नति का मार्ग प्रशस्त बना सकता है। क्योंकि यह त्रिक शास्त्र भोग और मोक्ष दोनों का आदर करता है। इसकी विशेषता यह है कि यह संसार को मिथ्या नहीं कहता। संसार पूर्णतया सत्य है और परिपूर्ण है क्योंकि यह परिपूर्ण शिव का रूप है। जिस रूप में यह दृष्टिगत हो रहा है यह उसी रूप में सत्य है। गार्हस्थ्य से भी यह विमुख नहीं करता। सोमानन्द अभिनव गुप्त आदि सभी शैव दार्शनिक गृहस्थाश्रम में रहकर ही निरन्तर साधना करते रहे।

वेदान्त के अधिकारी विरले ही साधक होते हैं। साधारण लोगों के लिए उन शास्त्रों का प्रणयन नहीं किया गया। उनके अधिकारी संसार में रहकर भी सांसारिकता से विरत ही रहते हैं। संसार के प्रति मिथ्यात्व का भाव उन्हें संसार में फँसने नहीं देता। यदि हम व्यक्तिगत उन्नति के साथ राष्ट्र की भी सर्वांगीण उन्नति करना चाहते हैं तो हमें अपने और समाज के मन से संसार की मिथ्यात्वाभावना को निष्कासित करना होगा। यह कार्य त्रिक दर्शन ही कर सकता है, यही भुक्ति और मुक्ति का मार्ग जनता को दिखा सकता है। आज हमारे राष्ट्र में त्रिक दर्शन के प्रचार की ही आवश्यकता है। कुलार्णव तन्त्र में कहा गया है—

भोगो योगायते सम्यक् पातकं सुकृतायते।

मोक्षायते च संसार: कुलधर्मे कुलेश्वरि ॥

अर्थात् इस कौलाचार के सेवन से भोग ही योग बन जाता है, पाप पुण्यरूप हो जाता है और यह संसार ही मोक्ष बन जाता है ।

उक्त उद्देश्य के लाभ के लिए त्रिक दर्शन के सम्यक् प्रस्तुतीकरण की आवश्यकता है । इसे इस रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है कि इसे अध्यात्मिक क्षेत्र के साथ साथ राजनैतिक क्षेत्र में भी किंचित् परिवर्तित रूप के साथ प्रयुक्त किया जा सके और उसका अबलम्ब लेकर आध्यात्मिक लक्ष्य के साथ सांसारिक प्रगति भी प्राप्त की जा सके ।

वर्ग भेद, जातिवाद, अस्पृश्यता जैसी बुराइयों को भी त्रिक दर्शन का अध्ययन-अध्यापन दूर कर सकता है । वेद उपनिषद् आदि शास्त्रों में ब्राह्मण का ही अधिकार बताया गया है । शूद्र का वहाँ प्रवेशाधिकार नहीं है । किन्तु काश्मीर शैव दर्शन में किसी जाति वर्ण या लिंग का विचार नहीं किया जाता । सभी को इसे पढ़ने का और इसकी साधना करने का अधिकार है । जिस किसी के भी हृदय में परमेश्वर के प्रति सच्चा प्रेम हो और तत्वज्ञान के प्रति इच्छा हो वह चाहे पुरुष हो या स्त्री ब्राह्मण हो या शूद्र, अनपढ़ हो या प्रबुद्ध सभी इस शास्त्र का अध्ययन और साधना कर सकते हैं ।

त्रिक दर्शन के न्याय

दर्शन शास्त्र के सूक्ष्म एवं दुर्ज्ञेय सिद्धान्तों को शिष्यों के हृदय में निवेशित करने के लिए आचार्य किन्हीं लोक-सत्य घटनाओं का अबलम्ब लेता है । इन्हें शास्त्रीय भाषा में न्याय कहा जाता है । न्याय सर्वजन-स्वीकार्य और सर्वजन-बुद्धिग्राह्य होता है । न्याय के माध्यम से दुरूह से दुरूह विषय भी हृदयंगत हो जाता है । शिवाद्वयवाद को समझने के लिए त्रिक दर्शन के आचार्यों ने भी विभिन्न न्यायों का सहारा लिया है । त्रिक-दर्शन का साहित्य बहुत विशाल है, उसमें उल्लिखित न्यायों की संख्या भी बड़ी सम्मृद्ध है । उन सबका विवेचन करने के लिए एक पृथक् ग्रन्थ की ही आवश्यकता पड़ेगी । प्रबन्ध के कलेवर की स्थूलता के भय से यहाँ कुछ न्यायों का ही उल्लेख किया जाता है ।

1. दर्पण प्रतिबिम्ब-न्याय

दर्पण में विद्यमान वस्तुओं का प्रतिबिम्ब दर्पण से व्यतिरिक्त नहीं होता फिर भी भिन्न सा प्रतीत होता है । त्रिक दर्शन में विश्व को सविद्-रूप दर्पण में प्रतिबिम्ब माना जाता है । अत: संविद से पृथक् नहीं है । इसी बात को कहने के लिए त्रिक आचार्य इस न्याय का आश्रय लेते हैं ।[3]

किन्तु लौकिक दर्पण-प्रतिबिम्ब में और आत्म-प्रतिबिम्ब में एक अन्तर भी है। बाह्य दर्पण जड़ है। उसे अपने प्रतिबिम्बों की प्रतीति नहीं होती। उसकी प्रतीति तो दर्पण को देखने वाले चेतन प्राणी को ही होती है।[4] आत्म-प्रतिबिम्ब की प्रतीति आत्मा को होती है क्योंकि वह प्रकाश के साथ साथ विमर्शरूप भी है। इन्हीं दो तथ्यों को बोधगम्य बनाने के लिए दर्पण-प्रतिबिम्ब-न्याय का अवलम्बन त्रिक दार्शनिक लिया करते हैं।

2. **गोमय-कीट-न्याय**

कीड़ा गोबर से ही उत्पन्न होता है और कीड़े से भी उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जहाँ दो वस्तुओं से एक ही अर्थ-क्रिया हो सकती है, वहाँ इस न्याय का प्रयोग किया जाता है। त्रिक दर्शन में मन्त्र और सजल्प से एक ही अर्थ-क्रिया को देखने वाला साधक शिव कहलाता है![5]

3. **गोक्षीर न्याय**

दूध गाय के स्तन में रहता हुआ भी दूध कहलाता है और स्तन से बाहर आकर भी दूध ही रहता है। त्रिक आचार्य जगत् को शिवरूप सिद्ध करने के लिए इस न्याय का प्रयोग करते हैं। यह जगत् शिव के अन्दर रहकर भी शिव ही था और अब बाहर अभिव्यक्त होकर भी शिव ही है।[6]

4. **शतपत्र वेधन्याय**

कमल के सौ पत्तों को यदि एक साथ सुई से बींधा जाए तो वह एक पल में ही सौ पत्तों के पार निकल जाती है। यद्यपि सुई प्रत्येक पत्ते को क्रम से बेंधती हुई ही अन्तिम पत्ते तक पहुँचती है किन्तु काल की कलना सम्भव न होने से वह शतपत्र वेध क्रमहीन सा प्रतीत होता है। यही शतपत्र वेध न्याय है। त्रिक दर्शन में काल के क्रम और अक्रम के प्रसंग में इसका निदर्शन दिया गया है।

5. **न्यग्रोध बीज न्याय**

न्यग्रोध वटवृक्ष को कहते हैं। न्यग्रोध का वृक्ष सबसे अधिक विशाल वृक्ष होता है किन्तु उसका बीज बहुत छोटा होता है। न्यग्रोध के छोटे से बीज में विशाल वृक्ष का कलेवर छिपा रहता है। वही न्यग्रोध-बीज-न्याय है। त्रिक दार्शनिक इसके द्वारा यह कहना चाहते हैं कि यह असीम चराचर जगत् परमेश्वर के हृदयरूपी बीज में समाया रहता है।[7]

6. **प्रत्यभिज्ञा न्याय**

किसी वस्तु को यदि हमने अपनी आँखों से तो न देखा हो किन्तु उसके गुणों को अन्य माध्यमों से सुनकर या जानकर उससे अनुराग करते हों तो वह वस्तु यदि हमारे सामने भी कभी उपस्थित हो जाए तो हम उसे

पहचान नहीं पाएँगे । न पहचानकर हम उसे महत्व भी नहीं देंगे । किन्तु जब कोई हमें यह बता देगा कि यही वह वस्तु या व्यक्ति है जिसे तुम चाहते हो, तो यह जानकर हम बहुत प्रसन्न होंगे । इसी का नाम प्रत्यभिज्ञा न्याय है । शैव दार्शनिक इस न्याय से यह कहना चाहते हैं कि प्रत्येक पुरुष साक्षात् शिव है । किन्तु उसे अपने स्वरूप की पहचान नहीं रही है । वह अपना स्वरूप भूला हुआ है । गुरुकृपा से अथवा शास्त्राध्ययन से जब वह अपने स्वरूप का प्रत्यभिज्ञान कर लेता है तो वह संविद्रूप शिव ही हो जाता है ।[8]

7. पदाति नृप न्याय

सार्वभौम राजा शिवि का अथवा रथ पर बैठकर यात्रा करने के लिए स्वतन्त्र है । पैदल चलने के लिए बिलकुल भी बाध्य नहीं है । किन्तु वह कौतुक-वश क्रीड़ा करता हुआ पैदल चलने का भी व्यवहार करता है । यही यही पदाति-नृप-न्याय है । परिपूण संविद्रूप शिव भी कौतुकवश अस्वतन्त्र अपरिपूर्ण अविवेकी और बन्धनग्रस्त पशु-प्रमाता के रूप में अवतीर्ण होता है । यही उसकी क्रीडा है ।[9]

8. अम्बुधिवीचि न्याय

समुद्र की तरंगे समुद्र से भिन्न नहीं होती । ये जल के ही दो नाम हैं । इसी को अम्बुधिवीचि न्याय कहते हैं । परमेश्वर और जगत् की एकता बताने के लिए त्रिक दार्शनिक इसका प्रयोग करते हैं ।[10]

9. गान्धिक सौगन्ध्य न्याय

इत्र बेचने वाले को गान्धिक कहते हैं । वह अनन्त गन्ध द्रव्य की सुगन्धि को इयत्ता से अवधारित नहीं कर सकता अपितु समस्त गन्ध को अक्रम से ही अवधारित करता है । यही गान्धिक सौगन्ध्य न्याय है । जब आचार्य देशकाल क्रम से शून्य वाच्यवाचकात्मक निखिल पदार्थों को अक्रम से अहम्रूप कहना चाहता है तब इस न्याय का प्रयोग करता है । अक्रम से समस्त पदार्थों की अहंरूप से देखने वाला साधक शिव ही कहलाता है ।[11]

10. दीपघट प्रकाश न्याय

दीपक किसी वस्तु को उत्पन्न नहीं करता अपितु पहले से विद्यमान वस्तुओं को अभिव्यक्त कर देता है । घर के अन्दर घट रखा है किन्तु अन्धकार में दिखाई नहीं दे रहा है । दीपक लाने पर वह घट नेत्रों के सामने प्रकाशित हो जाता है । यही दीपघट प्रकाश न्याय कहलाता है । सत्कार्यवादी दार्शनिक इस न्याय का प्रयोग करते हैं । कार्य उत्पत्ति से पहले अपने कारणों में विद्यमान है । कारण-सामग्री पहले से उद्भूत कार्य की केवल

अभिव्यक्ति करत है ।

इसी प्रकार स्वामभित्य न्याय, बीजांकुर न्याय, शशश्रृंग न्याय, मालती भृंरसिक न्याय, काकतालीय न्याय, घट्ट कुटी प्रभात न्याय, तथा अरुन्धती न्याय का भी यथास्थान प्रयोग शास्त्रों में किया गया है ।

उपसंहार

त्रिक दर्शन में छत्तीस तत्वों का युक्तियुक्त स्वरूप-विवेचन इस शोध प्रबन्ध में अपनी मेधा के अनुसार करने का प्रयास किया गया है । यह तो स्पष्ट ही है कि इन छत्तीस तत्वों में कुछ तत्व तो सर्वथा नूतन ही हैं । पंच कंचुक तत्वों की चर्चा अन्यत्र किसी दर्शन में नहीं मिलती । सदाशिव और शुद्ध विद्या तत्व भी सर्वथा नये हैं । तत्वमीमांसा में इन तत्वों का सन्निवेश होना ही चाहिए था । सचमुच इनके बिना तत्वों की परिपूर्णता नहीं होती ।

त्रिक दर्शन का स्वातन्त्र्य सिद्धान्त तो वास्तव में एक महनीय सिद्धान्त है । इस सिद्धान्त परमेश्वर के ऐश्वर्य को वास्तविक सार्थकता प्रदान की है । षट्त्रिंशत् तत्वात्मक जगत् के मूल में यह स्वातन्त्र्य सिद्धान्त ही विलासित हो रहा है ।

षट्त्रिंशत् तत्वों के यथावत् ज्ञान से साधक अपने प्रकाश विमर्शात्मक शिवत्व को पहचानकर शिव ही हो जाता है । तत्वज्ञान केवल शास्त्राध्ययन से नहीं होता । उसके लिए मलों का प्रक्षालन अनिवार्य है । मलों का प्रक्षालन शिवत्व के समावेश से होता है । शिवत्व का समावेश शाम्भव शाक्त तथा आणवोपाय से ही सम्भव है । अत: तत्वमीमांसा के साथ साथ साधना-पक्ष का भी अत्यल्प विवेचन इस प्रबन्ध में करना पड़ा है ।

त्रिक दर्शन पर उपलब्ध साहित्य या तो संस्कृत में है या फिर कुछ पुस्तकें अंग्रेजी में लिखी गयी हैं । हिन्दी में अत्यल्प ग्रन्थ हैं । उसमें भी तत्वमीमांसा पर कोई स्वतन्त्र ग्रन्थ नहीं था । प्रबन्ध उसी कमी को यत्किंचित् दूर करने की दिशा में एक प्रयास है ।

संदर्भ सूची

1. ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्ये प्रतिपत्त्या दृढ़ात्मना ।
करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयाऽपि वा ।।
सकृज्ज्ञाते सुवर्णे किं भावनाकरणादिना ।

सर्वथा पितृमात्रादि तुल्यदाढ्र्येन सत्यता ।। शिवदृष्टि

2. द्विविधाऽर्त क्रियाऽस्ति बाह्या चांकुरादिका प्रमातृ-विश्रान्ति-चमत्कार-सारा प्रीत्यादिरूपा । तत्राद्या सत्यं प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते द्वितीया तु तदपेक्षत एव । इह चाहं महेश्वर इत्येवंभूत चमत्कारसारा परापर सिद्धिलक्षण जीवन्मुक्तिविभूतियोगमयो अर्थक्रिया ।

ई०प्र०वि० 4/1/16

3. न देशो नो रूपं न च समययोगो न परिमा
न चान्योन्यासंगों न च तदपहानि न घनता ।
न चावस्तुत्वं स्यान्न च कमपि सारं निजमिति
घ्रुवं मोह: शाम्येदिति निरदिशद्दर्पण विधि: ।। त० 13/23

4. अन्तर्विभति सकलं जगदात्मनीह यदयद् विचित्ररचना मुकुरान्तराले ।
बोध: पर निज विमर्श रसानुवृत्यो विश्वं परामृशति नो मुकुरस्तथा तु ।।
त० सा० पृ० 19

5. गोमयात् कीटत: कीट इत्येवं न्ययातो यथा ।
संजलपान्तरतोऽप्यर्थक्रियां तामेव पश्यति ।। तं० 16/272

6. गो: स्तनात् पातत: क्षीरे विकारस्तत एव हि ।
न च न क्षीरमित्येवं व्यपदेशोऽस्ति तत्क्षणम् ।। शिवदृष्टि 1/18

7. यथा न्यग्रोध बीजस्थ: शक्तिरूपो महाद्रुम। ।
तथा हृदयबीजस्थं जगदेतच्चराचरम् ।। प० त्री० पृष्ठ 258

8. एवमात्मानमेतस्य सम्यग् ज्ञानक्रिये तथा ।
जानन् यथेप्सितान् पश्यम् जनाति च करोति च ।। ई०प्र० 4/1/15

9. यथा नृप: सार्वभौम: प्रभावमोद भावित: ।
क्रीडन् करोति पादात्तधर्मांस्तदधर्मधर्मत: ।।
तथा प्रभु: प्रमोदात्मा कीडत्येवं तथा तथा ।। शि० दृ० 1/37-38

10. यथा न योगिनो स्तीह नानासैन्यशरीरकै: ।
विभागस्तद्वदीशस्य मध्योत्कृष्ट निकृष्टकैं :
भावैर्नास्ति विभदेत्वमथवाम्बुधियोचिवत् ।। शि० दृ० 3/36-37

11. यथा गान्धिको नन्तगन्ध द्रव्य सौगन्ध्यमियत्तया अनवधारयन् अक्रमेणं सर्वमवधारयन्नास्ते तथा विश्वान भावान् देशकाल क्रम-शून्यान् वाच्यवाचकात्मन: पश्यन् अविकल्पक: शिवो भवति ।।

शि० दृ० वृ० 3/85

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. तन्त्रालोक—अभिनव गुप्त
2. तन्त्रालोक—विवेक जयरथ
3. भगवद्गीता विवरण
4. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय
5. कार्श्मीर शैव दर्शन—बलजिन्नाथ पंडित
6. वैष्णव-शैव और अन्य धार्मिक मत
7. राजतरंगिणी—कल्हण
8. शिव दृष्टि—सौमानन्द
9. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा—उत्पलदेव
10. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति—अभिनव गुप्त
11. ईश्वर प्रत्यभिज्ञा विवृति विमर्शिनी—अभिनव गुप्त
12. गूरुनाथ परामर्श
13. स्पन्दकारिका—वसु गुप्त
14. शिव सूत्र वार्तिक—उत्पलदेव
15. रत्नत्रय—श्रीकण्ठ सूरि
16. भास्करी—आचार्य भास्कर राय
17. महार्थ मंजरी—गोरक्ष नाथ
18. ऋग्वेद वागाम्भृणी सूक्त
19. छान्दोग्योपनिषद
20. ब्रह्मसूत्र—श्री कण्ठ भाष्य
21. मनुस्मृति—कुलूक की टीका
22. वरिवस्या रहस्य प्रकाश—भास्कर राय
23. सौभाग्य भास्कर—भास्कर राय
24. सर्वदर्शन संग्रह—उमाशंकर ऋषि
25. कामकला विलास—पुण्यानन्द नाथ
26. कौडिन्य भाष्य
27. मोक्षकारिका—सद्योज्योति
28. परमार्थ सार—अभिनव गुप्त
29. सिद्धान्त शिखामणि—शिवयोगी
30. रस हृदय—गोविन्द भगवद् पाद
31. नीति शतक—भतृहरि
32. तैत्तिरीय उपनिषद
33, वाक्यपदीयम्—भर्तृहरि

34. सांख्यप्रवचन भाष्य—विज्ञान भिक्षु
35. प्रत्यभिज्ञा हृदय—क्षेमराज
36. बोधपन्चदशिका
37. सौन्दर्य लहरी—आद्य शंकराचार्य
38. क्रमस्तोत्र—अभिनव गुप्त
39. कुलार्णव तन्त्र
40. वामकेश्वर तन्त्र
41. तैत्तिरीय आरण्यक
42. श्वेताश्वतरोपनिषद
43. वामन पुराण
44. परात्रींशिका विवृति—अभिनव गुप्त
45. ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य
46. परमार्थ चर्चा—अभिनव गुप्त
47. तन्त्रसार—अभिनव गुत्त, वाणी प्रकाशन, देहली, 1982
48. मालिनी विजय वार्तिक—अभिनव गुप्त
49. गौडपाद कारिका—आचार्य गौडपाद
50. षट् त्रिशतत्व सन्दोह—राजानक आनन्द
51. परा प्रवेशिका—अभिनव गुप्त
52. पातन्जल योग सूत्र—पतन्जलि
53. व्यास भाष्य – व्यासदेव
54. स्पन्द विवृति—रामकण्ठ
55. स्वच्छन्द तन्त्र
56. शिवस्तोत्रावली—उत्पलदेव
57. विज्ञान भैरव
58. अभिज्ञान शाकुन्तलम्—कालिदास
59. गीतार्थ संग्रह—अभिनव गुप्त
60. विशंतिक शास्त्र टीका
61. वामकेश्वरी मतम्
62. शारदातिलकम्—लक्ष्मण देशिकेन्द्र
63, प्रत्यभिज्ञा हृदय सूत्र - क्षेमराज, प्रकाशक—श्रीनगर काश्मीर सं० 1668
64. न्याय सूत्र—महर्षि गौतम
65. सांख्यकारिका—ईश्वर कृष्ण
66. विज्ञान भैरवोद्योत

67. दुर्गासप्तशती
68. स्तुति कुसुमान्जलि
69. शिव सूत्र विर्माशिनी
70. स्पन्दकारिका वृत्ति—भट्ट कल्लट
71. देवी भागवत
72. दश महाविद्या मीमांसा—डा० विष्णुदत्त राकेश
73. त्रिपुरोपनिषद
74. यजुर्वेद
75. षट् त्रिशतत्य सन्दोह लृत्ति—राजानक आनन्द
76. न्याय कुसुमांजति—उदयनाचार्य
77. शत रत्न संग्रह—उमापति शिवाचार्य
78. अपरोक्षानुभूति—आचार्य शंकर
79. माण्डूक्योपनिषद्
80. स्वच्छन्दोद्योत
81. पन्चदशी—विद्यारण्य
82. सौन्दरनन्द—अश्व घोष
83. भगवद्गीता
84. स्पन्द निर्णय—क्षेमराज
85. स्याद्वाद मंजरी—मल्लिषेण सूरि
86. न्याय-बिन्दु—धर्मकीर्ति
87. अद्वैत ब्रह्मसिद्धि—काँश्मीरक सदानन्द
88. शिव सूत्र—वसु गुप्त
89. धापु पाठ—रामलाल कपूर ट्रस्ट
90. बिहारी सतसई
91. विवेक चुडामणि—आचार्य शंकर
92. चित्सुखी—आचार्य चित्सुख
93. शांकर भाष्यालोचन—गंगा प्रसाद उपाध्याय
94. पाणिनीय अष्टाध्यायी
95. मध्यान्त विभाग सूत्र मैत्रेय
96. महायान विंशकम्—वसुबन्धु
97. मध्यान्त विभाग सूत्र टीका—स्थिरमति
98. प्रश्नोपनिषद्
99. पंच तन्त्र—विष्णु शर्मा
100. मातंग लीला—सद्यो ज्योति
101. शिशुपाल वधम्—माघ

102. विष्णु पुराण
103. वेदान्तसार—सदानन्द यति
104. सांख्यकारिका—ईश्वर कृष्ण
105. सम्बन्ध सिद्धि
106. भागवत पुराण
107. न्याय सूत्र—गौतम
108. शाबर भाष्य—शबर स्वामी
109. भामिनी विलास—पंडितराज जगन्नाथ
110. विक्रमचरित
111. महानाटक—हनुमत्कवि
112. नैषधीय चरितम्—श्री हर्ष
113. साहित्य दर्पण—विश्वनाथ
114. वेदान्त परिभाषा—धर्मराजाध्वरीन्द्र
115. न्याय मंजरी—जयन्त भट्ट
116. सांख्य सूत्र—कपिल
117. वैशेषिक सूत्र—कणाद
118. वेदांन्त सिद्धान्त मुक्तावली
119. ईश्वरसिद्धि—उत्शलदेव
120. अजड प्रमातृ सिद्धि—उत्शजदेव
121. कादम्बरी—वाण भट्ट
122. उपदेश साहस्री—आचार्य शंकर
123. सांख्य तत्व कौमुदी—वाचस्पति मिश्र
124. उत्तर रामचरितम्—भवभुति
125. सांख्य सिद्धान्त—उदयवीर शास्त्री
126. सांख्यकारिका—माठर वृत्ति
127. मातृकाचक्र विवेक—स्वतन्त्रानन्द नाथ
128. प्रमाण वार्तिक—कुमारिल भट्ट
129. परमार्थ सार विवृति—योगराजचार्य, प्रकाशक काश्मीर सीरीज श्रीनगर काश्मीर—1916
130. निरुक्त—यास्क
131. शक्ति विशिष्टाद्वैत दर्शनम्—टी० जी० सिद्दप्पाराध्य
132, Tantricism to the Ishwer Pratyabhijnya Vivriti Vimarshini—by M.S. Kaul
133. Abhinava Gupta—by K. C. Pandey
134. Shatrinshat tatwa Sandeh—by D. B, Sen Sharma
135. History of Indiam Philescphy—by Das Gupta